गुरुकुल-पत्रिका

Feb.—2005 Feb.—2006

गुरुकुल-पत्रिका

फरवरी - मार्च - अप्रैल 2005

सम्पादक

डॉ. महावीर
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-24940

रजि० पंजीकरण सं० : एल - 1277

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

फरवरी - मार्च - अप्रैल 2005 - 06

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

अध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक — प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य — १०० रुपये वार्षिक

विक्रमी सम्वत् — २०६२

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334–245975

विषयानुक्रमणिका

The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Swami Shraddhanand Ji
(1856-1926)

वेदमञ्जरी

सुमित्रः सोम नो भव

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव॥ ऋग् १.९१.१२

ऋषिः गोतमः राहूगणः। **देवता** सोमः। **छन्दः** गायत्री।

(सोम) अयि चन्द्रवद् वृद्धिपुष्टिप्रद जगदीश्वर! त्वम् **(गयस्फानः)** गृहस्य अपत्यस्य धनस्य प्राणस्य च वर्धयिता (अमीवहा) अविद्यादिरोगाणां दैहिकरोगाणां च हन्ता, **(वसुवित्)** आध्यात्मिकस्य ऐश्वर्यस्य प्रापयिता, **(पुष्टिवर्धनः)** पुष्टीनां वर्धयिता **(नः सुमित्रः)** अस्माकम् उत्कृष्ट / सरवा **(भव)** एधि।

अयि सोम परमेश्वर ! अयि चन्द्रवद् वृद्धिपुष्टिप्रद देव! त्वम् अस्माकं सुमित्रो भव, श्रेष्ठः, सखा एधि। सुमित्रताया निर्वहणाय प्रथमं तावत् त्वं 'गयस्फानः' भव। गय इति गृहस्य अपत्यस्य धनस्य प्राणस्य च नाम। त्वमस्माकं गृहम् अपत्यं धनं प्राणं च वर्धय। गृहस्य विषयेऽस्माकं भावना अतीव संकुचिता वर्तते। वयं द्वित्राणां पञ्चषाणां वा सदस्यानां परिवारमेव गृहं मन्यामहे। त्वं गृहस्य सीमां शनैः शनैः वर्धयन्नस्माकं कृते निखिलां वसुधामेव गृहं कुरु। त्वं नोऽपत्यधारणामपि वर्धय। त्रिचतुरानेव वयं स्वकीयसन्तानान् न मत्वा समाजस्य सर्वेष्वपि बालकेषु सर्वास्वपि बालिकासु च निजसन्तानभावनां कुर्याम। त्वं नो धनमपि वर्धय। वयं सार्वजनिकं राष्ट्रियं च धनमपि स्वकीयं धनं मत्वा तस्य रक्षायाश्चिन्तां कुर्याम। त्वं नः प्राणानपि वर्धय। इतरप्राणिष्वपि अस्माकमेव प्राणाः सन्तीति बुद्धिं कृत्वा तान् प्राणिनोऽपि वयं स्वात्मवत् प्रियान् मन्येमहि। हे सोम! अस्माकं गृहादीनाम् अन्यप्रकारेणापि वृद्धिं कुरु। अस्मद्गृहसम्पदां वर्धय, अस्माकमपत्यानि विद्याविज्ञानकीर्त्यादिभिर्वर्धय, अस्मद्धनं प्राचुर्यदृष्ट्या वर्धय, अस्मत्प्राणान् प्राणापानव्यानादिशक्तिभिर्वर्धय। हे सोम! त्वमस्माकम् 'अमीवहा' भव। ज्वरशिरोवेदना कासादिकान् दैहिकरोगान्, अज्ञानकपटादिकान् मानसरोगांश्च विनाशय, यतो हि रुग्णदेहेन रुग्णमनसा च वयं कस्मिन्नपि क्षेत्रे प्रोन्नतिं कर्तुं न पारयामः। त्वमस्माकं 'वसुविद्' भव, अस्मान् आध्यात्मिकानि ऐश्वर्याणि प्रापय, यतस्तदेव तात्त्विकं धनं वर्तते, तद् विना भौतिकं धनं न किञ्चित्करम्। हे सोम जगदीश्वर! त्वमस्माकं 'पुष्टिवर्धनः' भव, अस्माकं शारीरिकीः मानसीः सामाजिकीः पुष्टीः सततं वर्धय। पूर्वप्राप्ता पुष्टिर्यदि वृद्धिं न गमिष्यति तर्हि सञ्चिता सम्पत्तिः सद्य एव समाप्स्यति, वयं च रिक्तहस्ता भविष्यामः।

एतान्येव सन्मित्रस्य कर्तव्यानि सन्ति। हे सुहृद्वर! यदि त्वमेतानि करिष्यसि, तर्हि अस्माकम् अन्तरङ्गः सखा भविष्यसि, त्वां च सखायं प्राप्य वयं स्वात्मनो धन्यान् मंस्यामहे।

सम्पादकीय..................

शहीद के माता -पिता

अमर वीर ! तेरी जय हो

धन्य है यह रत्नगर्भा भारत माता जिसकी कोख से समय-समय पर राष्ट्र की बलिवेदी पर हंसते-हंसते अपने प्राणों की आहूति देने वाले क्रान्तिवीर भगत सिंह, अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, मेजर आसाराम त्यागी, अब्दुल हमीद जैसे वीर उत्पन्न हुए। इन वीरों की एक सुदीर्घ परम्परा है। जब-जब भारत माता ने इन वीरों का आह्वान किया, ये प्रसन्नता से आगे आये और शहीद बनकर इतिहास के पन्नों में अमर हो गए। ऐसे शहीदों की गरिमामयी श्रृंखला में अमर शहीद कैप्टिन के. डी. साम्ब्याल (Sambyal) का नाम स्मरण करते ही रोमांच हो उठता है।

पठानकोट के एम.एम.डी.आर.एस.डी. कालेज में इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रो. आर.एस. साम्ब्याल के खुशहाल परिवार में जन्म लेकर सेंट जोसफ कान्वेट स्कूल से 72% अंकों से हाईस्कूल परीक्षा तथा आर्मी स्कूल पठानकोट से 70% अंक प्राप्त कर इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करने वाला बालक जी.जी.एम.एस.सी. कालेज जम्मू से 65% अंक प्राप्त कर बी.एस.सी. परीक्षा उत्तीर्ण करता है और राष्ट्र प्रेम की उदात्त भावना से युक्त यह नौजवान एन.सी.सी. का 'C' सर्टिफिकेट प्राप्त कर गणतन्त्र दिवस की परेड में दिल्ली के विजयपथ पर भारत के महामहिम राष्ट्रपति को सलामी देता है। एन.सी.सी. में प्रदर्शित अपनी योग्यता, वीरता एवं राष्ट्ररक्षा की भावना से इस वीर नौजवान को भारतीय सेना में लेफ्टिनेन्ट के पद पर नियुक्ति प्राप्त होती है और प्रशिक्षण काल में ही इनकी अद्‌भुत क्षमता को देखकर सीनियर अण्डर आफिसर के पद पर इन्हें प्रोन्नति प्राप्त हो जाती है। 4 सितम्बर 1999 को यह वीर युवक प्रशिक्षण पूर्ण कर लेता है और पुनः जनवरी 2002 में भारत माँ का यह लाडला सपूत कैप्टिन के गौरवपूर्ण पद पर प्रोन्नति प्राप्त करता है और इसके बाद 31 सितम्बर 2002 को डेरा बाबा नामक सैक्टर में दुश्मनों के छक्के छुडाते हुए अपने रक्त की एक-एक बून्द से भारत माता की अर्चना करते हुए शहीद हो जाता है।

इस अमर शहीद ने शहीद होने से पूर्व अपने प्यारे माता-पिता को एक पत्र लिखा, ऐसा पत्र जिसे पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पत्र का पहला ही वाक्य है मम्मी पापा ! जब यह पत्र आपके हाथों में पहुँचेगा, मैं आकाश में अप्सराओं के आतिथ्य का आनन्द प्राप्त करता हुआ, आप सबको देख रहा हूँगा।

माँ ! मेरी शहादत पर तुम आँखों में आंसू मत लाना, क्योंकि यह तो सेना के वीर जवानों को प्राप्त होने वाला सर्वश्रेष्ठ सम्मान है।

पापा ! आप माँ को समझाना, शहादत हमारा गौरव है और मैं इससे कम की इच्छा नहीं रखता। इससे अच्छा राष्ट्र सेवा का और अन्य मार्ग क्या होगा ? मुझे सैनिक होने पर नाज है और मुझे यदि दूसरा जन्म मानव का मिला तो मेरी यही अभिलाषा है कि मैं पुन: सेना में भर्ती होकर देश के लिए युद्ध करूं।

पत्र के अन्त में यह वीर बेटा अपनी मां को परामर्श देते हुए लिखता है मां एक छोटे बालक को (मेरे छोटे भाई के रूप में) गोद ले लेना मैं उसकी आत्मा में निवास करूंगा और वह मेरा छोटा भाई देश रक्षा के लिए सेना में भर्ती होगा, यह मैं जानता हूँ। अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना, और किसी बात के लिए दु:खी मत होना।

यह अमर पत्र है उस वीर जवान का जो पत्र भेजने के बाद देश के दुश्मनों से लड़ते-लड़ते शहीद हो गया।

अपने इकलौते बेटे का युवावस्था में इस प्रकार का वियोग माता-पिता के लिए कितना असह्य होता है फिर भी इस वीर पुत्र के माता पिता को अपने वीर पुत्र पर नाज है, और अपने बेटे की मधुर स्मृतियों के सहारे ही वृद्धावस्था को देश सेवा में अर्पित करने के लिए कृत संकल्प हैं।

ऐसे वीर सपूतों को जन्म देने वाली भारत माँ, तुझे कोटि-कोटि प्रणाम, वीर भूमि पंजाब! तुझे कोटि-कोटि नमन। ऐ भारत माँ के वीर पुत्र ! वीर भूमि पंजाब के गौरव ! तुझे मेरा शत-शत नमन ! तेरी वीरता की कहानी इस देश के कण-कण में गूंजती रहेगी और युवकों को देश प्रेम का पाठ पढ़ाती रहेगी।

– डॉ0 महावीर

(अमर शहीद की लेखनी से लिखा गया अमर पत्र)

CAPT
K D Sambyal

193 Field Regiment
C/o 56 APO
Date :

Dearrest Papa + Mama,
"JAIDEVA"

1. By the time you get this letter I'll be observing you all from the sky enjoying the hospitality of Apsaras.

2. I hope my unit will also earn a lots of lowrels in this ops. Hard work and ethos does have it merits, don't you think? Mummy don't worry about casualities, it's a professional hazard which is beyond our control, so why worry, at least it is for a good cause.

3. Daddy, please tell mummy that combat is an honour of a lifetime and I would not think of anything less, what better way to serve the nation. I am proud to be in army and esp in a wonderful Regt. I have no regrets, in fact even if I become a human again I'll join the army [illegible] for [illegible]

सम्पादकीय

"As far as unit is concerned everybody should be told about the sacrifice and I hope my photo will be kept in 'R' Sty BC's office.

I would again like to come to PH! PH! c ugt.

I know the bachelor gang will miss me, but I can't help it (Matrimonial are not for me. I think I have to look for an apsara, girls write any ... can let me know, I'll send them across)

Mummy Pl adopt a small kid (my younger brother) I'll be living in his soul. I know it he'll also join army!

Take care of your health and Don't worry about anything

Best of Luck to All of You

Live life King-size

[signature]

कालिदास साहित्ये संवेदना दर्शनम्

डॉ.महावीर
प्रोफेसर-संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तरांचल)

कविकुलगुरुः कालिदासः स्वकीयाभिः रससिक्ताभिः, अलंकारालंकृताभिः, प्रकृतिपेलवाभिः, माधुर्यगुणोपेताभिः, वैदर्भीरीति मण्डिताभिः, व्यञ्जनावृत्तिसंवलिताभिः मधुराति-मधुराभिः काव्यकृतिभिः अन्यान् सर्वान् अपि कवीश्वरान् अतिशेते नास्त्यत्र मनागपि संशयावसरः। भावानां यादृशी सान्द्रता, हृदयस्पर्शिता, दिव्यभागजागरणक्षमता च कालिदास काव्ये दरीदृश्यते न हि तादृशी अन्यत्र।

असौ संवेदनायाः कविः। सः यं भावं यथा-यथा अनुभवति चिन्तयति च तं तथा तथैव सचेतसां सहृदयानां वा चेतस्सु संक्रामयति। कालिदासस्य त्रीणि नाटकानि, द्वे महाकाव्ये एकं गीतिकाव्यं मुक्तककाव्यञ्चैकं कस्य सचेतसः हृदयं न स्पृशन्ति ? कं नानन्दयति ? कं रसान्वितं न कुर्वन्ति ? महाकवेरस्य काव्येषु विद्यते भावानां, संवेदनानां वैभिन्न्यम्। क्वचिद् राष्ट्रीयतायाः भावना देशभक्तिं सञ्चारयति, क्वचिद् श्रृंगार रस मन्दाकिनी समग्रमपि विश्वं रसमयं करोति कुत्रचिच्च कारुण्यरसापगा सर्वान् अपि सरस हृदयान् शोकान्वितान् विदधाति।

कुमारसंभव महाकाव्यारम्भे महाकविः मंगलाचरणरुपेण देवभूमिं प्रणमन् गायति।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वपरौ तोयनिधी वगाह्यस्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।

पद्येऽस्मिन् स्वल्पैरेव शब्दैः हिममण्डितस्य नगाधिराजस्य रत्नाकरयोश्च यादृशं गौरवपूर्णं राष्ट्रप्रेम पूरितं वन्दनमभिनन्दनञ्च न तादृशमन्यत्र कुत्रापि। अनेन एकेनैव पद्येन राष्ट्रीयतायाः भावना प्रतिजनं देशप्रेमपरिपूर्णं करोति।

अस्मिन्नेव महाकाव्ये 'क्रोधं' प्रभो ! संहर संहरेति इति दिवोकसैः भूयो भूयः प्रार्थ्यमानेन त्रिनेत्रेण शिवेन तृतीय नेत्रजन्यवह्निना मदनो भस्मीकृतः। अनङ्गतां प्राप्ते पुष्पसायके रतिः विलपति। तस्याः अनवद्यसौन्दर्यमण्डितायाः विलपनं, करुणक्रन्दनं कं वज्रहृदयं न विदारयति, कस्य चेतसि शोकोद्रेकं नोत्पादयति ?

अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम्।।

कामप्रिया रतिः प्राणवल्लभमाकारयन्ती विलपति -

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥

विश्वविश्रुते रघुवंशमहाकाव्ये निष्प्राणां हृदयेश्वरीं इन्दुमतीं लोकं लोकं राज्ञोऽजस्य हृदयं स्फुटति। महति शोकसागरे निमग्नः विरहविधुरः विलपन् महीपतिः समस्तां वसुधामेव शोकविह्वलां विदधाति। श्रूयतां मर्मभेदकानि अजवचांसि -

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥
गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद् किं न मे हृतम् ॥

रघुवंश महाकाव्ये त्रयोदश सर्गे रामलक्ष्मणौ स्वर्णमयीं लंकां विजित्य पुष्पक विमानाधिरुढौ भूत्वा व्योमवर्त्मना अयोध्यां प्रति प्रस्थितौ। रत्नाकरं वीक्ष्य श्रीरामाभिधानस्य हरेः मनसि कोऽपि अनिर्वचनीयः संवेदनासागरः उल्लसति तमानन्दसन्दोहमभिव्यञ्जयन् कौसल्यानन्दवर्धनः श्रीरामः वैदेहीं ब्रूते -

वैदेहि पश्यामलयाद् विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृत चारुतारम् ॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्य कलत्रवृत्ति पिबत्यसो पाययते च सिन्धुः ॥

मार्गे माल्यवान् पर्वतं, गोदावरीं, पञ्चवटीं, शातकर्णेः, सुतीक्ष्णस्य, शरभङ्गमुनेश्च आश्रमानि दर्शं-दर्शं श्रीरामः परमां प्रसन्नतां भजते। अस्यामेव गगनयात्रायां तीर्थराजे प्रयागे यमुंनातरङ्गै भिन्नप्रवाहां भागीरथीं निभाल्य सोऽतितरां मुमदे। गङ्गा-यमुनयोः सौन्दर्यं कं भारताभिजनं न आनन्दयति -

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दिवरैरुत्खचितान्तरेव ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्त पत्रा भक्तिभुर्वश्चन्दनकल्पितेव ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शवलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्य नभः प्रदेशाः ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥

काव्य संसारे स एव, कवीश्वरो विजयते य स्वाभिलाषानुरुपं रसिकान् सहृदयान् तादृग् भावोपेतान् कर्त्तुं क्षमते। यदा सः रोदिति अन्येऽपि रुदन्ति, यदा सो हसति, अन्येऽपि हसन्ति, यदा सः शोकसागरे निमज्जति, सहृदया अपि निमज्जन्ति। अयमेव संवेदनायाः चरमोत्कर्षः। महाकविः कालिदासः अनया दृष्ट्या कवीनां प्रथमः। विश्वप्रसिद्धे अभिज्ञान शाकुन्तल नाटके निसर्गकन्यायाः शकुन्तलायाः अनवद्येन सौन्दर्येण हृतचितः दुष्यन्तः गान्धर्वेण विधिना पाणिग्रहणं करोति। उभावपि अन्योऽन्यं स्वं-स्वं हृदयं समर्पयामासतुः। राजधानीं प्रति प्रस्थिते दुष्यन्ते अनन्यमानसा शकुन्तला तमेव प्राणेश्वरं विचन्तयन्ती द्वारदेशे समुपस्थितं तपोधनमपि न वेत्ति। अनेन अविनिताचरणेन सुलभकोपो महर्षिः दुर्वासा तां कन्यकां शप्त्वा दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। शापबलाद् विस्मृतवान् दुष्यन्तः शकुन्तलाम्। यस्मिन् जीवने सुखमेव सुखमासीत् तत्र दुःखं समागत्, यज्जीवनं प्रकाशमानमासीतम् तदन्धे तमसि निमग्नम्। इमां दशां महाकविः तथा वर्णयति यथा निखिलं जगत् संवेदना परिपूर्णं संजायते –

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्, आविष्कृतोऽरूणपुरः सरः एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां, लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥

शकुन्तलायाः पतिगृहगमन काले पादपानां मांगलिकवस्त्र प्रदानं, चरणोपभोगसुलभं लाक्षारसदानं, अलंकरणसमर्पणं, सततं परब्रह्मणि व्यापृतमानसस्य अरण्यौकसः कण्वहृदयस्य पुत्रीस्नेहाद् उत्कण्ठया संस्पृष्टत्वम्, मृगीणां चर्वितशष्पोद्‌गिरणं, मयूराणां नृत्य परित्यागः, लतानां च अपसृत पाण्डु पत्रव्याजेन अश्रूमोचनम्, मृगावरोधनम्, किमेतानि मनोरमाणि दृश्यानि संवेदनायाः परममौन्नत्यं न संदर्शयन्ति।

प्रस्थान काले शकुन्तला पितरमाष्वज्य ब्रवीति तपश्चरणपीडितं तातशरीरं तन्माऽतिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितुम्।

शकुन्तलायाः अनुसूया, प्रियंवदा सख्यौ प्रस्थितायां शकुन्तलायां निगदतः – तात ! शकुन्तला विरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः।

कण्वश्च सविमर्शं परिक्रम्य कथयति-हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥

किम् इतोऽपि अधिकं संवेदनादर्शनम् द्रष्टुं शक्यते।

महाकवेः कालिदासस्य सर्वेषु काव्येषु संवेदनायाः उत्तमोत्तमानि चित्राणि प्रप्यन्ते। मेघदूते संवेदना मन्दाकिनी सर्वत्र प्रवहति। प्रिया विरह विदग्धः कामार्त्तः शापपीड़ितः यक्षः आषाढस्य प्रथम दिवसे नभसि वर्त्तमानं मेघं दृष्ट्वा चेतनाचेतनयोः स्वरुपमपि अपरिगणयन् गतचेतनं पयोधरं ययाचे –

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः;
सन्देशं मे हर धनपति क्रोध विश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां,
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौत हर्म्या ॥

गुह्यकः दूतपदेनियुक्तं जलदम् अलकायाः मार्गं निर्दिशति। यद्यपि गमनत्वरा पुनरपि उज्जयिन्यां महाकालमासाद्य शूलिनः सन्ध्याबलिपटहतां कर्त्तुं प्रार्थयते। मार्गे यत्र कुत्रापि पुण्यानि देवमन्दिराणि, पुण्यतोयाः सरितो वा तत्र क्षणं स्थातुं निवेदयति, ततश्च अलकापुर्यां स्थितायाः विरहविधुरायाः क्षीणातिक्षीणायाः यक्षिण्याः यच्चित्रणं महाकविः यक्षमुखेन कारयति तदहं मन्ये विश्वसाहित्ये दुर्लभमेव। श्रूयतां कानिचित् पद्यानि -

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकित हरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां ,
या तत्र स्याद् युवति-विषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥
आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा,
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां,
कच्चिद्भर्त्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥

यक्षः मेघमाध्यमेन यक्षिणीम् आश्वासयितुं विरह विपत्तिकाले च धैर्यं धारयितुं निवेदयति। सुखदुःख समन्वितेऽस्मिन् संसारे रात्रौ अन्धकारः दिवा च प्रकाशः सततं परिवर्तते। सुखसागरे निमग्नाः जनाः कदाचिद् दुःखमनुभवन्ति, दुःखदुर्विदग्धाश्च समायते काले आनन्दातिशयं प्राप्नुवन्ति। तन्न धैर्यं त्याज्यम्। यक्षः ब्रूते -

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे,
तत्कल्याणि। त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

एवं महाकवेः कालिदासस्य निखिलेऽपि साहित्ये पदे-पदे संवेदना दर्शनेन कृतकृत्याः वयम्।

वेद में आए ब्रह्म शब्द का विचार

ले० मनोहर विद्यालंकार

ब्रह्म

वेद में प्रयुक्त शब्द 'ब्रह्म' बहुत महत्वपूर्ण है। उणादिकोष में 4-147 में इस की व्याख्या करते हुए केवल यह कहा है, जो चीज किसी भी दृष्टि से सब से बड़ी है वह ब्रह्म है 'बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म, ईश्वरोवेदस्तत्वं तपो वा'। इस दृष्टि से वेद में आए ब्रह्म शब्द अर्थ ईश्वर-वेद-तत्वज्ञान या तप में से प्रकरणानुसार कुछ भी किया जा सकता है।

ऋक् 1-10-4 'ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय।' परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि - हे इन्द्र हमारे ब्रह्म और यज्ञ को साथ-साथ बढ़ा। निघण्टु में ब्रह्म के अर्थ अन्न (1-12) जल (2-9) तथा धन (2-10) किये गए हैं। अत: ब्रह्म शब्द से तीनों का ग्रहण किया जा सकता है। ब्रह्म हैं भी तीन कुछ उदाहरण देखिये -

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत् पतयदूर्ध्वसानु:।

अचित्तं ब्रह्म जुजुषुर्युवान: प्र मित्रे धाम वरुणे गृणनान्त:। ऋक् 1-152-5

ऋषि :- दीर्घतमा:। देवता-मित्रावरुणौ। छन्द: त्रिष्टुप्। एक चेतन ब्रह्म (अनश्व: अनभीशु:जात:) इन्द्रिय रूपी अश्वों से रहित तथा मनरूपी रश्मि लगाम से रहित (अर्वा) गतिस्थिति और प्रलय कर्ता (जात:) त्रिकाल सच्चिदानन्द स्वरूप है; दूसरा चेतन ब्रह्म (मित्रे वरूणे कनिक्रदत् अनश्व: अनभीशु:) प्राण अयान की साधना करता हुआ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर अनश्वजितेन्द्रिय और अनभीशु:मन की लगाम रश्मियों मुक्त अमना होकर (पतयत् अर्ध्व सानु:) गति करता हुआ ऊपर उठता जाता है।

(युवाना:) दुर्गुणों को त्याग कर सद्गुणों को अपनाने वाले युवक (अचित्तं ब्रह्म जुजुषु:) चेतना रहित ब्रह्म प्रकृति (जगत् के पदार्थों) का सम्यक् सेवन करते हैं यदि वे (मित्रे वरुणे धाम प्रगृणन्त:) प्राणिमात्र के मित्र और नियामक ब्रह्म के तेज की उपासना और स्तुति कर्ता बने रहते हैं।

निष्कर्ष - इस मन्त्र में यद्यपि केवल अचितंब्रह्म (प्रकृति) का ही प्रत्यक्ष वर्णन हुआ है किन्तु तीन ब्रह्म का संकेत मिलता है। इन तीन ब्रह्म का वर्णन अथर्व वेद में स्पष्ट रूप में दीखता है।

अर्थ प्रमाण - अचित्तंब्रह्म- चेतनारहित मन्नम् (भोग्यं भोगान्वा) स्वा.दया.। अनश्व:- अनभीशु:-सुवारथिश्वान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हत्प्रतिष्ठं यदजिरंजविष्ठं तन्मेमन:

वेद में आए ब्रह्म शब्द का विचार

शिवसंकल्पमस्तु।। यजु: 34-6

अर्वा - ऋच्छतीति - ऋच्छगतीन्द्रियमूर्तिप्रलयभावेषु।

ब्रह्म के तीनरूप

या आपो याश्च देवता या विराड्ब्रह्मणा। सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधिप्रजापति:।। ऋक् अथर्व 11-8-3
तस्माद्वैविद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते। अथर्व 11-8-32

ऋषि :- कौरूपथि:। देवता-मन्यु: (अध्यात्मम्)। छन्द: अनुष्टुप्।

(या आप:) रक्त सम्बन्धी, और मूत्र से सम्बद्ध पूर्व मन्त्रोक्त द्रव जलवं वीर्य (च या: देवता) और पूर्व मन्त्रों में वर्णित प्राणापान चक्षु, श्रोत्रादि देवता (या च विराट्) और जो विशेष रूप से राजमान रामणीय प्रकृति (ब्रह्मणा सह) ब्रह्म के साथ (शरीरं प्राविशत्) शरीर में प्रविष्ट हुए (अधि शरीरे प्रजापति:) इसी बीच शरीर में सन्तानोत्पादक तथा पालक जीवात्मा भी प्रविष्ट हो गया।

(तस्माद् वै) इस ही लिए (विद्वान् इदं पुरुषं ब्रह्म इतिमन्यते) विद्वान् मनुष्य- इस दृश्यमान शरीर पुरी में स्थित विद्यमान जीवात्मा को भी साक्षात् ब्रह्म ही मानता है, क्योंकि (सर्वा: देवता: गाव: इव शरीरे गोष्ठ इव आसते) इस शरीर रूपी गोष्ठ में गायरूप इन्द्रियों में सभी देवता निवास कर रहे हैं।

निष्कर्ष - (1) इस प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों का मनन करने के बाद यह परिणाम निकला कि -

(क) एक ब्रह्म को तीन भागों में विभक्त करके ही इस जगत् की व्याख्या की जा सकती है।

ब्रह्म -

ज्येष्ठ ब्रह्म	इदं ब्रह्म	अचित्तं ब्रह्म
परमात्मा	जीवात्मा	प्रकृति
परमेश्वर	ईश्वर	ईशा[4]
जगन्नियन्ता	शरीरनियन्ता	जगत्-शरीर
महान् पुरुष[1]	पुरुष[2]	पुरी[3]

1. वेदाहमेतं पुरूषं महान्तमादित्यवर्णं तमस: परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।। यजु: 31-17

2. तस्माद्वै विद्वानपुन्पुरुषमिदं ब्रह्मेतिमन्यते। अथर्व 8/30

3. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्यय: कोश: स्वर्गोज्योतिषावृत:। अथर्व 10-2-31

4. सर्वे देवा उपाशिशन्तदाजानाद्वध: सती। ईशा वशस्य या जाया सतस्मिन्वर्णमाभरत्। 11-8-17

(ख) वास्तव में-यह सब ब्रह्माण्ड - ब्रह्म का विस्तार या स्वरूप है।
तस्माद् इदं सर्वं ब्रह्म स्वयम्भु इति। तै0 आ0 1-23

अथर्ववेद में ब्रह्म का वर्णन

अथर्ववेद के दशम काण्ड में परमेश्वर अथवा ज्येष्ठ ब्रह्म को जगत् का कर्ता, धर्ता, तथा ब्रह्मविदों से उपासित कहा गया है। और साथ ही यह भी वर्णन है कि जो ब्रह्मविद् विद्वान् ब्रह्म की उपासना करते हैं, और ब्रह्म के साक्षात्कर्ता ब्रह्मविदों से विद्या प्राप्त करते हैं, वे भी परम ज्ञानी ब्रह्मा कहलाते हैं। उसे ब्रह्म भी कह सकते हैं।

(1) यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मावेदितास्यात्।। अथर्व 10-7-24

(2) य: श्रमात्तपसोजातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे।
सोमंयश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:।। अथर्व 10-7-36

ऋषि: - अथर्वा। देवता-स्कम्भ: (अध्यात्मम्)। छन्द: अनुष्टुप (य:) जो ज्येष्ठ ब्रह्म (श्रमात् तपस: जात:) श्रममय अनुष्ठानो तथा तपोमय जीवन से हृदय में प्रादुर्भूत होते हैं (य: सर्वान् लोकान् समानशे) यद्यपि वह सब लोकों के कण कण में व्याप्त है। (य: सोमंचक्रे केवलम्) जिस परमात्मा ने केवल वीर्य को ही आनन्द में विचरण करने का साधन बनाया है। (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:) उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।

निष्कर्ष- गृहस्थाश्रम में संयम पूर्वक रहते हुए संभोग द्वारा वीर्य पति पत्नी को आह्लाद प्रदान करता है। तपस्वीजन, वीर्य रक्षण द्वारा ऊर्ध्व रेता बनकर आह्लाद अनुभव करते हैं।

अर्थ पोषण - सोम: का अर्थ चन्द्रमा भी है और वीर्य भी चन्द्रमा शब्द 'चदि आह्लादे' से बनने के कारण आनन्द (आह्लाद) को भी निर्दिष्ट करता है। केवलम् का अर्थ केवल भी है, और क:सुखआनन्द का 'केवृसेवने' धातु के कारण, सेवन कराने वाला साधन भी है। इन दोनों के द्वयर्थक होने के कारण यहाँ चमत्कार प्रकट होता है।

केवल सोमं चक्रे - का अर्थ केवल आनन्द अर्थात् कैवल्यमुक्ति भी हो सकता है-

टिप्पणी (1) ऋक् 1-152-5 मन्त्र में भाष्यकार हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने 'अचितं

ब्रह्म' का अर्थ अचिन्तनीय ब्रह्म किया है, और अनश्वो जातो अनमीशुरर्वा' शब्दों को केवल शरीरस्थ जीवात्मा का विशेषण माना है। और इस प्रकार वे इस मन्त्र द्वारा केवल एक ही ब्रह्म को स्वीकार करते हैं।

अथर्ववेद में परमात्मा को ज्येष्ठ ब्रह्म, और शरीरस्थजीवात्मा पुरुष को इदं प्रत्यक्षं ब्रह्म कहा है। और प्रकृति के बदले शरीर या पुरी शब्द का प्रयोग किया गया है। अत: हमने अचित्तं ब्रह्म का अर्थ चेतना रहित (जड प्रकृति) किया है।

(2) वेद में आए ब्रह्म शब्द का विशेष महत्व है। अत: उसका कहाँ, कौन सा अर्थ लेना है के साथ यह भी विचार करना है कि कहाँ कितने अर्थों और किन किन अर्थों का ग्रहण करना है।

ब्रह्म के अन्य अर्थ

(1) विश्वामित्रा अरासत ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। करदिन्न: सुराधस:।। ऋक् 3-53-13

ऋषि: - गाथिनो विश्वामित्रा: । देवता-इन्द्र:। छन्द: गायत्री।

(विश्वामित्रा:) सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र या विश्व का मित्र भाव से कल्याण कामना करने वाले ज्ञानी, शूरवीर और धनीजन (वज्रिणे इन्द्राय) शत्रुओं और विपत्तियों को दूर करने के लिए शस्त्रास्त्र धारण करने वाले ऐश्वर्यशाली अपने प्रमुख के प्रति (ब्रह्म अरासत) क्रमश: उत्साहप्रद स्तोत्रगान, बलप्रदान तथा अन्न व धन प्रदान करते हैं। जिससे वह (न:) हम समस्त प्रजा को (सुराधस: करत्) उत्तम साधनों तथा रोग, विपत्ति और शत्रुनिवारक सिद्धियों से सम्पन्न करें।

निष्कर्ष - सम्पूर्ण प्रजा को अपने राजप्रमुख के लिए अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार उत्साह-विमर्श, बलका सहयोग, तथा अन्न और धन का सहयोग प्रदान करना चाहिए, ताकि वह प्रजा की सर्वविध विपत्तियाँ दूर करने में समर्थ बनकर उन्हें सदा सुखी व सन्तुष्ट रक्खे अर्थ पोषण- अरासत-रासृशब्दे, उत्साह प्रदस्तव तथा परामर्श दें रासते- दाने आख्यातानुक्रमणी 164 अन्न, धन, कर, रूप में देवें।

ब्रह्म - प्रज्ञायाम नामानु: 286। घने नि. 2-10। बले नामानु0 236/अन्ने नि0 2-9

सुराघस: राध साध संसिद्धौ।

ब्रह्म को आन्तरिक कवच बनाकर सब कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

(2) यो न: स्वो अरणो यश्च निष्टयो जिघांसति। देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्।। ऋक् 6-15-19

ऋषि : - पायुर्भारद्वाज:/देवता-देवा ब्रह्म च/छन्द:-अनुष्टुप्। (य: स्व: अरण:) जो शत्रु

चाहे अपने राष्ट्र का अथवा पराये राष्ट्र का (अरण:) बिना संग्राम किये (निष्टय:) छिपकर अथवा तिरोहित रूप से आतंकवादियों के द्वारा (न: जिंघासति) हमारी हिंसा करना चाहता है, (तं सर्वे देवा: धूर्वन्तु) उसे सब अर्थात् हमारे और विदेशों के सभी मनीषी लोग मिलकर उसे मार डाले समाप्त कर दें, क्योंकि मैंने (ब्रह्मम अन्तरं वर्म) प्रजा और सेना के तप को, मन्त्रियों और सेनापतियों के तत्वज्ञान को, वेद विहित साधनों को, और इन सब के द्वारा ईश्वर को भी अपना आन्तरिक कवच बना लिया है।

अर्थ-पोषण-ब्रह्म- ईश्वरो वेदस्तत्वंत पोवा। उणादिकोष 4-147

निष्कर्ष - ब्रह्म को आन्तरिक कवच बनाने का तात्पर्य है (क) परमेश्वर का श्रद्धापूर्वक स्मरण (ख) वेद का स्वाध्याय तथा तदनुरूप आचरण (ग) प्रत्येक स्थिति और पदार्थ का तत्व ज्ञान (घ) लक्ष्य प्राप्ति के लिए तपोमय प्रयत्न व श्रम

- क्रमशः

गौओं का रक्षक परमेश्वर

वेदरत्न आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

इषे त्वोर्जे त्वा वायाव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्याण्ध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरमीवाऽ'अयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥

-यजुः 1/1/

अन्वय:- (सविता देव:) त्वा इषे (प्रार्पयतु)। (सविता देव:) त्वा ऊर्जे (प्रार्पयतु)। (यूयम्) वायव: स्थ। सविता देव: व: श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु। अघ्न्या:! इन्द्राय भागम् आप्यायध्वम्। (अघ्न्या:! यूयम्!) प्रजावती: अयक्ष्मा: अनमीवा: (भवत)। स्तेन: व: मा ईशत। अघशंस: (व:) मा (ईशत) गोपतौ अस्मिन् ध्रुवा: स्यात्, बह्वी:(स्यात)। यजमानस्य पशून् पाहि।

अर्थ:- हे साधक! सर्वेत्पादक सर्वप्रेरक सब सुखों का दाता परमेश्वर (त्वा इषे) तुझे अन्नादि अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रेरित करे, उद्यमी बनाए। वही अन्नादि साधनों से (त्वा ऊर्जे) तुझे बल-पराक्रम आदि प्राप्त करने के लिए प्रेरित करे- प्रयत्नशील बनाये। हे साधको! (वायव: स्थ) तुम सब वायुरूप हो, शक्तिशाली आत्मा हो, निरन्तर गतिशील होकर साधना के पथ पर आनेवाली विघ्न-बाधाओं को आँधी और तूफान की तरह उखाड़ फेंकनेवाले परे हटा देनेवाले हो। इसलिए तुममें से प्रत्येक अन्नादि और अन्नादि पदार्थों से बल-पराक्रम प्राप्त करने में समर्थ है। (सविता देव: व: श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु) वह सबका जनक, सबका प्रेरक, सर्वेश्वर्यों का दाता प्रभुदेव तुम्हें सदा श्रेष्ठतम कर्म के लिए साधनारूप आध्यात्मिक यज्ञ कर्म के लिए प्रेरित करे।

(अघ्न्या:! इन्द्राय भागम् आप्यायध्वम्) हे साधक की अहिंसनीय इन्द्रियों! तुम इन्द्र-आत्मा के उत्थान के लिए अपना-अपना योगदान दो, अपना-अपना भाग प्रदान करो, अपने-अपने पुरुषार्थ के द्वारा भोग और ऐश्वर्य को बढ़ाओ, अपने-अपने ढंग से आध्यात्मिकैश्वर्य की अभिवृद्धि करो। हे अहन्तव्य- कभी न मारने योग्य-कभी न समाप्त करने योग्य, सर्वकर्मों में सहायक ज्ञानेन्द्रियो! तुम (प्रजावती: अयक्ष्मा: अनमीवा:) तुम प्रजाओंवाली, उत्तमोत्तम सन्तानोंवाली, उत्तम प्रजनन सामर्थ्योंवाली, नयी-नयी खोज करने वाली, नये-नये आविष्कार करनेवाली, नयी-नयी सूझ एवं उत्तमोत्तम उत्पादन प्रदान करने वाली, अपने उत्तमोत्तम

दर्शन-स्पर्शन-जिघ्रण-श्रवण-मनन-चिन्तन आदि द्वारा इस पिण्ड के राजा इन्द्र- जीव को उस ब्रह्माण्ड के राजा इन्द्र-परमपिता परमेश्वर तक पहुँचानेवाली, क्षय जैसे भयङ्कर रोगों से रहित रहनेवाली एवं सामान्य रोगों से भी क्षय-विक्षत होने से सदा बची रहने वाली होओ। (अघ्न्या:) हे अहिंसनीय इन्द्रियो! ([1]स्तेन: व: मा ईशत) कोई स्तेनवृत्ति, दूसरे की हिंसा-नाश करने की वृत्ति वा चोरी, छलकपट आदि करने की वृत्ति तुम्हें आक्रान्त न करे, तुमपर शासन न करे, तुमपर हावी न होवे, (अघशँस: मा ईशत) कोई पाप प्रशंसक भाव भी तुम्हें पददलित न करे, तुम पर शासन न करे, तुम्हारा स्वामी न बने, तुम पर हावी न होवे।

हे अहिंसनीय इन्द्रियो! (गोपतौ अस्मिन् ध्रुवा: स्यात, बह्वी: (स्यात) तुम सब गोपति-अपने-रक्षक-सबप्रकार से पालक-पोषक इस संयमी आत्मा के संरक्षरण में स्थिर होकर रहती रहो, निश्चल होकर रहती रहो, दृढ़ होकर रहती रहो और सुविकसित होकर बनी रहो। हे सविता देव! हे प्यारे प्रभो! (यज्ञमानस्य [2]पशून् पाहि) तू साधनारूप यज्ञ के सच्चे यजमान साधक के इन इन्द्रियरूप पशुओं की रक्षा कर,उसके साधनारूप यज्ञ में सहायक इस इन्द्रियरूप प्रजा की रक्षा कर।

प्रत्येक साधक को चाहिए कि प्रभु की प्रेरणा के अनुरूप धन आदि पदार्थों का अर्जन करे। धनादि अर्जन कर प्रभु की प्रेरणा के अनुसार ही उसका उपभोग कर अपने शरीर, आत्मा के बल को बढ़ाए। सब साधन वायुरूप हैं, गतिशील हैं, शक्तिशाली हैं। एक बार यदि वे साहस करके अपनी साधना की राह पर आगे बढ़ने लगेंगे, आँधी और तूफान की तरह चलने लगेंगे, तो वे सब विघ्न-बाधाओं को सहज ही उखाड़ते-पछाड़ते हुए निरन्तर आगे-ही-आगे बढ़ते रहेंगे। [3]किसी ने सच ही कहा है कि वह सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक परमदेव परमात्मा भी उन्हीं का साथी होता है जो पुरुषार्थी होते हैं। इसलिए वह भी निरन्तर अपने उन पुरुषार्थी उपासकों को श्रेष्ठतम कर्म साधना की प्रेरणा देता रहेगा, उनकी सब प्रकार से सहायता करता रहेगा।

साधकों को चाहिए कि वे अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का ऐसे ढंग से उपयोग करें कि ये सदा उनके उत्थान के लिए अर्थात् आत्मोत्थान के लिए अपना-अपना योगदान करती रहें। आँखें स्वाध्याय द्वारा आत्मा के ज्ञानरूप को ऐश्वर्य को बढ़ाएँ, श्रोत्र श्रवण द्वारा आत्मा के ज्ञानरूप ऐश्वर्य को बढ़ाएँ मन मनन-चिन्तन आदि द्वारा और बुद्धि निश्चय आदि द्वारा आत्मा के ऐश्वर्य को बढ़ाए, इत्यादि। आगे साधकों को फिर यह करना चाहिए कि वे इन इन्द्रियों को

---

1. 'स्तेन:' स्त्यै संघाते+इनच, बाहुलकाद् य लोपश्च। अथवा स्तेन चौर्ये+अच्। स्तेन:।
2. "इन्द्रियाणि वै पशव:" तै0 ब्रा0। पश्यन्ति विषयाननुभवन्ति इति पशवश्चक्षुरादीनि-इन्द्रियाणि।
इन्द्रियाणि वै पशव:" तैतिरीयब्रा0। पश्यन्ति विषयाननुभवन्ति इति पशवश्चक्षुरादीनि-इन्द्रियाणि।
3. God helps those who help themselves.

उत्तमोत्तम सन्तानोंवाली-उत्तमोत्तम नयी-नयी सूझ-बूझ-बूझवाली, नये-नये आविष्कारोंवाली बनाएँ। उन्हें सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई हिंसा की, विनाश की, चोरी, छल-कपट आदि की निकृष्ट वृत्ति उनकी इन गौओं को हर न ले, उनकी इन इन्द्रियों को आक्रान्त न करले। इसी प्रकार कोई पापप्रशंसक भाव भी उनकी इन गौओं का हरण न करले, उनकी इन इन्द्रियों पर हावी न हो जाए, उनकी इन इन्द्रियों का स्वामी बनकर उनसे कोई पाप-अपराध वा नीच कर्म न करा ले। उन संयमी साधकों को चाहिए कि वें सदा इन इन्द्रियरूप गौओं के रक्षक, पालक-पोषक बनकर इनको अपने रक्षण-संरक्षण में स्थिर बनाए रखे।-निश्चल बनाए रखें और ऐसे ढंग से रखें कि ये सदा सुविकसित होती रहें, सदा सशक्त होती रहें तथा सब प्रकार से साधक के साध्य में सहायक होती रहें। जो साधक अपने उस अध्यात्मयज्ञ की सफलता के लिए इस प्रकार खूब पुरुषार्थ करते है, जिसमें लौकिक घृत-सामग्री और समिधाओं के स्थान पर श्रद्धा-भक्ति से आत्मसमर्पण किया जाता है, उन सच्चे साधक=यजमानों के पशुओं की, इन्द्रियों की वह परमपिता परमेश्वर ही सब पाप-तापों से रक्षा करता है।

मानव-शरीर की महत्ता

डॉ. रामनाथ वेदालंकार
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपत्ति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

यह सर्वश्रेष्ठ है

जितने भी सजीव शरीर हैं, उनमें मानव शरीर की महत्ता सबसे अधिक है। ऐतरेय उपनिषद् का एक छोटा-सा कथानक है- ''सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवों की रचना की। वे देव जब जगत् में अवतीर्ण हुए तब कहने लगे कि हमें रहने के लिए घर दीजिए, जहाँ रहकर हम अपने-अपने भोगों को भोग सकें। परमात्मा उनके आगे गाय का शरीर लाया। उन्होंने कहा यह हमें पसन्द नहीं है। परमात्मा उनपके आगे घोड़े का शरीर लाया। उन्होंने कहा यह भी हमें पसन्द नहीं है। परमात्मा उनके आगे पुरुष का शरीर लाया। उसे देखते ही वे उछल पड़े और बोले यह बहुत अच्छा बना है, यह हमें पसन्द है। तुरन्त सब देव उसमें प्रविष्ट हो गए और उन्होंने अपना-अपना स्थान चुन लिया। इस कथानक द्वारा उपनिषत्कार ने बहुत सुन्दर रूप में मानव-शरीर की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

सचमुच मानव शरीर की रचना और क्रियाशक्ति बड़ी अद्भुत है। इसीलिए अथर्ववेद का कवि इसके एक-एक अंग पर मुग्ध होता हुआ 'केन सूक्त' में कहता है- ''अहो, किस विलक्षण कारीगर ने इस मानव शरीर में एड़ियाँ बनाई हैं, किसने मांस भरा है, किसने टखने बनाए हैं, किसने परुओं वाली अँगुलियाँ बनाई हैं, किसने इन्द्रियों के छिद्र बनाए हैं, किसने तलवे और किसने मध्य का आधार बनाया है? किस उत्पादन-कारण से लेकर इस शरीर में नीचे टखने और उसके ऊपर घुटने बनाए गए हैं, जाँघें जोड़ी गई हैं, दोनों घुटनों के जोड़ रचे गए हैं ? घुटनों से ऊपर का यह धड़, जिसके चारों सिरों पर दो भुजा और दो जाँघों के चार जोड़ हैं, किस कारीगर ने बनाया है ? किसने कूल्हे बनाए हैं जहाँ, दोनों जाँघों की हड्डियाँ जुड़ी हैं ? अहो, कितने और कौन-से वे कारीगर थे जिन्होंने मनुष्य की छाती और गर्दन बनाई, स्तन बनाए, कपोल बनाए, कन्धे बनाए, पसलियाँ बनाईं, किस कारीगर ने वीरता के कार्य करने के लिए इसकी दोनों भुजाएँ बनाई हैं ? किसने दोनों कन्धों को शरीर के साथ जोड़ा है ? किसने इसके दो कान रचे हैं, दो नाक के छेद रचे हैं, दो आँखें रची हैं, मुख रचा है ? सिर के ये सातों छेद किसने घड़े हैं ? कहो, किसने दोनों जबाड़ों के बीच में जिह्वा रखी है, जिससे यह वाणी बोलती है ? कौन-सा वह कारीगर है, जिसने इसका मस्तिष्क बनाया है, ललाट बनाया है, गले की घाँटी बनाई है, कपाल बनाया है ? किसने इसके दोनों जबड़ों में शृखलाबद्ध दाँत जड़े हैं

? किसने इस शरीर में रक्त भरा है, जो लाल-नीला रूप धारण कर हृदयसिन्धु से आता-जाता है और ऊपर-नीचे इधर-उधर सब ओर प्रवाहित होता है ? किसने शरीर में रूप भरा है ? किसने इसमें नाम और महिमा निहित की है ? किसने प्रगति, ज्ञान और चरित्र को पैदा किया है ? किसने इसमें प्राण-अपान का ताना-बाना किया है, किस देव ने इसमें समान को निहित किया है ? किसने शरीर के ऊपर त्वचा का वस्त्र पहनाया है, किसने इसकी आयु रची है, किसने इसे बल प्रदान किया है, किसने इसे वेग दिया है ? किसने इसमें रेतस् भरा है, जिससे यह प्रजातन्तु का विस्तार करता है ? किसने इसमें बुद्धि पैदा की है, किसने इसे वाणी और नृत्य-कला दी है ?

- (अथर्व0 10.2.1-17)

मानव शरीर की अद्‌भुत कृति पर ऐसे ही उद्‌गार सहसा प्रत्येक के मुख से निकल पड़ते हैं। मनुष्य व्यक्त वाणी द्वारा अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकता है, मन से चिन्तन कर सकता है, बुद्धि से बड़ी-बड़ी समस्याओं को सुलझा सकता है। ये सब बातें अन्य शरीरों की अपेक्षा मानव-शरीर में विलक्षण हैं, जिनके कारण उसे श्रेष्ठता का पद मिला है।

यह देवपुरी है

इस मानव-शरीर को देवों की पुरी कहा गया है। ब्रह्माण्ड के सब देव इस शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर अपना-अपना स्थान बनाकर बैठे हैं। अथर्ववेद 11.8 के अनुसार "शरीर की हड्डियों को समिधाएं बनाकर, रस-रक्त आदि को जल बनाकर, रेत्स को घृत बनाकर सब देवपुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए-हुए हैं और यज्ञ रच रहे हैं। इस शरीर में सब जल, सब देवता, समस्त विराट् जगत् प्रविष्ट है, प्रजापति ब्रह्मा भी इसके अन्दर है। सूर्य चक्षुरूप में शरीर में विद्यमान है, वायु प्राण रूप में, शरीर के अन्य अंग अग्नि को मिले हैं। जो विद्वान् है वह इस मानव-शरीर को साक्षात् देवपुरी या ब्रह्मपुरी समझता है, क्योंकि जैसे गौएं गौशाला में रहती है, वैसे ही सब देव इस शरीर में आकर बसे हुए हैं।"[2] ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार, "अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्टा हैं, वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हैं, दिशाएं श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हैं, औषधि-वनस्पतियाँ लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हैं, चन्द्र मन बनकर हृदय में प्रविष्ट है, जल रेतस् बनकर शिश्न में प्रविष्ट है। अथर्ववेद 10.2.31-33 के अनुसार मानव-शरीर देवपुरी अयोध्या है, जिसमें आठ चक्र हैं, नौ द्वार हैं। इस पुरी के अन्दर एक ज्योति से आवृत हिरण्यय कोश है जिस के अन्दर एक यक्ष वास करता है, जिसे वे जानते हैं, जो ब्रह्मवित् हैं। इस प्रभ्राजमाना, हृदयहारिणी, यशोमयी, अपराजिता, स्वर्णिम देवुपुरी में ब्रह्मा का वास है।[3]

इस प्रकार मानव-शरीर के संबन्ध में वैदिक दृष्टिकोण यह है कि यह एक देवपुरी है,

आंख-नाक कान आदि सब अवयव एक-एक देवता के प्रतिनिधि हैं। वैदिक विचार के अनुसार यह शरीर मल-मूत्र का चोला, या त्यागने योग्य वस्तु नहीं है। मानव-आत्मा को अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि देवताओं की यह पुरी उसे रहने के लिये मिली है।

यह यज्ञस्थली है

इस शरीर के संबन्ध में वैदिक साहित्य में यह विचार भी मिलता है कि यह एक यज्ञस्थली है। इस शरीर को हमें विषय-भोग का ही साधन न समझकर एक पवित्र यज्ञगृह समझना चाहिए। अथर्व. 10.2.14 'किस एक देव ने पुरुष-शरीर के अन्दर यज्ञ को निहित किया है?'[5] यह कहता हुआ मानव-शरीर की यज्ञमयता को स्वीकार करता है। अथर्व. 11.8.29 जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, शरीर की यज्ञमयता को बताता हुआ कहता है कि शरीर में हड्डियाँ ही समिधाएं हैं, रुधिर-वस्ति आदि के आठ प्रकार के जल ही यज्ञिय जल हैं और रेतस् ही घृत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हड्डियों को समिधा तथा रेतस् को घृत कहा गया है।[6] यजुर्वेद 34.4 में मन की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मन के द्वारा ही सप्तहोता यज्ञ चलता है।[7] यह सप्तहोता यज्ञ पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सात होताओं से परिचालित होने वाला ज्ञानप्राप्ति-रूप यज्ञ ही है, जो शरीररूप यज्ञशाला में होता है। गोपथ ब्राह्मण में शारीरिक यज्ञ की व्याख्या इस प्रकार की गयी है- ''पुरुष का शरीर यज्ञ-भूमि है। मन ही इस यज्ञ का ब्रह्मा है, प्राण उद्‌गाता है, अपान प्रस्तोता है, व्यान प्रतिहर्ता है, आंख अध्वर्यु है, प्रजापति सदस्य है, अन्य अंग होत्राशंसी हैं, आत्मा यजमान है।[8] छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रकरण में मानव-शरीर के यज्ञ का वर्णन इस रूप में मिलता है- ''पुरुष-शरीर एक यज्ञ है, उसकी आयु के प्रथम चौबीस वर्ष प्रात: सवन हैं....अगले चौबालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं. ..... उससे आगे अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं...... इस प्रकार यह एक सौ सोलह वर्ष चलने वाला यज्ञ है। इस भावना से जो अपने शरीर को चलाता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रह सकता है।''[9]

यह ऋषिभूमि है

यह शरीर ऋषियों की भूमि भी है। यजुर्वेद 34.55 में कहा है कि ''इस शरीर में सात ऋषि बैठे हुए हैं। वे सातों बिना प्रमाद किए इस शरीर की रक्षा कर रहे हैं। जब यह शरीर सोता है तब सातों ऋषि आत्मलोक में चले जाते हैं, पर दो देव ऐसे हैं जो उस समय शरीर में जागते रहते हैं।''[10] निरुक्त की व्याख्या के अनुसार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि, ये शरीर के सात ऋषि हैं। ये सदैव शरीर की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यदि शरीर में से ये ऋषि निकल जाएँ और मनुष्य आँख से देख न सके, नासिका से गंध ग्रहण न कर सके, कान से सुन न सके, जिह्वा से स्वाद का ज्ञान और त्वचा से स्पर्श ज्ञान न कर सके, मन से चिन्तन और बुद्धि से विवेचन न कर सके, तो कोई भी आकर उसकी हिंसा कर सकता है। आँख आदि के अभाव

में उसे ज्ञान तक न होगा कि कोई उसकी हिंसा करने आया है। जब यह शरीर सोता है तब आँख आदि ऋषि स्थूल रूप में अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं; उस समय वे आत्मलोक में चले जाते हैं। किन्तु उस समय भी आत्मा और प्राण ये दो देव शरीर में जागते रहते हैं, क्योंकि ये भी कहीं चले जाएँ तो शरीर मृत ही हो जाए।

अथर्व 10.8.9 में शरीर के विषय में यह वर्णन मिलता है कि "यह एक चमस (चम्मच या पात्र) है जिसका बिल नीचे की ओर और पृष्ठ ऊपर की ओर है, तो भी इसमें सब प्रकार का यज्ञ निहित है। इस चमस में सात ऋषि भी बैठे हुए हैं जो इसकी रक्षा कर रहे हैं।"[11] यह चमस शरीर का मूर्धा (गर्दन से ऊपर का हिस्सा) ही है। साधारण चमसों का पृष्ठ नीचे और छिद्र ऊपर रहता है, नहीं तो उनमें रखी वस्तु गिर जाए। पर यह ऐसा अद्भुत चमस है कि इसका छिद्र (मुख) नीचे की ओर है और पृष्ठ (खोपड़ी) ऊपर है, तो भी इसमें विश्वरूप यश, सर्वविध ज्ञान भरा हुआ है, गिरता नहीं। सात ऋषि पूर्वोक्त सात इन्द्रिय रूपी ऋषि हैं जो इसमें बैठे हुए इसकी रक्षा कर रहे हैं। ये सात ऋषि दो कान, दो नासाछिद्र, दो आँख और एक मुख भी हो सकते है, जैसा अथर्व वेद 10-2-6 में परिगणित किए गए हैं।[12] शतपथ ब्राह्मण (14. 4.2) में भी इस चमस में रहने वाले ये ही ऋषि बताए गए हैं और यह कहा गया है कि दो कान गौतम और भारद्वाज हैं, दो नासिकाएँ वसिष्ठ और कश्यप हैं, दो आँखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, मुख अत्रि है।

एवं वैदिक विचार के अनुसार हमें शरीर के प्रति यह भाव रखना चाहिए कि यह ऋषियों की पवित्र तपोभूमि है और इसे किसी प्रकार दूषित नहीं होने देना चाहिए।

यह रथ है

वैदिक साहित्य में इस शरीर को रथ भी कहा गया है। कठ उपनिषद् में यह रूपक इस प्रकार है - "शरीर एक रथ है, आत्मा रथस्वामी है, बुद्धि उसका सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, विषय चरागाह हैं। जो बुद्धि-रूपी सारथि का उपयोग नहीं करता और मन रूपी लगाम को ताने नहीं रखता, उसकी इन्द्रियाँ वश से बाहर हो जाती हें, जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश से बाहर हो जाते हैं। पर जो बुद्धि-रूपी सारथि का उपयोग करता है और मन-रूपी लगाम को ताने रखता है, उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, जैसे सधे घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।"[13]

शरीर की रथ से उपमा वेदों में भी दी गई है। ऋग्वेद 2.18.1 में कहा है - "मनुष्य-शरीर इन्द्र का रथ है, जिसमें चार युग हैं, तीन कशाएँ (चाबुक) हैं, प्रातः काल साफ-सुथरा और नया करके जोता जाता है, सदिच्छाओं और बुद्धियों से चलाया जाता है।"[14] ऋग्वेद 10.59.10 में इसी शरीर-रथ के लिए कहा गया है कि "हे इन्द्र, तू शरीर-रथ को खींचने वाले बैल को ठीक प्रकार से चला, जो कि उशीनराणी के रथ को खींचता है। सूर्य और

पृथिवी तेरे इस रथ के दोषों को दूर करते रहें, जिससे कोई भी रोग तुझे न सताए।''[15] इस मन्त्र में यह कल्पना की गई प्रतीत होती है कि यह शरीर एक रथ है, जिसमें देवराज इन्द्र (आत्मा) अपनी रानी उशीनराणी (बुद्धि) सहित बैठे हुए हैं, प्राण-रूपी बैल (अनड्वान्)[17] इस रथ को खींच रहा है। इन्द्र (आत्मा) को कहा गया है कि तू इस प्राण-रूपी बैल को ठीक प्रकर से चला, नहीं तो यह शरीर -रथ को रोगादि के गढ़ों में गिरा देगा। सूर्य की किरणों से और पृथिवी की ओषधि-वनस्पतियों से इस रथ के मलों को दूर करते रहना चाहिए, अन्यथा यह रथ रोगग्रस्त होकर चलना बन्द कर देगा।

ऋग्वेद 10.135.3 में मनुष्य को सम्बोधन कर कहा है- ''हे कुमार, बिना पहियों के ही चलने वाले, एक ईषादण्ड वाले, चारों ओर वेग से चलने-फिरने वाले जिस नवीन रथ को तूने मन से पसन्द किया है, उसपर तू बिना समझ-बूझ ही बैठा हुआ है।''[18] यह बिना पहियों के चलने वाला नवीन रथ शरीर ही है, जिसमें मेरुदण्ड-रूपी एक ईषादण्ड है। वेदमन्त्र मनुष्य को कहता है कि हे कुमार, जिस रथ को लोग जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या के बाद कभी पाते हैं, ऐसा उत्तम मानव-शरीर रूपी रथ तुझे मिला है, तो भी आश्चर्य की बात है कि उसपर बिना देखे-भाले, बिना सोचे-समझे तू बैठा हुआ है। तेरी स्थिति वैसी ही है जैसी उस मनुष्य की जो कि रथ पर बैठा हुआ है, परन्तु जिसे यह नहीं मालूम कि जाना कहाँ है। तुझे चाहिए कि तू जीवन में अपना कोई उच्च लक्ष्य निर्धारित करे और उस तक पहुँचने के लिए शरीर-रूपी इस उत्तम रथ का उपयोग करे।

इससे अगले मन्त्र में कहा है कि ''हे कुमार, यदि तू अपने इस शरीर-रथ को प्रियजनों के निर्देश के अनुसार चलाएगा, तभी यह समगति के साथ चल सकेगा और तभी विघ्न-बाधाओं की नदियाँ बीच में पड़ने पर नौका पर चढ़ाए हुए रथ की तरह यह कुशलता के साथ उन नदियों को पार कर सकेगा।''[19]

ऋग्वेद के इसी सूक्त में इस शरीर-रथ की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न उठाया गया है- ''किसने कुमार को पैदा किया है, किसने उसका रथ (शरीर) रचा है, कौन हमें आज यह बताएगा कि कैसे यह अनुदेयी (एक की गोद से दूसरे की गोद में दिए जाने योग्य) होता है?''[20] अगले दो मन्त्रों में इसका उत्तर दिया है- ''पहले यह माता के गर्भ से पैदा होता है, उसके बाद अनुदेयी होता है। पैदा होते समय पहले इसका सिर निकलता है, फिर यह सारा बाहर आ जाता है। यह यम के (जीवात्मा के) बैठने का रथ है, जो कि देवनिर्मित है। देखो, यह इसकी नाड़ी चल रही है, यह वाणियों से परिष्कृत है।''[21]

इस प्रकार हम देखतें हैं कि हमारे प्राचीन साहित्य में शरीर को एक रथ कल्पित किया गया है और मनुष्य को यह सन्देश दिया गया है कि जैसे किसी रथ पर चढ़कर वह सुदूर स्थान पर पहुँच सकता है, वैसे ही इस शरीर-रूपी रथ को पाकर उसे अपने दूरवर्ती लक्ष्य तक पहुँचना

चाहिए, तभी उसका इस उत्तम रथ को पाना सार्थक होगा।

आओ, इस सर्वश्रेष्ठ शरीर को पाकर हम सचमुच सर्वश्रेष्ठ बनें। इस देवपुरी में निवास कर हम सचमुच देव बनें। इस यज्ञस्थली में वास करते हुए हम सचमुच यज्ञ करें। इस ऋषिभूमि में वास करते हुए हम सचमुच ऋषि बनें। इस अनुपम रथ पर चढ़कर दिव्य पथ के पथिक बनें।

पाद-टिप्पणियाँ

1. ऐ0 उप0 2.1-3
2. अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
   रेत: कृत्वाऽऽज्यं देवा: पुरुषमाविशन्।।
   या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
   शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापति:।।
   सूर्यश्चक्षुर्वात: प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
   अथास्येतरमात्मानं देवा: प्रायच्छन्नग्नये।।
   तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
   सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते।। - अथर्व0 11.8.29-32
3. ऐ0 उप0 2.4
4. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
   तस्यां हिरण्यय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत:।।
   तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
   तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदु:।।
   प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
   पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्।।

   आठ चक्र=शरीर में नीचे से ऊपर की ओर क्रमश: मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार। नौ द्वार- दो कान, दो नाक के छेद, दो आँखें, एक मुख, दो अधोद्वार। हिरण्यय कोश= आनन्दमय कोश। यक्ष, ब्रह्मा=आत्मा या परमात्मा।
5. को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।
6. अस्थि वा एतत् यत् समिध:। एतद् रेतो यदाज्यम्। तै0 ब्रा0 1.1.9.4
7. येन यज्ञस्तायते सप्तहोता।

8. पुरुषो वै यज्ञस्तस्य.... मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपान: प्रस्तोता, व्यान: प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्यु:; प्रजापति: सदस्य:, अंगानि होत्राशंसिन:, आत्मा यजमान:-गोपथ उ0 5.4
9. छा0 उप0 3.16
10. सप्त ऋषय: प्रतिहिता: शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्ताप: स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।
11. तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
12. क: सप्त खानि विततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
13. कठ, तृतीय वल्ली, श्लोक, 3.6
14. प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकश: सप्तरश्मि:।
    दशारित्रो मनुष्य: स्वर्षा: स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्।।
    इन्द्र=आत्मा। चार युग = दो भुजाएँ, दो टाँगें। तीन चाबुकें=मन, बुद्धि, प्राण। सात लगामें=सप्त शीर्षण्य प्राण। दस घोड़े=दस इन्द्रियाँ।
15. समिन्द्रेरय गामनड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अन:।
    भरतामप यद् रपो द्यौ: पृथिवि क्षमा रपो मोषु ते किञ्चनाममत्।।
16. उशी- इच्छावान्, नर: - आत्मा, तस्य पत्नी उशीनराणी बुद्धि:।
17. अन: शरीररथं वहतीत्यनड्वान् प्राण:। 'अनड्वान् प्राण उच्यते' - अथर्व 11.4.13
18. यं कमार नवं रथचक्रं मनसाकृणो:।
    एकेषं विश्वत: प्राञ्चमपश्यन्नधितिष्ठसि।।
19. यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
    तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम्।। - ऋ0 10.135.4
20. क: कुमारमजनयद् रथं को निरवर्तयत्।
    क: स्वित् तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्।। - वही, मन्त्र 5
21. यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
    पुरस्ताद् बुध्न आतत: पश्चान्निरयणं कृतम्।।
    इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
    इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भि: परिष्कृत:।। - वही, मन्त्र 6,7

साहित्य: जीवन की अभिव्यक्ति और वास्तविकता

-डॉ० देवराज पी० यू० एस०
उपकुलसचिव
क्षत्रपतिशाहू जी महाराज
विश्वविद्यालय, कानपुर

साहित्य युग-युग से हमारे हृदय के कोमल तारों को झंकृत करता हुआ हमारी मानसिक भूख मिटाता रहा है। साहित्य ही एक ऐसी शीतल स्वर्गीय छाया है, जिसके नीचे बैठकर हम कुछ समय के लिए संघर्ष जनित सन्ताप एवं पारस्परिक द्रोह मोह को भूलकर सच्चे सुख का रस पान करते है। साहित्य शब्द अपने आप में एक ऐसा शब्द है, जिससें हित की भावना निहित है। यह हित एक व्यक्ति नहीं, एक समाज नहीं, वरन साहित्य से आगे बढ़ते हुए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यंजित होता है।

साहित्य हृदय का स्वाभाविक उद्‌गार है। जनता तो हृदय देखती है, हृदय की बात सुनती है और हृदय की प्रेरणा से अपना कर्तव्य निश्चित करती है। सविकार भावों को तोलकर जनता पीछे हट जाती है, बढ़ती है उस ओर जहाँ उसे सरस वाक्यों के विशाल हृदय की सूचना प्राप्त होती है। अन्त:करण की बात ही अन्त: करण में बैठती है। अत: साहित्य ही हमारे ह्रदय में निवास करता है। साहित्य सौन्दर्य को लेकर चलता है जहाँ सौन्दर्य नहीं वहाँ कला नहीं। साहित्यिक दृष्टि से जो सुन्दर है वहीं उपादेय भी, कल्याण प्रद भी, और सत्य भी है। साहित्य का महत्व जीवन के अन्त: बाह्य दोनों भागों में है। साहित्य मानव जीवन में अत्यधिक महत्व का है। अत: सौन्दर्योपासक मनुष्य के जीवन विकास के लिए साहित्य ही अधिक महत्वपूर्ण है।

धरती का सर्वोपरि सत्य मानव जीवन है। इसे ही उजागर करने के लिए साहित्य का रथ काल की डगर पर आगे बढ़ता है। शब्द शिल्पी अपनी कला साधना एवं त्याग तपस्या के द्वारा जनमानस में सुखद परिवर्तन का स्वर्णविहान लाता है। उसकी आस्था, नैतिकता, धर्म, मूल्य जीवन से निकलकर साहित्य में सार्थक होता है। सच्चा सृजनकार मात्र कल्पना लोक में ऊंची ऊँची उड़ाने नहीं भरता है और न ही आदर्शों की सतरंगी सेज पर सोता है, वह तो मानव हृदय की तृप्त भावनाओं और संवेदनाओं के पुष्पों से ही साहित्य देवता का श्रृंगार सजाते हुए लोक मंगल का गान मुखरित करता है। ऐसे सहित्य की सुरभि युग और देश की सीमा पार कर अमरता के क्षितिज तक पहुँच जाती है, और वह कालजयी एवम् शाश्वत बन जाता है।

चिरकाल से ही मानवता के मसीहा साहित्यकार जीवन को मूल्यवान सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहे है। वह मानव जाति की आत्मा की भाषा गढ़ने में निमग्न रहे। उन्होंने जीवन को स्तरों पर भोगा और अपनी मार्मिक अनुभूति को सुदृढ के सिंहासन पर बैठकर उसे साहित्य में

प्रतिबिम्बित किया। इस तरह साहित्य जीवन के ताप और स्वाभाविकता का अभूतपूर्व दर्पण बन गया। जीवन की स्वाभाविकता में भोग्यमान मानव, जीवन के प्रति अटूट आस्था के रूप में झलकने लगा, हमारे राग विराग की सभी पर्तो का सुकोमल स्पर्श होने लगा और हम अत्यन्त सहज भाव से यह तथ्य स्वीकार करने लगे, कि सम्पूर्ण साहित्य चाहे वह रवीन्द्र नाथ का हो या बंकिम चन्द्र का प्रेमचन्द्र का, हो या शरतचन्द्र का गोर्की का हो या टालस्टाय का, मार्क्स का हो या डार्विन का लोक केन्द्रित है। उनकी रचनाएं उनके भाव विगलित हृदय की सच्ची अनुभूति और संजीविनी से सिक्त है। सहित्य के सभी पात्र चाहे वे छोटे हो या बड़े सच्चे अर्थो में जीवन के आमने सामने खड़े होते है। उनका रग रग वास्तविक जीवन की विश्वसनीयता से संयुक्त होता है। जीवन सत्य को साधारणीकृत कर सम्प्रेषित करने वाला यह साहित्य जन जन का कंठहार बनकर समाज मे लोक मंगल की गंगा प्रवाहित कर देता है।

लोक कल्याणकारी साहित्य के प्रणेता संस्कार शिल्पी के रूप में न्याय और नैतिकता का आदर्श स्थापित करते है। इससे धर्म और परम्परा की गूँज होती है। शास्त्रों और संस्कारों की सुगन्ध होती है। वे पापी अनाचारी को कठोरतम सजा देते हैं तथा पुण्यात्मा और आदर्श चरित की आरती सजाते है। मनुष्य उनके लिए रक्त मांस का दुर्बल पुतला नहीं वरन् देवोपम अलौकिक गुणों से सुसज्जित अपरिमित शक्ति का जीवन स्रोत है। मानव जीवन के ये अध्येता अपने साहित्य द्वारा मानव समाज को जीवन का विष पचाकर भी उसके प्रति आस्थावान रहने की प्रेरणा देते है। प्रख्यात कथाकार शरत्चन्द्र अपने सभी पात्रों को वियोग की ज्वाला में तिल तिल कर छोड़ देते हैं। परन्तु उन्हें आत्महत्या अथवा सन्यास के अकर्मण्य और अनास्था मूलक धारा में नहीं जाने देते। यह अन्धकार को झेलकर प्रकाश की डगर पर चलने की अद्‌भुत प्रेरणा है। मानव जीवन के ऐसे प्रेरणादायी चितरों की कला-चेतना के सारे द्वार लोक मंगल के राजघाट पर खुलते हैं। उनका साहित्य मानव जीजव का साज संवार कर मांगलिक कार्य करता हुआ अपनी पुनीत सार्थकता सिद्ध करता है। स्नेह, सद्‌भाव करुणा बन्धुत्व जैसे शाश्वत मूल्यों को समाज में स्थापितकर हमें नैतिक बल प्रदान करता है और हमारी मानवता पुष्टता को प्राप्त होती है।

साहित्य सेवी वास्तव में अपनी आस्था को अपने सुख दुख को समृद्धि के सुख दुःख के साथ मिला कर देखता है। अपने सत्य को खोजकर अपने आंसुओं और हास्य की कथा इस प्रकार करता है कि वही अश्रु वही हास्य सम्पूर्ण मानवता की हो जाए। तुलसी, बाल्मीकि कालिदास बाहर से अपने अपने युग के अनुरूप है, पर आन्तरिक रूपसे वे नितान्त हमारे है। इतने सौ सौ वर्षो तक हँमारे साथ आने के बाद आज भी उनके साहित्य का जन मानस पर प्रभाव और प्रेषणीयता अमोघ है।

साहित्य की संवेदना वायवीय नहीं है, वह मानव हृदयों के उस धरातल पर होती है, जहाँ

मनुष्य और मनुष्य के बीच एक सम्बन्ध सेतु बन जाता है। प्रेमचन्द्र का 'गोदान' अर्थाभाव के बावजूद परस्पर प्रगाढ़ स्नेह की डोर को अक्षुण्ण बनायें रखने की भावना, हमारे अन्तर्मन की उस कोमल सतह पर प्रस्फुटित करती है जहाँ हम उसे कार्य रूप में विकसित कर अपने सन्निकट व्यक्तियों तक पहुँचने के लिए बाध्य हो जाते है यही नहीं उद्दण्डता बाह्य आडम्बर प्रियता, विलासिता, हृदयहीनता और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के सामाजिक परिवेश में निरन्तर गर्त की ओर भागता मानव, क्षण भर के लिये सचेत हो ठिठक पड़ता है प्रेम, सेवा, सहानुभूति, विनय, धैर्य, त्याग के अनमोल गुणों को अपने मंजूषा में टटोलने के लिए।

भोगवाद के इस युग में विलासी मानव की दुर्व्यसनी प्रकृति को उनकी सशक्त लेखनी झकझोर कर रख देती है। रूढ़वादिता, अन्ध विश्वास, पाखण्ड, धर्मान्धता जैसे कितने ही कुसंस्कारों और कुरीतियों के प्रति मानव हृदय में घृणा उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा देने में प्रेमचन्द्र के साहित्य का पैनापन निस्संदेह बेजोड़ है। उनका साहित्य मानव व्यक्तित्व के प्रति महान् आदर्श पर आधारित है। समानता निःस्वार्थ, प्रेम, त्याग, सहनशीलता, उदारता करुणा की उनकी कृतियों में आदर्श का रूप प्राप्त है। उनका यह आदर्शवाद मानव का नैतिक उत्थान करता है। वह मनुष्य के अन्तरतम में आस्था और श्रद्धा की ज्योति जलाकर उसके प्रकाश को चतुर्दिक व्याप्त करने का सुअवसर प्रदान करता है। निश्चय ही साहित्य जीवन का दर्पण ही नहीं वरन् उसे प्रकाशमान करने वाला 'देदीप्यमान्' दीप भी है।

साहित्य जीवन का व्याख्याता है। वह जीवन के महान् सत्य का उद्घाटन कर्ता है। वह मनुष्य के भीतर उन भव्य प्रवृत्तियों और आत्मिक गुणों का विकास करता है, जो उसे एक सुखद सुन्दर संसार के निर्माण में आने वाली बाधाओं को परास्त करने की शक्ति दे सके। जयशंकर प्रसाद और निराला का साहित्य वर्तमान में मनुष्य की असंतुष्टि का समर्थक है परन्तु जीवन की वेदना पीड़ा से पलायन का घोर विरोधी भी है। 'सुख से सूखे जीवन में' प्रसाद ने जिस आंसू का आह्वान किया है, वह प्रभात के हिमकण की भांति उज्ज्वल है। उनके साहित्य में करुणा इस अर्थ में मानवीय परिवर्तन की वाहक है कि वह तमाम बंधनो रीतियों को खण्डित करके आनन्द की वेदना के रूप में प्रकट होती है। मानवीय करुणा के संघर्ष धरातल पर प्रसाद इस 'दुःख दग्ध जगत्' को ऐसे आनन्दपूर्ण स्वर्ग में बदलना चाहते हैं, जिसमें मानव शोषण से ही मुक्ति न हो, प्रत्युत एक गरिमामय व्यक्ति का स्वामी भी हो। उनके साहित्य का केन्द्रीय भाव सच्ची करुणा निःस्वार्थ सेवा, त्यागमय प्रेम हमें व्यक्तिगत विषाद से मुक्त कर यथार्थ जीवन के प्रति सक्रिय दृष्टिकोण रखने के लिए प्रेरित करता है।

साहित्य मानव जीवन का उन्नायक है। इसमें प्रकृति का विपुल भण्डार है, जहाँ बन्धनों, कुण्ठाओं और निराशाओं से घिरे मनुष्य को उन्मुक्त कर उसमें आशा का संचार करता है, वही प्रेम की सरिता उसकी भावनाओं को संस्कारती शोधती है। उसे व्यक्ति मुक्त कर व्यापक बना

सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी ले जाता है।

प्रसाद साहित्य का भव्य प्राकृतिक कक्ष कभी लहर कभी रागारुण अरुणोदय कभी उषा नयन से निकलती अमर जागरण की बनी ज्योति कभी विहाग कभी जीवन के प्रभात कभी किसलय कभी आग आदि भिन्न भिन्न रूपों में वेदना, करुणा, प्रेम एवं आशा की भावनायें व्यक्त करता है। यही नहीं मानवीय परिवर्तन में आस्था के सुमन भी इन्ही भावनाओं के सुन्दर धरातल पर सुशोभित है। प्रसाद का तो सम्पूर्ण साहित्य समाज, सापेक्ष मानवीय अनुभूतियों का खजाना है। 'कामायनी' मनु की समस्या का महाकाव्य नहीं है, अपितु मानव की समस्या की कथा है। मनु भी आधुनिक मनुष्य की भांति मानसिक द्वन्द्व अभिशाप एवं दुःख का शिकार है। यह नियति के शासन की पराधीनता से पीडित है। पराधीनता की प्रलय ने उसकी सारी आशाओं आकांक्षाओं और जीवन पुष्पों को निगल लिया है। यह विवश और एकाकी है। उनका एकाकीपन दुःख चिन्ता मानव की विवशताओं और निराशा को प्रकट करती है। प्रसाद ने अपने साहित्यिक पात्र मनु में ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण जनमानस में संकल्प शक्ति, इच्छा शक्ति, कर्म और संघर्ष की प्रेरणा भर दिया। जीवन के अवसाद खिन्नता को नाश कर उससे आशा आकांक्षा का विश्वास करने में भी इस साहित्य की भूमिका श्लाघनीय है।

उपन्यास, नाटक, कविता निबन्ध किसी भी रूप में साहित्य क्यों न हो मानव के मन और मस्तिष्क दोनों को प्रभाजित करने की अद्‌भुत क्षमता रखता है। कलात्मक संयम और सहज मानवीय सहानुभूति के साथ साहित्य में मुखरित प्रेम समर्पण त्याग, वात्सल्य, दया, अमानवीय परिवेश में भटकते मानव हृदय को उद्वेलित कर देते है।

साहित्य जगत् में प्रेम में असीम वेदना का चित्रण जीवन के परम सत्य का ही शरीर व्यापी प्रभाव है। शरत् साहित्य में 'नीरदा' हो या 'निरुपमा' देवदास की पारो हो बड़ी दीदी की माधवी - सब एक ही सत्य की विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ है। सभी में असफल प्रेम की वेदना हिलकोरे मारती है, परन्तु प्रेम की अपार भूख की अतृप्ति में परिणित ही प्रेम की वास्तविक विजय है। शरत् साहित्य के वियोग पीड़ित पात्र अन्नदा नारायणी, विश्वेश्वरी विदों, हेमांगिनी, दया, कोमलता, प्रेम, वात्सल्य के पवित्र गंगाजल से प्रभालित मूर्तियां है जो मानवता को करुणा और प्रेम का संदेश देती है।

साहित्य ने सदैव जाति और धर्म प्रान्त और भाषा से उपर उठकर जीवन के परम सत्य का अनुसंधान किया है। चिर आनन्द की स्थापना और मंगल की सुरसरि से जनमानस को परितृप्त करना ही साहित्य की सुरभि है। प्रगतिशील साहित्य जहाँ मानव को कर्मशीलता के पथ पर अग्रसर करता है, वही समस्या मूलक साहित्य मानव जीवन के संताप और कुरूपता के साथ सहज ही समझौता कराता है। मानवीय मूल्यों से समृद्ध साहित्य सभ्य सुसंस्कृत समाज का जन्मदाता है। वह मानव के हृदय क्षितिज में नवयुग की निर्माणकारी शक्तियाँ उदय करता है।

अविवेक, हिंसा, स्वार्थ, शोषण, मूल्य हीनता से मानव मुक्ति का मंत्रोच्चार ही साहित्य का सनातन सत्य है। वह मानव के अन्तरतम में आस्था और श्रद्धा की ज्योति जलाकर उसके जीवन को आलोकमय कर देता है। उदात्त साहित्य मानव को गौरव दान देकर उसे महामंडित करता है।

साहित्य राजस और तामस भावों का विध्वंस करके सात्विक की स्थापना करता है। साहित्य का सौन्दर्य तो क्रियात्मक है, वह मग्न चित्त वाला इति वृत्त नहीं। साहित्य जीवन के मार्मिक स्थलों को स्पर्श कर हमारी संवेदनाओं में तीव्रता लाकर हमारे रागात्मक अंग को निकृष्ट क्षेत्र से उठाकर सामान्य क्षेत्र पर ले जाकर खड़ा कर देता है।

''राग प्रेरित अभिव्यंजना ही साहित्य है।''

साहित्य कानन बिहार से मन, स्वर्ग का आन्नद प्राप्त करता है। हिन्दी साहित्य संसार का एक विशिष्ट अंग है। वही हमारे समीप और हमारा बिहार स्थल है। चिर परिचय के कारण उसके अनेक स्थल हैं जो हमें अति प्रिय है। यहां सभी प्रकार के चित्र विचित्र वृक्ष है। एक ओर मीरा, कबीर, दादू, सुन्दरदास की वाणी का विलास है, तो दूसरी ओर सूर, तुलसी नंददास, हित हरिवंश की पवित्र ध्वनि गूँज रही है। देव, बिहारी, मतिराम, सेनापति, पद्माकर ठाकुर पजनेश के समूह से आ रहे है। इनके स्वरों में अद्भुत आकर्षण है। वादक की वीणा की भांति वह हमारे मन मृग को मंत्र मुग्ध कर घसीटे लिए जा रहे हैं। दूसरी और देववाणी का सुख भोगिए, उधर भी दृष्टि फेरिये जिधर भूषण, लाल ओर सूदन का गम्भीर रणनाद हो रहा है। इस बन के उन उत्तुंग गगन स्पर्शी वृक्षों के दर्शन कीजिए। रसखान वृन्द और गिरधर की सूक्तियां आपको रिझा-रिझा लेंगी। कुछ आगे बढ़ने पर हरिश्चन्द्र प्रताप नारायण, पूर्ण जी और सत्य नारायण अपनी मस्तानी तान सुनाते मिलते है। थोड़ी देर यहीं बैठकर विश्राम कर लीजिये। संगीत से मनोविनोद कीजिये। पाठक जी को 'उजड़ग्राम' के अनुवाद के समय से गोल्ड स्मिथ की भांति एक उजड़ा हुआ कोना पसन्द है। वही एकान्त मे बैठे वह भारतीय गीत से श्रोता श्रोत्रियों का मनोविनोद कर रहे है। हमसे कुछ हटकर अयोध्या सिंह उपाध्याय भी अपने प्रवासित प्रियतम् की खोज में करूण रस थी वर्षा से हमारे चित्त को विह्वल कर देते है। वियोगी हरि अपने प्रियतम के वियोग से दुःखी करुण स्वर में उनका गान करते हुए हमें 'अष्टछाप' के कवियों की स्मृति दिला देते है।

नई-नई रागिनियाँ और नये नये राग सुनिये। यहाँ संगीत कभी पुराना नहीं होता। मैथिलीशरण भारत भारती की आरती उतार रहे है। उनकी यशोधरा अपने हंस कर भुला देने वाले गौतम की सुध करके रो रही है, उनके आंचल का दूध और आंखों का पानी सूखने नहीं पाता कि अबला जीवन की दुःख भरी कहानी सुनने के लिए राहुल जननी की ही सहोदरा उर्मिला यती लक्ष्मण की स्मृति में तारे गिनकर तथा स्वप्न आह्वान करके रात्रि व्यतीत कर रही है। इसी समूह से थेड़ी दूर पण्डित राम नरेश त्रिपाठी ईश्वर से भारत वर्ष में ऐसे पथिक भेजने के लिए

उनकी अभ्यर्थना कर रहे है जो केवल अपने सतोगुण से बिना रजोगुण और तमोगुण का सहारा लिये भारत का उद्धार करें। इसी मित्र मण्डली में माखन लाल जी भारतीय आत्मा की करुणा और ओज भरी गाथा से अपनी प्रबल शक्ति का सहारा दे सुसप्त जनता को जगाने का प्रयत्न कर रहे है।

चित्त यही चाहता है कि इसी साहित्य के लता कुंजों में बिहार करते रहें यहां के गम्भीर देवी गीत और शिक्षाप्रद सदुपदेश श्रवण करे।

नवीन स्वर को उन्नत करने वालों का प्रसाद भी तो पाते जाइये। एक ओर झरना बह रहा है तो दूसरी ओर हर्ष से प्रकृति के आंसू झर रहे है। कामना के नूपुरों की झंकार नहीं, अनन्त की झंकार है। प्रकृति प्रेमी पन्त की कोमलता भी निहारिये। इन्ही की कविता तरु की छाया में आपको दमयन्ती सोयी हुयी मिलेगी, जिसे नल निष्ठुरता के कारण त्याग कर चले गये है। अवदात्त अम्बर में उड़ते हुए मेघों का भी दर्शन कीजिये। इस भ्रमण का मधुर गुन्जन आपको मुग्ध किये बिना नहीं रहेगा। यदि कहीं वीणा की झंकार सुन ली तो आप बेसुध हो उसी स्वर में लीन हो जायेगे। ये सब कुछ तो आप पल्लव के रूप में देख रहे है। जब वृक्ष विधिवत् पल्लवित पुष्पित हो जायेगा, तब न जाने आपको कितना आनन्द प्राप्त होगा। महादेवी जी के मन्दिर में भी होते चलिये, तनिक नीहार को भी नीहार लीजिए। हृदय से एक नवीन रश्मि फूट पड़ती है। सुभद्राजी के साथ कृष्ण चन्द्र जी की लीलाओं को अपने आंगन में देखिए।

आनन्द के संदेश सुनिये। यहाँ अव्यक्त की व्यक्त सत्ता देखिये। इसी साहित्य से प्रभावित हो आपका तथा हमारा जीवन सरस एवं मधुर होगा।

''महर्षि दयानन्द की दृष्टि में पुरुषार्थ-चिन्तन''

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
रीडर श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गु० का० वि० वि०, हरिद्वार

संसार में दो प्रकार के ही मानव दृष्टिगोचर होते हैं। एक वे हैं जो भाग्यवादी हैं, दैव के विधान को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं तथा प्रत्येक परिस्थिति में भाग्य का आश्रय लेकर समागत व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। उन्होंने जीवन को जीने की कतिपय धारणायें, परम्पराएं, व्यवस्थाएं बना रखी हैं यथा -

अजगर करे ना चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।।
आज करे सो काल कर, काल करे सो परसो।
इतनी जल्दी क्या पड़ी, दिन पड़े हैं बरसों।।
आयु: कर्म च वित्तं च विद्यानिधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनाम्।।
दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गति:।।
विधिर्नूनमसंहार्य: प्राणिनां प्लवगोत्तम।।
समुद्रमन्थने लेभे हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम्।
भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।।
दैवाधीनं जगत्सर्वं जन्मकर्मशुभाशुभम्।
संयोगाश्च वियोगाश्च न च दैवात् परंबलम्।।

एवं विध विचारधारा वालों ने भाग्य के आश्रय पर सब कुछ छोड़ रखा है। उनका मानना है कि -

राज्यनाशं सुहृत्त्यागो भार्यातनयविक्रय:।
हरिश्चन्द्रस्य राजर्षे: किं विधे! न कृतं त्वया।।

जीवन का शुक्लपक्ष हो या कृष्णपक्ष हो, उभयविध अवस्थाओं में भी इन भाग्यवादियों के लिये विधि: ही कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। ग्रन्थकारों ने इसके विपाक:, प्राक्तनशुभाशुभकर्म, दैवम्, दिष्टम्, भागधेयम्, निर्यात:, विधि:, भाग:, भवितव्यता, प्राक्तनकर्म, फलोन्मुखीभूतपूर्वदैहिकशुभाशुभं कर्म, भाग्यम् - ये बारह नाम दिये हैं।[1]

इन पदों का प्रयोग ये लोग विभिन्न अवसरों पर कुछ इस प्रकार करते हुए दृष्टिगत होते हैं -

जरासन्धवधः कृष्णभूर्यर्थायोपकल्पते।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः।।[2]
ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः।
न दिष्टमत्यतिक्रान्तं शक्यं बुद्ध्या बालेनवा।।[3]
आसादितस्य तमसा नियतेर्नियोगाद्,
आकाङ्क्षतः पुनरपक्रमणेन कालम्।।[4]
तन्ममाचक्ष्व तावत् त्वं कथयिष्याम्यहं च ते।
यदस्तु कोऽन्यथा कर्तुं शक्तो हि भवितव्यताम्।।[5]

वस्तुतः चन्द्र या सूर्य का ग्रहणकाल हो या हाथी का सर्प को बांधना हो अथवा बड़े बड़े बुद्धिमान् जनों की दरिद्रता की स्थिति हो- ये सब कर्म विधि के अधीन ही माने जाते हैं।[6] जहाँ भाग्य का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करने वाला एक विशाल जनसमूह इस संसार में कदम कदम पर दिखायी देता है वहीं कर्म अथवा पुरुषार्थ को प्रधान मानकर अनेक असफलताओं के बाद भी धैर्य का सहारा लेकर आगे बढने वाले कर्मयोगी भी उपलब्ध होते हैं। लोक की भाषा में ये कहते हैं -

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परले होयेगी, बहुरि करोगे कब।।
परिश्रमेण हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।

वैदिक भाषाओं में वह गुनगुनाता हुआ आगे बढ़ता है -
कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।[7]

मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और विजयश्री मेरे बायें हाथ में आकर बैठती है। **'श्रम एव जयते'** को प्रधानसूत्र मानकर ही ये लोग घोषणा करते हैं- कर्म ही पूजा है। कर्मण्येवाधिकारस्ते' कर्म में तुम्हारा अधिकार है। **'कुर्वन्नेवेहकर्माणि'** इस संसार में कर्म करो इत्यादि। ऐसे पुरुषार्थियों से यह संसार चमक उठता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वलिखित ग्रन्थों और वेदभाष्य के अन्तर्गत अनेकत्र इस पुरुषार्थ की चर्चा कर पुरुषार्थ के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने पुरुषार्थ की परिभाषा लिखते हुए कहा -

"पुरुषार्थ- अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको 'पुरुषार्थ' कहते हैं।[8]

वस्तुतः सर्वप्रकार से परिश्रम करने का नाम पुरुषार्थ माना जाता है, वह चाहे मन से हो, शरीर से हो, वचन से हो या धन से हो। महर्षि दयानन्द पुरुषार्थ को प्रारब्ध से बड़ा मानते हैं। इसीलिये उन्होंने लिखा -

'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा' इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिससे सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगडने से सब बिंगडते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।[8]

समस्त सम्पन्न कर्मों का मूल पुरुषार्थ है, यदि प्राणी पुरुषार्थ ही न करे, हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहे तो कार्य की सिद्धि कथमपि संभव नहीं है। यदि कर्ता का पुरुषार्थ बिगड जाता है तो कर्म में सफलता आ ही नहीं सकती। कर्म की सफलता का मूल पुरुषार्थ है। सिर उठाकर किसी कार्य में सम्पृक्त होने का नाम ही पुरुषार्थ नहीं है अपितु जो वस्तु हमें प्राप्त नहीं हुई है उसकी हमें इच्छा करनी है और जो प्राप्त हो गयी है उसकी रक्षा करनी है। यही नहीं अपितु जिसकी हम रक्षा कर रहे हैं उसको बढ़ाना भी है और उस बढ़ाये हुए पदार्थ को सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय प्रयोग करने का नाम पुरुषार्थ है। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने पुरुषार्थ के चार भेद दिखाते हुए लिखा -

पुरुषार्थ के भेद - (१) जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी, (२) प्राप्त का अच्छी प्रकार रक्षण करना, (३) रक्षित को बढ़ाना और (४) बढ़े हुए पदार्थों को सत्य विद्या की उन्नति में तथा सबके हित में खर्च करना है, इन चार प्रकार के कर्मों को 'पुरुषार्थ' कहते हैं।[9]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के अपूर्ण तथा यजुर्वेद के पूर्ण भाष्य के अन्तर्गत अनेकत्र इस पुरुषार्थ के महत्व को उपस्थित किया है। मन्त्रों का भावार्थ लिखते हुए महर्षि कहते हैं कि ईश्वर पुरुषार्थी मनुष्य के ऊपर कृपा करता है, आलसी पर नहीं। क्यों ? जब तक मनुष्य स्वयं पूर्ण पुरुषार्थ नहीं करता है, तब तक वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है। इसलिये मनुष्य को पुरुषार्थी होकर ईश्वरकृपा की कामना करनी चाहिये।[10] ईश्वर पुरुषार्थी मनुष्य का सहायक होता है, अन्य का नहीं और वायु भी पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि में उपयोगी होता है। किसी को भी पुरुषार्थ के बिना धन और बुद्धि का लाभ नहीं होता है। और इन दोनों के बिना कभी उत्तम सुख नहीं होता है। इसलिये सब मनुष्यों को पुरुषार्थी और आशावान् होना चाहिये।[11] इस संसार में सब मनुष्यों को ईश्वर की आज्ञा में वर्तमान् पुरुषार्थी और यशस्वी होकर विद्या, राज्य और लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे लोगों के बिना ये लक्ष्मियाँ प्राप्त नहीं की जा सकती। क्यों ? ईश्वर के द्वारा पुरुषार्थियों के लिये ही समस्त सुखों की प्राप्ति के रचे जाने से।[12]

स्वामी दयानन्द सरस्वती शुभ कर्म में शरीर और आत्मा के आलस्य को दूर से त्यागकर नित्य प्रयत्नशील होने का निर्देश देते हैं -

मनुष्यैः शरीरात्मनोरालस्ये दूरतस्त्यत्वा सत्कर्मसु नित्यं प्रयत्नोऽनुसन्धेय इति।[13]

पुरुषार्थ की प्रेरणा को देते हुए स्वामी जी लिखते हैं कि जो मनुष्य प्रतिक्षण उत्तम पुरुषार्थ

करते हैं, वे मोक्षपर्यन्त पदार्थों को प्राप्त करके सुखी होते हैं। आलसी मनुष्य कभी सुख प्राप्त नहीं कर सकते हैं।[14] जो ऐश्वर्यवान् होकर दाता नहीं है और जो दरिद्र होकर बड़ी अभिलाषाओं वाला है, ये दोनों आलसी होते हुए निरन्तर दुःखभागी होते हैं। इसलिये सबको पुरुषार्थ में प्रयत्न करना चाहिये[15]। जैसे पुरुषार्थी मनुष्य समृद्धिशाली होता है, वैसे सबको होना चाहिये[16]। हे मनुष्यो! जैसे अङ्गुलियाँ सब कर्मों में उपयुक्त होती हैं, वैसे तुम भी पुरुषार्थ में (उपयुक्त) होओ। जिससे तुममें बल बढ़े[17]। मनुष्यों को सदा पुरुषार्थी होना चाहिये। जिन यानों से भूमि, अन्तरिक्ष, समुद्र और नदी में सुखपूर्वक शीघ्र जाना हो सके, उन यानों में चढ़कर प्रतिदिन रात्रि के चौथे प्रहर में उठकर और दिन में न सोकर सदा प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि पुरुषार्थी लोग ही ऐश्वर्य प्राप्त कर सकते हैं[18]। पुरुषार्थी लोगों के सिवाय अन्यों को धन और राज्यलक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है[19]। मनुष्यों को सदैव पुरुषार्थ से धन, अन्न, राज्य, प्रतिष्ठा और विद्या आदि की तथा शुभगुणों की वृद्धि होवे, ऐसी निरन्तर कामना करनी चाहिए[20]। हे मनुष्यो! तुम सूर्य की किरणों के समान साथ ही पुरुषार्थ के लिये तैयार हो जाओ[21]। हे मनुष्यो! पैतृक धन की आशा से तुम आलस्य अपनाकर पुरुषार्थ को मत त्यागो, किन्तु नित्य पुरुषार्थ की वृद्धि से ऐश्वर्य को बढ़ाकर वस्त्रों के समान और रथ के समान सुख को भोगकर नवीन यश को फैलाओ[22]। हे मनुष्यो! जैसे अग्नि इन्धनों से बढ़ता है, वैसे तुम पुरुषार्थ से बढ़ो[23]। मनुष्यों को गौ, घोड़े, धन और अन्न की वृद्धि के लिये पुरुषार्थी के समान महान् पुरुषार्थ करना चाहिये[24]। जो मनुष्य सुपात्र तथा कुपात्र का, विद्वान् तथा अविद्वान् का और धार्मिक तथा अधार्मिक का परीक्षक हो, उसी से पुरुषार्थ के द्वारा धन प्राप्त करना चाहिये[25]। मनुष्य सदा पुरुषार्थ से सबको ऐश्वर्यवान् बनावें[26]।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अनेक रूपों में पुरुषार्थ की महिमा को दर्शाया है। पुरुषार्थी को ही भोग प्राप्त होते हैं, आलसी को नहीं। जो प्रयत्न से पदार्थ-विद्या ग्रहण करते हैं, वे अतिश्रेष्ठ प्रतिष्ठा को पाते हैं[27]। जो मनुष्य दिन रात पुरुषार्थ करते हैं, वे निरन्तर सुखी होते हैं[28]। जो आलसी पुरुषार्थ नहीं करते हैं, वे अभीष्ट की सिद्धि नहीं कर पाते हैं[29]। हे मनुष्यो! यदि तुम सूर्य आदि के समान निरन्तर पुरुषार्थी होओ, तो लक्ष्मी-सम्पन्न हो जाओ[30]। जो मनुष्य दिन रात पुरुषार्थ करते हैं, वे दुःख को पार कर लेते हैं[31]।

महर्षि दयानन्द ने पुरुषार्थ से ही लक्ष्मी की प्राप्ति दर्शायी है- हे मनुष्यो! पुरुषार्थ से लक्ष्मी और उससे अन्न आदि सञ्चित करके तथा महान् सुख प्राप्त करके आप लोग सबकी रक्षा करें[32]।

उपयुक्त पुरुषार्थ ही जीवन में फलदायक होता है। अतः मनुष्यों को ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे सब पदार्थ सुखदायी हो सकें[33]।

आलस्य का परित्याग करके ही मानव पुरुषार्थ का फल पा सकता है। अतः मनुष्यों को आलस्य त्यागकर तथा शरीर आदि से सदैव पुरुषार्थ करके प्रजा और राज्य का धर्मपद्धति से नियम बनाना चाहिये, जिससे कि सब सम्पन्न हो सकें[34]। जो कर्महीन और कंजूस पुरुष तथा

स्त्रियाँ हैं, उन्हें विद्युत् के समान पुरुषार्थी बनाना चाहिये[35]। किसी को पुरुषार्थहीन नहीं होना चाहिये और ऋतुओं के अनुकूल व्यवहार करके सुख बढ़ाना चाहिये[36]। मनुष्य आलस्य त्याग कर पूर्वकाल के आप्तजनों द्वारा आचरण में लाये गये कर्मों का सेवन करके और देवों के देव, सबके आधार, सत्यस्वरूप तथा सबके अन्दर व्याप्त परमेश्वर को दीपक के द्वारा जैसे घड़े आदि को वैसे साक्षात् देखकर, अन्यों को उसका उपदेश करें[37]।

महर्षि दयानन्द सरस्वती धर्म से पुरुषार्थी बनकर ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं- हे ईश्वर! आप कृपा करके हमें धर्म से पुरुषार्थी बनाकर प्रतिदिन ऐश्वर्य प्राप्त कराइये और निरन्तर रक्षा करके सबके सुख के लिये उसका विभाग करवाइये[38]।

महर्षि ने दरिद्रता का विनाश करने का सूत्र पुरुषार्थ बताया है- जो निरन्तर पुरुषार्थ करते हैं, वे दरिद्रता को नष्ट कर देते हैं[39]।

पुरुषार्थ एक ऐसा सफलता सूत्र है जिससे व्यक्ति कम आयु का होने पर भी बड़ी आयु वाले पुरुषों द्वारा सम्माननीय बनता है। अतः महर्षि ने लिखा - हे मनुष्यो! जिस पुरुषार्थ से विद्वान् होकर युवा भी वृद्ध हो जाते हैं, उसे तुम निरन्तर सञ्चित करो[40]।

संसार में पुरुषार्थी ही सुख प्राप्त कर सकता है। अतः महर्षि दयानन्द ने मनुष्यों को निर्देश देते हुए लिखा- हे मनुष्यों! जैसे बाज पक्षी अपने पुरुषार्थ से प्रचुर भोग प्राप्त करता है और शीघ्र गति करता है वैसे ही पुरुषार्थी लोग प्रचुर सुख प्राप्त करते हैं[41]। मनुष्यों को पुरुषार्थ के द्वारा ईश्वर की उपासना के द्वारा और अग्नि आदि पदार्थों से उपकार ग्रहण के द्वारा सब दुःखों के पार जाकर तथा परम सुख पाकर सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहिये। और किसी को भी एक क्षण भर भी आलस्य में पड़े नहीं रहना चाहिये, किन्तु जिस प्रकार पुरुषार्थ बढ़ सके वैसा ही करना चाहिये[42]। मनुष्यों को नित्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहना चाहिये। कभी आलस्य मग्न नहीं रहना चाहिये। और वेद विद्या से संस्कारित वाणी से सम्पन्न रहना चाहिये, न कि मूर्खता से। सदा परस्पर सहायता करनी चाहिये। जो इस प्रकार के मनुष्य हैं, वे दिव्य सुखों से परिपूर्ण मोक्ष नामक आनन्द को और व्यावहारिक आनन्द को प्राप्त करके प्रसन्न रहते हैं, किन्तु आलसी लोग ऐसे नहीं रह सकते हैं[43]। मनुष्यों को प्रयत्नशील विद्वानों की संगति से पुरुषार्थ के द्वारा विद्या और सुख की वृद्धि करनी चाहिये[44]। मनुष्यों को विस्तृत पुरुषार्थ से ऐश्वर्य प्राप्त करके, सार्वजनिक हित सिद्ध करना चाहिये[45]। जो मनुष्य आलस्य त्यागकर और विद्वानों की सङ्गति करके पृथिवी पर प्रयत्नशील रहते हैं, वे समस्त उत्तम पदार्थों को प्राप्त करते हैं[46]। ऐश्वर्य के बिना राज्य, राज्य के बिना लक्ष्मी और लक्ष्मी के बिना भोग प्राप्त नहीं होते हैं, इसलिये नित्य पुरुषार्थ के साथ प्रवृत्त होना चाहिये[47]। विद्या और धर्म की वृद्धि के लिये किसी को भी आलस्य नहीं करना चाहिये[48]।

जब व्यक्ति के अन्दर स्वतः लग्न लग जाती है, तब वह महान् फल प्राप्त कर सकता है। अतः महर्षि ने लिखा -

जैसे अग्नि स्वयं प्रकाशमान् स्वयं सङ्गत और स्वयं सेवमान् है, वैसे जो जिज्ञासु लोग स्वयं पुरुषार्थयुक्त होते हैं, उनका महत्व कभी नष्ट नहीं होता है[49]। यदि मनुष्य पुरुषार्थ करे तो विद्या, यश और धन को पाकर माननीय हो सकते हैं[50]।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारम्भ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्ये।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति[51]।

वस्तुतः संसार में अधम कोटि के लोग विघ्नों के भय से कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम कोटि के लोग कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न उपस्थित होने पर कार्य छोड़ देते हैं। किन्तु उत्तम कोटि के लोग अनेक विघ्नों के उपस्थित होने पर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य का परित्याग नहीं करते। उसे पूर्ण करके ही विश्राम लेते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उत्तम कोटि के मनुष्यों के संकल्प ही सत्य सिद्ध होने की चर्चा की है –

जो लोग प्रयत्न से समस्त विद्याएं पढ़कर और पढ़ाकर बार-बार सत्सङ्ग करते हैं, तथा कुपथ्य और विषयों के त्याग से शरीर एवं आत्मा का स्वास्थ्य बढ़ाकर नित्य पुरुषार्थ करते हैं, उनके ही संकल्प सत्य होते हैं, अन्यों के नहीं[52]।

अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ईश्वर की स्तुति प्रार्थना क्यों करना और उनके फल क्या हैं ? इसके विस्तृत उत्तरान्तर्गत महर्षि लिखते हैं[53] जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्तमान करना चाहिये अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।

.... मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा-हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये, मकान में झाडू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती बाडी भी कीजिये। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं वे महामूर्ख हैं क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा है उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा। जैसे –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।। यजु0 40,2

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो। देखो! सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं- जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते घटते रहते हैं वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी

करता है वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है, जैसे काम करने वाले पुरुष को भृत्य करते हैं और अन्य आलसी को नहीं। देखने की इच्छा करने और नेत्र वाले को दिखलाते हैं अन्धे को नहीं। .... जो कोई गुड़ मीठा है ऐसा कहता है उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न क्‌रता है उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड मिल ही जाता है''।

वस्तुत: पुरुषार्थ सफलता की कुञ्जी है, जिसका समुचित प्रयोग कर बड़े बड़े क्रार्य सफल हो जाते हैं। मात्र भाग्य के सहारे बैठ जाने से कार्य कभी सफल नहीं होता। जैसे तैल समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ के क्षीण हो जाने पर दैव भी नष्ट हो जाता है[53]। जैसे लोक में भूमि खोदने से जल तथा काष्ठ का मन्थन करने से अग्नि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ करने पर भाग्य बनता चला जाता है[54]। जो मनुष्य कर्म नहीं करता, उसका भाग्य समाप्त हो जाता है। अत: समस्त कार्यों की सफलता का सूत्र पुरुषार्थ है[55]। पुरुषार्थमय तपस्या से मानव रूप, सौभाग्य और नाना प्रकार के रत्न प्राप्त करता है। भाग्य के भरोसे निकम्मे बैठे रहने वाले मनुष्य को कुछ प्राप्त नहीं होता।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वरचित ग्रन्थों तथा स्वजीवन में पुरुषार्थ को महत्ता प्रदान की। यही काण है कि वेदभाष्य जैसे ग्रन्थों में भी अनेकत्र उन्होंने पुरुषार्थ पर विचार किया। उनके व्यक्तिगत और कर्तृत्व में पुरुषार्थ ही पुरुषार्थ पाठक को नजर आता है।

प्रमाण तथा टिप्पणियाँ :-

1. हलायुधकोश:, पृ0 493
2. भागवत 10,71,10
3. महाभारत 14,43,16
4. माघ 4,34
5. कथासरित्सागर 27,86
6. शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
   मतिमताञ्च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो: बलवानिति मे मति:।।
7. आर्योद्देश्यरत्नमाला - 55 क्रमांक पर।
8. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश: - 25 क्रमांक पर।
9. आर्योद्देश्यरत्नमाला - 56 क्रमांक पर।
10. ईश्वर: पुरुषार्थिनो मनुष्यस्योपरि कृपां दधाति नालसस्य। कुत: ? यावन्मनुष्य: स्वयं पूर्णं पुरुषार्थं न करोति, नैव तावदीश्वरकृपाप्राप्तान् पदार्थान् रक्षितुमपि समर्थो भवति। अतो मनुष्यै: पुरुषार्थवद्भिर्भूत्वेश्वरकृपेष्टव्येति- ऋ0 1,4,7 का भावार्थ।
11. ईश्वर: पुरुषार्थिनो मनुष्यस्य सहायकारी भवति तथा वायुरपि पुरुषार्थेनैव कार्यसिद्ध्युपयोगी

भवति। नैव कस्यचिद् विना पुरुषार्थेन धनबुद्धिलाभो भवति। नैवैताभ्यां विना कदाचिदुत्तमं सुखं च भवतीत्यत: सर्वैमनुष्यैरुद्योगिभिराशीमर्द्धिर्भवितव्यम् ऋ0 1,5,3 मन्त्र का भावार्थ

12. अस्यां सृष्टौ परमेश्वराज्ञायां च वर्त्तमानै: पुरुषार्थिभिर्यशस्विभि: सर्वैर्मनुष्यैर्विद्याराज्यश्री प्राप्त्यर्थं सदैव प्रयत्न: कर्त्तव्य:। नैतादृशैर्विनैता: श्रियो लब्धुं शक्या:। कुत: ? ईश्वरेण पुरुषार्थिभ्य एव सर्वसुखप्राप्तेर्निर्मितत्वात् - ऋ0 1,9,6 का भावार्थ।
13. ऋ0 1, 29, 3 का भावार्थ।
14. ये मनुष्या: प्रतिक्षणं सुपुरुषार्थान् कुर्वन्ति, ते मोक्षपर्यन्तान् पदार्थान् प्राप्य सुखयन्ति। न खल्वलसा मनुष्या: कदाचित् सुखानि प्राप्तुमर्हन्ति - ऋ0 1,110,4
15. य ऐश्वर्यवानदाता यो दरिद्रो महामनास्तावालसिनौ सन्तौ दु:खभागिनौ सततं भवत:। तस्मात् सर्वै: पुरुषार्थे प्रयतितव्यम् - ऋ0 1,120,12 का भावार्थ।
16. यथा पुरुषार्थी समृद्धिमान् जायते, तथा सर्वैर्भवितव्यम् - ऋ0 1,122,8 का भावार्थ।
17. मनुष्यै: सदा पुरुषार्थी समृद्धिमान् जायते, तथा सर्वैर्भवितव्यम् - ऋ0 1,122,8 का भावार्थ
18. मनुष्यै: सदा पुरुषार्थिभिर्भवितव्यम्। यैर्यानैर्भूम्यन्तरिक्षसमुद्रनदीषु सुखेन सद्यो गमनं स्यात्तानि यानान्यारुह्य प्रतिदिनं रजन्याश्चतुर्थे प्रहर उत्थाय दिवसेऽसुप्त्वा सदा प्रयतितव्यम्। यत उद्यमिन ऐश्वर्यमुपयन्त्यत इति। ऋ0 1,140,13 का भावार्थ।
19. न ह्युद्यमिनोऽन्तरा लक्ष्मीराज्याश्रियौ प्राप्नुत: - ऋ0 1, 142, 5 का भावार्थ।
20. मनुष्यै: सदैव पुरुषार्थेन धनान्नराज्यप्रतिष्ठा विद्यादय: शुभगुणा उन्नता भवन्त्विति सततमेष्टव्या: ऋ0 4, 8, 7 का भावार्थ।
21. हे मनुष्या: ! यूयं सूर्यस्य रश्मय इव सहैव पुरुषार्थाय समुपतिष्ठेध्वम् - ऋ0 5,55,3 का भावार्थ
22. हे मनुष्या:! गोत्रधनस्याशया यूयमालस्येन पुरुषार्थं मा त्यजत, किन्तु नित्यं पुरुषार्थवर्धनेनैश्वर्यं वर्धयित्वा वस्त्रवद्रपवत् सुखं भुक्त्वा नूतनं यश: प्रथयतेति- ऋ0 5,29, 15 का भावार्थ।
23. हे मनुष्या:! यथाग्निरिन्धनैर्वर्धते, तथा यूयं पुरुषार्थेन वर्धध्वम् - ऋ0 6,11,6 का भावार्थ।
24. मनुष्यैर्गवाश्वधनधान्यवृद्धये पुरुषार्थिवन् महान् पुरुषार्थ: कर्त्तव्य: - ऋ0 6,53,10 का भावार्थ।
25. य: सुपात्रकुपात्रयोर्विद्वदविदुषोर्धार्मिकाऽधार्मिकयो: परीक्षक: स्यात्तस्मादेव पुरुषार्थेन धनं प्राप्तव्यम्- ऋ0 6,54,8 का भावार्थ।
26. मनुष्या: सर्वदा पुरुषार्थेन सर्वानैश्वर्ययुक्तान् कारयन्तु - ऋ0 6,40,20 का भावार्थ।
27. उद्योगिनमेव भोगा उपलभन्ते नालसम्। ये प्रयत्नेन पदार्थविद्यां गृह्णन्ति, तेऽत्युत्तमां प्रतिष्ठां लभन्ते - ऋ0 1, 163, 7 का भावार्थ।
28. ये मनुष्या अहर्निशं पुरुषार्थयन्ति, ते सततं सुखिनो जायन्ते - ऋ0 5,34,3 का भावार्थ।
29. येऽलसा: पुरुषार्थं न कुर्वन्ति, तेऽभीष्टसिद्धिं न लभन्ते ऋ0 5, 34, 5 का भावार्थ।

30. हे मनुष्या:! यदि यूयं सूर्यादिवत् सततं पुरुषार्थिन: स्यात् तर्हि श्रीमन्तो भवेत - ऋ0 5,49,4 का भावार्थ।
31. ये मनुष्या अहर्निशं पुरुषार्थमनुतिष्ठिन्ति, ते दु:खमुल्लङ्घन्ते - ऋ0 5,52,3 का भावार्थ।
32. ऋ0 5,49,5 का दयानन्दकृत का भावार्थ।
33. मनुष्यैरेवं पुरुषार्थ: कर्त्तव्यो यथा सर्वे पदार्था: सुखप्रदा: स्यु: ऋ0 5,53,9 का भावार्थ।
34. ऋ0 4,2,14 का दयानन्दकृत भावार्थ।
35. ऋ0 2,23,9 का दयानन्दकृत भावार्थ।
36. नहि केनचिदनुद्यमिना स्थातव्यमृतून् प्रत्यनुकूलं व्यवहारं कृत्वा सुखं वर्द्धनीयम् - ऋ0 2,37,2 का भावार्थ।
37. ऋ0 3,55,3 का दयानन्दकृत भावार्थ।
38. ऋ0 3,56,6 का दयानन्दकृत भावार्थ।
39. ये सततमुद्यमं कुर्वन्ति, ते दारिद्र्यं घ्नन्ति - ऋ0 6,16, 34 का भावार्थ।
40. हे मनुष्या:! येन पुरुषार्थेन विद्वांसो भूत्वा युवानोऽपि वृद्धा जायन्ते, तं सततं संचिनुत - ऋ0 6, 44, 3 का भावार्थ।
41. ऋ0 4, 27, 4 का दयानन्दकृत भावार्थ।
42. य0 3, 18 का दयानन्दकृत भावार्थ।
43. य0 3,47 का दयानन्दकृत भावार्थ।
44. य0 12, 28 का दयानन्दकृत भावार्थ।
45. य0 15,7 का दयानन्दकृत भावार्थ।
46. य0 18, 31 का दयानन्दकृत भावार्थ।
47. य0 20,72 का दयानन्दकृत भावार्थ।
48. य0 20,89 पर - विद्याधर्मवृद्धये केनाप्यालस्यं न कार्यम्।।
49. य0 23,15 का दयानन्दकृतभावार्थ।
50. यदि मनुष्या: पुरुषार्थं कुर्युस्तर्हि विद्यां कीर्तिं धनं च प्राप्य माननीया भवेयु: - य0 28, 30 का दयानन्दकृत भावार्थ।
51. नीतिशतकम्
52. य0 12,44 पर दयानन्दकृत भावार्थ।
53. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास।
54. यथा तैलक्षयाद् दोष: प्रह्रासमुपगच्छति।
तथा कर्म क्षयाद् दैवं प्रह्रासमुपगच्छति। महा0 अ0 6,44
55. खननान्मथनाल्लोके जलाग्निप्रापणं तथा।
तथा पुरुषकारे तु दैवसम्पत् समाहिता।। महा0 अ0 145
56. नरस्याकुर्वत: कर्म दैवसम्पन्न लभ्यते।
तस्मात् सर्वसमारम्भो दैवमानुषनिर्मित:।। महा0 अ0 145

वैदिक आख्यान और आज की हिन्दी कविता: बदलते युग-सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में

डा० मृदुल जोशी
हिन्दी विभाग
क० गु० महाविद्यालय - हरिद्वार

वेद मानव-मात्र के कर्त्तव्य-बोध के लिए सबसे प्रामाणिक धर्मग्रन्थ है[1]। वैदिक काल से ही संवाद-सूक्तों, देवता की स्तुतिरूप मन्त्रों, यज्ञादि के समर्थन में कही गई कथाएँ ही आख्यान-परम्परा की जनक है। पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका उदाहरण, धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र इतिहास ही है[2]। 'अथर्ववेद' में आख्यान के लिए एक शब्द आया है - इतिहास-पुराण[3]। इस शब्द का प्रयोग आख्यायिका, आख्यान लीजण्ड, मिथ आदि के अर्थ में हुआ है। अथर्ववेद के अनुसार 'पुराण' का अर्थ है 'पुरानी कहानी'[4] डॉ0 प्रभाकर नारायण कवठेकर ने इसकी परम्परा को दर्शाते हुए माना है कि पुराण की धारा वैदिक युग में दैवत कथा तथा उत्पत्ति कथा के रूप में अक्षुण्ण रूप में बहती हुई अष्टादश एवं रुपपुराणों के सागर के रूप में दिखाई देती है[5]।

देवताओं के चरित्र पर आधारित वैदिक आख्यान लोक-तत्व से सम्पृक्त रहे हैं। 'इतिहास' और 'पुराण' दोनों ही शब्द ध्वनित करते हैं कि सारी सामग्री पुरातन थी। इन आख्यानों के माध्यम से मनुष्य को अपने जीवन का धरातल मिला। वैदिक नीति तत्व के समर्थन और उसे व्यवहारोपयोगी बनाने हेतु आख्यानों का जन्म हुआ। **छान्दोग्य उपनिषद्** में जिस अर्थ में **'इतिहास'**, अथर्ववेद में **'इतिहास पुराण'**, महाभारत में **'कथा'** का प्रयोग हुआ है वही अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यायिका, आख्यान शब्दों में ध्वनित होता है। **प्रभाकर नारायण कवठेकर के अनुसार -**

''ऋग्वेद में जो आख्यान हैं, वे पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं हैं। वे केवल सम्वाद रूप में अवशिष्ट हैं। इन्हीं के आधार पर बहुत बाद में शौनक, षड्गुरुशिष्य, द्या द्विवेद, सायण आदि के द्वारा उन आख्यानों का विकास प्रस्तुत किया गया''।[6]

(इन आख्यानों में से कुछ को माध्यम बनाकर आज के हिन्दी कवियों ने साम्प्रातिक व्यवस्था को, युगीन सन्दर्भों को, वाणी देने की चेष्टा की है।) उनमें ऐसी केवल तीन वैदिक आख्यानपरक खण्ड काव्यों का अनुशीलन कर प्रस्तुत यह शोध पत्र प्रस्तुत कर रही हूँ।

प्रस्तुत शोध पत्र में प्रथम कृति कुँवरनारायण कृत 'अतमजयी' को अनुसंधान का विषय

बनाया गया है। ऋग्वेद में 'नचिकेतस्' का उल्लेख भर हुआ है। कठोपनिषद् में नचिकेता का आख्यान है। नचिकेता वाजश्रवा का पुत्र है। अपने पिता से धर्म-सम्बन्धी मतभेदों से दुःखी होकर स्वयं को पानी में डुबोकर आत्महत्या कर लेता है। मृत्योपरान्त यम से मिलने के लिये वह तीन दिवसों तक प्रतीक्षा करता है। अंततः यम की प्रसन्नता के पारितोषिक स्वरूप नचिकेता को वाजश्रवा के नचिकेता के प्रति क्रोध शान्त होने, यज्ञ में नचिकेताग्नि दिये जाने तथा मृत्यु सम्बन्धी रहस्यों को अनावृत करने सदृश तीन वरदान प्राप्त होते हैं।

संवेदनशील कवि आत्मजयी ने इस पौराणिक आख्यान के माध्यम से जीवन क्या है ? मृत्यु क्यों होती है ? मुक्ति कैसे संभव है ? ईश्वर कहाँ है ? सदृश विराट् प्रश्नों को अपनी कृति आत्मजयी में इन चिरंतन प्रश्नों की व्याकुलता से सायुज्य कर अतीत की गाथा को वर्तमान सन्दर्भों से जोडने की प्रशंसनीय चेष्टा की है।

('आत्मजयी' में मूलकथा की भाँति नचिकेता की मृत्यु न दिखाकर उसे कुछ काल तक अचेत दिखाया गया है और उस अचेतावस्था में ही स्वप्न में यम से नचिकेता का साक्षात्कार दिखाया गया है। इससे न केवल कथा में स्वाभाविकता आयी है अपितु आधुनिक संदर्भ सायुज्य हो उठे हैं। समूचा खण्डकाव्य पूर्वाभास, वाजश्रवा का क्रोध, नचिकेता का विषाद, प्रलोभन, मैं क्या हूँ, आत्महत्या का प्रयत्न, वाजश्रवा अचेतावस्था में, अतीत बोध, यम, जिज्ञासा, श्रेष्ठ का वरण, सारथी की बुद्धि, सृजन-दृष्टि, आत्म-शक्ति, आत्मा की स्वायत्तता, मृत्युमुखात्प्रभुक्तम्, मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्, स्वप्नान्नत, आत्मविद्, पूर्वापर, सृष्टि-बोध, सौन्दर्य-बोध, शान्ति-बोध, मुक्ति-बोध जैसे अट्ठाइस अध्यायों में बँटा है।

नचिकेता नूतन प्रबुद्ध युवा पीढ़ी का प्रतीक बनकर सामने आया है। वाजश्रवा एक प्रकार से ठहरे हुए मूल्य की वाहक पीढ़ी का प्रतीक है। पुत्र नचिकेता और पिता वाजश्रवा की परस्पर असहमति दो पीढ़ियों के संघर्ष का प्रतीक है। वाजश्रवा उस पुरानी पीढ़ी का वाहक है जो अपनी विचारधारा, आदर्श, चिन्तन को नई पीढ़ी पर थोप देना चाहता है। वह पुरातन परम्पराओं, धारणाओं, विचारधाराओं को आँख मूंद कर स्वीकारना चाहता है। जब कि नचिकेता स्वानुभूति से परिपक्व चिन्तन को स्वीकारने के पक्ष में है। सत्य के साक्षात्कार के लिये वह देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि का लक्ष्य तोलकर चलता हुआ हर चुनौती को स्वीकार करने के लिये तैयार है। यहाँ तक कि सत्यानुभूति हेतु उसे मृत्यु का वरण भी करना पड़े तो उसे स्वीकार्य है। स्वयं कवि के अनुसार ''उसके अन्दर वह वृहत्तर जिज्ञासा है जिसके लिए केवल सुखी जीवन जीना काफी नहीं, सार्थक जीना जरूरी है'' यही नहीं उसे अमर जीवन की चिन्ता है। **'अमर जीवन'** से तात्पर्य उन अमर जीवन मूल्यों से है जो व्यक्ति जगत् का अतिक्रमण करके सार्वकालिक और सार्वजनीन बन जाते है।''[7]

(नचिकेता **मानव-मूल्यों का शोधी** है। वह स्वार्थी नहीं है। निजी सुख-सुविधाओं से

वृहत्तर कुछ और प्राप्ति का आकांक्षी है। वह जीवन को इस तरह जीना चाहता है कि जीवन को कुछ सार्थक दे जाये।) सुविधाभोगी वाजश्रवा जिस परम्परागत रूप से जीवन-लक्ष्य को जाने बिना जिये चले जा रहा है, वह नचिकेता को काम्य नहीं -

''गलत जीने से,
सही बातें गलत हो जाती हैं।
सच्चाइयाँ झूठ लगती,
अच्छाइयाँ गुनाह।
धर्म पाप हो जाता,
ईश्वर आततायी,
प्यार रोग बन जाता,
लोग भयावह..............
यह भी संभव है कि एक पशु दूसरे को खा जाये,
यह भी संभव है कि एक मनुष्य....................।''[8]

वह पिता के सुख-सुविधा सम्पूर्ण जीवन को अस्वीकार कर सत्य-खोजी मार्ग को अपनाता है। चरम निराशा के आत्मघाती क्षणों के बीच से वह जीवन की सृजनात्मक भावनाओं को तलाश ही लेता है।[9]

(नचिकेता वर्तमान व्यवस्था के प्रति संतुष्ट नहीं है। उसके मन में **वर्तमान व्यवस्था के प्रति घोर असंतोष और विद्रोह** के अंकुर फूट रहे हैं। साम्प्रतिक परिवेश में भौतिक उन्नति के चलते विलास के साधन तो उपलब्ध हैं लेकिन आत्मिक स्तर पर मनुष्य खोखला हो रहा है।) उसका असंयमित जीवन एक विकृती व्यवस्था को जन्म दे रहा है। ऐसी आडम्बर युक्त खोखली जीवन-शैली नचिकेता को स्वीकार्य नहीं -

एक स्तर पर
विद्वेष क्रूरता, हिंसा, बेईमानी
सब कुछ इतना संभव है कि स्वाभाविक लगे,
और उसी स्तर पर हममें से हर एक जी सकता है
पागलों की तरह
एक दूसरे से त्रस्त, पीड़ित और अपमानित''[10]

उसे वह जीवन-दर्शन ही स्वीकार्य नहीं जहाँ छल-कपट व छीना-झपटी का ही साम्राज्य हो -

'मुझको इस छीना झपटी में विश्वास नहीं।
मुझको इस दुनियादारी में विश्वास नहीं।

हर प्रगति-चरण मानव का घातक पड़ता है।
हम जीते आपा-धापी और दबावों में।
हम चाहे जितना पायें कम ही लगता है।''[12]

उसे वे जीवन-मूल्य किंचित् भी स्वीकार्य नहीं जिनमें व्यक्ति अपने दिल के आगे सोच ही नहीं पाये। उस स्वार्थ के बदले गर्हित से गर्हित कृत्य करने से भी वह न चूके। वाजश्रवा ऐसा ही अवसरवादी, सुविधा भोगी, स्वार्थी व्यक्ति का प्रतीक बना है, जिसे अपने सुख के आगे कुछ भी चाहना नहीं। इसके बदले वह किसी भी सीमा को पार कर सकता है। नचिकेता का ज्वलंत प्रश्न है –

''समझाओं मुझे अपने कल्याण का आधार,
ये निरीह आहुतियाँ यह रक्त, यह हिंसा,
ये अबोध तड़पनें बीमार गायों-सा-जन-समूह''

(यहाँ दान में दी बीमार गायें वस्तुत: परम्परा को बिना किसी विरोध के शिरोधार्य करने वाले शोषित जनता का प्रतिनिधित्व करती है। वाजश्रवा जहाँ व्यष्टि-लाभ हेतु समष्टिगत लाभ की परवाह नहीं करता, वहीं क्रान्तिकारी, बुद्धिजीवी नचिकेता इस विचार धारा को किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं कर पाता।)[11] वह तो

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै,

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।'' के सिद्धान्त का पोषक है (कठोपषद) आज की युवा पीढ़ी अस्मिता की तलाश में है। वह भीड़ का हिस्सा बनकर नहीं जीना चाहती। नचिकेता भी अपनी मौलिकता को जीना चाहता है। नचिकेता के शब्दों में-

''लेकिन यदि तुम्हारे अनुसरण से भिन्न भी।
मेरी कोई सत्ता है।
तो उसे आक्रान्त मत करो। अवसर दो।
कि वह पनप सके प्रसन्न।
खुली धूप और ताजी हवा में...........।''[13]

वह तो स्वतंत्र चिन्तन को परिवर्द्धित करना चाहता है। उसे उच्छिष्ट विचार वरेण्य नहीं।

जीवन में कैसा कुटिल द्वैध ?
ये कैसा विधान-निर्भय जीना अवैध ?
जीवित हूँ ? या केवल अपहृत हूँ ?
संज्ञा हूँ ? या केवल व्यवहृत हूँ ?''[14]

मृत्यु को भारतीय दर्शन के अनुरूप नया अर्थ कुँवर नारायण जैसा समर्थ कवि ही दे सकता है। आत्मऽमयी की भूमिका में कवि स्वयं स्वीकारता है-

मृत्यु के चिन्तन से जीवन के प्रति निराशा ही पैदा हो, ऐसा आवश्यक नहीं; कोई नितान्त मौलिक दृष्टिकोण भी जन्म ले सकता है। मृत्यु की गहरी अनुभूति ने जीवन को असमर्थ कर दिया हो, इससे कहीं अधिक ऐसे महत्वपूर्ण उदाहरण मिलेंगे जहाँ चिंतक की दृष्टि कुछ इस तरह पैनी हुई कि वह मृत्यु से भी अधिक शक्तिशाली कुछ दे जाने के प्रयत्न में जीवन को असाधारण निधि दे गया,''[15]

अपने जीवन के अर्थ को तलाशते-तलाशते[16] नचिकेता बृहदारण्यक के 'अभयं वै ब्रह्म' को तलाश लेता है।[17]

इतावली भाषा में 'नचिकेता' नाम से ही बहुचर्चित अनुवाद वाली यह कृति उन प्रश्नों को उठाती है जिनका महत्व सार्वकालिक है। आत्मजयी आज के मनुष्य की जटिल मन:स्थितियों को जीवन्त अभिव्यक्ति देने वाली एक महत्वपूर्ण कृति है और सच्चे अर्थों में मनुष्य की रचनात्मक सामर्थ्य में आस्था की पुन: प्राप्ति की कहानी है।

अन्तत: कृतिकार के शब्दों में -

''**आत्मजयी** के धार्मिक या दार्शनिक पक्ष की चिन्ता न करके उन मानवीय अनुभवों पर अधिक दबाव डाला है जिससे आज का मनुष्य भी गुजर रहा है और जिसका नचिकेता मुझे एक महत्वपूर्ण प्रतीक लगा।''[18]

'देवरात' विष्णुदत्त राकेश द्वारा आत्मकथन मूलक शैली में रचित खण्ड काव्य है। वैदिक पृष्ठभूमि पर आधारित यह आख्यान आधुनिक समय के सन्निकट है। ऐतिहासिक दृष्टि से शुन: शेप या देवरात की कथा उत्तर वैदिक युग की है। शुन: शेप की कथा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चौबीसवें खण्ड में सूक्त रूप में प्राप्त होती है :-

शुनः शेपो यमह्वद्गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु।।
शुन शेपो ह्यह्वद्गृभीतत्रिष्वा दित्यं द्रुपदेषु बद्धः।[19]

यही कथा ऐतरेय ब्राह्मण[20] के तैंतीसवें अध्याय और श्रीमद्‌भागवत के नवमस्कंध में सातवें तथा सोलहवें अध्याय में विस्तृत रूप से मिलती है। यद्यपि कतिपय विद्वान् शुन: शेप का आध्यात्मिक अर्थ - **'ज्ञान के स्पर्श से युक्त जीवात्मा वरुण पाश या एषणात्रय से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द प्राप्त कर सकता है'** के रूप में करते हैं, लेकिन सायणाचार्य इत्यादि इस कथा का ऐतिहासिक महत्व भी स्वीकारते हैं। यह आख्यान हरिशचन्द्र उपाख्यान के नाम से भी जाना जाता है। इसका 'चरैवेति' ज्ञान विश्व-विश्रुत है। शुन: शेप ऋषि ऋग्वेद प्रथम मण्डल के

सात सूक्तों के द्रष्टा है। इन मंत्रो की संख्या 97 है। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनः शेप आख्यान को 100 ऋचाओं से युक्त माना जाता है –

'ऋक्शतगाथं शौनः शेपम् आख्यानम्'

मूल कथा में 'अजीगर्त' का चरित्र अति लोभी व्यक्ति के रूप में वर्णित है जो सौ गायों के बदले बेटे को मारे जाने के लिये पशुतुल्य बेच देता है। राकेश जी ने इस कृत्य के मूल में 'भूख' को रखकर आज की ह्रासोन्मुखी विषम समाजिक **शोषक-शोभित-व्यवस्था** पर भी अंगुली उठाई गई है। आज भी दरिद्रता और भूख की विषम पीडा से पीडित व्यक्ति घृणित से घृणित कर्म करने पर विवश है। वस्तुतः अजीगर्त विषम सामाजिक व्यवस्था के दुष्परिणाम का प्रतीक बनकर सामने आया है। शुनः शेप उस बुद्धिवादी निर्धन वर्ग का प्रतीक बना है जो शोषक वर्ग की क्रूरता का निशाना बना व्यवस्था की मार झेल रहा है। वह उस विद्रोही पीढ़ी का भी प्रतिनिधि बना है। जो इस गलत व्यवस्था को सहर्ष शिरोधार्य करने के सख्त खिलाफ है। वह आक्रोश की मुद्रा में गर्जना करता है –

''डसता रहा सदा समाज को,
ऊँच नीच का विषधर सर्प।
नहीं एक होने देता है,
उच्च वंश का मिथ्या दर्प।
शासक का सुत मणि, किरीट की,
दलित पुत्र होगा पद त्राण।
है कैसी यह घृणित व्यवस्था,
है कैसा यह कुटिल विधान ?।।[21]

वह तो इन परिस्थितियों में जीते हुए स्वयं को मृतक तुल्य मानता है।[22]

यज्ञ-यूप में बँधे शुनः शेप के मुख से जो अविरल गति से प्रश्न उछाले जा रहे हैं वह साम्प्रतिक न्याय व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, धर्म, जाति, सम्प्रदाय की राजनीति के बल पर शासन प्राप्ति के फलस्वरूप जन्मे त्रास, दमन, युद्ध, आतंक की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं –

''जिसकी लाठी भैंस उसी की,
धरा सिंह शावक की धेनु
बजा रही है दमन चक्र की,
प्रजा बिचारी अविचल वेणु,[24]

और

त्रास, दमन, आतंक, विषमता
से होती सत्ता अभिषिक्त,

शसित का जीवन होता है,
अश्रु, स्वेद, शोणित से सिक्त''[25]

उसे भोली-भाली जनता की निरुपाय स्थिति का भी ज्ञान है[26] और सुविधा भोगी अवसरवादियों का भी[27] लेकिन वह दृढतापूर्वक इस व्यवस्था का अंग होने से इंकार कर देता है -

''मानव का स्वातंत्र्य छीनकर,
उसकी प्रबल अस्मिता छीन।
पशु जैसा जीवन जीने को,
किया विवश जिसने अतिदीन।
उस शासन की भेद तुला को,
मेरे सौ-सौ बार प्रणाम।
जिसने तोड़ दिऐ मानव के,
चिंतन के स्वतंत्र आयाम।''[28]

समूचे काव्य में शुन: शेप अहोरात्र अथक परिश्रम के बल पर दो-जून अन्न भर जुटा पाते मजदूरों, कृषकों, दासों का **जन-प्रतिनिधि बनकर** उभरा है। ऋषि रैक्व और ऋषि विश्वामित्र के उदाहरण प्रस्तुत कर वह साम्प्रातिक वर्ण-व्यवस्था पर भी अंगुली उठाता है और भौतिक-आध्यात्मिक-समतावाद तीनों की नींव रखता है। स्वयं रचनाकार के शब्दों में ''मार्क्स और गाँधी का समन्वय ही इस विषमतापूर्ण समस्या का एक मात्र समाधान है। समताधारित आत्मिक सामजवाद की स्थापना और मानव-मुक्ति का संकल्प ही इस काव्य की मूल भित्ति है''।[29]

यत्र-तत्र 'देवरात' उपनिषदों की वाणी बोलता है। **सर्वं खल्विदंब्रहम'**[30] **और 'ऐतादत्म्यमिदं सर्वम्' स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'**[31] की ही समर्थन ''हर प्राणी समान होता है''[32]

और नही कर सकता है वह पाप/ देखता जो निजात्म सब ओर/ **घृणा, ईर्ष्या, सुख, दुःख से मुक्त/रहा करता है आत्म विभोर/''**[33] के रूप में दिखाई देता है। **'शरीर माद्यम खलुधर्म साधनम्'** के आधार पर मनुष्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य शरीर या प्राण रक्षा बताते हुए, **''तन को रखना परम सिद्ध है, मानवता की रक्षा हेतु/''**

कहकर तथा **सारी धर्म व्यवस्थाओं से,**
ऊपर है मानव- अस्तित्व।
जाति-पाँति से मुक्त रहेगा,
उसका कालातीत कृतित्व।[34]

तथा

''बिना मनुजता के छूँछे हैं/ ''सारे शास्त्र विधान अचेत'' [35]

कह कर वह अजीतगर्त द्वारा पुत्र को बेचे जाने के कृत्य की गर्हता को भी कुछ कम कर देता है और ऐसे धर्म की माँग करता है जो मनुजता को सर्वोपरि रखे।

विष्णुदत्त राकेश का दूसरा खण्ड़काव्य 'नभग' है। नभग की कथा ऋग्वेद के दशम मण्डल तथा **ऐतरेय ब्राह्मण** से मिलती है।[36] यहाँ नभग का नाम नाभानेदिष्ट है। नाभानेदिष्ठ मंत्रकार है। इनके द्वारा रचित इकसठवें सूक्त में सत्ताईस तथा बासठवें सूक्त में 11 मंत्र संकलित हैं।

इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्मकृत्वा शच्यामन्तराजौ।

क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठा पर्षत्पक्थे अहन्ना सप्त होतृन्।[37]

सायणाचार्य ने ऋग्वेद के दशम्मंडल अध्याय 5 के इस 61 वें सूक्त की व्याख्या करते हुए नभग की कथा कही है। इससे पुष्टि होती है कि पुराणों के नभग व वेद का नाभानोदिष्ठ एक ही व्यक्ति है, जो मनुपुत्र होने के कारण राजर्षि और मंत्रकर्त्ता होने से ब्रह्मर्षि पद का अधिकारी है। भागवत पुराण में यह कथा नाभाग से जुड़ी है, जहाँ मनु को नभग का पौत्र बताया गया है और इनके पिता का नाम नभग है। जबकि शिव पुराण में मनु-पुत्र नभग से इस कथा को जोड़ा गया है। कृति की प्रेरणा को तलाशते हुए राकेश जी लिखते हैं -

''मैने शिव पुराण तथा वैदिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए नभग को ही इस घटना के मूल में खड़ा किया है, नाभाग को नहीं। नभग के चरित्र के निर्माण में मुझे भागवत के 'कविर्भवति मंत्रज्ञो'' वाक्य से प्रेरणा मिली और मैने नभग को प्रारम्भ से ही कवि के रूप में चित्रित कर उसकी क्रांतिकारिता को उजागर किया। 'कवय: क्रान्त दर्शिन:' की सार्थकता इस कथा की प्राण है।''[38]

रचना का मूल उद्देश्य वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, शिक्षा का समानाधिकार तथा राजप्रभाव से मुक्त शिक्षा बिन्दुओं को उठाना है। समान शिक्षा, समान भोजन, समान परिधान तथा ज्ञान-विज्ञान समन्वित चरित्राधारित क्षेत्र कार्य मूलक शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात कर नभग जिस शिक्षा प्रणाली को जन्म देना चाहता है वह आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। आज की जर्जर शिक्षा-व्यवस्था का लाभ या तो अतिसाधन सम्पन्न व्यक्ति की झोली में गिर रहा है या सत्तालोभी राजनीतिज्ञों के द्वारा तैयार व्यवस्था के तहत अयोग्य व्यक्ति के हिस्से में।

निष्ठावान, योग्य, कुशल, विद्याप्रेमी व्यक्ति साधनहीनता के चलते अपनी योग्यतानुसार न तो उचित शिक्षा ग्रहण कर पाता है न उसका लाभ ले पाता है। कवि के शब्दों में **''नभग या नाभानेदिष्ठ''** को सहृदय, क्रांतिकारी, समतावादी, न्यायनिष्ठ तथा जर्जर प्रथाओं का विध्वंसक कवि मानकर मैने आधुनिक बोध संकलित एक सर्वत्र नए संदर्भ की सृष्टि की है। इस युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा श्रद्धानन्द सरस्वती ने शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी ही क्रान्ति उपस्थित

की थी। इस काव्य में "पाठकों को यदि नभग के व्यक्तित्व में स्वामी श्रद्धानन्द प्रतिबिम्बित होते हुए दिखाई दें तो उन्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिऐ।''[39]

समूचे खण्डकाव्य में बहुत से ऐसे बिन्दु हैं जो आज के युग में भी प्रासंगिक है। जैसे- शिक्षा का समानाधिकार। शिक्षा पर सबका समान अधिकार है। लिंग, जाति, वर्ण-भेद ज्ञानार्जन में कहीं बाधा उत्पन्न नहीं करता -

१. **''द्विज, अन्तय या पिछड़ेपन का,**
नहीं ज्ञान से कुछ सम्बन्ध।
विद्या तो तप त्याग, दया, का,
भेद रहित मानव अनुबन्ध।''[40]

नारी शिक्षा की समानाधिकारिणी है। 'स्त्री शूद्रौनाधीयताम्' की धारणा पर कुठाराघात करती हुई घोषा की अध्यक्ष पद पर नियुक्ति इसी तथ्य का संकेत देती है। नभग स्वयं भी नारी-शिक्षा के हिमायती है -

''नारी शिक्षा के फिर खोले,
जिसने विजड़ित कपट कपाट।
वेद ज्ञान का अधिकारी कर,
उन्नत किए अछूत ललाट,।''[41]

चतुर्थ सर्ग में वरुण अंगिरा ने नर-नारी की महत्ता को प्रकाशित करते हुए ऋतिका घोषा के वेदाधिकार का खुलकर समर्थन कर नारी के मंत्रसृजन के अधिकार का अनुमोदन किया है।

वैदिक संस्कृति में स्त्री-पुरुष में भेद नहीं है अथर्ववेद में एक ही जीवात्मा के कर्मानुसार स्त्री-पुरुष जन्म को त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी कहकर समसत्ता का प्रदर्शन है नभग में सर्वत्र स्त्री-पुरुष को समानता की दृष्टि से देखा गया है। नभग ने **सत्ताधीशों पर करारी चोट की है।** साम्प्रातिक राजनीतिक स्थितियाँ भी **'नभग'** में रूपाकृति ले रही है। सत्ताधीशों का पदलोभी स्वार्थी लोलुप दृष्टिकोण आम जनता की मनोवाच्छाओं का हत्यारा है-

''सत्ता आँसू नहीं रक्त की तप्तधार पीती है,
होता है नवनीत न उसके कुटिल भुजंगी मन में।
शुद्ध लेखनी की जिह्वा को खड्ग काट लेता है,
उसके स्वप्न सुमन खिलते हैं दीन-हीन क्रन्दन में।''[42]

'वसुधैव कुटुम्बकम्' और संगच्छध्वं सं वो मनांसि जानताम् की धारणा का पोषण करता हुआ नभग खण्डकाव्य त्याग और सहनशीलता तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पर आधारित

मानवतावाद की स्थापना करता है। उसकी अभिलाषा है कि सर्वत्र मानवीय जीवन-मूल्यों की सुगन्धित प्रसारित हो। समष्टिगत कल्याण के बदले यदि व्यष्टिगत लाभ हो छोड़ना भी पडे तो भी हानि नहीं। ये जीवन मूल्य जितने शाश्वत है उतने ही प्रासंगिक भी।[43] कर्म भावना और समर्पण से परिपूर्ण व्यक्ति को, सत्यशिखर से अचल शक्ति का स्रोत बहाना होगा रंग-बिरंगे भाव खगों का गेह बसाना होगा।

उसके नेत्रों में तो ऐसे भारत का स्वप्न जगमगा रहा है जहाँ धर्म, भाषा और पंथ परस्पर द्वेष भाव रख समाज को पंकिल न करें। आज का राजनैतिक सामाजिक परिदृश्य भी ऐसे ही परिवर्तन की मांग रखता है। बाबरी मस्जिद और राम मंदिर को मुद्दा बनाकर आम जनता में नफरत के जो बीज बोये जा रहे हैं, पंकिल वैचारिक के माध्यम से समाज में जो असुरक्षा, भय, तनाव, और घृणा का वातावरण तैयार किया जा रहा है। उसके परिणाम न तो शुभ हैं और न ही काम्य।

''बिना थके नर जहाँ करें नित श्रम-उद्यम का पूजन,
जहाँ बुद्धि की भूमि विचारों के अंकुर बोती हो।
धर्म, पंथ, भाषा वर्णों की जीर्ण विषम प्राचीरें,
जहाँ न मानव की गरिमा को काजल से धोती हों।''[44]

नभग **गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति का पक्षधर** है। प्रस्तुत खण्ड-काव्य में नभग का चरित्र श्रद्धानन्द का आकार लेता प्रतीत होता है। स्वयं कृतिकार भी स्वीकारता है- **''इस काव्य में पाठकों' को यदि नभग के व्यक्तित्व में स्वामी श्रद्धानन्द प्रतीविम्बित होते हुए दिखाई दें तो उन्हें आश्चर्य नहीं कहना चाहिये''**[45]

नभग गुरुकुलीय शिक्षा पद्वति को प्रस्थापित करना चाहता है। जिसमें अध्ययन कर दिशाहीन नवीन पीढ़ी कर्त्तव्यनिष्ठ, मर्यादित, देश-प्रेमी होकर एक स्वस्थ एवं सुगठित राष्ट्र का निर्माण कर स्वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः, का शंखनाद करना चाहता है -

''यदि दे सका मुक्त शिक्षा का,
नवयुग को तारक संदेश।
गुरुकुलीय शिक्षा की पद्वति,
बना सकी उत्तम परिवेश।

xxxxxxxxxxxxx

नई पीढ़ियाँ समझ सकेंगी,
कर्त्तव्यों का गुरु दायित्व''[46]

श्रद्धानन्द के ही समान नभग भी श्रेष्ठ कवि के रूप में प्राप्त पुरस्कार राशि को 'वत्सल निधि' का नाम देकर शिक्षा के लिए दान दे देता है -

"गुरुकुल की नवनिर्मित निधिको,
वत्सल निधि का देकर नाम।
नभग देव ने वह सारा धन,
संचय हेतु दिया निष्काम।"[47]

यही नहीं वह शिक्षा के व्यवसायीकरण के विरोध में स्वर बुलंद करता है। शिक्षा का व्यवसायी करण शिक्षा को मात्र विलास का साधन बनाकर छोड़ेगा। ऐसी शिक्षा से युवकों में नैतिक मूल्यों और दायित्वों के प्रति उपेक्षा की भावना जन्म लेगी।[48]

नभग निर्भीक स्वर में बाल-शिक्षा का प्रचार व बाल-शोषण का विरोध भी करता है। देश के चहुँमुखी विकास हेतु देश के बच्चों का शिक्षित होना आवश्यक है। बुनियादी जरूरतों के अभाव में न बच्चों का स्वास्थ्य सुरक्षित रह पाता है और न ही बचपन। उनका शोषण होता है। जिसका मूल कारण है शिक्षा का अभाव। 'नभग' के रूप में आज का बुद्धिजीवी प्रश्न करता दृष्टिगोचर होता है -

"बच्चे स्वस्थ नहीं होंगे तो,
राष्ट्र रहेगा कैसे स्वस्थ ?
दुर्बल कच्ची नींव महल की,
होती बहुत शीघ्र भूमिस्थ।"[49]

वह बाल श्रमिकों के शोषण से आहत है और उसके निदान के रूप में साक्षरता का होना जरूरी समझता है।[50] और बच्चों के बचपन को सुरक्षित रख पाने को एक संत्कर्म के रूप में देखता है।[51]

युगीन प्रासंगिकता के अनुरूप ही नभग के माध्यम से कवि राष्ट्रभाषा के प्रति सम्मान व श्रद्धा के भाव उत्पन्न करना चाहता है -

"शिक्षा और स्वभाषा का हैं,
एक अटूट अचल सम्बन्ध।
बिना मातृ भाषा के गूँगा,
होता है समाज जन अन्ध।।"[52]

सम्भवतः इसीलिए प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेन हावर ने लिखा था **'उपनिषद् मेरे जीवन में शांति के साधन रहे हैं और मृत्यु में भी शांति के साधन रहेंगे।**[53]

वेद और उपनिषद् शाश्वत जीवन-मूल्यों के संवाहक रहे हैं। ये हमें जीवन जीने की कला सिखाते हैं इनमें सुन्दर जीवन-दर्शन है -

''ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद् धनम्।''[54]

नभग भी हमें ऐसे ही शाश्वत जीवन मूल्यों का सन्देश देता दिखाई देता है।

त्याग सहित उपभोग साध्य है नश्वर दृश्यमान सब ठाठ
आत्मतत्व ही नित्य शुद्ध है। पढ़ो हृदय से पक्का पाठ।

रुद्रदेव भी नभंग को ब्रह्म कला के दुर्लभ ज्ञानस्वरूप यही पाठ पढ़ाते हैं।[55] जीवन जीने की यह कला आज भी कोई सीख जाए, तो वैभव-विलास संग्रह की आपाधापी से मुक्ति मिले।

''यस्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[56]

तथा ''यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्वैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमुनपश्यतः।।[57]

के ही समान 'नभग' समस्त प्राणियों में अपना ही स्वरूप देखता हुआ ईर्ष्या, घृणा मोह के द्वन्द्व से बहुत ऊपर उठा हुआ है। करुणा, दया और विशुद्ध प्रेम से आकष्ठ निमग्न वह इन सात्विक भावों का ही उद्गीरित कर सकता है -

''खुद जीकर सबको जीने दो,
सबका है जग पर अधिकार।
प्राणिमात्र का हित सम्पादन,
करो, यही शिवदर्शन-सार।।''[58]

सत्य-सम्भाषण व सभी धर्मों का प्राण है -

''ज्योतिरित्याह, स सत्यं वदति, तस्य वाङ्मय

आत्मा सत्यमयो भवति। सत्यमया उ देवाः।''[59] तथा असतो मा सद्गमय[60]

के ही समान शाश्वत जीवन मूल्यों को प्रस्तुत करता दिखाई देता है।

''सत्य धर्म है सत्य शील है,
सत्य सृष्टि का अविचल मूल।
नहीं सत्य से बढ़कर कोई,
र्स्वनौका का वह मस्तूल......................

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

विकट विपद में भी करता जो,

सत्य धर्म का अनुपालन।
सत्संसध उस धर्मव्रती का,
सार्थक है जीवन धारण।6।

इस तरह तीनों वैदिक आख्यान मूलक खण्ड काव्य शाश्वत जीवन मूल्यों के सम्वाहक तो हैं ही, युगीन सन्दर्भ में प्रासंगिक भी ठहरते हैं।

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

डा0 मृदुल जोशी प्रवक्ता हिन्दी विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय (अन्तर्गत)
(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

संदर्भ - संकेत :-

1. वैदिक साहित्य एवं संस्कृत, डॉ0, कपिल द्विवेद्वी विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी
पृ0 4
2. कौटिल्य के अनुसार -
'पुराणमितिवृत्त माख्यायिकोदाहरणं
धर्मशास्त्र समर्थशास्त्रं चेतीतिहास:'' (अ0शा0, स. जे, जौली, 1.1923)
(अधि।, अध्याय 4, पृ0 6)
3. अथर्ववेद. 45.6.4
4. अ. वे. 11, 9, 24, 15, 6-4
5. Dr. P.N. Kawthekar: Essence of Puranas, Delhi, Puranas and National Integration,
Ed. P. Kumar, P. 445
6. वैदिक आख्यान, प्रभाकर नारायण कवठेकर, पृ0 18
7. आत्मजयी, भूमिका, कुँवरनारायण, पृ0 5
8. आत्मजयी, कुँवर नारायण, पृ0 5
9. ''चिन्ताशील,
स्वतंत्र,
संयमी,
कर्मठ मानव के उपाय से/
खनिज परिस्थियाँ जीवन की/
दिव्य रूप ले सकती हैं।'' आत्मजयी, सारथी बुद्धि, पृ0 88
10. आत्मजयी, वाजश्रवा, पृ0 21

11. (आत्मजयी, जिज्ञासा, पृ0 84)
12. ''मेरे पिता।
    तुम और तुम्हारी दुनिया।
    एक-दूसरे की थकी हुई प्रतिक्रिया में युगों से रूढ़/
    बासी-सी लगती है। सीमित कुछ लोगों तक/
    तरसायी-सी लगती है जीवन की अतुल राशि।
    कार्यक्रम, आय-व्यय, रीति-नीति
    पेचीदे व्यवहारों की दुनिया।
    सिद्ध नहीं विकृत स्वभावों से निष्कासित
    जीने से पहले ही बीती-सी लगती हैं।''
    आत्मजयी, वाजश्रवा का क्रोध, पृ0 29
13. आत्मजयी, वाजश्रवा का क्रोध पृ0 27
14. आत्मजयी, वाजश्रवा का क्रोध, पृ0 31
15. आत्मजयी, भूमिका पृ0 6, 7
16. मैं क्या हूँ ?
    मैं क्या हूँ ?
    मैं क्या हूँ ? आत्मजयी, मैं क्या हूँ, पृ0 54)
17. आधुनिक हिन्दी कविता: स्वरूप और संरचना, डॉ0 देवकीनन्दन शर्मा, नीलेश प्रकाशन, डी 5/62 अर्जुन नगर, दिल्ली 11005, पृ0 सं0 200
18. आत्मजयी, भूमिका, पृ0 10
19. ऋग्वेद-संहिता, अजमेरीय वैदिक यन्त्रालये मुद्रिता, सृष्टयब्दः 1972949054, वि.सं0 2010, मं. 1, अ0 6, सू0 24, पृ0 13
20. ऐतरेय ब्राह्मण तथा भागवत के अनुसार इक्ष्वाकु राजा हरिश्चन्द्र निःसंतान थे। नारद व पर्वत मुनियों द्वारा पुत्र-महत्ता जानकर वे पुत्र-प्राप्ति हेतु लालायित हो उठते है। वरुण देवता की कृपा से उन्हें रोहित नामक पुत्र होता है। राजा उत्कंण्ठा वश वरूण देवता की प्रसन्नता हेतु पुत्र को ही पशु बनाकर यजन करने की प्रतिज्ञा करते है। पुत्रोत्सव पर वरुण प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं। राजा के टाल-मटोल करने पर वरुण से शापित होकर वे जलोदर रोग से ग्रस्त हो जाते है। पुत्र रोहित को पता चलते ही वह वन को चला जाता है और ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र के संरक्षण में 6 वर्ष तक रहता है। घर लौटते समय भूख से पीडित अजीगर्त ऋषि मिलते हैं और वे मँझले पुत्र को 100 गायों के बदले रोहित को बेच देते हैं। राजा हरिश्चन्द्र वरूण यज्ञ प्रारम्भ करते हैं। इस यज्ञ के होता विश्वामित्र, अध्वर्यु जमदग्नि, ब्रह्मा वसिष्ठ तथा उद्‌गाता अयास्य ऋषि बनते हैं। बलि-यूप में बँधा शुनः शेप प्रजापति, अग्नि, सविता वरुण देवता का स्तवन करता है।

उनकी कृपा से उसके तीन पाश कट जाते हैं। शुनः शेप लोभी पिता का परित्याग कर विश्वामित्र की गोदी में बैठ जाता है। विश्वामित्र उसे अपना दत्तक पुत्र बना लेते हैं और वे उसका नाम देवरात (देवों द्वारा प्रदत्त) रखते हैं। इधर हरिश्चन्द्र भी जलोदर रोग से मुक्त हो जाते हैं।

21. देवरात, पृ0 73

23. क्षुधित गिद्ध यदि सिंहासन हैं,
तो शासित जन जीवित प्रेत'' देवरात, विष्णुदत्त राकेश पृ0 73

24,25. वही पृ0 74-75

26. (जिसके पास नहीं शोषण के, छल भरे कुटिल नख दंत। उन असहाय ग्राम्य गिरि जन की/ नहीं व्यथा का होगा अंत) वही पृ0 76

27. मुक्ताफल से कलम तुली तो मिला श्रृगालों को भी लाभ/ नेता-अभिनेता के आगे हुए शीशनत नित कविराय'' वही पृ0 76

28. वही पृ0 76-77

29. देवरात, प्रस्तावना, पृष्ठ 9

30. छान्दोग्य उपनिषद् 3.14.1

31. छान्दोग्य उपनिषद् 6.8, .7

32. देवरात पृ0 72

33. देवरात पृ0 95

34,35. देवरात पृ0 81

36. मनु के दस पुत्रों में से नभग एक हैं। प्रतिभाशाली नभग वेदाध्ययन व अध्ययन में इतने लीन हो गये कि आचार्य कुल से घर लोटे ही नहीं। महाराज मनु के संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उनका राज्य दस भाइयों में से केवल सात के मध्य बाँटा गया क्योंकि पृषध्र गो सेवा में प्रमाद के कारण वसिष्ठ मुनि से शापित होकर वन चले गये थे और **'कवि'** स्वभावतः विरक्त थे। अतः उन्होंने राज्य-पद स्वीकारा नहीं। नभग को बँटवारा करते समय सभी भाई भूल गये। वेदाध्ययन के उपरान्त नभग लौटे और उन्होंने अपना हिस्सा माँगा तो लोभी भाइयों ने बूढ़े माता-पिता की सेवा का उत्तरदायित्व सौंप कर राज्य में से हिस्सा देने से इन्कार कर दिया। नभग आर्थिक कठिनाइयों को सहन करते हुए माता-पिता की सेवा सुश्रुषा और स्वाध्याय करते रहे। एक दिन वृद्ध पिता ने उन्हें सुझाव दिया कि निकट ही सम्पन्न हो रहे अंगिरागोत्री ब्राह्मणों के यज्ञ में जाकर उन्हें वैश्वदेव सम्बन्धी सूक्त सुनाकर प्रसन्न करें। मंत्रकार ऋषि विद्वानों का आदर करते हैं और समय-समय पर उन्हें पुरस्कृत भी करते हैं। नभग ने यज्ञ शाला में जाकर स्वरचित सूक्त सुनाए। आंगिरस अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा यज्ञान्त में उन्होंने पुरस्कार स्वरूप धन-धान्य व गाएँ भी नभग को प्रदान कीं। प्रफुल्लित मन से लौटते नभग को मार्ग में भगवान

रुद्र ने रोककर उस धन पर अपना अधिकार बताया। रुद्रदेव से प्रमाण माँगने पर उन्होंने नभग के पिता को ही निर्णायक बनाकर जिज्ञासा शमन करने को कहा। मनु ने निर्णय दिया कि दक्ष-यज्ञ के अवसर पर ही यज्ञ-शेष पर रुद्र का अधिकार निर्धारित हो चुका है। नभग ने पिता का निर्णय स्वीकार किया। रुद्रदेव माता-पिता की सत्य-धर्म पर अटूट निष्ठा और नभग का निर्लोभ रूप देखकर प्रसन्न हुए उन्होंने उनका धन ही प्रत्यावर्तित नहीं किया, दुर्लभ ब्रह्मतत्व का उपदेश भी दिया। नभग की यह कथा ऋग्वेद के दशम मंडल तथा ऐतरेय ब्राह्मण में मिलती है।

37. ऋग्वेद संहिता मं. 10, अ. 5, पृ0 690
38. नभग, भूमिका, पृ0 9
39. पृ0 9-10
40. नभग, विष्णुदत्त राकेश, पृ0 96
41. नभग, पृ0 92
42. नभग पृ0 77
43. ''कर्म-भावना और समर्पण से परिपूर्ण व्यक्ति को,
सत्य शिखर से अचल शक्ति का स्रोत बहाना होगा।
जहाँ विश्व का नीड़ न टूटे, उस संकल्प विटप पर,
रंग बिरंगे भाव खगों का गेह बसाना होगा।'' नभग, पृ0 80
44. वही, पृ0 80
45. नभग, भूमिका, पृ0 10
46. नभग, पृ0 107
47. नभग, पृ0 93
48. ''शिक्षा को व्यवसाय समझना,
है प्रबन्ध की भारी भूल।
व्यवसायों की होड़ बनाती,
शिक्षा को विलाश के शूल।।'' नभग, पृ0 37
49. नभग, पृ0 100
50. ''साक्षरता के बिना बालश्रम,
का शोषण होता भरपूर।
बेहतर जीवन स्तर देने का,
उसे, स्वप्न हो जाता चूर।'' नभग, पृ0 100
51. ''बुनियादी सुविधाएँ देकर,
सबको शिक्षित करना धर्म।
बच्चों का निर्माण भक्ति है,
बचपन की रक्षा सत्कर्म।'' नभग, पृ0 100

52. नभग, पृ0 36
53. 'It has been the solace of my life,
and will be the solace of my death.'
Shopen haur, quoted in history of Indian Litrature, winternitz.
(Page. 266-267)
54. ईश0 1
55. ''त्याग सहित उपभोग साध्य है,
नश्वर दृश्यमानसब ठाठ।
आत्म तत्व ही नित्य शुद्ध है,
पढ़ो हृदय से पक्का पाठ।'' नभग, पृ0 92
56. ईशवास्योपनिषद् - 6
57. ईशवास्योपनिषद् - 7
58. नभग, पृ0 93
59. शांख्यायन ब्राह्मण 2.8
60. वृहदारण्यक, 1.3.22
61. नभग, पृ0 91

सन्दर्भ ग्रंथ -

1. आत्मजयी, कुँवरनारायण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड नई दिल्ली, 110003
2. नभग, डा0 विष्णुदत्त राकेश, राधाकृष्ण, प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
3. देवरात, डा0 विष्णुदत्त राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली - 110002, प्रथम संस्करण; 1998
4. वैदिक आख्यान, प्रभाकर नारायण कवठेकर, राष्ट्रीय-संस्कृत-संस्थानम् ए-40, विशाल एन्क्लेव, राजा गार्डन, नई दिल्ली - 110027 वर्ष 1995
5. हिन्दी-नाटक मिथक और यथार्थ, राकेश गौतम, अभिरुचि प्रकाशन, 3/14 कर्णगली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-32, प्रथम संस्करण, 1997
6. ऋग्वेद-संहिता, ऋष्यादिसंवलिता, मन्त्राणां वर्णानुक्रम-सूच्यलंकृता श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामिना संस्थापितया श्री परोपराकारिणी सभया प्रकाशिता, पंचमावृत्तिः विक्रमी संवत् 2010
7. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी - 221001, प्रथम संस्करण 2000 ई0

"प्राचीन भारत में राज्य-सुरक्षा"

डॉ० उमा जैन
रीडर संस्कृत विभाग
मु०लाल एण्ड जय० ना० खे० गर्ल्स कालेज
(पी०पी०) सहारनपुर

'राज्य' शब्द राजन्+यत् प्रत्यय करने पर बना है।[1] आचार्य पाणिनि ने राज्य शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिस शासन पद्धति में राजा सर्वोच्च अधिकारी हो, उसे राज्य कहते हैं।[2] एक जनपद की भूमि के स्वामी को राजा या पार्थिव कहते हैं।[3] पाणिनि ने राजा के लिए ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्द दिए हैं। पतञ्जलि ने ऐश्वर्य सम्पन्न स्वामी (सर्वोच्च अधिकारी) के लिए राजा शब्द का प्रयोग किया है।[4] एक राज शासन में सर्वोच्च व्यक्ति राजा होता था। किन्तु प्रत्येक राज्य में शान्ति-व्यवस्था को भंग करने वाले शत्रु होते हैं। ये राज्य में अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न करने का प्रयास करते रहते हैं। राजा का कर्तव्य है कि वह इन शत्रुओं को नष्ट करें और राष्ट्र में शान्ति-व्यवस्था को सुरक्षित करें। इन शत्रुओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं।

1. आभ्यन्तर शत्रु 2. बाह्य शत्रु

आभ्यन्तर शत्रु वे हैं जो अपने ही राष्ट्र के हैं। ये शत्रु दूसरों की सम्पत्ति भूमि, भवनादि का हरण करते हैं। स्त्रियों की मान-मर्यादाओं को हानि पहुँचाते हैं। अतएव ये आभ्यन्तर शत्रु समाज की व्यवस्था को बिगाड़ने वाले व्यक्ति हैं। दूसरों की सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाते हैं। तथा राजकीय सम्पत्ति को भी हानि पहुँचाते हैं। इनमें चोर, डाकू, व्याभिचारी, आततायी, समाज के शोषक आते हैं। वेदों में चोर के लिए स्तेन और तायु शब्द है। पापी के लिए अघशंस, डाकू के लिए तस्कर, बटमार के लिए परिपन्थिन् परस्त्रीगामी के लिए जार, परपुरुषगामिनी के लिए पुंश्चलू तथा पुंश्चली, पशु-चोर के लिए पशुतृप्, समाज शोषक के लिए अराति, अरावन्, अत्रिन् आदि शब्द है। अनेक मन्त्रों में इन्हें नष्ट करने की प्रार्थनाएँ की गई हैं। चोरी करने वाला समाज का शत्रु है, उसका पतन हो।[5] पातियों और दुर्विचार वालों को शस्त्रों से मार दो।[6] धूर्त पापियों को विष देकर मार डालो।[7] ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि पापी, मायावी, धूर्त और चोरों आदि को नष्ट कर दो, जला दो या बन्धन में डाल दो।[8] इससे ज्ञात होता है कि कुछ राजकर्मचारी या पुलिस आदि इस कार्य के लिए नियुक्त किये जाते थे।

यजुर्वेद में स्तेन (चोर), तस्कर (डाकू), मलिस्म्लु (दुर्व्यसनी), अघायु (पापी) और निन्दकों को नष्ट करने तथा भस्मसात् करने का उल्लेख।[9] यजुर्वेद के 16वें अध्याय में रुद्र के गणों का निर्देश है जो मार्गों की रक्षा का कार्य करते थे और जीवन भर सैनिक का काम करते

थे।[10] ये मनुष्यों के स्वामी एवं अधिपति हैं।[11] ये तीर्थों पर सुरक्षा के लिए धनुष-बाण, तलवार आदि लेकर घूमते हैं।[12] इससे स्पष्ट होता है कि गण-सैनिकों को सामान्य-सुरक्षा का काम दिया जाता था। और वे मार्गों में चोरी डकैती आदि को रोकते थे तथा तीर्थादि स्थानों पर सुरक्षा की व्यवस्था करते थे। अथर्ववेद में चोरों के सिर और गर्दन काटने की बात कही है। गायादि को मारने वाले को सीसे की गोली से मार दो।[13] चोर के हाथ-पैर काट दो।[14] शोषकों को सताकर निर्बल कर दो।[15] जो विद्वानों पर आक्रमण करें, उनको नीचा दिखाओ।[16] ये सभी आभ्यन्तर शत्रु को नीचा दिखाने एवं उनको समूल नष्ट करने वाले हैं। इसके लिए राजा को उत्तरदायी बनाया गया है। राजा इनको नष्ट करे या नियन्त्रित करे। राजकृतों में ग्रामणी (ग्राम प्रधान) का उल्लेख है।[17] जो क्षेत्रीय स्तर पर इन अपराधों को रोकने की व्यवस्था करते थे। अथर्ववेद में कुछ सैनिक आन्तरिक सुरक्षा के कार्य में लगाये जाते थे। इनको शत्रुनाशक (सपत्नहा), बलिष्ठ (प्राणसंशित) और सैनिक तेजस्विता वाला (पुरुषतेजा:) कहा गया है।[18] वर्तमान पुलिस शब्द पुरुष शब्द का ही विकसित रूप है। अशोक के अभिलेखों में पुलिस के लिए 'पुरिस' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक अन्य मन्त्र में इनको अग्नि के तुल्य तेजस्वी (अग्नितेजा:) और पृथिवी की रक्षा के लिए अनुप्राणित (पृथिवी संशित) कहा गया है।[19]

छन्दोग्योपनिषद में असत्यवादी को पकड़कर लाया जाता था और उसकी अग्नि परीक्षा की जाती थी। लोहे की गर्म छड़ या कुल्हाड़ी उसके हाथ में दी जाती थी। यदि असत्यवादी होता था। तो उसका हाथ जल जाता था, और सत्यवादी होने पर हाथ नहीं जलता था।[20] इस प्रकार अपराधियों को राजा द्वारा दण्ड दिया जाता था।

बाह्य शत्रु वे है जो दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध रखते हैं। ये शत्रु देश पर आक्रमण करते हैं, जन-संहार करते हैं, गुप्तचरों द्वारा जनता में असन्तोष उत्पन्न करते हैं और राज्य में अशान्ति और अव्यवस्था फैलाते हैं। इन शत्रुओं का दमन करने से ही राज्य सुरक्षित रहता है। उनसे अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती थी। प्राचीन ऋषि राष्ट्र की सुरक्षा, सेना की आवश्यकता, सेना-प्रशिक्षण, शस्त्रास्त्रों का निर्माण आदि के प्रति भी जागरूक थे। इन्द्र के लिए कहा गया है कि उसने सैंकड़ों सेनाओं को एक साथ जीता।[21] इन्द्र के पास योद्धा सैनिकों का गण है। उसके पास तामस आदि दिव्य अस्त्र है, जिससे शत्रु मूर्च्छित हो जाते हैं, और इन्द्र की सेना सदैव विजयी होती है।[22] इससे स्पष्ट होता है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए सेना की नितान्त आवश्यकता थी।

प्राचीन भारत में राज्य-सुरक्षा हेतु देवसेना का संगठन होता था जो अपना ध्वज लेकर युद्ध के लिए प्रस्थान करतीं थी। उनके पास धनुष-बाण, तुणीर, रथ और अश्व होते थे। वे विजय ध्वनि करते हुए चलते थे। देवसेना के आगे मरुतों का गण युद्धवेष में चलता था। उनके पास धूमास्त्रादि प्रक्षेपास्त्र होते थे। जिनसे वे शत्रुओं को मूर्च्छित कर देते थे। वे शत्रुओं को निर्दयता से मारते थे। और सदा विजयी होते थे।[23] ऋग्वेद में महासेना का भी उल्लेख है। ये महासेनायें

शत्रु को अपने अस्त्रों से भून डालती थी।[24] ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में सेना के लिए सेना, पृतना, अनीक पृत आदि शब्द प्राप्त होते हें। वेदों में अश्व को युद्ध के लिए उपयोगी बताया गया है। अश्वारोही के लिए 'सादिन' शब्द है। अश्वारोही अतिद्रुत गति से उछलते हुए घोड़ों से युद्ध में विजयी होता है।[25] ऋग्वेद में कहा गया है कि हम अश्वसेना से शत्रुओं की अश्वसेना को और अपने योद्धाओं (पदाति सेना) से शत्रुओं के योद्धाओं को जीते।[26] ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और तैत्तिरीय संहिता में सेना के तीन अंगों-पदाति, अश्व और रथ का वर्णन है, जिसमें कहा है कि हमारे सैनिकों का मनोबल ऊँचा हो, हमारे घोड़ों की गति उत्कृष्ट हो और हमारे रथ विजयी हो।[27] ऋग्वेद में अश्वसेना के लिए 'अश्विय' शब्द आया है। इन्द्र शत्रुओं की अश्वसेना को जीतता है और उनका धन, गाय, हिरण्य आदि भी जीतता है।[28] प्राचीन भारत में रथसेना का भी राज्य-सुरक्षा में बहुत महत्व रहा है। रथारोहि को राथिन्, रथेष्ठ, रथेष्ठा, रथयावन् आदि कहा गया है। ऋग्वेद का कथन है कि रथ में जुते हुए घोड़ें शत्रुसेना को कुचलकर नष्ट करते हैं।[29]

ऋग्वेद में सम्पूर्ण सेना के अध्यक्ष के लिए सेनानी शब्द है।[30] सेनापति सेना के सबसे बड़े समूह का नेता होता था। उसी के नेतृत्व में युद्ध होता था। इन्द्र को देवसेना का सेनापति कहा गया है और उसे सैंकड़ों सेनाओं का विजेता बताया गया है।[31] सेनापति अपने कार्यों में बहुत चुस्त हो, महावली हो, शत्रुसेना को नष्ट करने की शक्ति रखता हो। शस्त्रास्त्र संचालन में निपुण हो, अपनी और शत्रुसेना की शक्ति को ठीक से जानता हो, भयंकर हो, शत्रुओं पर दया न करे, शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो, सेना को सुसंगठित रखने की योग्यता हो, शीघ्र निर्णय की क्षमता रखता हो, श्येनवत् आक्रामक हो, राष्ट्रहित का रक्षक हो, सैनिकों को प्रोत्साहित करे और उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त करे, महाज्ञानी और नीतिनिपुण हों वह शत्रुओं को मारता, कुचलता हुआ आगे बढ़े और शत्रुसेना पर विजय प्राप्त करे। युद्धभूमि में आगे रहे और शत्रुसेना को जीते।[32] सेनापति वज्रधारी, प्रक्षेपास्त्रों से युक्त हो, शत्रुओं और पापियों का नाशक हो और अत्यन्त प्रभावशाली हो। सेनापति की दक्षता इस बात में है कि वह सब ओर अपना ध्यान रखे, अतः उसे 'सहस्रचेतस्' कहा गया है। वह युद्ध में विजय के लिए सैंकड़ों उपाय जानता हो, अतः उसे 'शतनीथः' कहा गया है। वह समस्त जनता का हितकारी और हितचिन्तक हो अतः उसे 'पाञ्जन्यः' कहा है। सेना में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्ण के लोग होते थे, अतः उसके लिए आवश्यक था कि वह पंचजनों का हितकारी और शुभेच्छु हो।[33]

यजुर्वेद में राज्य-सुरक्षा हेतु एक भी शत्रु को जीवित न छोड़ने की बात कही है।[34] यजुर्वेद में दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है- आशुषेण और श्रुतसेन।[35] आशुषेण-वह सेना जो आवश्यकतानुसार तुरन्त कार्यक्षेत्र में पहुँचे, शीघ्र कार्यवाही करे। श्रुतसेना- जो अपनी कुशलता के लिए विख्यात होती थी और युद्धों में भाग लेती थी। यजुर्वेद में अश्वारोही के लिए अश्वसाद शब्द आया है। पदाति सेनानी के लिए गणपति, व्रातपति तथा गृत्सपति शब्दों का प्रयोग हुआ है।[36]

रथसेना का महत्व बताते हुए कहा गया है कि बृहस्पति रथ से शत्रुओं को नष्ट करते हुए और सेनाओं को जीतते हुए सर्वत्र निर्बाध भ्रमण करे।[37]

अथर्ववेद में राज्य-सुरक्षा के लिए शत्रुओं की सेना को सहस्त्रों प्रकार नष्ट कर दो। इन्द्र शत्रु सेना को बेहोश कर दे और वह पराजित होकर लौट जाते।[38] अथर्ववेद में सेना के लिए वाहिनी शब्द का प्रयोग है।[39] इसमें वाहिनी को किरीटधारी बताया गया है। अश्वरोही सेना के लिए सादिन शब्द आया है। वेदों में स्पष्टतया तीन सेना-अश्वसेना, पदाति सेना और रथसेना का वर्णन मिलता है। गजसेना का नही, उस समय हाथी की तेजस्विता एवं उसके उपयोग का उल्लेख है। सिकन्दर और राजा पोरुष के युद्ध में हाथी का उपयोग हुआ था जिसमें राजा पोरुष को हाथी पर आसीन दिखाया गया है। इससे विदित है कि इससे पहले गज सेना का प्रयोग नहीं होता था।

आचार्य कौटिल्य और शुक्रनीति ने सेना के चार अंगों-पदाति, (पैदल सेना), अश्व, गज और रथ का वर्णन किया है, अत: सेना को चतुरङ्गिणी कहा है।[40] सेनापति के गुण और कार्यों के विषय में कौटिल्य का कहना है कि वह हर प्रकार के युद्ध करने, हथियार चलाने और विविध शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए। हाथी, घोड़े और रथ चलाने की पूरी योग्यता रखता हो और चतुरंगिणी सेना के कार्य और प्रयोग का ज्ञाता हो। इसके अतिरिक्त वह अपनी सेना की शक्ति, युद्ध काल, शत्रु सेना की शक्ति, व्यूहरचना और शत्रव्यूह तोड़ना, दुर्ग तोड़ना, सेना का संचालन, उचित समय पर युद्ध के लिए प्रस्थान करना आदि कार्यों का ज्ञाता हो।[41] कौटिल्य ने सेना में चारों वर्णों के शूरवीर सैनिकों की भर्ती का समर्थन किया है। चारों वर्णों की पृथक्-पृथक् सेना होने पर किस सेना को श्रेष्ठ समझा जाना चाहिए इस सम्बन्ध में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की सेनाओं में वाद वाले की अपेक्षा पूर्व-पूर्व में सेना अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु शत्रुपक्ष ब्राह्मण सेना को प्रणाम आदि के द्वारा अपने वश में कर सकता है, अत: युद्धविद्या में निपुण क्षत्रिय सेना को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। यदि वैश्य सेना और शूद्र सेना में वीर पुरुष अधिक हो तो वैश्य सेना या शूद्र सेना को श्रेष्ठ समझना चाहिए।[42] कौटिल्य ने पदाति सेना के अध्यक्ष को 'पत्यध्यक्ष' कहा है। वह शस्त्रास्त्र विद्या का पारंगत हो और युद्ध की प्रारम्भिक कार्य व्यवस्था को ठीक जानता हो। साथ ही सेना के छ: विभागों मौलबल आदि की सामर्थ्य और असामर्थ्य से भी भली-भाँति परिचित हो। वह जंगल, तराई, मोर्चाबन्दी छल-कपट, खाई, आकाश-युद्ध आदि सभी प्रकार के युद्धों का ज्ञाता हो।[43]

कौटिल्य ने कार्यदक्षतादि के आधार पर सेना के छ: भेद किए हैं - मौल, भृतक, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटवी बल। मौल सेना - वह होती थी, जो स्थायी रूप से नियुक्त एवं वंशपरम्परागत होती थी। राज्य सुरक्षा ही इनका कार्य होता था। वंश परम्परागत होने के कारण यह राजा की स्वामिभक्त सेना थी। भृतक सेना-वेतन भोगी सेना होती थी। इसको राज्य से वेतन

मिलता था। श्रेणी बल-यह विभिन्न संघों से सम्बद्ध सेना होती थी इसकी भर्ती विभिन्न प्रदेशों में होती थी। मित्र-बल मित्र राजाओं की सेना थी। अमित्र बल -शत्रु राजाओं की सेना थी। अटवी-बल जंगली कोल, भील आदि जातियों की सेना होती थी।[44] इसके अतिरिक्त 'औत्साहिक बल' अर्थात् स्वयं सेवी सेना (Volunteer Corps) भी होती थी। जो देश की रक्षा के लिए नियुक्त की जाती थी। चाणक्य ने इन सभी सेनाओं में मौल सेना को सर्वोत्कृष्ट माना है, क्योंकि वंश परम्परागत होने के कारण सबसे अधिक स्वामिभक्त होती थी।[45] कौटिल्य ने मार्गदर्शन के रूप में अटवी बल या जंगली सेना का उपयोग बताया है। मार्गदर्शक सेना अग्रगामी पार्टी (Advance Party) के रूप में सेना के आगे चलकर वन, पर्वतादि के मार्गों का ठीक-ठीक पता लगाती थी। कौटिल्य ने स्थल और जल सेना के अतिरिक्त आकाश में युद्ध करने वाले सैनिकों को 'आकाशयोधिन्' कहा है।[46] जो अस्त्र और प्रक्षेपास्त्रों द्वारा आकाश में युद्ध करते थे।

सेनापति की योग्यता के सम्बन्ध में शुक्राचार्य का कथन है कि राजा इन गुणों से युक्त व्यक्ति को सेना का अध्यक्ष बनावें- जो नीतिशास्त्र, शस्त्रास्त्र-संचालन, व्यूहरचना, राजनीतिशास्त्र आदि में पण्डित हो, युवा, शूरवीर, हृष्ट-पुष्ट, क्षात्रधर्म में तत्पर, स्वामिभक्त और शत्रु-संहारक हो। किसी भी जाति का व्यक्ति, अपनी योग्यता के आधार पर, सेनाध्यक्ष हो सकता है। चाहे वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,म्लेच्छ या वर्णशंकर किसी भी जाति का हो सकता है। ये सभी गुण सैनिकों में भी होने चाहिए।[47] शुक्राचार्य ने सेनापति के लिए एक बात पर विशेष बल दिया है कि वह शूरवीर अवश्य होना चाहिए।[48] तभी शत्रुओं को परास्त कर स्वराज्य को सुरक्षा प्रदान कर सकेगा। शुक्राचार्य ने अनेक वर्षों से वृत्ति लेकर पास में रहने वाले वंशपरम्परागत सेना की मौल और तत्काल भर्ती की गयी सेना को 'साद्यस्क' नाम दिया है। इसमें भृतक के लिए साद्यस्क शब्द है।[49] युद्ध के समय सेना की स्थिति को बतलाते हुए शुक्राचार्य का कहना है कि नालिका अस्त्र (तोप, बन्दूक आदि) वाली सेना को सबसे आगे रखे। उसके पीछे पैदल सेना को रखे। हाथी और घोड़ों की सेना को दोनों ओर बगल में रखें।[50] शत्रु को नष्ट करने के लिए धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध (छल युद्ध) दोनों का आश्रय लेने की बात कही है। हाथी सेना के साथ हाथी सेना, घुडसवारों के साथ घुड़सवार, रथ वालों से रथी और पैदल सैनिकों से पदल सैनिक युद्ध करे।[51] राजा सैनिकों के उत्साह वर्धनार्थ उन्हें युद्धधर्म सुनवावें और शौर्यवर्धक बाद्य, नृत्य गीतादि की भी व्यवस्था करें। साथ ही सैनिकों को सप्ताह में एक दिन प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था करे।[52] जिससे शत्रुओं का विनाश कर राज्य में शान्ति स्थापित की जा सके।

महाभारत में राज्य-सुरक्षा हेतु चतुरंगिनी सेना (रथ, हाथी, अश्व, पदाति) के साथ नौ-सेना, विष्टि, देशिक और चर सेना भी सम्मिलित की गयी है।[53] नौ सेना नौका या जहाज (जलयान) पर चढ़कर युद्ध करती थी। विष्टि-सेना श्रमिकों की सेना होती थी, जो युद्ध का सामान आदि ढोने के लिए होती थी। जिससे सर्वसाधन सुलभ होने से सेना पूर्ण मनोयोग के साथ शत्रुओं का सामना करती थी।

समय के साथ-साथ शत्रुओं से राज्य को सुरक्षा प्रदान करने के लिए राज्य-सुरक्षा व्यवस्था का रूप भी समय के साथ-साथ बदल गया है। आज देश के आभ्यन्तर शत्रुओं को न्याय एवं दण्ड व्यवस्था द्वारा दण्डित किये जाने की व्यवस्था है और बाह्य शत्रुओं से सुरक्षा के लिए थल सेना, जलसेना और वायु सेना की व्यवस्था है, जो रिवाल्वर, बन्दूक, तोप, हथगोला, अणु-परमाणु, प्रक्षेपास्त्रादि शस्त्रास्त्र का प्रयोग कर शत्रुओं पर नियन्त्रण कर राज्य में सुरक्षा व्यवस्था बनाये रखने में सक्षम है। एक सुरक्षित राज्य ही शान्ति, प्रसन्नता एवं धन-धान्य की वृद्धि का द्योतक होता है।

सन्दर्भ :-

1. संस्कृत-हिन्दी-कोश-वामन शिवराम आप्टे, पृ0 853
2. अष्टाध्यायी 6.2.130
3. वही 5.1.41-42
4. वही 5.2.126
5. ऋग्वेद 7.104.10
6. वही 1.94.9
7. वही 10.87.23
8. वही 10.87.23, 10.87.20, 10.87.2, 10.87.24 आदि
9. यजुर्वेद 11.77-80
10. वही 16.60
11. वही 16.59
12. वही 16.61
13. अथर्ववेद 19.49.9
14. वही 19.49.10
15. वही 8.4.1
16. वही 3.19.3
17. वही 3.5.7
18. 10.5.35
19. वही 15.5.1
20. छान्दोग्योपनिषद् 6.16.2,3
21. यजुर्वेद 17.33
22. ऋग्वेद 10.103.3, 12, 10.3.7
23. वही 10.103, यजु0 17.33-47, अथर्व0 19.13.1-11, साम0 1849-1872
24. वही 7.34.19

25. वही 1.158.3
26. वही 1.73.9
27. वही 10.103.10, यजु0 17.42, साम0 1858, तैत्ति0 सं0 4.6.4.4,
28. वही 4.17.11
29. वही 6.75.7
30. वही 7.20.5
31. वही 10.34.12, 10.103.1
32. वही 10.84.3, 9.96.1
33. वही 1.100.12
34. यजुर्वेद 17.45
35. वही 16.34, 16.35
36. यजुर्वेद 30.13, 16.25
37. वही 17.36
38. अथर्ववेद 8.8.1, 3.1.6
39. वही 10.1.15
40. कौ0 अर्थ0 पृ0 729
41. कौटिल्यार्थशास्त्र पृ0 293-294
42. वही पृ0 736-737
43. वही पृ0 293
44. वही पृ0 730
45. वही पृ0 734-735
46. वही पृ0 616
47. शुक्रनीतिसार 2.135-136
48. वही 2.413
49. वही 4.7.10
50. वही 4.7.327
51. वही 4.7.335, 339
52. वही 5.81-82, 4.7.364
53. महाभारत शान्तिपर्व 59.41

भूमण्डलीकरण एवं सांस्कृतिक क्षरण

डा० महेश दत्त शर्मा
रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग,
एन.एम.एस.एन. दास स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बदायूँ।

वर्तमान में शिक्षा, व्यापार, चिकित्सा, कृषि, पर्यावरण, अभियान्त्रिकी आदि से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न देशो की स्थितियों को घ्यान में रखते हुए सम्पूर्ण विश्व का जनसमुदाय किस तरह एक दूसरे से लाभान्वित हो सकता है और परस्पर एक दूसरे की किस तरह सहायता की जा सकती है? इस भावना से भूमण्डलीकरण का उदय हुआ। प्रारम्भ में भूमण्डलीकरण की इस घोषणा के अवसर पर जब भारत में इसका अनेक संस्थाओ के द्वारा प्रबल विरोध किया गया था तब ऐसे ही लोकलुभावन आश्वासन दिए गए थे। परन्तु आजतक इसमें कोई परिवर्तन की घोषणा नहीं की गयी है। भूमण्डलीकरण अथवा वैश्वीकरण की योजना को हम आङ्ग्लभाषा में Globalisation के रूप में जानते है। आधुनिक भूमण्डलीकरण की यह अवधारणा कोई नवीन विचारसरणि अथवा परस्पर आबद्व जीवनपद्धति अथवा प्रक्रिया नहीं है क्योकि इसकी पृष्ठभूमि में हमारे भारतीय पुराकालीन मनीषियों का प्रौढ़ एवं परिपक्व आत्मानुभूत सतत चिन्तन ही विद्यमान है। ''यह मेरा है, यह पराया है -- इस प्रकार की गणना करना क्षुद्र मनोवृत्ति का परिचायक है, परन्तु उदारचरित्रवाले लोगो के लिए तो यह समस्त भूमण्डल ही कुटुम्ब है'' जैसे-

अयं निजः परोवेति गणना लधुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।। (महाभारत, उद्योगपर्व)

भारतीयो की प्रारम्भ से ही इससे भी बढ़कर उदारतापूर्ण मान्यता रही है कि ''सभी सुखी रहें, सभी रोगमुक्त हो, सभी कल्याणकारी साधनों का उपभोग करें और कोई भी दुःख का भागी न बने अर्थात् किसी को भी दुःख न हो -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ।।

भूमण्डलीकरण के सिद्वान्त के द्वारा विश्व के प्रति जो विकासात्मिका प्रवृति है वैसी ही भावना से प्रेरित होकर संयुक्तराष्ट्संघ की भी स्थापना की गयी थी और जिसके द्वारा स्थापित अनेक मानवकल्याणकारी योजनाओ के माध्यम से विश्व के विभिन्न देशो की समस्याओ के उन्मूलन के लिए सतत प्रयास किया जा रहा है जिसमें उदार मानवीय दृष्टिकोण की भावना ही प्रमुख है। परन्तु हमे भूमण्डलीकरण के मूल में ऐसी उदार भावना दृष्टिगोचर नहीं होती, जिसका

प्रमुख कारण Globalisation के माध्यम से एकस्व अथवा एकस्वामित्व (Patent) प्राप्त करना है जो बड़ा ही हानिकारक है। यदि किसी देश को भूमण्डलीकरण के माध्यम से किसी वस्तु का एकस्वामित्व प्राप्त हो जाता है तो निश्चित ही वह देश अन्य देशो की उन्नति को उस दिशा में कदापि सहन नही करेगा और इस प्रकार जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है उसी तरह निर्बल, निर्धन और अविकसित देशो की उन्नति नहीं हो सकेगी। धनी देश कदापि अपने वर्चस्व में कमी अथवा कटौती सहन नहीं कर सकेंगें । इससे निर्धन और निर्बल देशों की वर्तमान की अपेक्षा आगे के लिए भी विकास की स्थिति अधिकतर अवरुद्व हो जायेगी और ऐसी दशा में वह सर्वदा मुखापेक्षी ही बने रहेगें और उनकी संस्कृति भी महत्वहीन एवं अचेतन जैसी हो जायेंगी। इस तरह भूमण्डलीकरण से उनका कोई सुधार सम्भव नहीं हो सकेगा।

वर्तमान में इस भूमण्डलीकरण से सर्वाधिक क्षरण विश्व की संस्कृतियों का प्रत्यक्षरूप में देखा जा सकता है। धनी देश जिस प्रकार से भूमण्डलीकरण का सहारा लेकर टेलीविजन, ऑडियो, वीडियो, दूरभाष आदि के माध्यम से अपनी-अपनी संस्कृतियो (चाहे वह चिन्तन-मनन की बात हो अथवा परिधान, खान-पान या रहन-सहन की) का प्रसारण कर रहे है। उससे विश्व के अविकसित एवं निर्बल देशो की स्वतन्त्र अस्तित्ववाली संस्कृतियो का क्षरण अथवा ह्रास अवश्यम्भावी है। इस भूमण्डलीकरण से यद्यपि यान्त्रिक- प्रविधियो का आदान-प्रदान हो रहा है खुली विलासिता, कामलोलुपता, मदिरापान आदि की खुली छूट से बुद्विजीवियों की भी बुद्वि में विकृति हो रही है। सर्वत्र बाल और युवावर्ग पथभ्रष्ट हो रहा है। ऐसे में भूमण्डलीकरण से मानव में पशुता की वृद्वि ही होगी।

वर्तमान के घोषित भूण्डलीकरण में परोपकार की भावना का अभाव है। यह एक विशुद्वरूप में व्यापारिक एवं व्यावसायिक पद्वति है। इसमें निर्बल, निर्धन और विकासोन्मुखी देशो के प्रति सहानुभूति और सहायता की प्रक्रिया कदापि उस तरह फलप्रद नही हो सकती जिस तरह विकसित एवं शाक्तिसम्पन्न राष्ट्रों के लिए है। धनी और विकसित राष्ट्रों के लिए तो एक तरह से यह भूमण्डलीकरण कामधेनु ही सिद्व होगा । संसार के अत्यल्प संख्यावाले, निर्बल और निर्धन राष्ट्र भूमण्डलीकरण को आत्मसात करके कदाापि उन्नति नहीं कर सकते, उन्हें तो अब अपने यहाँ की भूमि में जन्म-जन्मान्तरो से परम्पराप्राप्त अनेक पेड़-पौधो, खाद्यान्नो और पेयो के लिए भी धनी राष्ट्रो के द्वारा निर्धन और अविकसित राष्ट्रो को बन्धक बनाने अथवा बँधुआ मजदूर की तरह जीवनयापन करने के लिए विवश करता रहेगा। गरीब देशो के साधन बहुत कम अथवा सीमित होने से वे कभी भूमण्डलीकरण के माध्यम से किसी भी वस्तु का पेटेण्ट अथवा एकस्वामित्व अधिकार प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकेगें। गरीब देशों के लोगों को तो अब एलोपैथी के कैमिकल्स मिश्रित उपादानो के कारण अपने ही देश की वस्तुओं आम, जीरा, हींग, नमक, सौंफ, शर्करा आदि के मिश्रण से तैयार शक्तिवर्धक एवं ग्रीष्मजन्य ताप को शमन करनेवाले 'पना' जैसे स्फूर्तिदायक पेयो का नाम भी सुनायी नहीं पड़ेगा। मट्ठा शरीर को

हट्टा-कट्टा बनानेवाला है और शुद्ध घी-शक्कर का 'मोइआ' (विशुद्धरूप से परम्परागतप्राप्त एक विशिष्ट भारतीय मिष्ठान) स्वास्थ्यवर्धक है, इनको आज भूमण्डलीकरण की आँधी में कौन जानने का प्रयास कर रहा है और कौन अपने बालको को इन वस्तुओं को दे रहा है। आज तो गुलाब के फूल, मुलैठी, सौंफ, बादाम, खरबूज के बीज, पोस्त के दाने, काली मिर्च, शर्करा, दूध आदि से घोटी गयी ठण्डाई के स्थान पर विकसित देशो की स्वाद में मधुर परन्तु प्रभाव में प्राणनाशक बन्द बोतलो के शीतल पेयो के स्वाद चखने के लिये लालायित हुए गरीब देशो के लोगो को टकटकी बाँधकर हमेशा के लिए देखते रहना होगा। वस्तुएँ हमारी होंगी, उपभोग करने वाले ओर होंगे, जो देश धनी होगा वह स्वाद चखेगा, मौजमस्ती करेगा और जो निर्धन होगा वह हमेशा ताकता रहेगा। इस प्रकार भूमण्डलीकरण की छाया में भारतीय खान-पान की पारम्परिक संस्कृति का क्षरण ही नहीं, अपितु वह विकृत एवं विषाक्त मानसिकता को जन्म देगी, बौद्धिक चिन्तन भौतिकवाद में संग्रस्त होकर शीघ्रता से विनाश की ओर स्वाभाविकरूप से प्रवृत्त करेगा। सौहार्द और सहानुभूति के स्थान पर ईर्ष्या-द्वेष की भावना का उदय होगा; क्योंकि संसार में सुख और आनन्द सभी चाहते हैं जिसे भूमण्डलीकरण द्वारा निर्धन देश कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

नीतिशास्त्र का कथन है कि विद्वान् मनुष्य अपने को अजर और अमर मानते हुए ज्ञानप्राप्ति और धनप्राप्ति के लिये सतत चिन्तन करे और यह सोचते हुए कि मृत्यु अवश्यंभावी है, वह मेरे बालों को पकड़कर खींच रही है, अत: व्यक्ति धर्म का आचरण करे -

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेंषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।। (शाङ्र्गधरपद्धति 669।

परन्तु भूमण्डलीकरण के इस युग में ज्ञानप्राप्ति और धर्म की बातों पर कौन ध्यान देता है। उन्हें तो सर्वत्र भोगविलास और धन ही धन दिखलायी देता है। आज धनार्जन की प्रवृत्ति और आकर्षण के फलस्वरूप विषकन्याओं के द्वारा शरीर और सुरा का धनी देशों को समर्पण तो आकर्षण और आनन्दप्रद लग रहा है, परन्तु, उनके द्वारा इस नग्न शरीर के समर्पण में उनकी एड्स के रूप में धनापहारिणी और प्राणापहारिणी मारक शक्ति का बोध नहीं है। टेलीविजन चैनलों पर आज उपदेशकों की लम्बी श्रृंखला खड़ी है। सभी का उद्‌देश्य है धन कमाओ, धन संग्रह करो - ''धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्''।

प्रत्येक देश की अपनी एक विशिष्ट जीवनशैली और चिन्तनपद्धति होती है। वहाँ के लोगों को उसके प्रति स्वाभाविक अनुराग होता है। इसी तथ्य को राम के शब्दों में हम रामायण में देखते हैं -

''अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।'' (रामायण)

श्रीकृष्ण अपने बालजीवन के विषय में उद्धव को ब्रज की स्मृति दिलाते हैं - ''ऊधौ

मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।'' और किसी हिन्दी कवि का निम्नलिखित कथन भी दर्शनीय है -

''तिलक यह तीन लोकों का भुवनभूषण बताते हैं।
यही प्रिय देश है मेरा इसी के गीत भाते हैं।।''

परन्तु क्या यह सब कुछ भूमण्डलीकरण से मातृभूमि के प्रति अनुराग स्थिर रह पायेगा? ''बुभुक्षित: किं न करोति पापम्'' भूखा व्यक्ति क्या पाप में नहीं प्रवृत्त होता? धन की भूख आज भारतीय बुद्धिजीवियों में विदेश के प्रति अनुराग उत्पन्न क्रर रही है। इससे स्वाभाविक ही भारतीय माता, पिता, भाई, बहिनों के सम्बन्ध सभी कुछ निष्प्रभ, महत्वहीन हो रहे हैं। भूमण्डलीकरण से आज सर्वाधिक हानि लोकसंस्कृति की हो रही है। मांगलिक संस्कारों के अवसर पर अब लोकगीतों की मन को गुदगुदानेवाली ध्वनियाँ नहीं हैं। उसके स्थान पर अब नग्न नृत्य, पॉप सोंग (अर्थात् पॉप गायन) गाये जा रहे हैं। भारतीय देवी-देवताओं की मान्यताएँ भी घट रही हैं। जो वर्णाश्रम व्यवस्था हमें अपने माता-पिता, गुरु और अतिथियों के प्रति सम्मान और विनम्रता का पाठ पढ़ाती है, आज भूमण्डलीकरण अर्थात् व्यवसायीकरण और धन बटोरने की होड़ में, भूमण्डलीकरण बिषवल्लरी को सिंचन का कार्य कर रहा है। इस आचरणप्रधान संस्कृति का क्षरण अवश्यम्भावी है और हम सभी इसके समानरूप से सहभागी हैं, मूकदर्शक होते हुए भी क्रियाशील हैं। मैं समझता हूँ कि आचार्य यास्क ने ''आचार्य'' शब्द के निर्वाचन में जो बात हजारों वर्ष पूर्व में कही थी कि आचार्य वह है जो शिष्य की बुद्धि में वैदिक शब्दों के अर्थों को चुन-चुन स्थापित करता है, मेरे विचार से यह अर्थ वैसा न होकर बहुत सीधा-सरल अर्थ हो गया है कि आचार्य वह है जो आज के भूमण्डलीकरण के समय में जनता से (चाहे वह शिष्य हो अथवा सामान्यजन) धन ले लेकर अपने पास संचित कर करता है, संग्रह करता है, अपनी तिजोरियों को भरता है, वह आचार्य है - ''आचिनोति अर्थान्'' (निरुक्त, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद)।

संक्षेप में मेरा अभिप्राय यह है कि भूमण्डलीकरण भारतीय संस्कृति का क्षरण ही नहीं कर रहा है, अपितु यह भारतीय संस्कृति को, विशेषरूप से लोकसंस्कृति को, विकृत एवं पंगु बनाने में ही सहायक एवं समर्थ सिद्ध है। मुझे कष्ट होता है कि भूमण्डलीकरण के इस दौर में मनु अधोलिखित कथन का क्या होगा। ?

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवा:।। (मनु., प्रथम अध्याय)

वाल्मीकि रामायण में वर्णित आर्थिक विचार

डा. राकेश कुमार शर्मा
प्रा. मा. इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गु० का० वि० वि० हरिद्वार

रामायण न केवल भारत का अपितु विश्वस्तर का असाधारण महाकाव्य है। साथ ही यह हिन्दुओं के सर्वोच्च जीवन आदर्शों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। विशेष अर्थ में यह भारत का सर्वोच्च प्रतिनिधि काव्य है। एक ओर जहाँ इसमें आदर्श समाज की कल्पना है तो दूसरी और समाज की धार्मिक एवं आर्थिक नीतियों के विपरीत विचारों के आधार पर संगठित समाज के दर्शन होते हैं। रामायण में प्रतिपादित आर्थिक विचारों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्थिक विचारों का समाज के विकास में महत्वपूर्ण स्थान था साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि आर्थिक विचारों का क्रमशः कैसे विकास हुआ और किस प्रकार उनमें परिपक्वता आयी।

वैदिक काल की भांति रामायण में अर्थशास्त्र का सम्बन्ध वार्ता में निहित था। वार्ता को अर्थशास्त्र का प्रमुख अंग माना गया। किन्तु अध्ययन की दृष्टि से यह विषय इतना महत्वपूर्ण बन गया कि लोगों ने इसे अन्य शास्त्रों (आन्वीक्षिकी, त्रयी, दण्डनीति) से सम्बद्ध कर दिया रामायण में इसका अनूठा प्रयोग देखने को मिलता है। वार्ता जिसे आधुनिक अर्थशास्त्र कहा जा सकता है, कृषि, पशुपालन, व्यापार तथा अन्य आर्थिक विषयों का शास्त्र बन गया। इसके अन्तर्गत कृषि को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसकी महत्ता राम द्वारा भरत को सम्पूर्ण प्रजा को कृषि तथा अन्य व्यवसायों में संलग्न करने के आदेश द्वारा होती है यथा।

> ''कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
> वार्ताया संश्रितस्तात् लोकोऽयंसुखमेधते।।[1]

यथा कृषि और गोरक्षा से आजीविका चलाने वाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीति मात्र हैं न? क्योंकि कृषि और व्यापार आदि में संलग्न रहने पर ही यह लोक सुखी एवं उन्नतिशील होगा।

कृषि निर्विवाद रूप से रामायण कालीन समाज का प्रमुख उद्योग था। रामायण में अनेक स्थलों पर इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रमाण मिलते हैं। राम के वन जाते समय बीच में हरे भरे जंगल तथा धन-धान्य से सम्पन्न खेत और उद्योग मिलते हैं। यथा -

> ततो धान्य धनोपेतान् दानशीलनानशिवान्।
> अकुतश्चिद्भयान रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान्
> उद्यानाम्रवणो-पेतान् सम्पन्नसलिलाशयान्।
> तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान्।[2]

1. वा. रामायण - अयोध्या काण्ड, 100-47
2. वा. रामायण - अयोध्या काण्ड सर्ग 50 श्लोक 8,9

उपर्युक्त तथ्य इस ओर ध्यानाकर्षित करता है कि तत्कालीन समय की कृषि व्यवस्था उन्नत दशा में थी तथा समाज का एक अत्यधिक बड़ा वर्ग कृषि को अपनी जीविकापार्जन बनाये हुऐ था। एक अन्य स्थल पर भी इसकी पुष्टि होती है। जब राम के वन जाने का संयोग हुआ तो समाज के बहुत से लोग कृषि जैसे कार्यों को छोड़कर तैयार हो गये थे। पुरवासी कहते हैं ''हम सभी बाग, बगीचे, घर द्वार और खेतीबारी सब छोड़ कर धर्मात्मा श्रीराम का अनुगमन करें और उनके दुख-सुख के साथी बनें। यथा -

''उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च।
एकदु:खसुखा राममनुगच्छामण धार्मिकम्।।[3]

जिस समय राम वनों में थे और भरत के द्वारा राज्य का संचालन हो रहा था उस समय भी कृषि व्यवसाय अपने चरम पर था, शरद् ऋतु के अन्त में पृथ्वी सस्यशालिनी जान पड़ती थी और देश की खाद्य आवश्यकताएं परिपूर्ण हो जाती थी। सुख समृद्धि का सब तरफ प्रसार दिखता था। शिशिर ऋतु में कहीं कुहरे से आच्छन्न गेहूँ व ज्वार के खेत दिखाई पड़ते थे तो कहीं सुनहरे रंग के जड़हन, धान, खजूर के फूल के समान आकार वाली बालों से जिसमें चावल भरे हुए हैं शुशोभित होते थे।

यथा - ''वाष्पछन्नाय रण्यानि यवगोधूमवन्ति च।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्य नद्दभि: क्रोन्चसारसै:।।
खर्जूर पुष्पाकृतिभि: शिरोभि: पूर्णतण्डुलै:।
शोभन्ते किंचिदालम्बा शालय कनकप्रभा:।।

रामायण में कौशल मंत्स्य एवं वत्स आदि नगरों की भूमि को अतयन्त उर्वकर बताया गया है भूमि की उपयोगिता की दृष्टि से रामायण में चार प्रकार की भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है, 1. निवास - भूमि जिसमें ग्राम और नगर सम्मिलित थे 2. कृषि भूमि क्षेत्र इन्हें केदार भी कहा गया है 3. गोचर भूमि या चरागाह, 4. वन प्रदेश इसमें बंजर भूमि भी सम्मिलित थी कृषि प्रमुख उद्योग होने के कारण उसका ज्ञान भी तत्कालीन समाज में था। खेती से पूर्व भूमि के शोधन का ज्ञान भी था। राजा जनक कहते हैं कि यज्ञ के लिये भूमि शोधन करते समय खेत में हल चला रहा था यथा -

अथ में कृषत: क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता तत:।
क्षेत्रं शोधयता.................................. ।।[4]

रामायण कालीन समाज की कृषि पूर्णरूप से वर्षा पर ही निर्भर न थी वरन् इस समय वैकल्पिक साधनों द्वारा भी कृषि की सिंचाई का कार्य होता था। रामायण के एक प्रसंग में आया

---

3. वा. रामायण - अयोध्याकाण्ड सर्ग 33 श्लोक 17
4. नानूराम व्यास रामायणकालीन समाज पृ0 218

है कोसल जनपद के लोग खेतों की सिंचाई हेतु केवल वर्षा पर ही आधारित न होकर कुआं तालाब आदि का सिंचाई हेतु प्रयोग करते थे। अयोध्या काण्ड में राम अयोध्या का वर्णन करते हुए कहते हैं ''जहाँ अनेक प्रकार के अश्वमेघ आदि महायज्ञों के बहुत से चयन प्रदेश (अनुष्ठान स्थल) शोभा पाते हैं; जिसमें प्रतिष्ठित मनुष्य अधिक संख्या में निवास करते हैं, अनेकानेक देव स्थान, पांसले और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं जहाँ के स्त्री पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं जो सामाजिक उत्सवों के कारण सदा शोभा सम्पन्न दिखाई देता है, जहाँ खेत जोतने में समर्थ पशुओं की अधिकता है, जहाँ किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती, जहाँ खेती के लिए वर्षा के जल पर निर्भर नही रहना पड़ता (नदियों के जल से सिंचाई हो जाती है जो बहुत ही सुन्दर हिंसक पशुओं रहित है) जहाँ किसी तरह का भय नहीं है, अनेक प्रकार के भोजन जिसकी शोभा बढ़ाती है. .... वह अपना कौसल देश धन-धान्य से सम्पन्न और सुखपूर्वक बसा हुआ है न ?[5]

रामायण में नदियों का उल्लेख भी मिलता है जिनका उपयोग खेती को सींचने के लिए प्राय: किया जाता था अयोध्याकाण्ड में वेदश्रुति गोमती सरयू नदी का उल्लेख इस प्रकार मिलता है यथा -

गत्वा तु सुचिरं कालं तत: शीतवहां नदीम्।
गोमती गोयुतांनूपामतरत् सरगरंगमाम्।।
गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघव: शीघ्रगैर्हयै:।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्।[6]

कृषि के साथ साथ जन सम्पदा पर भी तत्कालीन समाज में अत्यधिक जोर दिया जाता था। वनों से पशुओं के रख रखाव में भद, लकडियों की पूर्ति, अनेक प्रकार के मसाले, केसर, चन्दन आदि अनेक प्रकार के वृक्षों का उपयोग आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था रामायण में अनेक स्थलों पर वनों का उल्लेख किया गया है।[7]

यद्यपि सामान्यत: प्राकृतिक जल स्रोत वर्षा और नदियाँ सिंचाई के प्रमुख साधन थे। तथापि अनावृष्टि और दुर्भिक्ष से बचने के लिए सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी उल्लेख किया गया है।[8] जिनके अन्तर्गत नहरें जलाशय, कुंए पुल, बांध, तालाब तथा झील आदि प्रमुख साधन थे।

कृषि के उपरान्त पशुपालन ही रामायण कालीन समाज का प्रमुख व्यवसाय था पशु तत्कालीन समाज में धन के रूप में स्वीकार्य थे तथा यह अमूल्य निधि थी। तमसा नदी के तट के किनारे पर चरती हुई गायों का उल्लेख रामायण में इस प्रकार मिलता है।

---

5. वा. रामायण व्यास बालकाण्ड सर्ग 66 श्लोक 13
6. वा. रामायण, अयोध्या काण्ड सर्ग 49 श्लोक 17-12
7. अयोध्या काण्ड सर्ग 34 श्लोक 56, श्लोक 28, सर्ग 79 श्लोक 19 अरण्यकाण्ड सर्ग 16 श्लोक 20
8. नानूराम व्यास रामायण कालीन समाज पृ0 216
9. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 46 श्लोक 17
10. वा. रामायण बालकाण्ड, सर्ग 14 श्लोक 50

गोकुला कुलतोरायास्तमसाया विदूरत:[9]

तत्कालीन समय में गायों को दान देने के उल्लेख भी मिलते हैं। रामायण के एक प्रसंग में दस लाख गायों के दान देने का उल्लेख इस प्रकार मिलता है यथा -

एवमुक्तो नरपतिब्राह्मणैर्वेदपारगै:।
गवां शत सहस्त्राणि दशतेम्यों ददौनृप:।।[10]

पशुपालन के अन्तर्गत गाय, बैल, तथा घोड़ा देश की आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख स्तम्भ थे। साथ ही ऊंट की उपयोगिता थी।

रामायणकालीन समाज द्वारा अनेक प्रकार की धातुओं का उपयोग तत्कालीन उद्योगों की उन्नति तथा विकासोन्मुखी औद्योगिक विचारों का ज्ञान कराता है। इस प्रकार के उदाहरण रामायण में अनेक स्थलों पर मिलते हैं।[11]सोना, चांदी, जस्ता, लोहा आदि अनेक धातुओं का उत्पादन अथवा निर्माण के साथ तत्कालीन समाज इन धातुओं से निर्मित आभूषणों को पहनते भी थे। इस समय आभूषणों की निर्माण कला का चरमोत्कर्ष था। ये आभूषण खनिज धातुओं से बनाये जाते थे। राम ने अयोध्या की खानों से पायी जाने वाली खनिज वस्तुओं की चर्चा की है। जिनसे अनेक प्रकार के आभूषणों का निर्माण किया जाता था। विभिन्न खनिज पदार्थों की उत्सुकता ने तत्कालीन समाज ने बहुमूल्य वस्तुओं का निर्माण कर व्यापार का स्रोत बना लिया था। रामायण में अनेक स्थलों पर खनिज पदार्थों की खानों और धातुओं का उल्लेख मिलता है।[12] हाथी दांत का प्रचलन समाज में काफी मात्रा में था। पलंग, रथ, सिंहासन आदि में हाथी दांत का प्रयोग किया जता था हाथी दांत को काफी मूल्यवान समझा जाता था। यथा -

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभि: समायुतम्।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिस्पशोमितम्।।[13]

कैकय तथा लंका में अनेक प्रकार के हाथी दांत की शिल्प कलाओं का विवरण प्राप्त होता है। यथा -

दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फाटिंकै रजतैस्तथा।
वज्रवैदूर्यचित्रैश्च स्तम्भैद्दिष्ट मनोरमै:।।[14]

---

11. वा. रमयाण अयोध्या काण्ड सर्ग 31 श्लोक 30, सर्ग 80 श्लोक 7 एवं श्लोक 1
    वा. रामायण लंका काण्ड सर्ग 45 श्लोक 22, सर्ग 41 श्लोक 12 आदि।
12. वा. रामायण सर्ग 37 श्लोक 18, सर्ग 14 श्लोक 54 अरण्य काण्ड सर्ग 41 श्लोक 41, सर्ग 29 श्लोक 27 अयोध्या काण्ड सर्ग 95 श्लोक 5-6
13. वा. रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग 10 श्लोक 14
14. वा. रामायण अरण्य काण्ड सर्ग 55 श्लोक 8
15. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 3 श्लोक 11

अनेक प्रकार के पशुओं के चमड़े का उपयोग भी समाज में प्रचलित था चीता, हिरन एवं व्याघ्र आदि के चमड़े का उपयोग रथों की साज सज्जा तथा वस्त्रों के लिये किया जाता था यथा-

शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामागनवर्चसाम्।
हिरण्यश्रृगमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च।।[15]

रामायण काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भी उदाहरण मिलते हैं। भारतीय वस्तुओं को विक्रय करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने के लिये दूसरे देशों में व्यापारी व्यापार के लिये जाते थे। बालकाण्ड में आया है कि ''कर देने वाले सामन्त नरेशों के समुदाय उसे घेरे रहते थे। विभिन्न देशों के निवासी वैश्य उस पुरी की शेभा बढ़ाते थे। यथा -

सामन्तराजसंर्धेश्च बलिकर्मभिरावृताम्।
नानादेशानिवासैश्च वणिग्मिरूपशोमिताम्।।[16]

इन व्यापारियों का आवागमन का साधन समुद्री मार्ग थे। उसी के द्वारा वे एक देश से दूसरे देश के लिये जाते थे।[17] अनेक उदाहरणों द्वारा यह कहा जात सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों से होता था तथा व्यापारिक दृष्टि से समुद्री मार्ग का तत्कालीन समाज में पूर्ण ज्ञान था। -

रामायणकालीन समाज में व्यापार करने वाले वैश्य होते थे जिन्हें 'वणिक' कहा जाता था।[18] व्यापार कर प्रमुख केन्द्र अयोध्या था। इन व्यापारियों को लाभांश का कुछ भाग राजा को देना होता था। व्यापारी वर्ग तथा राजतंत्र के परस्पर मधुर सम्बन्ध थे। इन व्यापारियों का श्रेणी संघ था। डा. बेनी प्रसाद ने लिखा है ''संघ अथवा सभा विभिन्न जातियों का स्वरूप होती थी किन्तु सामूहिक तौर पर वे कार्य करते थे।''[19] जब राम वन चले गये और दशरथ की मृत्यु हो गयी उस प्रसंग में आया है ''ये मन्त्री आदि स्वजन पुरवासी तथा सेठ लोग अभिषेक की सब सामग्री लेकर आपकी राह देख रहे हैं। यथा -

---

16. बालकाण्ड, सर्ग 5, श्लोक 14
17. अयोध्याकाण्ड सर्ग 5 श्लोक 17, अयोध्या काण्ड सर्ग 82 श्लोक 8, बालकाण्ड सर्ग 17 श्लोक 27।
18. वा. रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग 67 श्लोक 22
19. डा. बेनी प्रसाद, स्टेट इन एनशियन्ट इन्दिया पृ0 113
20. वा. रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग 79 श्लोक 4
21. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड, सर्ग 80-1 श्लोक 1-3

अभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव।
प्रतीक्षते त्वां स्वजन: श्रेणयश्चनृपात्मज।।[20]

तत्कालीन समाज में उद्योगधन्धे काफी विकसित थे। अत: विभिन्न प्रकार के कार्यों में रत रहने वाले श्रमिकों का उल्लेख भी मिलता है। कुशल और अकुशल दोनों ही प्रकार के श्रमिक तत्कालीन समय में थे। अयोध्या से गंगातट तक सुरम्य शिविर और कूप आदि के निर्माण में तरह-तरह के श्रमिकों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऊँची नीची सजल भूमि का ज्ञान रखने वाले, सूत्र कर्म (छावनी आदि बनाने के लिये सूत धारण करने वाले) कुशल मार्ग की रक्षा आदि, अपने कर्म में सदा सावधान रहने वाले शूरवीर, भूमि खोदने या सुरंग आदि का निर्माण करने वाले, नदी, पार कराने के लिए साधन उपस्थित करने वाले, जल के प्रवाह को रोकने वाले वेतन भोगी, रथ और यंत्र आदि बनाने वाले कारीगर, बढ़ई मार्गरक्षक, पेड़ काटने वाले, रसोइये, चूने से पोतने वाले आदि का काम करने वाले, बांस की चटाई, चमडे का कार्य करने वाले आदि श्रमिकों का विवरण मिलता है।[21]

व्यापारिक श्रेणी के अतिरिक्त व्यापार संघों का एक सुसंगठित निगम था। उसमें भी शिल्पी तथा व्यापारी सम्मिलित होते थे। ऐसे ही अन्य प्रकार के संगठनों का विवरण भी प्राप्त होता है। जो विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धों से सम्बन्धित थे। यथा -

मणिकाराश्चये केचित् कुम्भकाराश्च शोभना:।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शास्त्रोपजविन:।।[22]

रामायण कालीन समाज में सोने चांदी की धातु मुद्राओं का प्रचलन था।[23] परन्तु निष्क उस समय का प्रधान विनिमय का साधन था। साथ ही गायों के द्वारा भी विनिमय का कार्य किया जाता था। विश्वमित्र द्वारा वशिष्ठ को हजारों गायें भेंट के बदले में देने का उल्लेख मिलता है।[24] रामायण के अनेक प्रसंगों में गायों के विनिमय बहुलता से प्राप्त होता है।[25]

---

22. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड, सर्ग 83 श्लोक 12
23. वा. रामायण बालकाण्ड सर्ग 14 श्लोक 51
24. वा. रामायण बालकाण्ड सर्ग 53 श्लोक 9
25. वा. रामायण किष्किंधा काण्ड सर्ग 5 श्लोक 4
    बाल काण्ड सर्ग 14 श्लोक 48,49 70 आदि
26. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 50 श्लोक 21
27. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 32 श्लोक 10
28. वा. रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग 14 श्लोक 17-18
29 वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 86 श्लोक 19

श्रमिकों तथा मजदूरों का पारिश्रमिक धातु-निर्मित सिक्कों को (निष्क) के माध्यम से ही किया जाता था। केकय (कश्मीर के राज) ने भरत को दो हजार सोने के सिक्के दिये थे। यथा-

रुकमनिष्कसहस्त्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च।
सत्कृत्य केकयीपुत्र केकयो धनमादिशत।।[26]

एक स्थल पर राम द्वारा स्वजनों को एक हजार सिक्के (निष्क) भेंट करने का विवरण मिलता है।[27] इसी प्रकार राम लक्ष्मण को लव और कुश को अठारह हजार सोने के सिक्के देने की आज्ञा देते हैं।[28]

प्रत्येक प्रकार के व्यापार की उन्नति का आधार आवागमन के ही होते है। रामायण काल में भी सड़कों का समुचित प्रबन्ध था जिसके उदाहरण भी मिलते हैं यथा -

रंम्यचत्वरतंरथानां सुविभक्तमहापथाम्।
हर्म्यप्रसादसम्पन्नां सर्व रत्नविभूषिताम्।।[29]

अयोध्या और लंका की सड़कों पर स्तम्भों पर दीप लगाकर प्रकाशित किया जाता था। यथा -

प्रकाशकरणार्थं च निशागमनशंकया।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्थासु सर्वशः।।[30]

सड़कों को एक शहर से दूसरे शहर व शहरों से ग्रामों को जोड़ा गया था। सड़कों की स्थिति ऐसी थी कि गाडियाँ उन पर आसानी से चलाई जा सकती थी। सड़कों के पुनर्निर्माण की व्यवस्था भी थी। राम के वन से लौटने पर अयोध्या से नन्दिग्राम तक की सड़क का जीर्णोद्धार किया गया था।[31] इन सड़कों पर एक शहर से दूसरे शहर जाने के लिये रथों और गाडियों का प्रयोग किया जाता था। रामायण में विभिन्न प्रकार के रथों का प्रयोग किया जाता था।[32] रथों के साथ साथ पालकी का भी प्रयोग किया जाता था।

प्राचीन काल से चला आ रहा उत्पादन का 1/6 भाग राजा को प्राप्त होने के नियम को रामायण में भी उसी प्रकार स्वीकार किया गया है। भरत कौशल्या से कहते हैं कि वह उसी

30. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 6 श्लोक 18, तथा सुन्दर काण्ड सर्ग 3 श्लोक 19
31. वा. रामायण लंकाकाण्ड सर्ग 127 श्लोक 6-7
32. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 39 श्लोक 10
33. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 75 श्लोक 25
34. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 82 श्लोक 8
35. वा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 100 श्लोक 54

अधर्म का भागी हो जो ये उसकी आय का छठा भाग लेकर भी प्रजा वर्ग की रक्षा न करने वाले राजा को प्राप्त होता है। यथा -

बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजा।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गत।।[33]

रामायण काल में उपज के 1/6 भाग के अतिरिक्त खानों से प्राप्त आय[34] उपहार आदि का भी उल्लेख मिलता है। साथ ही राज्य की आय के लिये प्रजा पर कितना कर लगना चाहिये अयोध्या काण्ड में स्पष्ट किया गया है।[35] जिसके अनुसार करारोपण के नियमों में स्पष्ट कहा गया है कि प्रजा पर इतना कर नहीं लगाना चहिये जो कि उसके लिए असहाय हो। राज्य के धन का उपयोग किन कार्यों अथवा किस प्रकार करना चाहिये। इसका उदाहरण इस प्रकार मिलता है। राम भरत से कहते हैं। यथा -

आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः
अपात्रेषु न से कच्चित् कोषो गच्छति राघवः
देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च
योधेषु मित्रवर्णेषु कच्चिद् गच्छति ते व्ययः।।[36]

अर्थात् क्या तुम्हारी आय अधिक और व्यय कम है? क्या तुम्हारे खजाने का धन अपात्रों के हाथों तो नही चला जाता? देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत्, योद्धा तथा मित्रों के लिये तो तुम्हारा धन खर्च होता है न ?

यह उराहरण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि राज्य के धन का उपयोग आवश्यक एवं निश्चित कर्यों के लिये ही किया जाता था।

---

36. बा. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग 100 श्लोक 54 एवं 55

"बौद्ध कालीन आर्थिक संगठन"

प्रवक्ता :- डा० दीपा गुप्ता
(एम०ए०,एम०फील०, पी-एच०डी०)
"प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग"
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
हरिद्वार (उत्तरांचल)

प्राचीन भारत में ब्राह्मण धर्म को चुनौती देकर यदि किसी अन्य धर्म ने शीश उठाया तो निःसंदेह वह बौद्ध धर्म था। भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का उद्भव एवं उत्कर्ष जिस तीव्रता से हुआ उसी तीव्रता से उसका पराभव व लोप भी हुआ। फिर भी बौद्ध धर्म ने भारतीय इतिहास को इस प्रकार प्रभावित किया कि एक काल-विशेष को बौद्ध युग का नाम दे दिया गया। "बौद्ध साहित्य" में आर्थिक जगत् की व्यापक गतिविधियों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध काल में न केवल कृषि एवं उद्योग विकसित थे, अपितु व्यापार एवं वाणिज्य भी अति उन्नत अवस्था में थे। अनेक समान व्यवसायी लोग संगठित होकर अपने व्यवसाय का संचालन करते थे। आर्थिक जगत में इस संगठनात्मक जीवन की विद्यमानता के विषय में "रिचार्ड फिक" लिखते हैं कि "बौद्ध काल में ऐसी संस्थाओं एवं संगठनों की विद्यमानता के कारण पूंजी का सुनियोजन, व्यावसायिक समुदाय के वैधानिक हितों की सुरक्षा आदि थे।[1]

"डा0 सत्यकेतु विद्यालंकार" लिखते हैं कि बौद्ध काल के व्यवसायी श्रेणियों में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध साहित्य में मिलते हैं।[2]

"टी0 डब्ल्यू0 रिहस् डेविडस" ने बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं पर अपेक्षाकृत विस्तृत दृष्टि डाली और शिल्पियों की संस्थाओं का विशेष अध्ययन किया उनके अनुसार शिल्पियों की 18 श्रेणियाँ विद्यमान थी। इन सभी को उन्होंने एक अस्पष्ट सी सूची भी प्रस्तुत की है।[3]

इनके अतिरिक्त अनेक विद्वान् जैसे :- डा0 आर0 बी0 मजूमदार, डा0 राधा कुमुद मुकर्जी, श्री पाद अमृत डांगे, डा0 देवी दन्त शुक्ल, संतोष कुमार दास, डा0 के0 पी0 जायसवाल आदि भी बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं की व्यापक विद्यमानता एवं महत्व को स्वीकारते हैं।

बौद्ध काल में आर्थिक संस्थाओं का निर्माण :-

बौद्ध युगीन भारत में शिल्प, व्यापार, कृषि, पशुपालन व अन्य अनेक व्यवसाय समाज में अपनी उन्नत अवस्था में विद्यमान थे। लेकिन ये सभी व्यवसाय मात्र यंत्रों, तकनीकी ज्ञान, व शक्ति के आधार पर ही समाज को आर्थिक विकास प्रदान नहीं कर सकते थे। धनोपार्जन और आर्थिक उन्नति हेतु व्यावसायिक संगठन, समन्वय, नियमपूर्वक नियोजन, एवं कुशल प्रशासन की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारत के बौद्ध कालीन लोक समाज को इन सभी प्रविधियों

एवं सूझ-बूझ का भली-भांति ज्ञान था। इन आवश्यकता पूर्ति के लिए उन्होंने श्रेणी, सार्थ, पूग, गण जैसी आर्थिक संस्थाओं का निर्माण किया। इनकी संस्थाओं का संगठन एवं श्रेष्ठ प्रशासन इन्हें दृढ़ता प्रदान करता है।

बौद्ध कालीन आर्थिक संगठन :-

बौद्ध काल में आर्थिक संगठनों की विद्यमानता का मुख्य कारण आर्थिक प्रगति बोध था। पूंजी का सुनियोजन, व्यावसायिक समुदाय के वैधानिक हितों की सुरक्षा आदि दूसरे कारण थे, जो आर्थिक-संस्थाओं के उद्‌गम एवं विकास का कारण बने। बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं के इतिहास में सर्वप्रथम ''श्रेणी'' नामक आर्थिक संस्था का नाम आता है।

(अ) श्रेणी :-

जातकों में ''श्रेणी'' नाम से संबोधित आर्थिक संस्था का उल्लेख व्यापक एवं विस्तृत रूप से मिलता है। बौद्ध काल में श्रेणी एक महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था थी। ''जातकों'' में उल्लेख मिलता है कि विभिन्न प्रकार के उद्योग धंधों एवं व्यवसायों में संलग्न अनेक शिल्पियों, कारीगरों एवं व्यवसासियों ने एक जैसा व्यवसाय करने वाले लोगों के अपने अलग-अलग संघ या समूह बना लिये जिन्हें 'श्रेणी'' कहा गया। बौद्ध कालीन प्राय: सभी शिल्प-व्यवसाय श्रेणी संगठन के अन्तर्गत ही चलते थे। जातकों में ऐसी 18 श्रेणियों का उल्लेख मिलता है।[4] जिनका वर्गीकरण निम्नांकित है:-

1.	काष्ठ कर्मी	10.	मछुआरे
2.	धातु कर्मी	11.	मांस-विक्रेता
3.	अश्म (पाषाण) कर्मी	12.	आखेटक
4.	चर्मकर्मी	13.	रसोइये एवं हलवाई
5.	बुनकर	14.	मालाकार एवं पुष्प विक्रेता
6.	कुंभकार	15.	नाविक (मल्लाह)
7.	हाथी - दंत कर्मी	16.	चित्रकार
8.	रंगरेजन	17.	नापित (नाई)
9.	रत्नकार अथवा जौहरी	18.	रथकार (सारथी) इत्यादि

उपरोक्त श्रेणियों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाय भी बौद्ध काल में प्रचलित थे। सभी शिल्पकार अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे। बौद्ध कालीन आर्थिक संस्था श्रेणी किसी एक मुख्य या प्रधान अध्यक्ष या सभापति के नेतृत्व में क्रियाशील रहती थी। इस अध्यक्ष को ''जेट्‌ठक'' कहा जाता था। इनकी स्थिति समाज में अति महत्वपूर्ण होती थी। ये जेट्‌ठक आर्थिक पद की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त समाज के अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा का भी वरण करते थे। जैसे :- ये (जेट्‌ठक) राजनीतिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा

का वरण करते थे। इनके अपने कुछ नियम या विधान थे जो इनके द्वारा स्वयं निर्मित होते थे। ये नियम या विधान राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थे। जेट्ठक अपनी संस्था के सदस्यों के पारस्परिक झगड़े का स्वयं निर्णय करते थे। इनके अपने-अपने अलग न्यायालय होते थे। ये न्यायाधीश के रूप में भी कार्य करते थे। जैसा जिसका अपराध होता था उसको वैसा ही दण्ड देते थे। राज्य की ओर से इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। ये न्यायिक अधिकारों का स्वतंत्रता पूर्वक प्रयोग करते थे तथा आन्तरिक मामलों का निपटारा भी स्वयं ही करते थे। इस प्रकार 'जेट्ठक' समाज में आर्थिक पद की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त राजनीतिक प्रतिष्ठा का भी बखूबी वरण करते थे। अत: कहा जा सकता है कि बौद्ध काल में ''श्रेणी'' जैसी आर्थिक संस्थाओं का समाज में व्यापक, महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली प्रचार तथा प्रसार था।

(ब) बौद्ध कालीन आर्थिक जगत् की महत्वपूर्ण संस्था या संगठन ''सार्थ'' :-

''जातकों'' में उल्लेख मिलता है कि बौद्धकाल में सार्थ एक महत्वपूर्ण व्यापारिक संस्था थी। जिस प्रकार सभी व्यवसायियों ने एक जैसा व्यवसाय करने वालों की अपनी-अपनी एक अलग संस्था श्रेणी बनाई, ठीक इसी प्रकार सभी व्यापारियों ने एक जैसा व्यापार करने वाले के अलग-अलग संघों का निर्माण किया जिन्हें ''सार्थ'' कहा गया।[5]

''जातकों'' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि बौद्ध कालीन व्यापारी अपने व्यापारिक अभिमानों हेतु सार्थ में संगठित हो, जल व थल दोनों मार्गों का प्रयोग करते थे।[6]

''सार्थ'' नामक प्रसिद्ध व्यापारिक संगठन ने अपने एक नेतृत्वकर्ता के रूप में ''सार्थवाह'' का वरण किया। अर्थात् ''सार्थ'' संगठन सार्थवाह के निर्देशन में संचालित होता था। ये सार्थ स्थल मार्गों पर बैलगाडियों द्वारा तथा जल मार्गों पर पोतों (जहाजों) में वस्तुएँ लादकर लाते व ले जाते थे। स्थल के एक सार्थ में पांच सौ से एक हजार तक बैलगाडियाँ सम्मिलित होती थी। ''एक सार्थ ने श्रावस्ती से राजगृह की यात्रा की'' (एक ''जातक कथा'' में ऐसा उल्लेख मिला है।)[7]

एक अन्य ''जातक'' में वर्णित है कि बनारस के हाथी दांत के व्यापारी सार्थ में संगठित हो उज्जैन तक गये।[8] एक ओर अन्य ''जातक'' में ऐसा उल्लेख है कि व्यापारियों के एक काफिले या कारवे ने विदेह से गांधार तक यात्रा की थी।[9] इस समय व्यापारिक वस्तुओं में मृद व धातु पात्र, अस्त्र-शस्त्र, रेशम, हाथी-दांत की वस्तुएँ, आभूषण इत्यादि का समावेश होता था।

बौद्ध युग में पृथ्वी पर वनों की बहुलता थी। सार्थो के मार्ग भी पूर्णत: सुरक्षित नहीं थे। ड़ाकू एवं लूटेरों का सदा भय बना रहता था। अत: व्यापार का संचालन व्यक्तिगत रूप से संभव नहीं था। अत: बौद्ध कालीन व्यापारियों ने संयुक्त रूप से व्यवहार करना श्रेयस्कर समझा तथा सार्थ जैसे उद्यम की रचना की। जातकों में इन सार्थों का व्यापक उल्लेख मिलता है।[10]

बौद्ध कालीन आर्थिक संगठन सार्थ के संगठन तथा संचालन में निम्न बातें प्रमुख रूप से थी।

1. सार्थ में साझा कारोबार
2. सार्थ में नेता के रूप में ''सार्थवाह'' का वरण
3. मार्ग-निर्देशन हेतु 'थल नियामक' 'जल-नियामक' तथा 'दिशा काक' की सेवाओं का सार्थ द्वारा प्रयोग।
4. सार्थ सुरक्षा हेतु सशस्त्र बलों की नियुक्ति।
5. प्राय: निश्चित मार्गों द्वारा सार्थों की यात्रायें।

बौद्ध कालीन सार्थों ने व्यापार यात्रा में मार्गों की जानकारी के लिए कुछ अधिकारियों की भी नियुक्ति की थी।

जैसे :- जो सार्थ 'सार्थवाह' के नेतृत्व में स्थल मार्गों द्वारा व्यापार करते थे उन्होंने मार्ग निर्देशन के लिए 'थल-नियामकों' की नियुक्ति की थी। ये थल-नियामक सभी मार्गों से सुपरीचित होते थे। थल-नियामक मार्गों के भली-भांति परिचय के साथ-साथ नक्षत्रों, एवं गृहों के विज्ञान जैसे:- ज्योतिष तथा खगोल विद्या का भी अच्छा ज्ञान रखते थे। इसी प्रकार जो सार्थ जल मार्गों द्वारा व्यापार करते थे उन्होंने मार्ग-निर्देशन हेतु ''जल-नियामकों'' या ''नाविकों'' की नियुक्ति की। ये 'जल-नियामक' या 'नाविक' समुद्रों के सभी मार्गों से परिचित होते थे। बीच समुद्र में यात्रा करते समय ये 'नाविक' दिशा निर्देशन हेतु पक्षियों तथा यंत्रों का उपयोग करते थे। जातकों में इन पक्षियों को ''दिशा-काक'' तथा यंत्रों को ''मच्छयंत्र'' कहा गया है।[12] इस प्रकार बौद्ध कालीन व्यापारियों ने सुरक्षा एवं लाभ को ध्यान में रखते हुए स्वयं को ''सार्थ'' जैसी संस्था या संगठन में संगठित किया। परन्तु इन संगठित व्यापारियों के मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित होती थी। जिनमें मुख्य रूप से लूटेरों व जंगली जंतुओं का भय सम्मिलित होता था। इन लूटेरों द्वारा सार्थी को लूटने के अनेक प्रसंग जातकों में मिलते हैं। अत: इन सभी से रक्षा हेतु सार्थ ''संगठित व्यापारी सार्थ रक्षकों'' की नियुक्ति करते थे। ये सार्थ रक्षक मार्ग में सार्थों की सुरक्षा करते थे। इस कार्य हेतु इन्हें सार्थ द्वारा भुगतान किया जाता था।

सार्थों के मार्ग प्राय: निश्चित होते थे। इन सभी मार्गों की देखभाल तथा सुरक्षा राज्य द्वारा की जाती थी। जिसके बदले में (अर्थात् उपयोग करने पर) सार्थ को राज्य को चुंगी कर देना पडता था। जो राज्य की आय का एक प्रमुख साधन था। इसके अतिरिक्त सार्थों को राज्य की सीमाओं पर भी ''सीमा-कर'' देना पड़ता था। जिसको 'अन्तपाल' नामक पदाधिकारी वसूल करता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध कालीन व्यापारियों का यह सार्थ संगठन एक महत्वपूर्ण एवं लाभप्रद आर्थिक संस्था के रूप में जाना जा सकता है।

(स) गण एवं संघ आर्थिक संगठन -

रामायण में गण नामक आर्थिक संस्था का उल्लेख मिलता है। जिसके प्रमुख को ''गण वल्लभ'' कहते थे। इससे स्पष्ट होता है कि आर्थिक क्षेत्र में गण नामक संस्थायें पहले ही बन

चुकी थीं। बौद्ध काल में भी गण एक आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान थी। बौद्धकाल में गण का भावार्थ - ''जिसमें एक समान उद्देश्य को लेकर चलने वाले शिल्पियों, कारीगरों या व्यवसायियों ने अपने-अपने अलग-अलग समूहों का निर्माण किया।'' था। इसी प्रकार बौद्धकाल में संघ भी एक आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान थी। इस काल में संघ रूपी आर्थिक संस्था वह संस्था थी जो एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यवसायियों द्वारा बनाया गया एक समूह या संगठन होता था। इस प्रकार बौद्ध काल में गण एवं संघ एक आर्थिक संस्था के रूप में जाने जाते थे।

उपरोक्त अध्ययन से बौद्ध-कालीन समाज में विद्यमान आर्थिक संस्थाओं या संगठनों के महत्व एवं प्रभाव में कोई संदेह नहीं रह जाता है।

''बौद्धकालीन आर्थिक संगठनों की महत्ता एवं विशिष्टतायें :-

बौद्धकालीन आर्थिक संगठनों ने व्यावसायिक अनुवांशिकता के तत्व को भी अपनाया था। अर्थात् प्राय: विभिन्न व्यवसायों मे रत लोग अपने वंश के पारस्परिक व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे। जिसके परिणाम स्वरूप व्यापार एवं उद्योग में विशिष्टीकरण का उदय हुआ। ''जातकों'' में ऐसे अनेक व्यावसायिक कुलों का वर्णन है जिन्होंने अपने व्यवसाय को आनुवंशिक रूप में सम्पादित किया।[13] जैसे:- व्यापारी,कुल, वैद्य-कुल, पणिणक-कुल, (शाक-भाजी उगाने वाले) अश्म (पाषाण) कर्मी, बुनकर एवं कुंभकार तथा वनरक्षक-कुल आदि अनेक अनुवांशिक व्यवसाय करने वाले कुलों का उल्लेख मिलता है।[14] इस प्रकार व्यावसायिक अनुवांशिकता के तत्व ने बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं की महत्ता को ओर अधिक श्रेष्ठ प्रतिपादित सिद्ध किया। जिससे बौद्ध कालीन आर्थिक जगत का विकास एवं विस्तार संभव हुआ।

बौद्ध-काल में वैदिक काल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था भी दृष्टिगोचर होती है। लेकिन इसके साथ-साथ बौद्ध काल में व्यवसाय चुनने में पर्याप्त स्वतंत्रता भी थी। जैसे :- यह आवश्यक नहीं था कि यदि ब्राह्मण कुल में जन्म लिया तो वे व्यक्ति बौद्धिक या आध्यात्मिक कार्य ही करेगा। ब्राह्मणों ने चरवाहें, आखेटक, रक्षक, वैद्य, रथकार, बढ़ई, पशुपालक, व्यापारी आदि के रूप में भी जीवन यापन किया। इसी प्रकार क्षत्रिय भी व्यापार, व्यवसाय आदि का भी वरण करते थे।[15] इस प्रकार व्यवसाय वरण का यह तत्व भी बौद्ध कालीन आर्थिक समाज के विकास के लिए एक महत्वपूर्ण कारक सिद्ध हुआ।

बौद्धकाल में शिल्प-उद्योगों तथा व्यवसायों का स्थानीय करण या नगरीकरण भी हुआ। अर्थात् - एक जैसा व्यवसाय या व्यापार करने वाले लोग एक ही स्थान पर बसा दिये गऐ थे। जिसको ''औद्योगिक स्थापन'' की संज्ञा से अभिहित किया गया। ''जातक-ग्रन्थ'' में एक बढ़ई ग्राम का उल्लेख मिलता है। इस ग्राम में एक हजार बढ़ईयों के परिवार रहते थे। बड़े-बड़े नगरों में एक ही जैसा व्यवसाय या व्यापार करने वाले लोगों की अपनी अलग-अलग गलियाँ थीं।

जिन्हें ''वीथि'' कहा जाता था। बौद्ध काल में इस 'औद्योगिक स्थापन' ने इस काल के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर एक अमिट प्रभाव डाला।

बौद्ध काल में भारत का विदेशों के साथ भी प्रचुर मात्रा में व्यापार हुआ। इस समय भारत का मिस्र, यूनान, फारस, बेबीलोनिया, दक्षिणी-पूर्वी एशिया, स्वर्णद्वीप (वर्मा, मलाया) तथा स्वर्ण भूमि (इण्डोनेशिया, इंडोचाइना) के साथ व्यापार होता था। जिसमें श्रेणी तथा सार्थ जैसी आर्थिक संस्थाओं ने एक महत्वपूर्ण योगदान दिया।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि बौद्ध कालीन उपरोक्त सभी आर्थिक संगठन अपनी व्यवस्था एवं विधानानुसार अपनी गतिविधियों का संचालन करते थे। इन संगठनों की गतिविधियों में राज्य का हस्तक्षेप ना के बराबर था। आर्थिक संगठनों की जन-कल्याण की नीति के कारण इन्हें व्यापक जन-समर्थन प्राप्त होता था। बौद्ध कालीन आर्थिक-संस्थाओं के व्यापक एवं विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्थिक संगठन पर्याप्त सीमा तक स्वतंत्र थे तथा इनकी स्वायत्तता सुस्थापित एवं मान्य थी।

''इती श्री''

संदर्भ - संकेत :-

1. ''डा0 रिचडिफिक'' - दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम'' (अंग्रेजी अनुवादक :- ''एस.के.मैत्रा'') कलकत्ता - 1920, पृष्ठ संख्या -267
2. ''डा0 सत्यकेतु विद्यालंकार'' - ''प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन'' दिल्ली - 1978, पृष्ठ संख्या - 330
3. ''टी0 डब्ल्यू0 रिटस् डेविड्स'' - ''बुद्धिस्ट इंडिया'', कलकत्ता - 1903, पृष्ठ संख्या - 39-45
4. जातक - वोल्यूम 1,267,314/वो03,281/वो0 4, 411/वो06,22,427
5. जातक-वोल्यूम 1,93,99,107,174/वो0 2,295,335/वो03, 200
6. वही......................
7. जातक-वोल्यूम 1,95
8. जातक - वो0 3, 197
9. जातक - वो0 2, 321
10. जातक - वोल्यूम 1, 94, 99, 107/वो0 2, 295,335/वो0 3, 200
11. ''मोतीचन्द्र'' - ''सार्थवाह'' - पटना - 1966, पृष्ठ संख्या - 56, 57
12. जातक - वोल्यूम - 1, 29/वो0 2, 388/वो0 4, 330
13. जातक - वोल्यूम ५, 98, 99, 107, 194, 312/वो0 2, 79, 200, 335/वो0 3, 198, 330/वो0 5, 356
14. जातक - वोल्यूम 1, 54, 69, 70, 137, 178, 265
15. जातक - वोल्यूम 2, 290, 293, 84, 169

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित न्याय-व्यवस्था व उसकी प्रासंगिकता

डॉली जैन
व्याख्याता, संस्कृत, दर्शन व वैदिक अध्ययन विभाग
वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान)

कौटिल्य अर्थशास्त्र संस्कृत साहित्य का महान् ग्रन्थ है, जो राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में विश्वकोष जितना महत्त्व रखता है। इसमें राज्य और समाज के मार्गदर्शन के लिए धर्म, कर्म, अर्थ, न्याय, दण्ड, शासन, सुरक्षा, कृषि, व्यापार तथा सामाजिक संस्कार आदि विषयों पर गहन चिन्तन (वर्णन) किया गया है।

आचार्य कौटिल्य ने तत्कालीन राज्य व समाज की व्यवस्था को दृष्टिगत करते हुए न्याय का प्रभावी स्वरूप निर्धारित किया । आचार्य कौटिल्य समुचित न्याय को राज्य का प्राण मानते है। उनका दृढ़ मत है कि जो राज्य अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं करता, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। उनके अनुसार न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्त्वों को दण्डित करना है।

अर्थशास्त्र के अनुसार विवादों का निर्णय धर्म, व्यवहार, चरित्र और शासन वाले चतुष्पाद कानून द्वारा होता था। इसमें विरोध होने पर पश्चिम को पूर्व का बाधक माना जाता था।[1] कौटिल्य के अनुसार धर्म सत्य पर आश्रित होता है, व्यवहार साक्षियों पर निर्भर है, चरित्र मनुष्यों के समूहों में चली आ रही प्रथाओं पर निर्भर करता है और राजा की आज्ञाओं को शासन कहते है।[2]

राजाज्ञा को चरित्र और व्यवहार के ऊपर मान्यता दी जाती थी। धर्म के आधार पर निर्णय करने की आवश्यकता तभी होती थी जब विवाद के सम्बन्ध में न तो कोई राजकीय आदेश हो और न ही कोई व्यवहार और चरित्र हो।

कौटिल्य ने कहा है यदि चरित्र और लोकाचार का धर्मशास्त्र से विरोध हो तो धर्मशास्त्र

1- धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् ।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ।। अर्थशास्त्र, 3/1/51

2- तत्र सत्यस्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु ।
चरित्र संग्रहे पुंसां राजामाज्ञा तु शासनम् ।। अर्थशास्त्र, 3/1/52

3- संस्थया धर्मशास्त्रेण वा व्यावहारिकम् ।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत् ।। अर्थशास्त्र, 3/1/56

को ही प्रमाण मानना चाहिए।[3] यदि कहीं धर्मशास्त्र का धर्मानुकूल राजकीय शासन के साथ विरोध हो तो वहाँ राजकीय शासन को ही प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि ऐसा करने में (धर्मशास्त्र) का पाठ ही नष्ट होता है।[1]

कौटिल्य से पूर्व श्रुति, स्मृति, विवेक और सदाचार कानून के मुख्य स्रोत थे, किन्तु कौटिल्य ऐसे मुख्य विचारक है, जिन्होंने राज्य को कानून का स्रोत माना और राज्य में वैधानिक कानून को मान्यता दी। कौटिल्य की न्याय-व्यवस्था के अनुसार राज्य के सभी व्यक्ति समान माने गए है। कौटिल्य ने व्यवसायी, नौकर, माता पिता, पति-पत्नी, पुत्र, शासक आदि सबके लिए कर्त्तव्य निर्धारित किए है, उन्होंने चरित्र की कठोरता पर अधिक बल दिया है। इनके पालन में कमी को अपराध मानते हुए कौटिल्य ने न्यायव्यवस्था प्रतिपादित की है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्यायाधीश

कौटिल्य ने न्याय के लिए विभिन्न स्तरों पर अनेक प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है। सबसे छोटे न्यायालय ग्रामों के थे। इन न्यायालयों को कुछ मामलों में न्याय के अधिकार प्राप्त थे। इनमें राजा की ओर से न्यायाधीश नियुक्त नहीं किए जाते थे, अपितु ग्रामिक ग्रामवृद्धों के साथ मिलकर न्याय संबंधी कार्य करते थें। विवादित विषय पर ग्राम के धार्मिक पुरुषो की अनुमति लेकर निर्णय किया जाता था । इनके विकल्प में पंच निर्णय की व्यवस्था की जाती थी। इनमें निर्णय नहीं होने पर राज्य हस्तक्षेप पर सम्पत्ति अपने हाथ में ले लेता था। ग्राम सीमा सम्बंधी विवाद पर दोनों ग्रामों के ग्रामिक अथवा पंचग्रामी या दशग्रामी मिलकर निर्णय देते थे।[2]

ग्राम न्यायालय के ऊपर जनपद सन्धि- सीमाप्रान्त (जहाँ पर दो राज्यों की अथवा गाँवों की सीमा मिलती हो), संग्रहण (दस गाँवों का प्रधानभूत केन्द्रस्थान), द्रोणमुख (चार सौ गाँवों का प्रधानभूत स्थान) और स्थानीय (आठ सौ गाँवों का प्रधानभूत) अपेक्षाकृत बड़े न्यायालय होते थे। इनमें तीन-तीन धर्मस्थ साथ साथ रहते हुए व्यवहार सम्बंधी कार्यों का प्रबन्ध करते थे।[3]

न्याय की सर्वोच्च सत्ता राजा के हाथ में थी, जो किसी के मामले में अन्तिम निर्णय का अधिकार रखता था। ग्रामसंघ और राजा के निर्णय के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालय धर्मस्थानीय ओर कण्टकशोधन दो प्रकार के थे। धर्मस्थानीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ[5] कहलाते थे और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश प्रदेष्टा कहलाते थे।[4]

1- शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित् ।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति ।। वही, 3/1/57

2- सीमाविवादं ग्रामयोरुभयों: सामन्ता: पञ्चग्रामी ।
दशग्रामी वा सेतुभि: स्थावरै: कृत्रिमैर्वा स्यात् ।। वही, 3/9/11

3- धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसंधिसंग्रह द्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान्कुर्यु:। अर्थशास्त्र, 3/1/1

4- अर्थशास्त्र, 3/1/1

5. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वामात्या: कण्टकशोधनं कुर्यु:। अर्थशास्त्र, 4/1/1

कौटिल्य के अनुसार धर्मस्थानीय और कण्टकशोधन न्यायालयों में न्यायाधीशों के पद पर राजा को उन अमात्यों की नियुक्ति करनी चाहिए जो धर्मोपधा अर्थात धर्मप्रलोभन द्वारा शुद्ध चरित्र सिद्ध हुए हों।[1] अर्थशास्त्र में न्यायिक अधिकारियों के कुशल, ज्ञानवान तथा स्थिर होने पर बल दिया गया है, ये लोभी तथा निर्धन नहीं होने चाहिए। लोभ और निर्धनता की दशा में न्यायिक अधिकारी न्याय के मार्ग से विचलित हो सकते है।

धर्मस्थीय न्यायालय में न्यायाधीशों को निम्नलिखित प्रकार के विवादों पर निर्णय देने का अधिकार था[10]

1. व्यवहारस्थापना:	व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों के पारस्परिक व्यवहार सम्बंधी विवाद
2. स्त्रीधनकल्प:	स्त्रीधन सम्बन्धी विवाद
3. विवाहधर्म:	पति-पत्नी सम्बन्धी विवाद
4. दायविभाग:	सम्पत्ति के बँटवारे और उत्तराधिकार विषयक विवाद
5. गृहवास्तुकम्	अचलसम्पत्ति सम्बन्धी विवाद
6. सीमाविवाद:	अचल सम्पत्ति के सीमा सम्बन्धी विवाद
7. समयस्यानपाकर्म	पारस्परिक समय (अनुबंध) के उल्लंघन सम्बंधी विवाद
8. ऋणदानम्	ऋण सम्बन्धी विवाद
9. औपनिधिकम्	धन को अमानत पर रखने से उत्पन्न विवाद
10. दास कल्प:	दास विषयक विवाद
11. भृतकाधिकार:	भृत्यों के अधिकार व कर्त्तव्य सम्बन्धी विवाद
12. सम्भूय समुत्थानम्	सामूहिक कारोबार से सम्बन्धित विवाद
13. विक्रीतक्रीतानुशय:	क्रय-विक्रय सम्बन्धी विवाद
14. दत्तस्यानपाकर्म	दिये धन को वापस लेने या प्रतिज्ञात धन को न देने सम्बन्धी विवाद
15. अस्वामिविक्रय:	स्वामित्व न होने पर भी सम्पत्ति बेचने से उत्पन्न विवाद
16. स्वस्वामिसम्बन्ध:	स्वामित्व न होने पर भी सम्पत्ति बेचने से उत्पन्न विवाद
17. साहसम्	चोरी, डाके और लूट सम्बन्धी विवाद
18. वाक्पारूष्यम्	गाली, कुवचन या मानहानि सम्बन्धी विवाद
19. दण्डपारूष्यम्	हमला करने सम्बन्धी विवाद
20. द्यूतसमाह्वयम्	जुए सम्बन्धी विवाद
21. स्वाम्यधिकार:	स्वामी के अधिकार व कर्त्तव्य सम्बन्धी विवाद

1. अर्थशास्त्र, 1/9
10. अर्थशास्त्र, 3/1/1

22.	बाधाबाधिकम्	विविध रुकावट डालने वाले विवाद
23.	विवादपदनिबन्धः	न्यायालय कार्यविधि और निर्णयविधि सम्बन्धी विवाद
24.	प्रकीर्णानि	विविध

इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मस्थीय न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में कतिपय ऐसे विषय भी थे, जिनके निर्णय आधुनिक समय में फौजदारी न्यायालयों द्वारा किए जाते है। कौटिल्य का धर्मस्थलों के लिए यह आदर्श था कि धर्मस्थलों की सबके प्रति समदृष्टि होनी चाहिए। सबका विश्वास उन्हें प्राप्त होना चाहिए, प्रजा में वे लोकप्रिय होने चाहिए।[1]

कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीशों को निम्नलिखित प्रकार के विवादों पर निर्णय देने का अधिकर था[2] -

1.	कारुकरक्षणम्	शिल्पियों और कारीगरों की रक्षा और उनसे दूसरो की रक्षा
2.	वैदेहकरक्षणम्	व्यापारियों की रक्षा और दूसरों की रक्षा
3.	उपनिपातप्रतीकारः	प्राकृतिक विपत्तियों का निवारण
4.	गूढाजीवनारक्षा	गैरकानूनी उपायों से जीविका चलाने वालों से रक्षा
5.	सिद्धव्यंजनैमणिवप्रकाशनम्	गुप्तचरों द्वारा अपराधियों की गिरफ्तारी
6.	शंकारुपकर्माभिग्रहः	संदेह होने पर या वस्तुतः अपराध करने का गिरफ्तारी
7.	आशुमृतकपरीक्षा	मृतदेह की परीक्षा द्वारा मृत्यु के कारण का पता करना
8.	वास्यकर्मानुयोगः	अपराध का पता करने के लिए विविध प्रकार के प्रश्नों को पूछना और शारीरिक कष्ट देना ।
9.	सर्वाधिकरणरक्षण्म्	शासन के सब विभागों की रक्षा और उनसे प्रजा की रक्षा।
10.	एकांगवधनिष्क्रयः	अंगकाटने की सजा देना या उसके बदले जुर्माना वसूल करने की व्यवस्था करना।
11.	शुद्धश्चित्रदण्डकल्पः	शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्युदण्ड।।
12.	कन्यापकर्म	कन्या पर बलात्कार का विवाद।
13.	अतिचारदण्ड	मर्यादा का अतिक्रमण करने पर दण्ड की व्यवस्था।

कौटिल्य ने सामाजिक एवं राष्ट्रीयहित की अवहेलना कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने वाले को कण्टक कहा है। उनसे समाज और राष्ट्र की रक्षा करना कण्टकशोधन का कार्य था। न्यायाधीशों पर इतना नियन्त्रण था कि वे न्यायालय में आए हुए वादी एवं प्रतिवादी को धमकाने, उनकी भर्त्सना करने या उनसे अपमानजनक व्यवहार नहीं कर सकते थे। कौटिल्य ने किसी भी न्यायाधीश को भ्रष्टाचार का दोषी पाए जाने पर पदच्युत करने का निर्देश दिया है।[3]

1- एवं कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युरच्छलदर्शिनः।
समाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसंप्रियाः।। अर्थशास्त्र, 3/20/3।

2- अर्थशास्त्र, 4/1/1

2.(i) धर्मस्थश्चेद्विवदमानं पुरुषं तर्जयति भर्त्सयत्यपसारयत्यभिग्रसते वा पूर्वमस्मै साहसदण्डं कुर्यात्। अर्थशास्त्र, 4/9/35

(ii) पुनरपराधे द्विगुणं स्थानाद्व्यपरोहणं च। वही, 4/9/39

न्याय प्रक्रिया- कौढिल्य अर्थशास्त्र में न्याय प्रक्रिया के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके अनुसार जब न्यायालय में कोई वाद प्रस्तुत किया जाता था, तो निम्नलिखित बाते दर्ज की जाती थी[1]

1. तिथि- जिससे वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष और दिन का सही सही पता लग सके।
2. करण- विवाद के विषय का स्वरूप।
3. अधिकरण- घटनास्थल या वह स्थान जिसके साथ विवाद का सम्बन्ध हो।
4. ऋण- यदि ऋण का मुकदमा हो तो ऋण की मात्रा।
5. वादी- वादी और प्रतिवादी का देश, ग्राम, गोत्र, नाम और पेशा।
6. दोनों पक्षों की युक्तियों और प्रत्युक्तियों का पूरा विवरण।

कौटिल्य ने अर्थी-प्रत्यर्थी के अतिरिक्त साक्षियों को अपना पक्ष न्यायालय के समक्ष विधिवत् रखने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। जो न्यायाधीश या कर्मचारी अभियोग सुनने, अर्थी, प्रत्यर्थी एवं साक्षी आदि के वक्तव्य पर विचार कर निर्णय देने अथवा उनके वक्तव्य लिखने आदि में प्रसाद करता अथवा उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार करता है तथा उन्हें पीड़िता करता है, उसको भी कौटिल्य ने दण्ड का पात्र माना है।[2]

आचार्य कौटिल्य ने न्यायालय में वादी-प्रतिवादियों के आचरण की चर्चा करते हुए परोक्त दोष की चर्चा की है। इस दोष से इनका पक्ष कमजोर हो जाता है। इस दोष के लिए कौटिल्य ने दण्ड की भी व्यवस्था की है। उनके अनुसार विवाद की राशि से पांच गुना तक दण्ड परोक्त दोष के लिए किया जा सकता है। परोक्त दोष अग्रिम आठ दशाओं में उपस्थित होता है[3] -

1. वक्तव्य देते समय प्रसंग की बात छोड़कर अन्य बात करना।
2. पूर्व में कही गई बात का बाद में स्वयं ही खण्डन करना।
3. बार बार अन्य व्यक्ति से सम्पत्ति लेने का आग्रह करना।
4. न्यायालय के पूछने पर भी तथ्य को न बताना।
5. जो प्रश्न पूछा जा रहा हो, उसका उत्तर न देकर अन्य बाते कहना।
6. पहले कोई बात कह देना, फिर उसके विपरीत ''ऐसा नहीं है'' कहना।
7. अपने साक्षियों की बातों को स्वीकार नहीं करना।
8. साक्षियों से एकान्त में बात करना।

---

1. प्रचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, डा. हरिश्चन्द्र शर्मा, पृ0 340
2. वाक्पारूष्ये द्विगुणम्..........साहसदण्डं कुर्यात्। अर्थशास्त्र, 4/9/36-38
3. निबद्धं पादमुत्सृज्यान्यं पादं संक्रामति। पूवोक्त पश्चिमेनार्थेन नामिसंधत्ते। परवाक्यमनभिग्राह्यावतिष्ठते। प्रतिज्ञाय देशं निर्दिशेत्युक्ते न निर्दिशति। हीनदेशमदेशं वा निर्दिशति। निर्दिष्टोद्देशादन्यं देशमुपस्थापयति। उपस्थिते देशेऽर्थवचनं नेवमित्यपव्ययते। साक्षिभिरवधृतं नेच्छति।असंभाष्ये देशे साक्षिभिर्मिथः संभाषते। इति परोक्त हेतवः। वही, 3/1/21-30
4. अभियोक्ता चेत्प्रत्युक्तस्तदहरेव न प्रतिब्रूयात्परोक्तः स्यात्। अर्थशास्त्र, 3/1/39

कौटिल्य के अनुसार वादी को किसी प्रश्न का उत्तर पूछे जाने पर उसका उत्तर तुरन्त देना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो हारा हुआ माना जाएगा।[6]

प्रतिवादी को अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक, तीन या सात दिन का समय दिया जाता था। यदि प्रतिवादी इससे अधिक समय लेता था तो उसे तीन पण से बारह पण तक प्रतिदिन के हिसाब से दण्ड देना पड़ता था।[1] इस प्रकार 45 दिन से अधिक समय नहीं दिया जा सकता था। तीन पखवाड़े से अधिक समय बीत जाने पर प्रतिवादी को परोक्त दोष से दूषित मान लिया जाता था और वादी को प्रतिवादी की सम्पत्ति में से वह राशि प्राप्त करने की अनुमति प्रदान की जाती थी, जिसके लिए उसने वाद प्रस्तुत किया।

कौटिल्य ने साक्षी को महत्त्वपूर्ण मानते हुए व्यवस्था दी है कि बिना साक्षी के वादी या प्रतिवादी अपनी बात की सत्यता का आग्रह करे तो दण्ड देय राशि का 10 वाँ भाग होना चाहिए।[2] जो व्यक्ति साक्षी के लिए बुलाए जाते थे, उन्हें यात्रा व्यय इत्यादि प्रदान किए जाते थे, जो पक्ष वाद हार जाता था, ये व्यय उसी पर पड़ते थे।

कौटिल्य ने साक्ष्य को लिखित प्रमाण, साक्षी प्रमाण और भोग (कब्जा) प्रमाण तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। इन प्रमाणों की सत्यता के लिए उन्होंने अनेक साधन और उपायों का विधान बताया है। उनके अनुसार साक्षी प्रात्ययिक (विश्वास योग्य), शुचि (ईमानदार), और अनुमत (प्रतिष्ठित) होना चाहिए।[3] तीन साक्षियों का होना आवश्यक था, उनमें से दो साक्षी दोनों को स्वीकार होने चाहिए थे।[4]

कौटिल्य के अनुसार निम्न व्यक्तियों की साक्षी नहीं ली जा सकती थीं[5] -

1. स्याल- पत्नी का भाई
2. सहाय- जिसके पक्ष में साक्षी देनी हो उसका नौकर
3. आबद्ध- कैदी या जो किसी के वश में हो
4. धनिक- साक्षी दिलाने वाले का ऋणदाता
5. धारणिक- वादी या प्रतिवादी का ऋणी
6. वैरी- शत्रु
7. न्यंग- किसी पर अश्रित
8. धृतदण्ड- सजा प्राप्त

---

1. तस्याप्रतिब्रुवतस्त्रिरात्रं सप्तरात्रमिति। अर्थशास्त्र, 3/1/41
2. परोक्तदण्ड: पञ्चबन्ध:। स्वयंवादिदण्डो दशबंध:।। अर्थशास्त्र, 3/1/31-32
3. प्रात्यायिका: शुचयोऽनुमता वा व्यवरा अर्ध्या:। अर्थशास्त्र, 3/1/32
4. पक्षानुमतौ च द्वौ। वही, 3/11/33
5. प्रतिषिद्धा: स्यालसहायाबद्धधनिकधारणिकवैरिन्यङ्गधृतदण्डा:। वही, 3/11/35
6. पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे। चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्य: पराजय:।। अर्थशास्त्र, 3/1/59

साक्षी देने से पूर्व साक्षी को सत्य बोलने की शपथ लेनी होती थी। महत्त्वपूर्ण अभियोगों में साक्षियों के अतिरिक्त गुप्तचरों द्वारा भी वाद की सत्यता का पता लगाने का निर्देश कौटिल्य ने दिया है।[6]

कौटिल्य ने अन्य आचार्यो का मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि विवाद उत्पन्न होने पर न्यायालय की शरण में जो आता है, उसे सच्चा समझना चाहिए, क्योंकि वह दु:ख सहन करने में विवश होकर ही न्यायालय की शपथ लेता है। किन्तु स्वयं आचार्य कौटिल्य का मानना है कि न्यायालय में पहिले अथवा पीछे आने का कोई महत्त्व नहीं है, जो व्यक्ति साक्ष्य और तथ्यों द्वारा सच्चा प्रमाणित हो, उसे सच्चा समझना चाहिए।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार पुरातन आचार्यों का मत है कि विवाद को हुए अधिक समय बीत जाने पर न्यायालय में वाद प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। किन्तु कौटिल्य का मत है कि अपकारी को कभीभी नहीं छोड़ना चाहिए, विवादित घटना चाहे कितनी ही पुरानी क्यों न हो, प्रमाणित होने पर दोषी को दण्ड मिलना ही चाहिए।[2]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वार्णित न्याय-व्यवस्था की प्रासंगिकता

(1) कौटिल्य ने कर्त्तव्यपालन और चरित्र की कठोरता पर अत्यधिक बल दिया है। वर्तमान समय में ये दोनों ही गुण अत्यधिक आवश्यक है। यदि आज सभी व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का सम्यक् निर्वाह करें, उसमें प्रमाद न करें और यदि चारित्रिक, रूप से वे दृढ़ रहें तो अपराधों की संख्या आधी से भी कम रह जाएगी।

(2) कौटिल्य ने ग्राम न्यायालय, संग्रहण न्यायालय, द्रोणमुख न्यायालय और स्थानीय न्यायालय के अतिरिक्त न्याय की सर्वोच्च सत्ता के रूप में राजा का उल्लेख किया है। यह व्यवस्था शीघ्र व सरल न्यायप्रक्रिया की ओर संकेत करती है। वर्तमान में न्यायप्रक्रिया की सबसे बड़ी कमी है- मुकदमों का लम्बित होना हमारे देश के न्यायालयों में हजारो की संख्या में मुकदमें दर्ज हैं, लेकिन उन मुकदमों में सिवाय तारीख पड़ने के और कुछ नहीं होता, और इसी कारण सामान्यत: लोग न्यायालय में जाना नहीं चाहते। यदि कौटिल्यकालीन व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक पाँच या दस ग्राम का अपना न्यायालय होत तो हम एक सार्थक न्याय व्यवस्था की कल्पना कर सकते है।

(3) कौटिल्य ने न्यायाधीशों के शुद्ध आचरण पर बल दिया है, इनके अनुसार न्यायाधीशों के पद पर राजा को उन अमात्यों की नियुक्ति करनी चाहिए, जो धर्मोपधा अर्थात् धर्मप्रलोभन के

1. कलहे पूर्वागतो जयत्यक्षममाणो हि प्रधावतीत्याचार्या:।
पूर्व पश्चाद्वाभिगतस्य साक्षिण: प्रमाणम्।। नेति कौटिल्य:। वही, 3/19/30-32
2. पर्युषित: कलहेऽनुप्रवेशो वा नाभियोज्य इत्याचार्या:।
नास्त्यपकारिणो मोक्ष इति कौटिल्य: ।। वही, 3/19/28-29

द्वारा शुद्ध चारित्र सिद्ध हुए हों और भ्रष्टाचार या नियम विरुद्ध कार्य करने पर पदच्युत करने की व्यवस्था की है। वर्तमान समय में भी इस तरह के परीक्षण के आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्ति की जा सकती है, जिससे न्यायप्रक्रिया मे लोगों का विश्वास और दृढ़ हो।

वर्तमान समय में भी न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया कौटिल्य के ही समान न्यायाधीशों पर अंकुश लगाने का एक साधन है। लेकिन इस प्रक्रिया की व्यापकता व व्यावहारिकता के लिए इसे अपेक्षाकृत सरल बनाए जाने की आवश्यकता है।

(4) कौटिल्य ने न्यायप्रक्रिया में सभी को समान माना है व नीचे के न्यायालयों की अपील ऊपर के न्यायालय में करने का प्रावधान किया है, हमारे संविधान में भी सभी को समान माना गया है, व जिला न्यायालयों के निर्णय की अपील उच्च न्यायालय में करने का प्रावधान किया गया है।

(5) कौटिल्य ने न्यायप्रक्रिया में परोक्त दोष व दण्ड की चर्चा की है, इस दोष के द्वारा कौटिल्य ने वादी-प्रतिवादी के आचरण को नियन्त्रिण किया है। वर्तमान समय में भी ऐसी कोई व्यवस्था अपना कर वादी-प्रतिवादी के आचारण को नियन्त्रित किया जा सकता है।

(6) कौटिल्य ने कुछ व्यक्तियों की साक्षी को निषिद्ध किया है, इस व्यवस्था द्वारा उन्होंने साक्षी को अधिक विश्वसनीय बनाया है।

इस प्रकार कौटिल्य ने एक पूर्ण, समुचित व व्यावहारिक न्यायव्यवस्था का वर्णन किया है, जो वर्तमान सन्दर्भ में भी प्रासंगिक है, परिस्थितियों एवं देशकाल के परिवर्तन के कारण उसमें से कुछ व्यवस्थाएं आज लागू नहीं हो सकती, लेकिन अधिकांश व्यवस्थाएं ऐसी हैं जो आज भी उतनी ही सार्थक व आवश्यक है जितनी उस समय थी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) कौटिल्य अर्थशास्त्र: उदय वीर शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली 1969

(2) प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका: हरिहरनाथ त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रं. सं. 1965

(3) कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शक्रनीति की राज्यव्यवस्थाएं कमलेश अग्रवाल, राधा पब्लिकेशनस, दिल्ली, प्रं.सं. 1997

"ज्ञान के स्रोत वेद"

डा० बबीता शर्मा
प्रवक्ता - दर्शन विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
ज्वालापुर - हरिद्वार

वेद भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम् एवं आधारभूत ग्रन्थ हैं। वेद ज्ञान के भण्डार है। डा0 राधाकृष्णन् ने कहा है कि "वेद मानव मन से प्रादुर्भूत ऐसे नितान्त आदिकालीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, जिन्हें हम अपनी निधि समझते हैं।[1] वेदों से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण हमारे संस्कारों की दशा बताने वाली पद्धति, हमारे मस्तिष्क को प्रेरित करने वाली विचारधारा, इन सबका उद्‌भव स्थान वेद ही है। वेद को श्रुति भी कहा जाता है। क्योंकि यह ज्ञान गुरु-शिष्य की परम्परा से सुनकर प्राप्त किया जाता है।

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन का प्राण है। वेद के विषय में "गीता" में कहा गया है। कि एक शाश्वत अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष है, जिसकी जड़े तो ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर और पत्तियाँ वैदिक स्त्रोत है जो इस वृक्ष को जानता है वह वेदों का ज्ञाता हो जाता है।[2]

शंकराचार्य ने "वेदान्त सूत्र भाष्य" में ब्राह्मणों को भी वेद के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[3]

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन का प्राण है। भारतीय धर्म में जो जीवनी शक्ति दृष्टि गोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही है।

वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। वेद परम पुरुष परमात्मा के सजीव नि:श्वास है। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता का भव्य प्रासाद जिस दृढ आधारशिला पर प्रतिष्ठित है उसे वेद के नाम से जाना जाता है। वेद ही शाश्वत यथार्थ ज्ञान राशि के समुच्चय है जिन्हें वैदिक ऋषियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा और अनुभव किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञान, सत्ता, लाभ तथा विचार की अभिधायक 'विद्' धातु से मानी है। इन चारों अर्थों की वाचक विद् धातु से करण और अधिकर से धञ् करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है।[4]

स्वर भेद से दो प्रकार का वेद शब्द प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है एक 'आद्युदात्त और दूसरा है 'अन्तोदात्त' आद्युदात्त वेद शब्द प्रथमा के एक वचन[5] में ऋग्वेद में पन्द्रह बार प्रयुक्त हुआ

(1) The vedas are the earlist documents of the human mind that we possess Indian Philosophy, Vol. 1 (P.63)

(2) ऊर्ध्वमूलमध:शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।15/1।।

(3) शंकराचार्य-वेदान्तसूत्रभाष्य 1/3/33

(4) दयानन्द - ऋग्वेद भाष्य भूमिका सम्पादक- युधिष्ठिर मीमांसक, पृ0 22

(5) ऋग्वेद 1/43/9, 3/53/14

है। तथा तृतीय के एक वचन[1] में एक बार प्रयुक्त हुआ है। अन्तोदात्त वेद शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता। यजुर्वेद[2] और अथर्ववेद[3] में अन्तोदान्त शब्द मिलता है।

स्वामी विवेकानन्द वेदों को नित्य, अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञान का संग्रह मानते हैं। विवेकानन्द जी के अनुसार वेद का अर्थ है ईश्वर ज्ञान की राशि।[4]

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद किसी एक ग्रन्थ का वाचक न होकर ईश्वरीय एवं आलोकित ज्ञान का वाचक है।

श्री अरविन्द ने वेदरहस्य नामक अपनी कृति में वेद के सम्बन्ध में शब्द व्यक्त किये है- वेद उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य के लिए माना हुआ नाम है जहाँ तक मनुष्य के मन की गति हो सकती है। वेद वह दिव्यवाणी है जो कम्पन करती हुई असीम में से निकल कर उस मनुष्य के अन्त:करण में पहुँची जिसने पहले से ही अपने आप को अपौरुषेय ज्ञान का का पात्र बना रखा था। वेद एक अन्त:स्फूर्त ज्ञान है।[5] श्री अरविन्द के अनुसार 'वेद वैदिक संस्कृति के आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक बीज है।[6]

श्री अरविन्द का मानना है कि वेद हमारे आध्यात्मिक ज्ञान के प्रारम्भ थे, वही उनके अन्त भी रहेंगे।[7] यह सनातन तथ्य है कि वेद उत्कृष्टतम आध्यात्मिक सत्य का नाम है।[8]

वेद ज्ञान के भण्डार हैं जिन्हें ऋषियों ने अपनी अन्त:प्रज्ञा से प्रकट किया है वेद चार हैं- प्रथम ऋग्वेद, द्वितीय यजुर्वेद, तृतीय सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद।

ऋग्वेद के अन्तर्गत उन मन्त्रों का संग्रह है जो देवताओं की स्तुति के निमित्त गाये जाते हैं। **यजुर्वेद** में यज्ञ की विधियों का वर्णन है। **सामवेद** संगीत प्रधान वेद है तथा **अथर्ववेद** के अन्तर्गत जादू-टोना, मन्त्र तन्त्र आदि निहित है।

चारों वेदों में ऋग्वेद को ही प्रधान और मौलिक कहा जाता है। 'ऋग्वेद' अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। प्रत्येक वेद के तीन अंग हैं जैसे संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद्। संहिता में मन्त्र है। जो कि प्राय: पद्य में है। संहिता में स्तुतियों का संकलन है जो देवताओं की प्रार्थना के लिए रचे जाते हैं। संहिता के पश्चात् वैदिक साहित्य को ब्राह्मण कहते हैं।

---

(1) ऋग्वेदन- 8/19/ इति वेङ्कन्टमाधव (ख) तथा वेदन वेदाध्ययनेन ब्रह्मयज्ञेन इतिसायण:।
(2) यजुर्वेद - 2/21/1
(3) अथर्ववेद - 7/29/1
(4) भारत में विवेकानन्द, पृ0 25।
(5) श्री अरविन्द - वेद रहस्य, उत्तरार्द्ध पृ0 9।
(6) श्री अरविन्द - भारतीय संस्कृति के आधार , पृ0 337
(7) श्री अरविन्द - पश्चिम के खण्डहरो में से .... भारत का पुनर्जन्म पृ0 104
(8) श्री अरविन्द पृ0 111-112।

वेद मानव जाति के आदि ज्ञान ग्रन्थ है। इसकी ऋचाओं में निहित ज्ञान अनन्त है तथा इनकी शिक्षाओं में मानव मात्र ही नहीं, बल्कि समस्त सृष्टि के जीवधारियों के कल्याण एवं सुख की भावना निहित है। 'वेद सम्पूर्ण धर्म कर्म का मूल है। तथा यथार्थ कर्तव्य धर्म की जिज्ञासा वाले लोगों के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।[1]

भारतीय परम्परा 'वेद को सर्वज्ञानमय' होने की घोषणा करती है - भूत वर्तमान और भविष्यत् सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का आधार वेद है।[2] मुण्डकोपनिषद में वेद को ईश्वरीय वाणी कहा गया है।[3] छान्दोग्योपनिषद् में छन्दों के नाम से वेदों की महिमा का ज्ञान हुआ है।[4] बृहदारण्यकोपनिषद् में वेदों को परमेश्वर का नि:श्वास रूप माना गया है।[5]

वेद का अध्ययन अत्यन्त ही लाभप्रद है। आज के वैज्ञानिक युग में भी वेद का ज्ञान होना अति आवश्यक है।

वेद के अध्ययन से हमें लौकिक और अलौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद ज्ञान के भण्डार हैं। वेद का अध्ययन इस कारण भी जरूरी है कि वेद में वैदिक धर्म की अनेक विशेषतायें निहित हैं। वैदिक धर्म के विशेष ज्ञान के लिए वेद का अध्ययन जरूरी है वेद हमें आदिम मनुष्य के सम्बन्ध में ज्ञान देता है। ज्ञान की प्राप्ति ही वेद का परम लक्ष्य है। वास्तव में अगर देखा जाए तो वेद द्रष्टा ऋषियों के अन्तर्ज्ञान का भण्डार है।

---

(1) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाण: परमं श्रुति:। मनु 2/6/13।
(2) भूतं भव्यं भविष्यंच सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। मनु 12/97।
(3) मुण्डकोपनिषद् - 2/1/4
(4) छान्दोग्योउपनिषद् - 1/4/2
(5) बृहदारण्यकोपनिषद् - 4/5/11

पुस्तक - समीक्षा

वैदिक उपमा-कोष : एक अद्भुत कृति*

समीक्षक - डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार

साधारण उक्ति और काव्य में मोटे तौर पर इतना ही अन्तर होता है कि साधारण उक्ति में जिस बात को सीधे-सादे ढंग से कह दिया जाता है काव्य में उसी बात को बना-सँवार कर कहा जाता है। बनाव श्रृंगार की इस प्रक्रिया को संस्कृत में अलम्+√कृ से प्रकट किया जाता है, और यही कारण हे कि अलंकार अर्थात् सौन्दर्याधायक तत्त्व के कारण ही काव्य साधारण उक्ति की तुलना में अधिक उपादेय होता है।[1]

जिस प्रकार लोक में कवि-निबद्ध वाणी को काव्य नाम से अभिहित करते हैं, उसी प्रकार वैदिक संहिताओं में भी इस वाणी को काव्य ही कहा जाता है। यह हम निम्न ऋक् मन्त्रों से भलीभांति समझ सकते हैं -

1. अस्मा इत्काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम् (5.39.5)
2. प्रत्नं निपाति काव्यम् (9.6.8)
3. प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति (9.97.7)

वेद संहिताएं ज्ञान का आदि स्रोत हैं, इसलिए इनमें दर्शन, धर्म, साहित्य आदि कुछ भी विषय ढूंढे सबका मूल हमें इनमें प्राप्त हो जाता है। अतएव विश्वसाहित्य में इनका स्थान बहुत उच्च तथा गौरवपूर्ण है। अर्थपूर्णता और अनुपम काव्य-सौन्दर्य के कारण ही वैदिक संहिताओं ने सुरम्य और सुविशाल संस्कृत-साहित्य में विशेष आदर प्राप्त किया है। इन संहिताओं में हमें काव्य की केवल चर्चा ही नहीं मिलती है, अपितु काव्य-सौन्दर्य के अभिवर्धक तत्वों के प्रयोग भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। जैसा कि एक लक्ष्य ग्रन्थ में होता है, इसमें हमें अनुप्रास, वीप्सा, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि सुन्दर और ताजगी भरे अलंकारों का काव्य और व्यङ्ग्य रूप में दर्शन मिलता है। जो बलात् ही सहृदयों को आकर्षित करता है। अतः

*** लेखक डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री, डी.लिट्, रीडर - वेदविभाग, गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

प्रकाशक - आर. डी. पाण्डेय, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, एन-3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली - 110059, प्रथम संस्करण - 2005, मू० 700/- रु०

1. द्र. वामन, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति - काव्यंग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकारः (1/1-2)

भगवतीश्रुति वेद काव्य के बारे में स्वयं ही यह उद्‌गार व्यक्त करती है- "देवस्य पश्यकाव्यम् न ममार न जीर्यति (अथर्व0 10/8/32)। लक्षणशास्त्र की पद्धति से सौन्दर्याधायक तत्व अलंकारों के लक्षण, वर्गीकरण आदि का जहाँ तक प्रश्न है, इनका न किसी लक्ष्यग्रन्थ में (शास्त्र-काव्य को छोड़कर) अवसर होता है, और न यह समुचित ही है। तब भी सादृश्य परक वर्णनों में उपमा शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में कुछ इस तरह हुआ है कि लगता है जैसे कवि इस शब्द का प्रयोग किसी निश्चित विधा के लिये कर रहे हैं।

- सोपमा दिव: — ऋग् 1.31.15
- तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्या — ऋग् 8.99.2
- उप स्तुता उपमं नाधमाना: — ऋग् 1.110.5
- अस्मा इदु त्यमुपमम् — ऋग् 1.61.3

इत्यादि स्थलों पर उपमा शब्द का प्रयोग **उपमान** और **सादृश्य** अर्थों में हुआ है, यह निगद-व्याख्यात है। ये स्थल स्वयमेव उपमा की इतिहासात्मक विषयवस्तु भी हैं। इससे विदित होता है कि विषयवस्तु को सुबोध ढंग से प्रत्यक्षतया प्रतिपादनार्थ उपमा की मन्त्रों पर कितनी पकड़ रही है।

१. उपमा की इतिहासात्मक पृष्ठभूमि - इस विचार को स्वीकार करने में बाध्य होना ही चाहिये कि उपमा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना कि वैदिक वाङ्मय। चूँकि वेद-संहिताओं में उपमा का मूल उपलब्ध होना और तत्सम्बन्धित प्रसङ्ग उद्‌घृत करना यह वैदिक वाङ्मय के साथ समकालीनता की कहानी की और संकेत है। उपमा ने संहिताकाल में अपना जो सशक्त अस्तित्व बनाये रखा था, वही मध्यकाल में आलंकारिकों से स्वरूप वृद्धि को प्राप्त होता हुआ आज भी और अधिक प्रासंगिकता को लेकर सभी अनुसन्धित्सुओं, विद्वानों एवं मनीषियों का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

बात को संवार निखार कर कहने के ढंगों में समानता प्रदर्शित करके अपने आशय को कहने का ढंग अन्य शैलियों की अपेक्षा सरल, स्वाभाविक, हृदय-ग्राही तथा अर्थावबबोध में सर्वाधिक मनोरम और सरल प्रकार उपमा का होता है। यही कारण है कि आलंकारिकों ने उपमा को अन्य बहुत से अलंकारों का बीज माना है।[1] वेद के उपर्युक्त स्थलों से भी यही स्पष्ट होता है कि काव्य-सौन्दर्य के अनेक तत्वों का विश्लेषण उस युग में हुआ था कि नहीं, इस विषय में हम चाहे निश्चित रूप से कुछ कहने की स्थिति में न हों, पर सादृश्य-मूलक सौन्दर्याधायक तत्व की उद्‌भावना उस प्राचीन युग में भी उपमा के रूप में हो चुकी थी, इस विषय में हम कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं।

---

1. (क) वामन, का. अ. सू. वृ. 4.2.1:- सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्ताव:। तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते।
(ख) अलंकार सर्वस्व (काव्य माला सं. पृ0 26):- उपमैवानेकप्रकार वैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूता......।

२. यास्कपूर्व उपमा तथा यास्कीय उपमा - विवेचन - अलंकार शास्त्र के अनेक तत्वों में सबसे प्रथम उद्‌भावित तत्व उपमा ही है, इस विषय में यह भी एक प्रमाण है कि यास्क ने भी इस विषय में केवल उपमा का ही निरूपण किया है, किसी अन्य तत्व का संकेत तक उन्होंने नहीं दिया है। उन्होंने अपने निघण्टु (3/13) मे **इत्युपमा** कहकर अनेक ऋग्वेदीय उपमाओं तथा उपमा-वाचक पदों का सङ्कलन किया है। निरुक्त (1/4 और 3/13-18) में भी अनेक उपमा-वाचक पदों का समाम्नान तथा उपमा का लक्षण उसका विवरण और उदाहरण से स्पष्टीकरण किया है।

इस दृष्टि से वेद का अध्ययन सर्वप्रथम कोई यास्क ने ही नहीं किया है। वे तो पुरानी परम्परा की कड़ी को अगले समय से जोड़ने वाले माध्यम मात्र हैं। उनसे पूर्व गार्ग्य आचार्य इस क्षेत्र में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। अन्य बहुत से आचार्य भी उपमा का वर्गीकरण तथा भेद-कथन कर चुके थे। उनके समय में यह बात इतनी प्रसिद्ध रही होगी कि यास्क ने अपने समय में प्रचलित उपमा-लक्षण के प्रवर्तक आचार्य गार्ग्य का तो नामोल्लेख किया है, पर भेदोपभेद कथन करने वाले आचार्यों का स्मरण अन्यपुरुष के क्रियापद (आचक्षते) से ही किया है। उपमा का लक्षण यास्क ने (3/13) में यों दिया है - **अथातः उपमाः। यदतत् तत्सदृशम् इति गार्ग्यः।** (जो वह नहीं होते हुए भी उस जैसा है।)

यहाँ तत् से उपमान को और यत् से उपमेय को कहा गया है। उपमेय और उपमान एक दूसरे से भिन्न हैं उनमें समानता बतलाना उपमा कहलाता है। इस लक्षण से यह निश्चित होता है कि गार्ग्य उपमा के तीन अङ्ग मानते हैं - 1. उपमेय 2. उपमान, और 3. सादृश्य।

यास्क ने उपमा का यह प्रतिपादन केवल भाषाशास्त्र की दृष्टि से ही नहीं किया है, अपितु उपमा के प्रयोग से अभिव्यक्ति में सौन्दर्य आ जाता है[1], यही मानकर किया है। यास्क का यह उपमा-विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकार-शास्त्र कैं आदियुग का प्रतिनिध है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। आचार्य यास्क का यह उपमा वर्णन संहितानुसार ही है, क्योंकि मन्त्रार्थज्ञान में अलंकार ज्ञान परमावश्यक है।[2] और समस्त सादृश्यमूलक (औपम्यगर्भ) अलङ्कारों का मूल उपमा है। अत: समस्त अलङ्कार मूलभूत इस उपमा अलंकार का वेदार्थ के लिए ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है। यास्क द्वारा किया गया उपमा विवेचन बिल्कुल साधारण होते हुए भी अलङ्कारशास्त्र की प्राथमिक उत्कृष्ट दशा का परिचायक है, जो कि आगे चलकर अलङ्कार शास्त्र के विस्तार में सहायक हुआ।

३. अर्थज्ञान में उपमा का महत्व - अलङ्कारात्मकं शैली वेद की सर्वोत्कृष्ट शैली है।

1. द्र. - नि. 1/19 - ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचोपमोत्तमया वाचा।
2. आचार्य राजशेखर, का. मी., अ. 2

अग्निपुराण (344/2) के अनुसार अलङ्कार रहित काव्य (सरस्वती) विधुर (विधवा) की भांति होता है। अलङ्कार वेद-काव्य में सौन्दर्य-वर्धक हैं। इनके अभाव में वेद के सौन्दर्य को अर्थ को वास्तविक रूप में ग्रहण करना बड़ा कठिन है। श्रुति स्वयं इसकी पुष्टि इस प्रकार करती है -

उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचं,
उत त्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासा:।। (ऋग् 10/71/4)

अत: वेद ज्ञान-हेतु अर्थज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, और इसमें भी वेदार्थज्ञान के साधनों में सादृश्यमूलक अलंकारों की मूलभूत उपमा मुख्य साधन है। इस अलंकार के माध्यम से हम वेद के सामान्य अथवा विशिष्ट तत्व को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। हम किसी भी वास्तविक तत्व को तब तक हृदयंगम नहीं कर सकते, जब तक वह प्रत्यक्ष न हो। जो दुर्ज्ञेय तत्व होता है वही उपमा में पल्लवित होकर विकसित होता है। वेदों में जहाँ अनेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है वहीं उपमा अलंकार का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है। यह ध्यातव्य है कि अलङ्कारों का नामकरण तो बाद में हुआ, किन्तु इनका प्रयोग लौकिक काव्यों से भी पूर्व वेद-संहिताओं में अत्युत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। उपमा अलंकार की स्रोतस्विनी वैदिक संहिताओं में तरंगायमाण दृष्टिगोचर होती है। इसलिए अलंकारों को वेद का सप्तम अङ्ग स्वीकारते हुए यायावरीय आचार्य राजशेखर ने वेदार्थज्ञान में अलंकारों का महत्व इस प्रकार प्रतिपादित किया है -

'शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचिति:,
ज्योतिषं च षडङ्गानि', इत्याचार्या:।
'उपकारत्वादलङ्कार: सप्तममङ्गम्', इति यायावरीय:।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगति:।।'' (का. मी., अ.2)

निष्कर्षत: कहना उपयुक्त होगा कि अलंकार वेद के उपकारक हैं। इनके स्वरूप परिज्ञान के अभाव में वेदार्थ में गति असम्भव है।

४. प्रस्तुत वैदिक उपमा कोष - आवश्यकता, उपयोगिता एवं वैशिष्ट्य

वैदिक संहिताओं में, अर्थालङ्कारों में उपमा अलंकार का सर्वाधिक चमत्कार पूर्ण प्रयोग हुआ है। लौकिक संस्कृत-साहित्य में उपमा क्षेत्र में कविकुलगुरु कालिदास ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की है। वैदिक संहिताएँ उससे भी अधिक ख्याति की पात्र हैं। अन्तर केवल इतना है कि कालिदास के उपमान व्यापक हैं और विविध क्षेत्रों का अवलम्बन लेकर प्रयुक्त किये गये हैं,

वैदिक उपमानों का क्षेत्र वैसा व्यापक नहीं है। पुनरपि, सौन्दर्य की दृष्टि से वैदिक उपमाएँ हृदय को छूने वाली हैं। वैदिक संहिताओं में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के उपमानों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उपमा अलंकार से सम्बन्धित अन्य वैदिक संहिताओं वाजसनेयी माध्यन्दिन, राणायनीय और शौनक जो कि क्रमशः यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से सम्बन्ध रखती हैं, का भी बहुत महत्व है। वेद तो हैं ही उपमामय इसमें कोई दो मत नहीं हैं। वेदों की भाषागत और अर्थगत अनेक शैलियाँ हैं, परन्तु उनमें वेदज्ञान तक पहुँचने के लिए, वेदों के हृद्गत आशय को समझने के लिए तथा उनका मूल्याङ्कन करने के लिए अलंकारात्मक शैली को अनन्यतम स्थान प्राप्त है। अध्ययन पद से गुजरते हुए अलंकारात्मक शैली का वेद में बीज रूप में उपलब्ध होना अपने में एक अद्भुत शैली का संकेत अवश्य है। इस शैली के सैंकड़ों ऐसे रोचक स्थल हैं जिनको उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। उपमा तो वैदिक कवि का बहुत प्यारा अलङ्कार है जिसकी लड़ी पर लड़ी बड़ी चारुता के साथ विन्यस्त की गई हैं –

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।। ऋग् 1/124/7

अन्य कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं –

(१) अग्नि –

(1) स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। ऋग् 1.1.9
हे अग्निदेव, जैसे पिता अपने पुत्र के लिए सुलभ (सरलता से प्राप्य) होता है, वैसे ही तुम बन जाओ।

(२) अश्विनौ –

(1) हंसाविव पततमा सुताँ उप। ऋग् 5.78.1
हे अश्वी देवो, तुम ऐसे ही सोमरसों को पीने के लिए पहुँचो, जैसे हंस उड़ कर आ पहुँचते हैं।

(३) इन्द्र –

(1) एवा ह्यस्य सूनृता............ पक्वा शाखा न दाशुषे। ऋग् 1.8.8
इन्द्र की सूनृता दाता के प्रति पके फलों से लदी शाखा के समान फलदात्री हो जाती है।

(४) उषा –

(1) अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव वर्जहम्। ऋग् 1.92.4
उषा नर्तकी के समान अपने रूपों को प्रकट कर रही है और जैसे गाय अपने ऊधस् को दिखाती है वैसे उषा देवी अपने वक्षस्थल को उद्घाटित कर रही है।

इस तरह वेदों में उपमा अलंकार विषयक काव्य-सौन्दर्य-द्योतक स्थल बहुत संख्या में उपलब्ध हैं। यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों का ध्येय काव्य ग्रन्थों का निर्माण करना नहीं था। ये नाना भणितिभङ्गी उपमाएं तो उनके समुच्छ्वास रूप हैं जो कि विभिन्न देवताओं के स्वरूप-प्रतिपादन में अथवा किसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में जहाँ महर्षि भावातिरेक की स्थिति में आ गये वहाँ उनके मुख से प्रकारान्तर से स्वतन्त्र रूप में प्रस्फुटित हो गयी हैं।

वैदिक अलंकार-शास्त्र को लेकर, उनमें भी उपमा को आधार बनाकर कतिपय अनुसन्धानकर्ताओं ने किसी संहिता विशेष या संहितान्तर्गत देवविशेष से संबंधित उपमा अलंकार पर सामान्य कार्य भले ही किया है, किन्तु समस्त वेदों (संहिताओं) पर एक साथ उपमा संबंधी व्यापक अनुसंधान कार्य एवं विस्तृत संकलन अभी तक नहीं हुआ था। इसकी पूर्ति प्रियवर भाई **डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय** ने इस कोष की रचना करके की है। हमें ऐसा विश्वास है कि यह कार्य वैदिक साहित्य के क्षेत्र में मील का पत्थर सिद्ध होगा। इससे जहाँ वैदिक देवों के स्वरूप-निर्धारण में सहयोग मिलेगा वहीं वेदों की वास्तविक व्याख्या में भी सहायता मिलेगी। इस कोष से अन्य लाभ भी होंगे।

प्रस्तुत **वैदिक उपमा कोष** में वैदिक संहिताओं में दृग्गोचर होने वाले उपमाओं के अपार पारावार का उभयविध अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें चार सहस्र से अधिक उपमाओं का संकलन है। इस कोष में उपमावाचक पदों के चयन के वैदिक संहिताओं में क्या नियम हैं, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। जो कि वेदों की उपमाओं के अध्ययन हेतु एक महत्वपूर्ण पहलू है। उपमा भेदों पर जहाँ पूर्वभागान्तर्गत द्वितीय अध्याय में प्रकाश डाला गया है वहीं पृथक् से प्रथम परिशिष्ट के रूप में भी विस्तार से इस बारे में विचार किया गया है। विश्व वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण वेदों में अलंकारशास्त्र के आधार पर उपमा भेद अपने पूर्ण विकसित रूप में उपलब्ध नहीं होते, केवल कुछ ही उदाहरण मिलते हैं, जिन्हें इन विकसित भेदों का पूर्णरूप कहा जा सकता है। कोषकार की दृष्टि में प्राप्त उपमा भेद संख्या में 19 हैं। पूर्णोपमा के प्रमुख 6 भेदों से 3 भेद, लुप्तोपमा के 19 भेदों में से 15 भेद तथा मालोपमा को मिलकर कुल 19 उपमा भेद उपलब्ध होते हैं। परिशिष्टगत इस उपमा विवेचन में लेखक ने उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और सादृश्यवाचक पद को प्रदर्शित करते हुए यह कौन सी उपमा है ? उसका नाम भी दिया है। वेदों में श्रौती पूर्णोपमा का आधिक्य, एकदेशविवर्तिनी साङ्ग उपमाएँ, समस्त वस्तुविषयिणी उपमाएँ, वेदों में उपमान से युक्त विशेषण पदों का प्रयोग, वेदों में द्विगुणित उपमाएँ वेदों में वाक्यांश, समासगा और तद्धितगा उपमाएँ, वेदों में लुप्तोपमाएँ, वेदों में वाचकद्वय का प्रयोग आदि वर्णन इस कोष की प्रमुख विशेषताएँ हैं। जिन पर लेखक के वैदुष्य की छाप मिलती है। इस कोष में जहाँ वेद से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के उपमा अलंकार के उद्भव एवं विकास पर भी प्रकाश डाला गया है वहीं द्वितीय परिशिष्ट में इन उपमाओं में परिलक्षित वैदिक संस्कृति को भी उद्घाटित किया गया है। किसी भी राष्ट्र, समाज, संस्कृति, सभ्यता, अर्थ और दर्शन का विशद् चित्र हमें उसके साहित्य में प्रयुक्त उपमाओं में ही मिलता है। वेदों में आये उपमानों के आधार पर तदानीन्तन समाज की छवि का दर्शन निश्चित ही मन को प्रसन्नता देने वाला है।

वैदिक उपमा-कोष : एक अद्‌भुत कृति

प्रिय डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री को वेदविषयक ऐसे सुन्दर कोष के प्रणयन पर मैं अपनी हार्दिक बधाई और आशीर्वाद इस आशय के साथ देता हूँ कि ये भविष्य में भी ऐसे सुन्दर ग्रन्थों की रचना कर सकें। अन्त में पद्‌मश्री डॉ. कपिलदेव द्विवेदी के शब्दों में यह लिखना उपयुक्त है कि -

''यह ग्रन्थ लेखक के गहन अध्ययन और कठोर परिश्रम का परिचायक है। वस्तुतः यह ग्रन्थ वैदिक वाङमय का साहित्यिक अनुशीलन है। साहित्य की एक विधा अलंकार और उसमें भी एक अलंकार उपमा का ही यह सर्वांगीण विवेचन है।'' द्विवेदी जी के शब्दों में ही -

उपमा-कोश ग्रन्थोऽयं वैदिक वाङ्मयाश्रितः ।
श्रेयसे भूयसे भूयाद्, विदुषां प्रीतिमावहन् ॥

सम्पादक - **स्वस्तिपन्थाः**

रियासत से उत्तराचंल तक का सफर

- कुल भूषण शर्मा
हरिद्वार

हरिद्वार देवभूमि उत्तराचंल का अपना एक गौरवपूर्ण अतीत रहा है यहाँ चारो धाम बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री यमनोत्री के अलावा पर्यटको को रिझाने के लिए हरिद्वार नैनीताल, मंसूरी, धनौल्टी, औली जैसे विश्व प्रसिद्व पर्यटन स्थल है वही दूसरी तरफ हिमालय, नन्दा देवी, दूनागिरी व बन्दर पुछ जैसी विशाल पर्वत चोटियाँ भी पर्वतारोहियो के रोमांच का केन्द्र है इसके अलावा इसके घने वन अनेक जीवन रक्षक औषधियों से भरे पडे हैं। अनेको धार्मिक ग्रन्थों में इस क्षेत्र का नाम मानस खण्ड व केदार खण्ड भी है।

वर्तमान उत्तराचंल के गढ़वाल व कुमायु क्षेत्र में 7वीईसा व 8वीईसा में कत्यूर वंश का शासन था। इन्होंने अपने शासन काल में अनेक मन्दिरो का निर्माण करवाया था आज यहाँ बसे लोग प्राय: उन लोगो के वंशज है जो शायद 10वी या 11वी शताब्दी के बाद इस क्षेत्र में आकर बस गये थे। पूवर में औरगंजेब के भतीजे दाराशिकोह के पुत्र सुलेमान शिकोह ने भी इलाहाबाद की लडाई के बाद कुछ सनय के लिए गढ़वाल के राजा पृथ्वी शाह से मदद ली थी 1757 में रूहेलो ने भी गढ़वाल पर आक्रमण किया था। तथा उस समय के गवर्नर (सहारनपुर) नबीबुदौला ने हरिद्वार सहित देहरादून पर कुछ समय के लिए अपना अधिकार कर लिया था। परन्तु तत्कालीन राजा प्रदीपशाह ने प्रजा हित में गवर्नर से सन्धि कर ली थी। 18वी शताब्दी आते आते कुमायूँ व गढ़वाल क्षेत्रों को बहुत भारी नुकसान उठाना पड़ा इनकी इस लडाई का लाभ उठाते हुए गौरखो ने 1790 सम्वत 1847 चैत्र कृष्ण पक्ष प्रतिपदा को अल्मोडा पर आक्रमण कर उसे जीत लिया तथा 1792 में उन्होंने गढ़वाल पर भी कब्जा करने के लिए हमला कर दिया परन्तु वह पूरी तरह से सफल नहीं हो पाये इसलिए उन्होंने राजा से सन्धि कर ली। जिसके बदले में उन्होंने पच्चीस हजार रुपये सालाना शुल्क लेना स्वीकारा। इसके बाद गौरखो ने 1803 में गढ़वाल पर फिर आक्रमण कर दिया। इस युद्व में गौरखो ने गढ़वाल पर जीत दर्ज की इस दौरान उन्होंने युद्व में मारे गये राजा प्रद्युमनशाह के भाई प्रीतम शाह को बन्दी बनाकर रखा तथा गढ़वाल की जनता पर जमकर कहर बरपाया इसी दौरान प्रीतम शाह के पुत्र सुदर्शन शाह ने मेजर हेरसो से सन्धि कर ली कि अगर वह गढ़वाल को गौरखो के शासन से मुक्ति दिलाने में उनकी मदद करते है तो वह गढ़वाल का कुछ भाग (वर्तमान पौड़ी व कुमायूँ) उन्हें दे देंगे। इसी शर्त को आधार मानकर 1815 में सिंगोली सन्धि की गई। इस सन्धि के अनुसार अलकनन्दा नदी का पूर्वी तट से काली नदी तक का क्षेत्र ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में चला गया और अंग्रेगो द्वारा टिहरी रियासत को पंवार वंश के शासको को लौटा दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने 1854 में

नैनीताल को कुमायूँ मण्डल का मुख्यालय बनाया। 1890 तक नैनीताल व गढ़वाल रियासत के दो प्रमुख केन्द्र थे। 1949 में टिहरी रियासत भारतीय गणतंत्र में शामिल हो गई इस कारण 1960 में टिहरी रियासत को टिहरी, उत्तरकाशी तथा गढ़वाल क्षेत्र को चमोली, अल्मोडा, व पिथोरागढ़ में बाँट दिया गया।

रियासत के अन्तिम शासक महाराजा मानवेन्द्र शाह का राज्यभिषेक उनके पिता नरेन्द्र शाह ने 1946 में कर राज्य की बागडोर इन्हें सौप दी इनका विवाह बासवाड़ा (राजस्थान) की राजकुमारी भवर कुँवर के साथ हुआ जिनसे इन्हें पुत्रटीका मनुजेन्द्र शाह व पुत्रियो की प्राप्ती हुई। शासक के रूप में इनकी राजधानी नरेन्द्र नगर थी। रियाँसत के गणतंत्र भारत में समायोजित होने के बाद इन्हें भारत सरकार की तरफ से लैफ्टिनेंट कर्नल की मानद उपाधि प्रदान की गई तथा प्री.बी. परस (नकद आर्थिक सहायता) व प्री. विलेज (सम्पूर्ण सम्पत्ति पर टैक्स की माफी) की सुविधाएं प्रदान की राज्यपरिवार की रियासत खत्म होने पर भी क्षेत्र की जनता को राज्यपरिवार पर पूरी आस्था बनी है जिसका पता इससे चलता है कि देश के पहले सामान्य निर्वाचन वर्ष 1952 में इनकी माता राजमाता इन्दुमति शाह ने टिहरी लोकसभा से जीत दर्ज की तथा दूसरे सामान्य निर्वाचन 1957 में इनकी माँ ने इन्हें टिहरी लोकसभा सीट से निर्दलीय चुनाव लडवाकर स्वयं पौड़ी गढ़वाल सीट से चुनाव लडकर दोनो ने जीत दर्ज की तथा लोक सभा में क्षेत्र का प्रतिनिधित्व किया। 1957 में चुनाव जीतने के बाद मानवेन्द्र शाह ने पं. गोविन्द बल्लभ पंत के आग्रह पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सदस्यता ग्रहण की तथा वर्ष 1962 व 1967 के चुनाव काग्रेस पार्टी से लडकर जीते। 1969 में कांग्रेस विभाजन के समय यह इन्दिरा गाँधी की नीतियो के खिलाफ मोरारजी देसाई के साथ मुरारजी कांग्रेस में आ गये तथा 1971 का चुनाव मुरारजी कांग्रेस से लडें इस चुनाव में इन्हें हार का सामना करना पड़ा। इन्दिरा गाँधी सरकार द्वारा पूर्व रियासतो को दी जाने वाली सुविधाए (नकद राशि वटैक्स में पूर्ण छूट) बन्द किये जाने के विरोध में इन्होंने सरकार के खिलाफ रियासतो को एकव्रित कर मुकदमा भी लड़ा जिसमें इन्हें हार का सामना करना पड़ा। जनता पार्टी की सरकार में आयरलैंड़ में भारत के राजदूत भी रहे।

व्यक्तिगत कारणों से सक्रिय राजनीति से दूर रहने के बाद भी क्षेत्र की जनता से लगातार सम्पर्क बनाये रखा आज भी शाही परम्परा खत्म हुए वर्षो बाद भी प्राचीन परम्परा के अनुसार प्रतिवर्ष बसन्त पंचमी के दिन अपनी पूर्व राजधानी नरेन्द्रनगर में महाराजा अपना प्रतीकात्मक दरबार लगा पुरानी परम्परा के अनुसार क्षेत्र की जनता के बीच जाकर भगवान् बद्रीनाथ मन्दिर के कपाट (द्वार) खोलने की घोषणा करते है। परम्परानुसार मन्दिर की पवित्र जोत के लिए राजपरिवार सदस्यो द्वारा तिलो को अपने हाथी से मलकर निकाला गया तेल मन्दिर में भेजा जाता है। इनकी लोकप्रियता का प्रमाण इस बात से लगाया जॉ सकता है कि लोगो कि पीढिया गुजर जाने के बाद भी क्षेत्र की जनता इन्हें भगवान बद्री नारायण का अवतार मान बोलदा बद्री के नाम से भी सम्बोधित करती है।

लम्बे राजनीतिक अज्ञातवास के बाद वर्ष 1991 में पुन: भारतीय जनता पार्टी के टिकट पर टिहरी गढ़वाल क्षेत्र से फिर लोकसभा का चुनाव लड़े तथा भारी मतो से विजयी हुए तथा तभी से लगातार वर्तमान चुनाव वर्ष 2004 का भारतीय जनता पार्टी के टिकट पर जीतकर लोकसभा में क्षेत्र का आठवी बार प्रतिनिधित्व कर रहे है। आज 85 वर्ष की आयु में भी सक्रिय सांसद की भूमिका निभाने वाला यह सांसद प्रदेश के लिए भी गौरव का प्रतीक है यह देश के उन चुनिंदा सांसदो में से एक है जिन्हें पं. जवाहर लाल नेहरू से लेकर इन्दिरा गाँधी, मोरारजी देसाई, अटलबिहारी बाजपेयी व सरदार मनमोहन सिंह सरीके कई प्रधानमंत्रियो के साथ संसदीय कार्यप्रणाली का अनुभव प्राप्त है महाराजा के पी.आर.ओ. कृष्णचन्द भार्गव के अनुसार महाराजा का मानना है कि आज के बदलते हुए परिवेश में राजनीति के मायने भी काफी कुछ बदल गये है आज कि राजनीति एक समाज सेवा का माध्यम कम बल्कि शुभलाभ का व्यापार मात्र बनकर रह गयी है। इसमें आज अच्छे लोगो का अभाव लगातार बढ़ता जा रहा है जबकि देश को आज अच्छे चरित्र व समर्पित जनप्रतिनिधियो की सख्त जरूरत है। आज जहाँ प्राय: सभी राजनेता राजनीति को अपना पैतृक व्यापार मान अपने राजनैतिक उत्तराधिकारियो को जमीन तैयार करने में दिन रात लगें है। वही इस वरिष्ठतम सांसद ने अपने पुत्र टीका मनुजेन्द्र शाह सहित समस्त परिजनो को राजनीति से दूर रख अपनी सही सोच का परिचय दिया है।

आज के इस मिडिया प्रधान समय में भी वह बतौर सांसद प्रचार से दूर रहकर क्षेत्र के विकास को ज्यादा महत्व देते है वह आज भी 85 वर्ष की आयु में लगातार अपने लोकसभा क्षेत्र का दौरा कर क्षेत्र की जनता के बीच जाकर उनसे एक आम जनप्रतिनिधि की तरह मिलकर क्षेत्र की समस्याए सुन उनका सही निस्तारण स्वयं करवाने में अधिक विश्वास रखते है।

उपभोक्तामूलक संस्कृति और समकालीन हिन्दी साहित्य

- कु० दीपिका, प्रवक्ता
आनन्द कॉलेज ऑफ एजूकेशन, आगरा

आज इक्कीसवीं शताब्दी में पग धरते ही सबसे बड़ी समस्या जो दृष्टिगत हो रही है, वह है- उपभोक्तावादी संस्कृति। पाश्चात्य जगत में सन् 60 में प्रादुर्भूत होने के बाद तीसरी दुनियां में इसका आगमन बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में हुआ। भारत की उदारीकरण नीति के फलस्वरूप बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने यहां आकर आवश्यकताओं का निर्माण प्रारम्भ कर दिया, इन आकर्षक विज्ञापनों के इंद्रजाल में फंसे मनुष्य की एकमात्र आवश्यकता रह गयी-धन। यहीं से मनुष्य के वस्तु बन जाने की यात्रा प्रारम्भ हो गयी। समकालीन साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब अपने चरम पर होता है। बाजारीकरण के इस दौर में न सिर्फ कविता के छपने तथा लेखक की प्रसिद्धि का निर्धारण पूंजीपति करने लगे बल्कि काव्य के लक्षण, प्रयोजन तथा हेतु भी उपभोक्ता बन गये। समाज की इस रीति का प्रभाव पारिवारिक जीवन पर भी पड़ा। डॉ0 राजेन्द्र टोंकी के शब्दों में -

> ''यही में, यार घरों का यही बाजारों का
> जो जितना ज्यादा कमाये वो उतना अच्छा।''

उपभोक्ता मूलक संस्कृति के इस दौर में संबंधों में से भावना मिट गयी। समकालीन कविता में यह तनाव, अविश्वास, अनास्था, कुंठा, हताशा स्पष्ट दर्शनीय है। यदि यह कहा जाय कि सामंतवादी युग पूंजीपतियों के हाथ में पड़कर आज उपभोक्तावाद में परीवर्तित हो गया है तो अतिशयोक्ति न होगी।

उपभोक्तामूलक संस्कृति : आशय एवं स्वरुप-निर्धारण

उपभोक्ता संस्कृति में सर्वाधिक बल उपभोक्ता पर दिया गया है तथा उपभोक्ता का अर्थ है, ''वह व्यक्ति जो दैनिक जीवन की काम आने वाली वस्तुओं को उपयोग में लाने के लिए बाजार से खरीदता है।''

यह परिभाषा ही उपभोक्तावाद के विस्तार को इंगित करती है। उपभोक्तावाद वास्तव में उपभोक्ता के अधिकारों ओर रूचियों की सुरक्षा का नाम है। जूलियन वाल फ्रेज उपभोक्ता संस्कृति की परिभाषा देते हुए लिखते हैं -

''यह युद्धोत्तर पश्चिमी आर्थिक वर्णन है जिसमें वस्तुओं की खपत जिसमें सांस्कृतिक

मानवाकृति को भी वस्तु विशेष समाज का एक निर्णायक मुख्य निर्धारक तत्व है।''

Fontana Dictionary of Modern Thought ने उपभोक्तावाद को उसकी क्षमताओं एवं सीमा के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यहां यह माना गया है कि उपभोक्तावाद उपभोक्ता के कार्य व्यापार को अपने ढंग से नियंत्रित करता है। यह नियंत्रण निर्माण की प्रक्रिया से लेकर विक्रय के प्रस्तुतीकरण तक फैला होता है। इस नियंत्रण के कारण अनेक आर्थिक प्रभावों और नैतिकता का विस्तार प्रत्यक्ष है। यद्यपि विभिन्न राष्ट्रों ने इस संबंध में उपभोक्ता-संरक्षण सम्बन्धी नियम बनाए हैं, किन्तु ये नियम उपभोक्ता पर एक सीमा तक ही प्रभाव डालते हैं। उपभोक्ता के द्वारा समृद्ध हुए बड़े राष्ट्र अपने ढंग से उपभोक्ता पर नियंत्रण रखते हैं किन्तु उनके वास्तविक हितों की पूर्ति उनकी निजी तंत्र की कार्यप्रणाली से होती है और यहीं उपभोक्तावाद अपनी सीमा को अनुभव करता है।

अजय तिवारी उपभोक्तावाद को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - ''उपभोक्तावाद बाजार का ऐसा संगठन है जहां हमारे उपभोग का स्वरूप हमारी आवश्यकतायें नहीं, व्यावसायिक हित निर्धारित करते हैं। वस्तु (कमॉडिटी) हमारी मानवीयता को स्थानान्तरित कर देती हैं और विच्छिन्नता बोध (फ्रैगमेंटेशन) हमारी चेतना को।''

उपभोक्तावाद को बाजारवाद, मण्डी तंत्र आदि कहकर भी पुकारा जाता है। नि:संदेह उपभोक्तावाद व्यापक दृँष्टि से उत्तर आधुनिकता के साथ जुड़ा हुआ है। उपभोक्तावाद में मनुष्य मात्र वस्तु में परिवर्तित हो जाता है। मुद्राराक्षस में ठीक ही लिखा है, ''देश की व्यवस्था के लिए मनुष्य कोयला, पानी, लोहा, जस्ता और पत्थर के बराबर बना दिया गया है।'' वस्तुत: बाजार का विकास प्रतिद्वन्दिता तथा प्रतिस्पर्धा में ही निहित है परन्तु दृष्टिकोण स्वच्छ एवं स्पष्ट होना आवश्यक है। बाजार अकस्मात् ही वस्तुओं की बिक्री या खरीददारी को निर्धारित नहीं करता। ''बहुत सी बातें विज्ञापन और प्रस्तुतीकरण द्वारा सुनिश्चित होती है। यहां पर पहले से उपभुक्त तमाम वस्तुयें भी इस बात को निर्धारित करती है कि बाद में क्या बिकेगा।''

सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि संसाधन बन चुके मनुष्य को विश्व बैंक भी बाजार की ओर ही धकेल रहा है, वह भी बड़े ही मोहक ढंग से। विश्व बैंक का कहना है कि खुले बाजार तथा उदार अर्थतंत्र द्वारा मनुष्य का चहुंमुखी तथा तीव्रतम विकास होगा। मुद्राराक्षस ने हरबर्ट मार्क्यूस को उद्घृत करते हुए उन्हीं के शब्दों में बाजारवाद के दुर्भाग्यपूर्ण पक्षों का लेखा-जोखा दिया है। मार्क्यूस की दृष्टि में बाजारवाद के इस विकास में 'लोग अपने आप को अपनी जायदाद से पहचानते हैं। उन्हें अपनी मोटरकार हाई-फाई सेट, रिकार्ड प्लेयर, कोठी या रसोई में इस्तेमाल होने वाले उपकरणों में ही अपना व्यक्तित्व दिखाई देता है।'' महानगरीय सभ्यता के प्रतीक बन चुके सुपर मार्केट पर बिकते आकर्षक चीनी, कोरियन सामान जन सामान्य के भ्रमित करने में पूर्णत: सक्षम हैं।'' बेवसाइटों पर बिकने वाले उत्कृष्ट 'ब्रांडों' ने मनुष्य के

जीवन को बड़ी तेजी से अपना गुलाम बनाया है। उच्च वर्ग के साथ-साथ नव धनाढ्य मध्यम वर्ग भी इस मोहपाश से नहीं बच पा रहा है। यहीं से उपभोक्तावादी संस्कृति जन्म लेती है जोकि एक नवीन जीवन-दर्शन गढ़ती है। अजय तिवारी इसे "मालवाही संस्कृति' कहकर पुकारते हैं। उनकी दृष्टि में लूट और समृद्धि को उचित ठहराने वाली यह 'मालवाही संस्कृति' इस संचार क्रान्ति के युग की अपनी देन है। यह मालवाही संस्कृति भाव के स्थान पर वस्तु को प्राथमिकता देती है तथा मानव की चेतनता को समाप्तप्राय कर उसे अचेतन प्राणी-उपभोक्ता बना देती है। बाजार मनुष्य की भावनायें समाप्त कर उसे अर्थ केंद्रित कर देता है। बाजार के इस प्रवाह में मनुष्य की संवेदना तथा उसकी भाषिक अभिव्यक्ति लुप्त होती जा रही है। दहेज के लिए हो रही क्रूर हत्यायें, माता-पिता को वृद्धावस्था में स्वीकारने से इंकार इसी की देन है। मनुष्य के प्रति अत्याचार उपभोक्तावादी संस्कृति की विशेषता है।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने संपूर्ण मानव-जगत को वस्तु के रूप में परिवर्तित कर दिया है। नि:संदेह इसका सर्वाधिक कुप्रभाव नारी अस्मिता पर पड़ा है। वह संस्कृति नारी को भोग्या से अधिक नहीं समझती। बाजार में अपना उत्पाद बेचने के लिए नारी का ही उपयोग किया जाता है। "पहले से ही सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तौर पर असुरक्षित असंगठित और कमजोर स्त्री-समुदाय को बाजार की मुख्य शक्तियाँ भूखे भेड़िये की तरह लूट-खसोट रही है।" बाजार की इस संस्कृति पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि स्त्री को ही बाजार में बदल दिया गया है। कत्यायनी स्त्रियों के विरूद्ध इस साजिश में अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के अतिरिक्त पश्चिमी देशों की सरकारों, विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और संयुक्त राष्ट्र संघ का औद्योगिक विकास संघ (UNIDO) को भी सम्मिलित करती हैं।

नारी का उपयोग करने वाली यह संस्कृति वस्तुत: सुखासीनों को मनोरंजन का सुगम साधन प्रदान करती है। नारी को एक वस्तु के रूप में परिवर्तित कर देने के कारण ही वह आज बाजार के लिए विज्ञापन का कार्य कर देने को विवश है। विभिन्न लेखकों ने इसी उपभोक्तावादी दृष्टिकोण के कारण नारी की वास्तविकता पीड़ा को समझने के स्थान पर उसके भोग्य रूप का चित्रण किया है।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने नारी का जैसा अपमान किया है, वह इससे पूर्व कभी देखने को नहीं मिलता। उपभोक्तावादी संस्कृति यह कार्य अपने तर्कशास्त्र, वैज्ञानिक सुविधाओं और सभ्यता का सुन्दर लबादा ओढ़कर करती है। जिसके कारण नारी का शोषण करने पर भी वे नारी मुक्ति आन्दोलन का दम भरती है।

बाजार तंत्र मांग के अनुरूप उत्पादन की पूर्ति नहीं करता बल्कि ऐसी मानसिकता बना देता है कि मनुष्य आवश्यकता को भूलकर अपनी 'शान' बढ़ाने वाली वस्तु खरीदता है। बाजार ने एक शब्द प्रचारित कर दिया है- 'स्टेटस सिंबल' अर्थात् हैसियत का प्रतीक। यह जरूरत

वाला सामान नहीं होता बल्कि अन्य लोगों पर अपना प्रभाव जमाने का कार्य करता है।

उपभोक्ताओं की इस जमात को अर्थशास्त्रियों ने 'सिंथेटिक उपभोक्ता' कहा है। ये उपभोक्ता एक ऐसी जीवन शैली विकसित कर लेते हैं जिसका काम होता है 'लो ब्राऊ' अर्थात् बेहतर समाज को नीचा दिखाते रहना। इन उपभोक्ताओं की संस्कृति भी 'सिंथेटिक' होती है। इस सिंथेटिक में एक भी जीवित ऊतक अर्थात् मानवीय संवेदना नहीं होती। कला और साहित्य के इसी सिंथेटिक चरित्र का स्वभाव है - मनुष्य से दूरी।

संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र की तरह साहित्य में भी अर्थ हावी होता जा रहा है और अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति यह है कि जो बाजार में चलता है वही श्रेष्ठ है, बाकी सब 'वेस्ट' है। बाजार ही श्रेष्ठता का निर्धारक है और जो बाजार में नहीं है वह धीरे-धीरे अदृश्यमान हो जाता है। स्वाभाविक रूप से बाजार उस लेखक को अस्वीकार कर देता है। बाजार में चलने के लिए भावनाओं तथा विचारों को बिकाऊ शिल्प में होना अनिवार्य है। अत: साहित्य के संचार माध्यमों के पुरोधा जिस कृति अथवा कृतिकार पर हाथ रख देते हैं वह न केवल रातों-रात प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं वरन् पुरस्कारों से सम्मानित होते हैं। ('दि गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' इसका ज्वलंत उदाहरण है।') आज लेखक इस तथ्य को भली-भांति समझ गये हैं कि साहित्य साधना तथा उत्कृष्ट कोटि का सृजन उन्हें न तो धन दिला सकता है और न ही कालजयी बना सकता है। प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए उन्हें मंचों से तथा पुरस्कार प्राप्त करने के लिए बाजार से जुड़ना पड़ेगा। शायद यह इसी का परिणाम है कि प्राय: जितने लेखक हैं उतने मंच बनते जा रहे हैं। इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए मुद्रा राक्षस ने कहा कि ''साहित्य में यही वह समय है जब मनुष्य की ऐतिहासिक अवमानना से असम्पृक्त और सुखासीन समाज की खुशियों के लिए लिखने वाले लोग इनसेस्ट (Incest) के वर्णनों में जुटे। वस्तुत: ये वर्णन रचना की सफलता की गारंटी भी बने। इस प्रकार कविता भी वस्तु में परिवर्तित हो गई।

कविता के वस्तु में परिवर्तित करने से पूंजीवादी वर्ग को दो लाभ होते हैं - ''एक आर्थिक दूसरा विचारात्मक-स्वाभाविक बात हैं वस्तु का रूप कविता तब ही धारण करेगी जब पूंजीवादी पैदावार के अनुरूप होगी और कवि पूंजीपति वर्ग की चेतना या विचारधारा का प्रसारक बनेगा। इस प्रकार लाभ भी होता है और अपनी विचारधारा की अफीम से लोगों को सुलाया भी जाता है। इसी बात को एडोल्फ सांचेज व्हैक्विज ने इस प्रकार कहा है - ''जैसा कि हमने संकेत किया है पूंजीवाद की ऐतिहासिक प्रवृत्ति लोगों को कलात्मक सृजन के क्षेत्र से हटाकर उसे कलात्मक उप उत्पादन के उपभोक्ता तक सीमित कर देना है।''

उपर्युक्त विवेचन उपभोक्तामूलक संस्कृति के आशय तथा स्वरूप को स्पष्ट करता है। निष्कर्षत: उपभोक्ता मूलक संस्कृति के निम्न बिन्दु हमारे सामने स्पष्ट होते हैं -

1. उपभोक्तामूलक संस्कृति ने मनुष्य को वस्तु के रूप में परिवर्तित कर दिया है।
2. उपभोक्तामूलक संस्कृति ने परिवार को बाजार में बदल दिया है। आज पारिवारिक संबंध भावमूलक न होकर अर्थ मूलक हो गये हैं।
3. मनुष्य बाजारवाद के इस दौर में अपनी क्रय क्षमता द्वारा आत्म प्रदर्शन कर रहा है।
4. मार्क्सवाद के द्वारा लठियाया गया पूंजीवाद आज बाजार के माध्यम से पुन: प्रश्रय पा गया है।
5. उपभोक्तामूलक संस्कृति ने अर्थ को प्रश्रय देकर संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अमानवीय बना दिया है।
6. मूल्य आधारित उच्चादर्श युक्त संस्कृति का उपभोक्तावाद ने विनाश कर एक ऐसी संस्कृति का निर्माण किया है जिसे निर्विवाद रूप से सभी विद्वान् अपसंस्कृति कहकर पुकारते हैं और जिसका सर्वाधिक कुप्रभाव परिवार जैसी आधारभूत इकाई पर पड़ा है।
7. अर्थ के अतिशय महत्त्व ने आज आस्था, दया, करूणा, प्रेम, विश्वास आदि मूल्यों को मनुष्य जीवन से विलग कर मूल्यहीनता को प्रश्रय दिया है।
8. उपभोक्तावाद ने साहित्य का भी बाजारीकरण कर दिया है, फलत: साहित्य कालजयी के स्थान पर अर्थजयी हो गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

सहायक ग्रन्थ :

1. दुर्ग द्वार पर दस्तक : कात्यायनी, परिकल्पना, लखनऊ, द्वि.सं. 1998.
2. सबके साथ चलते हुए भी : राजेन्द्र टोकी, अमन प्रकाशन, हिसार, प्र.स. 1996.
3. Art and Society : Adolfo Sanchez Vasquez, Monthly Review Press, New York, 1973
4. Introducing Literary Theories a Guide and Glossary : Julian Walfreys (Ed.) Endinburg University Press. Endinburg, 2001

पत्रिकायें :

1. आलोचना : अक्टूबर-दिसम्बर, 2000.
2. आलोचना : जनवरी-मार्च, 2001.
3. कदम : अप्रैल-अक्टूबर, 1988.
4. कथाक्रम : जनवरी-मार्च, 2002.
5. पश्यन्ती : जनवरी-मार्च, 1994.

शब्दकोश :

1. आधुनिक हिन्दी शब्द कोष (संपादन : गोविन्द चातक)
2. Colins Cobuild : English Language Dictionary.
3. The Fontana Dictionary of Modern Thought.

काँटों से नेह लगाने वालों को...........

- महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी

काँटों से नेह लगाने वालों को,
नहीं फूलों के हार मिला करते हैं।
तूफानों से टकराने वालों को,
नहीं कूल-कगार मिला करते हैं।।

जो बने रहनुमा जग भर के साथी।
उनको तपना पड़ता है जीवन में।
दुनियाँ की पीर मिटाने वालों को,
नहीं सुख-आधार मिला करते हैं।।

क्यों अधीर हो उठे आज परवानों।
कुछ तो धीरज को बाँधों।।
उपवन में रंगत लाने वालों को,
कडुवे-मीठे व्यवहार मिला करते हैं।

कब तक दासत्व तुम्हे बांधेगा,
युग करवट लेता ही रहता है।
हर दिल की पीर हटाने वालों को,
नहीं दर-दर से प्यार मिला करते हैं।।

जिनको केवल निज कर्म सदा प्यारा है,
जो तुच्छ 'कीर्ति के कागज' नहीं है पाते।
ऐसे अस्तित्व मिटाने वालों को,
नादान मनुज दुत्कार दिया करते हैं।।

पाषाणों में गति देने वालों को।
कंकालों में ज्वाला भरने वालों को।
प्रतिकूल धार से लड़ने वालों को,
नहीं हर पथ आसान मिला करते हैं।।

ऐ ! 'नीर' बगावत कैसी,
कैसा माली से झगड़ा।
दुनिया में कुछ करने वालों को
नहीं सदा सत्कार मिला करते हैं।।

Caste Conflict in Bhabani's He Who Rides a Tiger

Dr. Manjusha Kaushik
Lecturer in English
Kanya Gurukul
Mahavidyalaya Hardwar

Bhabani Bhattacharya is one of the greatest Indo-Anglian novelists of India. He established himself as a translator, historian, biographer and a novelist. Indian history plays a dominant role in his novels. He belongs to the generation of R.K. Narayana, Raja Rao and Mulk Raj Anand. His novels have a basis of some significant events or phases of our national and political life. In the novels ***He Who Rides a Tiger*** he depicts the conditions of the lower class people of the Indian socitey.

Bhattacharya's ***'He Who Rides a Tiger'*** concerns with the theme of poverty, hunger, humilaiation and corruption in men and soicial set up. But specifically it is an attack on the social reality of caste system. The famine also plays a significant role in the novel. It invites the selfish person to come on the stage to exploit the feeling of suffering humanity. They hoard the grains and create a artificial scarcity.

The result of this scarcity invoke people move to the city in search of food for their livelihood. Here is a very good ecpression of the hungry people-

"Hungry we die.........Give us a few grains of food Baba.......give a ride for the great city." (Bhattacharya, 75)

The novel unfolds the life history of Kalo's hunger and his revenge on the society. Hunger can compel a man to accept the wrong path. And it is visible in kalo. He has a strong belief in the traditional values of life. "roots were deep in the age riched soil of his own caste." (Sorot, 35) He is proud of his caste of Kamar. But he never blame God that he has shaped his as such. He is an honest man devoted to his profession. He believes in the sincerity of work. But some unhappy incident occurs in his life and he is imprisoned only for a petty offence. He was hungry and steals some bananas and is kept in prison. So from here he losses his faith in this false set up of socitey. Social protest is not new in India. It is a product of the 19th century. Indians are against the British policy. In every age there is a need of one man who can inspire and mould the personality and thinking of the people.

From here the stroy begins, Kalo has a daughter named Chandra lekha and

he wants to give her better education so that she can immortalize the name of Kamar family, But she is unwelcomed by the girls of upper class. They humaliated her by addressing "Smithman's daughter, What's your fee to mend a leaking bucker" (Bhattacharya, 8) It gives humiliation to Lekha as well as her father. He does not like the bahaviour of upper class girls. So he decides to give her better education in every circumstances of life. And to achieve this goal he is ready to violate the established norms and rules of life. He says God has given us same blood in our veins then why is this discrimination. I will not tolerate it. he is agitated because Lekha is all in all for him. Except lekha there is no other motto of his life. So he planned to adopt the Brahaminism and exploits the feeling of upper class society people.

These two incidents transform the life of Kalo. One is humiliation of Lekha and other is imprisonment of Kalo for a petty offence. The theme of hunger also plays a dominant role in it. When Kalo was hungry he is temped to steal some bananas. Because of this primer offence he is arrested. He requests the judge but he is not ready to parden him and he announces three months imprisonment. He asks a question to himself that here isa person sentenced only for stealing a banana. In today's time everybody is living only gor himself nobody cares for others.

When he was in jail he met with B-10. Both have established a bond of friendship. And this friendship lasts till the end.

The background of the novel is mainly concerned with economic and social sphere. Economic factors are also responsible for the progress of Lekha. A study of kalo's character shows that he goes different from his former self. In the first part he is a simple man. He believes in hard work but when the circumstances are not favourable he is totally changed. he wants to demolish all the conventional beliefs from the society. Kalo is not a selfish man. he accepts Brahmanism only because he wants to achieve the higher status like others and with the weapon of Brahminism he want to take revenge from the society. He has not only an idea to gain his mission but also proves power, strength and courage to achieve it. Father and the daughter fough not for personal profit but for the welfare of common humainity. ***He Who Rides A Tiger*** means when Kalo accepts the role of a Brahmin and experience it and his Riding and dismounting means the acceptance and rejection. Acceptance of the role of a Brahmin, and rejection to realize his true self, Kalo is the projection of Bhabani Bhattacharya himself. The novelist has a positive vision of life. So in the light of positivism we study the character of

Kalo. He has power, strenght and courage to overcome his difficulties of life. Kalo in some extents resembles Bhaka in Untouchable, Moorthy in Kanthapura, Raju in Guide. They have got the humiliation by night born Hindus. He suffers with the problem of identity. His problem is not physical but social. A man is responsible for the creation of caste, if he wants he can reject it easily.

The novel was written at such a time when India was making attempts to acquire a new social order and achieves a new enlightened outlook of life. The story of the novel is completely based upon the emotion and agitation. The whole story is concerned with two characters kalo and Chandra Lekha. Society is made of different people so there is a possibility os some evil in it. An individual is the puppet in the hands of God.

This novel can be interpreted on three lower political, economics and social. The Quit India Movement and hunger strike is related to political, imprisonment for a minor crime is related to economic field, and the Bengal famine of 1943 concerns with unequal distribution of necessities in Social sphere. It depicts the contemporary Indian life which is full of superstitious beliefs and the problem of casteism. The hero of the novel is Kalo who protests against the rich people of society. Riches can give him respect as well money also. So he decides to adopt the role of a Brahmin. In the name of religion he exploits the feeling of the people. Superstitious feeling player a dominant role in the society. Now religion has lost its ancient glory. It is changed into a spiritual trade where people try to puchase spirituality in the market.

"The temple is a market and the priest a dealer. People are always ready to pay well for feeding the inner man." (Raizada, 90)

Today everybody is superstitious. So they are easily ready to pour all money and material in the name of religion. There is a famous saying if you want to give up your sins you can donate some part of your income on the name of God and God will definitely excuse you. So in a mysterious way he disguises himself as a Brahmin. He challenges the established codes of life. He has a belief that a person should be treated according his virtues not on the basis of caste. Otherwise the feeling of partiality makes o goodman bad in the eye of others Accepting the role of a Brahmin he tries to change himself in the guise of a modern man.

The caste system is very prominent in the Indian society. When the novelist comes in contact with it, he wants to change the mentality of the people. Most of the Indian leaders started the national movement to uproot the system.

"It was the effort of greatman of India like Vivakananda, Paramhansa etc., who had tried,their best ot save India from the clutches of cor rupt people. Kalo, the hero believes in the theory of Ramakrishna Paramhansa, who was a saintly person. He did not believes in caste system or in caste differentiation. He emphasized that there were many roads to reach God and that service of man was the service of God, for man was the embodiments of God." (Chandra, 173)

Kalo believes in the theory of Ramkrishna of Vivekananda who were great humanists. They were shocked by the poverty, misery and suffering of the common people. He believes in the preachings of Vivekananda. He also gives emphasis on the ideas professed by him.

"The only God in whom I believe, the sum total of all souls, and above all, my God the wicked, my God the afflicted, my God the poor of all races." (Chandra, 174-75)

To the educated Indians, he said-

"So long as the millions live in hunger and ignorance, I hold every man a traiter, who having been educated at thier expense, pays not the least hold to them." (174)

Society is responsible to ruin the poor persons completely. Although he is a puppet in the hand of God but has the power to violate all the established order of the time. One thing has changed the character of Kalo, the miserable condition of his daughter. So he wants to spread the news that after sometimes Lord Shiva will come on the Earth. A temple should be built on a particular place. And he adopts the false name Manhal Adhikari to exploit others, specially the upper class people. When kalo disillusioned about the social system or social justice he decides to take revenge. He denies the old values of life. He says-

"His battle with the accuser, the centuries old tradition, from which had come the inner climate of his being..................Kalo had not only to deny but to eradicate the values by which he had been bred. He had to cut his social taproot and give up his inheritance." (Bhattacharya, 71)

In this society if a person wants to lead a peaceful life with honesty nobody will allow him pass his life in a comfortable way. But when he adopts the false profession of a priest people consider him a great man. Kalo is not against the established norms of society, he is not anti-social. But circumstances prove critical

to him. For the sake of his daughter he adopts the false profession. But we connot say that he is a dishonest man. Although he accepts the Brahmanism but he remains at least the simple blacksmith of Jharna. he gives the permission to a destitute boy Vishwanath to enter into his own house. It proves the love for others or needy ones.

Although Kalo is playing the role of Mangal Adhikari but the feeling of Kamar always haunts him. The conflict has two shapes internal as well as external. The novelist presents an external war between the two the conscious or the outerself, and the uncoscious or the innerself. This kind of conflict is completely a personal experience of Modern man. Chandra Lekha does not like the false adaptation of her father. She tries her level best that her father should realize the mistake he has committed. So for a moment he decides to disclose his identity to others. The voice of heart is the true voice of a man. A man should believe on his voice. When he accepts Brahminism, his inner soul always haunts him, you have done a wrong, you are doing wrong. There is a struggle between the two man kalo and Mangal Adhikari. When he was kalo he was neglected by others but when he is playing the role of Mangal Adhikari he is accepted by everyone. Lekha is trying a lot to disclose her own personality and for it she stakes her life. This only factor pressed him to realise his mistake.

"He was riding a tiger and could not dismount. He had sar astraddle, half resigned but helpless, while the beast prowled or raced at will. Yet even as he rode, he had been aware all the time that there was no way but to kill the tiger. The idea of giving up ease, comfort, security for the hard living in Jharna town had frightened him. It had made me feel feeble and legs had pressed against the flanks of his mount, tight ening his seat. But the need to kill the tiger grew because of a strength in him, a strength he had never known before. It was the strength which comes of seeing people, as they are..........." (Shimer, 53)

The novel is not only a depiction of the misery of poor and downtrodden but also the selfishness or cruelity of the rich and the upper class people. The protogonists of Bhattacharya don't think about personal profit and gains. They are symbols of certain beliefs.

In Bhattacharya's novels, the hungry masses do not remember caste, creed, touchability or untouchability. They only demand for food to eat from dirty places, they take shelter on footpaths and projects the cruelty of selfish monsters without considering the ideas of religion or caste. Their motto of life is to find food, peace and equality because casteism and greed are like the dangerous

diseases of the social body. It can canker the Indian society. They are able to spoil the charm and the glory of India.

Kalo is a man who wants to give freedom to all sections of society. Lekha's character is very important. She discloses the identity of her father, after playing the role as a Brahmin. He realises the futility of his disguise. On the urge of his daughter he is ready to disclose the reality to others. Because he adopts the Brahmanism only to expose the cruelty and selfishness of the rich. He takes off the mask only to highlight the villainy of the exploiters. But in this game he has lost his peace of mind. In the last he decides to come in his own original form, the form of Kamar.

It happens only from the efforts of Lekha. At last she also realizes this fact-

"Her father and she fight, not against corrupt and wicked individual, but against the society that make them so." (Sharma, 200)

Vishwanath and Biten also play a dominant role in this novel, step by step they guide him. They tell him what is wrong and what is right. What shoud he do. kalo also realizes the importance of both in his life. At last he selects Biten for his son-in-law a suitable match for his daughter.

In some extent we can co-relate the character of Kalo with Gandhi. Although he adopts the bad means for fine things. But inwordly he is a good man. In the last he is able to disclose his own identity. *"Gandhian ideology encompasses the whole garmunt of human existance. It consists of six major concepts, according to one eminent Gandhian. There are Satya, Ahinsa, Satyagraha, Swedeshi, Sarvadharma, Smantava and Sarvatra Bhayavarjana."* (Bhatnagar, 30)

Through this novel the novelist wants to depict the fact that caste system can destroy the inborn quality of a man. Although we are modern but our mentality is busy to think over the matter of caste consciousness. Our political leaders as well as some prominent persons are trying to come out of the bondage of caste and creed. But we should come to know that virtues, qualities, goodness and truthfulness can't be associated with some particular caste. They can be found in any class or society. So how we can say that upper caste Hindus have more power and strength than lower class people. It is only a feeling of the heart otherwise every man has the same blood in his veins. Whether he is a Hindu or Muslim. Bhattacharya proves that all men are equal. There should be no discrimination in the name of religion. Otherwise we will suffer in the same

manner as Kalo in this novel. And society compelled him to accept the path pf evil. Kalo's life stroy is an expression of the novelist's conviction in a positive and enlightened view of life. A lower caste man has such a tremendous power to upset the old established order of society. Some explanation could be seen in Meenakshi Mukherjee's view that "the uneducated blacksmith could not be expected to possess the intellecutual strength to accepts his rooltessness, as did Biten who had renounced his Brahminism in order to belong to the downtrodden. Kalo had upset and challenged the old social order by investing himself with Brahminhood and rising to the top. Instead of undermining society, he had become a part of it." (Kaushik,132) He has power, strength and courage in the critical circumstances of life. The novelist presents his victory over society. In the last when kalo has won the game of tiger Biten also very happy over the victory of Kalo. He says in these words-

".............You have triumphed over those others-and over yourself. What you have done just now will steel the spirit of hundreds and thousands of us. Your story will be a legend of freedom, a legend to inspire and awaken." (Sharma, 201)

References

1- Bhattacharya Bhabani. ***He Who Rides A Tiger***
New Delhi Arnold Heinemann, 1977.

2- Bhatnagra, M.K. ***Political Consciousness in Indian English Writing***
New Delhi: Bahri Publication, 1991.

3- Chandra, Bipin. ***Modern India***
New Delhi: National council of Educational Research and Training, 1990.

4- Raizada, Harish. "Fiction as Allegory: Novels of Bhabani Bhattacharya" in ***Perpectives on Bhabani Bhattacharya,*** edited, by Ramesh K. Srivastava
Ghaziabad: Vimal Prakashan, 1982.

5- Sorot, Balram s. ***The Novels of Bhabani Bhattacharya***
New Delhi: Prestige Books, 1991.

6- Shimer, Dorothy Blair ***Bhabani Bhattdcharya***
Bosten: Twayne Publishers, 1975.

7- Sharma, K.K. ***Bhabani Bhattacharya: His Vision And Themes***
New Delhi: Abhinav Publications, 1979.

PARENT - CHILD RELATIONSHIP AND ITS DETERMINANTS

** Dr. VIKRAM SINGH, ** AJEET SINGH TOMAR*

Children's attitudes towards thier parents are an interesting and highly significant consequence of child-rearing antecedents. These attitude tend to generalize across the social spectrum. The boy who develops resentment and hostility towards his father tends to resent during later life any male who symbolize authority: the "boss", the policeman, the judge, and so on. Positive emotional attachment to parents seems a necessary antecedent of the acceptance and interiorization of parental attitudes and values. People tend to see their own behaviour tendencies and personality traits in poeple whom they like (Lundy, 1958[1], Lundy, et. al, 1955[2]). Boys who perceive themselves as being highly similar to their fathers tend to show the most favourable personal and social adjustment (Gray, 1959)[3], and less anxiety (Lazowick, 1955)[4].

Harris and Tseng (1957)[5] found that boys and girls hold generally favourable attitudes towards their parents in this culture. Mothers are regarded somewhat more positively than fathers; however girls display a pronounced increase in positive attitudes towards fathers as they grow favorable attitudes towards parents (Nakamura, 1959)[6]. Children's who receive the most warmth and affection from their parents develop the strongest needs for warm personal relations in adult's life (Schutz, 1958)[7] Boys who perceive thier parents as low in love and authority on the Parental Authority-Love Statement test (PALS) are more likely to have delinquency records than boys with high evaluations of their parents in these areas. Children who perceive thier parents as placing reasonable and non-threatening controls on thier range of activities (as measured by the Hawkes Lewis scale of parental control) tend to indicate fewer adjustment difficulties within the home environment (Hawker, Burchinal, and Gardner, 1957)[8]. All of these research findings seem to support the generalization that socialization and wholesome psychological growth are positively correlated with children's attitudes that their parents are affectionately concerned in a sympathetic manner and are trying to guide them towards fairly specific goals of acceptable behaviour.

Harris, Rose and Valasek (1954)[9] and Harris, Rose, Clark and Valasek (1955)[10] have shown in a very definitive fashion that resposibility in children is fostered when they pereceive their parents as being constructibely oriented toward them. Responsibility in children is definitely not associated with assignment of home duties. It would appear that responsibility in children is a by-product of favourable personal and emotional relationship between parents and children.

Lafore (1945)[11] Classified parents into four groups which is following.

1. **DICTATORS:** Parents who usually made a dictatorial approach with emphasis an authority and obedience.

2. **COOPERATORS :** Parents who were predominantly friendly, who seems to deal with the child on a basis of mutual respect and who appreared to feel that if things could be explained, and if there could be joint action, unquestioning obedience was not necessary.

3. **TEMPORIZERS :** Parents whose approach seemed to be preponder antly "Situational". These parents followed to consistent pattern of bahaviour, but seemed to fall into one situation after another., if the situation was pleasant the parent was pleasant, if the situation got out of hand the parent became confused, without seeming to know what one should do, what she had done, or what she should do.

4. **APPEASERS :** Parents whose approach was predominantly conciliatory and who seemed somewhat afraid of the child, as though he was in control These parents tended to avoid issues and tried to circumvent problems that arose. Their apparent aim was to prevent troble rather than to face an issue.

Optimal child-rearing practices shoud help the child to develop social needs,which are in harmony with the major social values of his culture. They should further help him to acquire the necessary perceptual-response skills for satisfying his social needs in a culturally acceptable manner.

Other things being equal, the following conditions appear conducive to wholesome personality growth in our culture.

1. Environmental factors that promote optimal physical growth and health, adequate nutrition, opportunities for rest and relaxation, protection from debilitating diseases and physical injuries.
2. Environmental factors that promote optimal perceptual-motor, intellectual and social skills; abundant learning opportunities when the child is maturationally and experientially ready for them, social stimulation to realize his potentialities for further growth, appropriate guidance for his learnine efforts, opportunities to make mistake and profit from them.
3. Environmental factors that promote optimal emotional stability : a secure home in which affectional bonds can be permanently established, consistant methods of discipline and socialization, opportunities for the release of

emotional tensions through : "man-to-man" talks and the like, parental acceptance of the child as a personality in his own right.

4. Environmental factors that promote social acceptable values: parents provide reasonably acceptable models by thier own behaviour, approval and disapproval used in an intelligent and consistant manner to reflect the personal-social values of the home and the larger community, opportunities for the child to participate in the activities of various agencies and institutions designed to transmit social values (school, church, youth groups, and the like).
5. Environmental factors that promote initiative, planfulness, flexibility, self-responsibility, and self-understanding : Freedom to explore, premissive atitudes in the home, democratic structure in sub-groups to which the child belongs, encouragement to examine his needs, purpose and potentialities for further growth.

DETERMINANTS OF PARENT-CHILD RELATIONSHIP

There are many factors, which determine the parent-child relationship. Some of these factors are as follows:

PARENTAL ATTITUDE: The parental attitude plays a great role in the parent-child relationship. Many times it is found that the parents make an attitude towards their child before his birth. Consequently, the parents want to make him or her according to their paln or wish and if the child has no interest in that field, the situation becomes worse. Some parents have a tendency of over-protection for their children. If such tendency goes for a long, surely it creates some ill-symptoms in children like restlessness, excitement, over-sensitivity, lack of concentration, dependence on others, to be easily impressed with others, lack of self-reliance.

On the other hand, there are some parents who ignore their children or have a tendency of rejection for them. Bacause of that their (children's) self-respect is hurt. Consequently, many habits are cultivated as aggressiveness, cruelty, telling a lie, mal-adjustment, Anti-social, behaviour, a feeling of insecurity, and many other complexes.

PARENTAL FAVOURITISM: Most of the parents do not behave their children equally. That is to say, they love or like some children more than they love other children. The degree of thier love is not the same for every one of them. Often, it is found that mother favours the son and the father favours the daughter. And the mother loves her first issue more than the rest. The father's affection to adopted child is greater than the mother's.

FAMILY SIZE: At present the nuclear family is more popular than the joint family. The adopted child has to face a lot of harassment in a joint family because the members, other than his parents, do not have a very congenial outlook towards them, rather they have a feeling of despise for the children. Simultaneously, the adopting parents also have to face many problems.

PARENTAL OCCUPATION: The parental occupation is directly related to the personality development of the children. At adolescent stag, the social prestige of the children, up to large extent, is determined by thier father's occupation. Because mostly children's enter in the society at this stage and often, it is seen that those children, who feel degraded in disclosing thier father's occupation, have anti-feelings towards their father. As a result, there is much probability to be spoiled the parent-child relationship.

SEX: A country like India, the children is distinguished on the basis of their sex. The male child is always given priority in the process of adaptation. A very few benevolent couples are desirous to take a daughter. Otherwise all the couples prefer the male child. Often it is seen that if the adopted child is boy, he gets sufficient love and care in the family just like their own child but if the adopted child is daughter, she is not easily accepted and cared by the mother. As a result, there is much possibility to spoil the mother-child relationship. In a family, where two children of different sex are adopted, the boy is provided full facilities for high education and the girl is given only general education, rather she is oriented to household duties.

PREFERENCE FOR ONE PARENT: This fact has come to notice that the child, sometimes, prefers either mother or father. That is to say, he or she has high notions for only either of them. It might be because of some individual difference in father or mother, it totally depends on the perception of the child. But when it is obvious to father or mother that he or she is given less importance, the possibility to tense the parent-child tense the parent-child relationship is increased. In a number of studies it is found out that the adopted child prefers either of parents for the following reasons :

(i) If one parent spends more time with the child and other less, then surely the child prefers the parents who spends much time with him.

(ii) The child prefers the parent who is amicable and frank with him.

(iii) The child prefers the parent who cares mush for him.

(iv) The child does not prefer the parent who is very strict with him and give the punishment.

(v) The child does not prefer the parent who has over-expectations from him.

(vi) The child prefers the parent who favours him.

(vii) The child prefers the parent who is more ideal.

REFERENCE:

1. Lundy, R.M.(1958) : Self perception regarding masculinity femininity and descriptions of same and opposite sex socio-metric choice, Sociometry, 21, 238-246.
2. Lundy, R.M., Katkovsky, W., Cromwell, R.L. and Shoemarker, D.J. (1955) : Self acceptability and description of sociometric choice. *Journal of abnormal and social psychology,* 51, 260-262.
3. Gray, S.W. (1959) : Perceived similarity to parents in adjustment child Development, 30, 91-107.
4. Lazowick. L.M. (1955) : On the name of identification. *Journal of abnormal and social psychology,* 51, 175-183
5. Harris, D.B. and Tseng, S.C. (1957) : Children's attitudes towards peers and parents as revealed by sentence completion. *Child Development,* 7, 200-226.
6. Nakamura, C.Y. (1959) : The relationship between children's expression of hostility and methods of discipline exercised by dominant overprotective parents. *Child Development*, 30, 109-117
7. Schutz. W.C. (1958) : FIRO: a three-dimensional theory of interpersonal behaviour. New York: Rinehart.
8. Hawker, G.R., Burchinal, L.G. and Gardner, B. (1957) : measurement of preadolescents views of family control of behaviour. *Child Develop ment,* 28, 387-392.
9. Valasek (1934) : Changing economic and social influences on family involvement. Topics in Early Childhood Special Education; Vol 8(1): 48-59. US: PRO-ED.
10. Harris, Rose, Clark and Valasek (1955): 'The relationship of children's home duties to an attitude of responsibility'. *J.Child Development.*, 25, 1 0 3 - 109.
11. Lafore, G.G. (1945) : Practice of Parents in dealing with personal children. *Child Development monographs*, 31. N.Y.: Teachers College Columbia University, 156, 159-160, 37.

**** Deptt. Of Psychology, G.K. University Hardwar***

***** Research Scholar Deptt. Of Psychology, G.K. University Hardwar***

रजि० पंजीकरण सं० : एल-1277

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

मई - जून - जौलाई 2005

सम्पादक

डॉ. महावीर
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग
अध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक मण्डल

संरक्षक मण्डल — **श्री सुदर्शन शर्मा**
कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सम्पादक — **डॉ. महावीर**
प्रोफेसर, एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग

सहसम्पादक — डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री, रीडर, वेदविभाग

सहसम्पादक — डॉ. सत्यदेव निगमालंकार, रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

व्यवसाय-प्रबन्धक — डॉ. जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक — प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य — १०० रुपये वार्षिक

विक्रमी सम्वत् — २०६२

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Swami Shraddhanand Ji
(1856-1926)

विश्वविद्यालय के नवनियुक्त परिद्रष्टा पदम्श्री श्री देवेन्द्र त्रिगुणा

माननीय कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार के दूसरे कार्यकाल प्राप्ति पर
अभिनन्दन करते हुए उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री

दूसरे कार्यकाल का कार्यारम्भ करने पर कुलपति जी का स्वागत करते हुए
कुलसचिव प्रो० ए०के० चोपड़ा

राजकीय महाविद्यालय कृष्णनगर, हरियाणा के दीक्षान्त समारोह पर मुख्य अतिथि के रूप में वि०वि० के उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री, प्रो० महावीर अग्रवाल एवं महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० अशोक शर्मा जी

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के यशस्वी चेयरमैन डॉ० अरुण निगवेकर का अभिनन्दन करते हुए कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार

विश्वविद्यालय के कुलाधिपति माननीय पं0 सुदर्शन शर्मा अपनी धर्मपत्नी एवं पूज्या माता श्रीमती राजरानी के साथ विश्वविद्यालय की पुण्यभूमि में यज्ञ करते हुए

वेदमञ्जरी

सोमः किं किं ददाति?

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥

ऋग् 1.91.20

ऋषिः गोतमः राहूगणः। **देवता** सोमः। **छन्दः** त्रिष्टुप्।

(सोमः) जगदीश्वरः (धेनुं) गां वाचं च, ददाति प्रयच्छति। (सोमः) जगदीश्वरः (आशुं) वेगवन्तम् (अर्वन्तं) अश्वं प्राणं च, ददाति प्रयच्छति। (सोमः) जगदीश्वरः (कर्मण्यं) कर्मतत्परं, (सादन्यं) ब्रह्मचर्यगृहस्थाद्याश्रमचतुष्टय निर्वाहकं, (विदथ्यं) यज्ञकुशलं युद्धकुशलं च, (सभेयं) सभ्यं, (पितृश्रवणं) पितृकुलस्य कीर्तिविस्तारकं (वीरं) वीरपुत्रं च (ददाति) प्रयच्छति। कस्मै? (यः) यः पूजकः (अस्मै) सोमाय जगदीश्वराय (ददाशत्) आत्मसमर्पणं करोति।

जगदीश्वरस्य सोमस्य समीपे अपरिमितैश्वर्याणां निधि वर्तते। असौ आध्यात्मिकैश्वर्याणामपि स्वामी विद्यते, आधिभौतिकैश्वर्याणां चापि कुबेरः। तेषामैश्वर्याणां स मुक्तहस्ताभ्यां सत्पात्रेषु दानं करोति। परं तदैश्वर्याणां प्राप्तेः कश्चिद् अधिकारी स्यात्, तदर्थं पूर्वं तेन स्वयमपि दानं कर्तुमावश्यकं भवति। एतद् दानमस्ति आत्मदानं, सर्वात्मना आत्मसमर्पणं वा। यः सोमाय जगदीश्वराय आत्मसमर्पणं विदधाति तेन स्वकीयोत्कर्षचिन्ता स्वयं न कुर्तमावश्यकी जायते। सोमो जगदीश्वरः स्वयं तदीय-योगक्षेमयोः उत्तरदायित्वं निर्वहति। आत्मसमर्पणस्तु प्रभुप्रेरणानुसारं कर्ममात्रं करोति, फलस्य चिन्तां स प्रभोरुपरि निक्षिपति। आत्मसमर्पकस्य लक्षणमिदं यत् फलप्राप्तिर्भवेन्न वा भवेत्, सद्यो भवेद् विलम्बेन वा भवेत्, स उद्विग्नो न जायते। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, फले च प्रभोरधिकारः' इति तस्य भावना संपद्यते। परं सोमो जगदीश्वरः स्वोत्तरदायित्वस्य निर्वहणं पूर्णतः करोति। असौ स्वपूजकम् अपारैश्वर्यस्य स्वामिनं विदधाति।

असौ तस्मै 'धेनुं' ददाति। धेनु शब्देन दोग्ध्री गौरपि गृह्यते, दोग्ध्री वाक् चापि। वाक्शक्तिः सत्यमेव कामधेनुर्विद्यते। व्यक्तवाक्त्वं मनुष्यस्यैव वैशिष्ट्यं, यदन्येषु प्राणिषु नास्ति। वागेव शिष्यं निखिलज्ञानविज्ञानपूर्णं करोति। छान्दोग्योपनिषदि महर्षिः सनत्कुमारो ब्रवीति- "वाग् वाव ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थ-मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां छत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्"। "यद् वै वाङ् नाम विष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयो

नाहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्वं विज्ञाययति" इति।

जगदीश्वरः सोमः स्वभक्ताय वेगवन्तम् अश्वं प्रयच्छति। अश्वः किल समस्तजीवनोपयोगिसाधनानां प्राणबलस्य च प्रतीकम्। जगदीश्वरः सोमः स्वात्मसमर्पकाय भक्ताय तादृशं वीरपुत्रं प्रयच्छति यो भाग्यवादी न प्रत्युत कर्मण्यो भवति, ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासानां चतुर्णामपि सदनानां निर्वाहको जायते, यज्ञकुशलः, आभ्यन्तरबाह्यसंग्राम विजेता, सभासंसदां सदस्यः, पितृकुलकीर्तिकरश्च भवति। कामं स एकः स्यात्, परं स्वकीयैर्गुणैः तारागणेषु चन्द्रवत् दीप्यते। आगच्छत, वयमपि सोमं जगदीश्वरं प्रति आत्मसमर्पणं कृत्वा विविधान्यैश्वर्याणि प्राप्नुयाम।

सम्पादकीय

कालचक्र सतत गतिमान रहता है। वह कभी रुकता नहीं, समय का अश्व द्रुतगति से दौड़ता रहता है, बुद्धिमान् और दूरदर्शी जन उस अश्व पर आरोहण कर पाते है। इस सन्दर्भ में वेद का निम्न मन्त्र चिन्तनयोग्य है-

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।

तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥.

अथर्व. १९/५३/१

अर्थात्- सात रस्सियों वाला, हजारों धुरों को चलाने वाला, कभी भी जीर्ण न होनेवाला, महाबली समयरूपी घोड़ा चल रहा है- संसार रथ को खींच रहा है। सब भुवन उसके द्वारा चक्रवत् घूम रहे है। उस घोड़े पर ज्ञानी और क्रान्तदर्शी लोग ही सवार होते है। ये क्रान्तदर्शी महापुरुष इतिहास के पन्नों पर अपने कर्त्तव्य की अमिट छाप अङ्कित कर जाते हैं, या यूँ कहें कि वे स्वयं इतिहास बनाते हैं। ये समाज राष्ट्र और विश्व के लिए प्रकाशस्तम्भ बनकर आने वाली पीढ़ियों का युगों-युगों तक मार्ग-दर्शन करते रहते हैं। ऐसे युग पुरुषों की गरिमामयी परम्परा में महर्षि दयानन्द सरस्वती, अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द, पं0 गुरुदत्त विद्यार्थी, रक्तसाक्षी पं0 लेखराम, महात्मा हँसराज, आदि मानवता के पुजारियों का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। **स्वामी दयानन्द** ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना कर संसार में व्याप्त अज्ञानान्धकार, पाखण्ड एवं अन्धविश्वासों को दूर कर उत्तम समाज निर्माण का मार्ग दिखाया, वेद भाष्य कर वैदिक ज्ञानालोक से प्रत्येक मानव के अन्तःकरण को आलोकित करने का महान् कार्य किया। सत्यार्थप्रकाश की रचना कर नीरक्षीर विवेकी दृष्टि प्रदान की। स्वराज्य, स्वभाषा और स्वसंस्कृति का उद्घोष कर श्यामजी कृष्ण वर्मा, महात्मा गोखले, लाला लाजपतराय, अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल सदृश असंख्य वीरों को भारत माता की परतन्त्रता की बेड़ियों को काटकर स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा करने की प्रेरणा दी। नारीजाति के लिए वेदाध्ययन एवं शिक्षा का द्वार खोलकर **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'** का प्राचीन उद्घोष साकार कर दिखाया।

महर्षि के शिष्य **स्वामी श्रद्धानन्द** ने गंगा के पावनतट पर कांगड़ी ग्राम के समीप 4 मार्च 1902 में गुरुकुल की स्थापना कर गुरु-शिष्य के पवित्रतम सम्बन्धों और चरित्र तथा श्रम की सुदृढ़ आधार शिला पर स्थित प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति का पुनरुद्धार कर शिक्षा क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति की थी। यह ऐसी क्रान्ति थी कि इसका प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्र के शैक्षिक, सामाजिक वातावरण में परिलक्षित होने लगा। गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. के प्रथम कुलपति स्वामी श्रद्धानन्द एवं अन्य आचार्यों ने उच्चतम आदर्शों एवं जीवनमूल्यों की जो परम्परा स्थापित की उसने देश की

चिन्तन-धारा को व्यापक रूप में प्रभावित किया। देशवासियों के अन्तःकरणों में स्वाभिमान एवं आत्मगौरव की उदात्त भावना जागृत हुई। सौ वर्षों की यात्रा में गुरुकुल कांगड़ी ने नया इतिहास बनाया। अनेक स्वनामधन्य महापुरुषों ने कुल-माता का गौरव बढ़ाने के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। इस ऐतिहासिक विश्वप्रसिद्ध शिक्षा संस्थान ने अनेक उतार चढ़ाव भी देखें किन्तु प्रत्येक परिस्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द के तप ने इसकी रक्षा की। वर्तमान में गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. के सर्वोच्च कुलाधिपति पद पर आर्यजगत् के भामाशाह, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के पूर्व प्रधान गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. के पूर्व कुलाधिपति परमश्रद्धेय स्व. पं0 हरबंसलाल जी के सुयोग्य पुत्र **पं० सुदर्शन शर्मा जी 'अनुव्रतः पितुः पुत्रः मात्रा भवतु सम्मनाः'** की उक्ति को चरितार्थ करते हुए प्रतिष्ठित है। परिद्रष्टा के गरिमामय पद को अप्रैल 2005 में विभूषित किया है **पद्म श्री देवेन्द्र त्रिगुणाजी** ने जो भारत की अनेक संस्थाओं के संरक्षक, मार्गदर्शक एवं प्रेरणास्रोत है। आयुर्वेद के मूर्धन्य विद्वान् हैं, सद्‌गुणों के निधान है।

गुरुकुल कांगड़ी वि. वि. के कुलपति **प्रो० स्वतंन्त्रकुमार जी** 3 वर्ष का एक कार्यकाल पूर्ण करके पुनः माननीय परिद्रष्टा जी द्वारा तीन वर्ष की सेवा के लिए प्रतिष्ठित किये गए है। प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ से अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करने वाले सहज, सरल, निरहंकार और दृढ़ संकल्प शील कुलपति जी के सुयोग्य मार्ग दर्शन में इस शिक्षण संस्था ने बहुत प्रगति की है। कुलवासियों को पूर्ण विश्वास है कि दूसरे कार्यकाल में प्रो0 स्वतन्त्र कुमार जी कुछ ऐसे अनुकरणीय श्रेष्ठ कार्य करेंगे जिससे विश्वविद्यालय सफलता के उच्च कीर्तिमान् स्थापित करेगा।

'आचार्य आचारं ग्राहयति' की उदात्त संकल्पना को साकार करने वाले संस्कृत साहित्य के मर्मज विज्ञान आचार्य **प्रो० वेदप्रकाश जी** वेद एवं यज्ञ की ज्योति निरन्तर प्रज्वलित कर रहे हैं।

विद्वान् प्राध्यापकों, कर्मचारियों एवं छात्रों के सहयोग से स्वामी श्रद्धानन्द की यह पवित्र शिक्षण संस्था निरन्तर प्रगति कर रही है।

आइये! हम सब भी कुलमाता की सेवा में अपनी विनम्र भावाञ्जलि श्रद्धापूर्वक अर्पित करें।

डॉ० महावीर

वेदों में विज्ञान के कुछ अद्भुत कारनामें

डॉ० रामनाथ वेदालंकार

विज्ञान मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक आवश्यकता है। हम संघर्षण द्वारा अग्नि अत्पन्न करते हैं, कोयले पर रोटी को फुलाते हैं, बारूद से पर्वत खण्डों को तोड़ते हैं, नल द्वारा पानी को ऊँचाई पर ले जाते हैं, कूप से पानी खींचने के लिए चरखी का उपयोग करते हैं, सिंचाई के लिए ढेंकली लगाते हैं, शीत में ऊनी वस्त्र पहनते हैं, पर्वत पर चढ़ते समय शरीर को झुका लेते हैं, इत्यादि हमारी छोटी-छोटी क्रियाओं में भी विज्ञान के नियम काम करते हैं, भले ही हमारा उनकी ओर ध्यान न जाता हो। मनुष्य विज्ञान कें बिना पंगु है। विज्ञान द्वारा ही वह हिंस्र जन्तुओं तथा शत्रुओं से रक्षार्थ शस्त्रास्त्रों का निर्माण करता है, शीघ्रता से स्थानान्तर पर पहुँचने के लिए यानों को रचता है, रुग्ण होने पर स्वास्थ्य-लाभ के उपायों का आविष्कार करता है, विविध विद्याओं की उन्नति के लिए यंत्र बनाता है, उपयोगी वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए कारखाने निर्मित करता है। वेदों में जिस प्रकार धार्मिक राजनीतिक आदि क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए प्रेरणाएं दी गयी है, उसी प्राकर वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगति के लिए भी वेद हमें प्रेरित करते हैं, यद्यपि इतना अवश्य है कि वेद की दृष्टि में विज्ञान का उपयोग जनकल्याण के लिए होना चाहिए। यहाँ हम वेदों में उल्लिखित कुछ वैज्ञानिक बातों की चर्चा करेंगे।

व्योमयानः- वेदों में व्योमयान से आकाश में उड़ने का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। ऋग्वेद में एक ऐसे रथ का वर्णन किया गया है, जिसमें न घोड़ा है, न लगाम है, जो तीन पहियों से चलता है तथा आकाश में भ्रमण करता है-

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो
रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः। ऋग्० ४/३६/१

एक अन्य स्थान पर सैनिकों को प्रेरणा की गई है कि तुम ऐसे व्योमयानों पर स्थित होकर पक्षियों के समान उड़ो, जो विद्युत् से चलते हों, जिनके विशाल पंख हों तथा जिनमें शस्त्रास्त्र एवं आवश्यक खाद्य-सामग्री निहित हो-

आ विद्यु न्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै
रथेभियात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा-
क्यो न पप्तता सुमायाः।। ऋग्० १/८८/१

ऋग्वेद के दशम मण्डल में कपोत नामक एक व्योमयान का वर्णन है, जैसे आज क व्यामयानों के नाम राजहंस आदि रख लिए जाते हैं। दूसरे देश का दूत होकर एक कपोत कि अन्य देश में पहुँचा है। उस देश के वासी उसका स्वागत करते हुए कहते हैं कि दूसरी भूमि दूत जो यह कपोत हमसे कुछ चाहता हुआ हमारी भूमि में आया है, उसका हम सत्कार करते हैं

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्

दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।

तस्या अर्चाम कृणवाम निष्कृर्ति

शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ऋग् १०/१६५/१

यह ठी वैसा ही प्रसंग है, जैसे हमारे पड़ौसी देश पाकिस्तान का कोई यान (यानारोही दल किन्हीं समस्याओं पर वार्तालाप करने के लिए हमारे देश में आये। जैसे इस मंत्र में पक्षिविशे कबूतर-वाची कपोत शब्द विमान के लिए प्रयुक्त किया है, वैसे ही अन्यंत्र पक्षिसामान्य-वाची 'वि शब्द आता है।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतलाम्।

वेद नावः समुद्रियः॥ ऋग्० १/२५/७

यहाँ वरुण की स्तुति में कहा गया है कि वह आकाश में उड़ने वाले विमानों तथा समु में चलने वाली नौकाओं को जानता है। नौकाओं की तुलना में पक्षिवाची 'वि' शब्द का विमान अ करने में ही अधिक औचित्य है।

जलयान- जलयान के प्रयोग का उपदेश देने के लिए वेद में 'अश्विनौ' द्वारा व्यापारी भुज्यु क समुद्र पार ले जाने का एक काल्पनिक कथानक मिलता है। तुग्र-एक राजा है, वह-अपने देश के व्यापारी भुज्यु तथा उसके साथियों को जलपोतों द्वारा देशान्तर में भेजता है। पोतचालक अश्वि निरन्तर तीन दिनरात जलयात्रा कराते हुए उन्हें सुरक्षित पार पहुँचा देते हैं-

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।

तमूहथुनौभिरात्मन्वतीभिः अन्तरक्षिप्रुद्भिरपोदकाभिः॥

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिब्रजद्भि र्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गः।

समुद्रस्य धन्वन्नार्द्र स्य पारे त्रिभी रथैः शतपदिभः षडश्वैः॥ ऋग्० १/११६/३/४

यहाँ नौकाओं या जलपोतों की विशेषता बताने वाले उनके कुछ विशेषण प्रयुक्त हैं। 'अन्तरिक्षप्रुद्' से सूचित होता है कि वे जलपोत बिना डूबे पानी के ऊपर-ऊपर चलते हैं। 'अपोदक' से आशय है कि उन पर पानी का प्रभाव नहीं होता, अर्थात् वे 'वाटरप्रूफ' हैं। वे पतंग हैं, अर्थात् वेग के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि वे पानी के ऊपर बड़े चले जा रहे हैं। वे शतपद

भी हैं, क्योंकि उनमें चलाने-रोकने आदि के लिए अनेक कलें लगी हुई है। छः इंजनों वाले होने के कारण वे षडश्‍व है। इस प्रसंग में आये तुग्र, भुज्यु एवं अश्विनी शब्द भी यौगिक है। राजा के अर्थ में आया तुम शब्द **'तुकि हिंसाबलादाननिकेतनेषु'** धातु से औणादिक रक् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इससे राजा का शत्रुहिंसक, बसी, संग्रहशील अनि होना सूचित होता है। 'भुज्यु' का अर्थ है भोग्य पदार्थों की इच्छा करने वाला, यहां इच्छा अर्थ में क्यच् प्रत्यय हुआ है। अश्विनी का अर्थ है अश्वों वाले या गति वाले अर्थात् चालक।

एक अन्य मंत्र में ऐसे यान का उल्लेख है जो पनडुब्बी की तरह समुद्र के अन्दर भी चल सकता है, तथा आवश्यकतानुसार पक्षी के समान आकाश में भी उड़ सकता है। इसे भी अश्विनी ने तुग्र के पुत्र भुज्यु के उपयोगी के लिए रच है-

युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवम्

आत्मन्वन्तं पक्षिणं तौऽग्र्या कम्।। ऋग् १/१८२/५

जल के घटक तत्व- आधुनिक विज्ञानवेत्ता प्रयोगशाला में परीक्षण करके दिखाते हैं कि जलघटक तत्त्व ओक्सिजन तथा हाइड्रोजन नामक दो गैसें हैं। उनमें विद्युद्धारा प्रवाहित करने से जल उत्पन्न हो जाता है, तथा विद्युत् द्वारा जल को फाड़ने पर वह उक्त गैसों में विभक्त हो जाता है। यह रहस्य निम्न वेदमंत्र में वर्णित है-

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।

धियं घृताचीं साधन्ता।। ऋग् १/२/७

इसमें उक्त दो गैसों को क्रमशः मित्र तथा वरुण नाम दिया गया है। जल के लिए घृत शब्द प्रयुक्त हुआ है- **घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चति कर्मणः, निरुक्त ७/२४।** अथर्ववेद में एक स्थान पर वर्षा को मित्र और वरुण से मिलकर बना हुआ कहा गया है- **न वर्षः मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति, अथर्व ५/१९/१५।** ऋग्वेद के एक मन्त्र में वसिष्ठ को मित्र एवं वरुण से उत्पन्न तथा उर्वशी के मन से अधिज़ात कहा है। यहाँ भी वसिष्ठ से वर्षा की बूँद से वर्षा की अभिप्रेत है, और मित्र-वरुण उक्त दो वायुएं तथा उर्वशी विद्युत् है-.

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ

उर्वश्या ब्रह्मन् मनसाऽधिजातः।। ऋग् ७/३३/११

वर्षा कराना- कभी-कभी वर्षा की महती आवश्यकता होने पर भी वर्षा नहीं होती, या तो बादल आ-आकर चले जाते हैं, या आते ही नहीं। ऐसी अवस्था में वर्षा कराने के उपायों का आविष्कार करने में वर्तमान विज्ञान संलग्न है। वैज्ञानिक ऐसे परीक्षण कर रहे है कि विमान द्वार ऊपर पहुँचकर आकाश में कुछ पदार्थ छिड़कने से बादलों को बरसाया जा सके। अभी यह कार्य असंभव तो नहीं, किन्तु अतिव्ययसाव्य समझा जा रहा है। परन्तु वेद में मन्त्र द्वारा कृत्रिमरूप से वर्षा कराने का स्पष्ट

उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के दृष्टिकाम सूक्त में देवापि आष्टिषेणा यज्ञ के वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा उत्तर समुद्र (आकाश) से अधर समुद्र की ओर जल बरसाने में सफल होता है-

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्-
देवापि देवसुमति चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमयो दिव्या
असृजद् वर्ष्या अभि॥ ऋग् १०/९८/५

अगले मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि आकाश में जल देवों द्वारा रुके हुए स्थित हैं, अर्थात् ऐसी परिस्थिति है कि बादल छाये हुए हैं, किन्तु वृष्टि नहीं होती, तब देवादि अपनी कला से उन्हें बरसा देता है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में अग्नि को सम्बोधन कर प्रचुर जलों को बरसा दो। आज भले ही इस विज्ञान से हम पूर्णतः परिचित न हों, पर वेद से प्रेरणा लेकर हम इस दिशा में प्रयोग कर प्रकृति पर विजय पा सकते हैं:

कृत्रिम टांग लगाना-रणभूमि में रात्रि में युद्ध करते-करते खेल योद्धा की पत्नी विश्पला की टांग कट कर गिर पड़ती है, जैसे पक्षी का पंख टूट कर गिर जाता है। खेल है ऐसा वीर जो संग्राम को क्रीड़ा समझता है। विश्पला का अर्थ है प्रजा का पालन करने में समर्थ वीरांगना। अश्विनी नामक चिकित्सा उसकी टूटी टांग के स्थान पर नई आयसी जंघा लगा देते हैं, जिससे वह आसानी से चल-फिर सकती है-

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा लेखस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥ ऋग् १/११६/१५

वृद्ध को तरुण बनाना- आजकल कुछ वैज्ञानिक ऐसी औषधि के आविष्कार में लगे हैं, जिससे वृद्ध को तरुण बनाना जा सके। वेद में इस विद्या का भी वर्णन मिलता है। अश्वी वैद्य एक जीर्ण शरीर वाले च्यवान को अपनी संजीवनी क्रियाओं से पुनःयुंवा कर देते है-

युवं च्यवानमश्विना जरन्तं
पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः॥ ऋग् १/११७/१३

ऋभुओं के सम्बन्ध में भी वेद ऐसी ही चर्चा करता है। वे वृद्ध माता-पिता को पुनः युवा बना देते है।

पुरुष सन्तान उत्पन्न करना- जिन स्त्रियों के कन्याएं ही उत्पन्न हैं, उनके लिए पुत्रोत्पत्ति का वेद में यह उपाय बताया गया है कि शमी-वृक्ष के ऊपर उगे हुए अश्वत्थ (पीपल) का वे सेवन करें। अब यह सेवन किस प्रकार, किस रूप में, किस समय किया जाये इसका अनुसन्धान करना भिषगाचार्यों का कार्य है।

शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि।। अथर्व ६/११/१

बूढ़ी वन्ध्या गाय को दुधारू करना- चिकित्सक 'अशिचनै-युगल' शयु ऋषि की बूढ़ी गाय को, जिसने दूध देना बन्द कर दिया है, फिर से दुधारू बना देते हैं-

अधेनुः दस्रा स्तर्यं विषक्ताम्।

अपिन्वतं शयवे अश्विना गाम्।। ऋ० १/११७/२०

ऋगु देवों में भी यह कौशल है कि वे चर्मावशेष गाय को हृदयपुत्र गाय में परिणत करके उसे बछड़े से संयुक्त कर देते हैं-

निश्चर्मण ऋमवो गामपिंशत

सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः।। ऋ० १/११०/८

सौर ऊर्जा से यान एवं यन्त्र चलाना- सौर ऊर्जा द्वारा विमानदि रथों एवं यन्त्रकलाओं को चलाये जाने का वर्णन भी वेदों में अनेक स्थलों में आता है, जिसमें पर्यावरण प्रदूषण की वर्तमान समस्या का समाधान निहित है।

अस्माकमूर्जा रथं पूष्टु अविषु माहिनः।

भुवद् वाजानां वृध इमं नः शृणवद्धवम्।। ऋ० १०/२६/९

अपनी सक्षक्ता ऊर्जा द्वारा महस् पूषा सूर्य हमारे रथादि यानों में प्रवेश करे। वह बल-वेशों का बढ़ाने वाला हो और ध्वनियन्त्र में प्रयुक्त होकर हमारे बोले गये शब्दों को सुनाने वाला भी हो (शृणवद् श्रावयद्, लुप्रणिच्क प्रयोग)।

युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति। ऋ० ६/४७/

त्वष्टा सूर्य अपनी किरणों से उत्पन्न विद्युतो को भूतान, जलयान एवं विमानों युक्त करता हुआ भूरि-भूरि चमक रहा है या यशस्वी हो रहा है।

इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते

युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।। ऋ० ६/४७/

अनेक रुपों वाला सूर्य अपनी ऊर्जाओं के साथ गति कर रहा है। इसकी हजार किरणें यन्त्रकलाओं में तथा विमानादि यानों में युक्त होती हैं।

मनुष्य के धड़ पर घोड़े के सिर का प्रत्यारोपण

ऋग्वेद प्रदम मण्डल के 116 वे सूक्त के एक मंत्र पर सायणाचार्य ने पूर्वप्रचलित एक आदव्यादिका दी है। इन्दु ने दध्यङ् ऋषि को प्रवर्ग्यविद्या और मधुविद्या का उपदेश देकर यह चेतावनी दी कि यदि तुम यह विद्या किसी अन्य को बताओगे तो तुम्हारा सिर काट दूंगा। अश्रिचन देव दध्यङ् से वह विद्या सीखना चाहते थे। वे उत्कृष्ट कोटि के शल्यचिकित्सक थे। अतः उन्होंने दध्यङ् ऋषि का असली सिर काट कर अलग सुरक्षित रख दिया और उसके बदले घोड़े का सिर लगा दिया। उसी घोड़े के सिर से दध्यङ् ने अश्रिवनों को वह विद्या बता दी। तब इन्द्र ने अपनी शर्त के अनुसार दध्यङ् का घोड़े वाला सिर काट दिया। अश्विनों ने दध्यङ् की ग्रीवा पर पुनः उसका असली सिर शलयकिया द्वारा प्रत्योरोपित कर दिया। कथा की विरूरत व्याख्या करने का यहाँ अवकाश नहीं है। ऋग्वेद् में वर्णित शल्यक्रिया द्वारा प्रत्योरोपित कर दिया। कथा की विरूरत व्याख्या करने का यहां अवकाश नहीं है। ऋग्वेद् में वर्णित शल्यक्रियाविज्ञान कितना अभत है, यही दिखाना यहां प्रयोजन है। मन्त्र में भी देखिए-

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।।

द्ध्यङ्ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदी मुवाच।। ऋ०१/११६/१

अर्थात् हे शल्यक्रिया के विशेषज्ञ नेता अश्रिवनो, मैं तुम्हारी एक करामात को प्रकट करने लगा है, जैसे बिजली दृष्टि को प्रकट करती है। वह करामात यह है कि तुमने आथर्वण दध्यङ् ऋषि के कन्धों पर घोड़े का सिर लगा दिया था, जिसे सिर से उसने तुम्हें मधु विद्या कही थी।

तीन टुकड़ों में खण्डित शरीर को पुनः जोड़ना

ऋषि पूर्ण स्वस्थ है, खूब चलता-फिरता, दौड़ता-भागता है (श्यैङ् गतौ)। प्रभु उसके शरीर के तीन टुकड़े कर देते है। राजकीय शल्यचिकित्सक (दैव्यौ भिषजौ) अश्रिव-युगल तीन टुकड़ों में विभज्य उसके शरीर को सीकर पुनः चलने-फिरने योग्य बना देते हैं।

त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू। ऋ०१/११७/२४

आग-भरे बम के गोले

स्वयं युद्ध की विभीषिका उत्पन्न करने के लिए नहीं, किन्तु शत्रु यदि युद्ध पर उतारू होता है तो शान्ति-रक्षार्थ वेद भारक शस्भास्भ बनाने की प्रेरणा करता है।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्परि

अग्नितदोभि र्युवमश्महन्यभिः।। ऋ० ७/१०४/५

इन्द्र और सोम को संबोधन किया गया है। इन्द्र है वीर और सोम है शान्ति का उपासक। "है इन्द्र और सोम, तुम आगभरे बम के गोलों द्वारा आकाश से प्रहार करों।।" यहां बम के गोलों के लिए 'अश्महनमम्' का प्रयोग है और उसका विशेषण है 'अग्नितहा' अर्थात् आग से तथा हुआ

या जिसमें अग्निताय की विस्फोटक सामग्री का वर्णन है, जो आकाश से, पृथिवी से और पर्वतों से घोड़े जा सकते हैं।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं, सं पृथिव्या अधशंसाय तर्हणम्।

उत् तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो, येन रक्षो वाश्धानं विनूर्वथं निनूर्वथः।।ऋ० ७/१०४/४

अर्थात् हे इन्द्र और सोम तुम आकाश से वध करने वाला बम घोड़ो, पापप्रशंसक शभु पर पृथिवी से पृथिवी पर मार करने वाली मिसाइलें छोड़ो, पर्वतों से शब्दकाशी और तापकारी गोले बरसाओ; जिनसे तुम बढ़ते हुए राक्षस को बिष्ट कर सकते हो।

वेदों में अन्था आग्नेशास्त्र वायव्यास्त्र, पर्जन्यास्थ आदि का भी वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर वैज्ञानिक कारीगर से बनाये हुए बिजली से चलने वाले लोहे के बम (आयस अश्मा) की चर्चा भी आती है-

त्वमायसं प्रति वर्तयो गो

र्दिवो अश्मानमुषनीतमृभ्वा। ऋ० १/१२१/९

इस प्रकार वेदों में प्रतिपादित कुछ वैज्ञानिक विषयों की चर्चा इस संक्षिप्त लेख में की गई है। अन्य भी अनेक विज्ञान-सम्बन्धी बातों का मूलरूप से वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है। उनसे प्रेरणा पाकर हम इस दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।

एक शंका यह की जाती है कि यदि वेद में व्योमयान आदि के निर्माण की विधि नहीं लिखी तो वेदों के ये वर्णन हमारे लिए निरर्थक हैं, हम इनका क्या करें। परन्तु वेद तो वस्तुतः प्रेरणा के स्रोत हैं। हमें क्या-क्या करना चाहिए किस-किस दिशा में प्रगति करनी चाहिए यह प्रेरणा वेद से प्राप्त होती है, उसे हम किस प्रकार करें यह हमें अपनी बुद्धि से समभना है। आज भी जिन्होंने वैज्ञानिक वस्तुओं का आविष्कार किया है, वह क्या कहीं अक्षरशः लिखा हुआ पढ़ कर किया है? जैसे उन्होंने किया वैसे हम भी कर सकते हैं, प्रेरणा हम वेद से ले सकते हैं।

"जब यम व्रत से महाव्रत बन जाते हैं"

प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार
भूतपूर्व आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योग0 2.30

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पांच यम हैं। यम ये इसलिए कहलाते हैं कि ये साधक को जीवन में ऊंचा उठने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि से उपरत करते हैं, रोकते हैं, पृथक् करते हैं, हटाते हैं। अब क्रमशः इन का वर्णन किया जाता है-

अहिंसा[1]

सब प्रकार से, सब समयों में, सब प्राणियों के साथ, मन से भी द्रोह छोड़कर, वैर त्याग कर प्रीतिपूर्वक वर्तना अहिंसा कहलाती है। इस अहिंसा से अगले जो शेष सत्य, अस्तेय आदि यम और शौच-सन्तोष आदि नियम हैं वे सब अहिंसामूलक ही हैं, वे सब उस अहिंसा की सिद्धि के लिए ही प्रतिपादित किये जाते हैं, वे सब उस अहिंसा को निर्मल रूप प्रदान करने के लिए ग्रहण किये जाते हैं, जीवन में अपनाए जाते हैं। जैसे कि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है- "यह ब्राह्मण जैसे-जैसे बहुत से व्रतों ([2]सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि नियमों) को धारण करता जाता है, वैसे-वैसे वह प्रमाद से किये हुए हिंसा आदि के कारण रूप लोभ, क्रोध और मोह आदि रूप पापों से निवृत्त होता हुआ, पृथक् होता हुआ, बचता हुआ उस विशुद्धरूप, निर्मलरूप, स्वच्छरूप अहिंसा का पालन करता है।

सत्य

यमों में यह दूसरा यम है। सत्य जो मनुष्य के मन में है, वही वाणी में हो। मनुष्य ने जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, अर्थात् जैसा चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से साक्षात् किया हो, अनुभव किया हो, जैसा अनुमान किया हो, वैसा ही वाणी से बोले और मन में धारण करें। दूसरे मनुष्य में जब वह अपना ज्ञान-बोध संक्रान्त करे, दूसरे मनुष्य में जब वह अपने ज्ञान को पहुँचाए तो उस समय जो वाणी वह बोले उस में किसी भी प्रकार का छल, कपट वा [3]धोखाधड़ी नहीं होनी चाहिए, उस में कोई भ्रम, भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली बात नहीं होनी चाहिए, उद्देश्य से उल्टी वा निरर्थक बात नहीं होनी चाहिए। वह वाणी जो बोली जाए वह सब प्राणियों के उपकार के लिए ही प्रवृत्त होनी चाहिए, प्राणियों के उपघात के लिए नहीं, प्राणियों के हनन के लिए नहीं। यदि इस की कही हुई वाणी इन प्राणियों के उपघात के लिए, प्राणियों के विनाश के लिए हो तो फिर वह सत्य नहीं है वह तो फिर पाप ही है। उस पुण्यरूप प्रतीत होने वाली पापरूप वाणी से तो मनुष्य बहुत बड़े कष्ट को ही प्राप्त होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अच्छी प्रकार से परीक्षा करके, अच्छी

प्रकार सोच-विचार करके सब प्राणियों का हित जिस से होता हो, सब प्राणियों का भला जिससे होता हो, ऐसा सत्य बोले। इस प्रकार का सर्वोपकारी, सर्वहितकारी सत्य ही वास्तव में अहिंसा के स्वरूप को निखार कर मनुष्य को अहिंसक बना देता है। तभी कहा गया है कि सत्य, अस्तेय आदि यम और शौच-सन्तोष आदि नियम साधक की इसी अहिंसा को ही अवदात रूप प्रदान करने वाले हैं।

अस्तेय

स्तेय कहते हैं चोरी को, परस्वापहरण को, दूसरे के धनधान्य के अपहरण को। शास्त्रवर्जित रीति से बिना पूछे दूसरों के द्रव्यों को, पदार्थों को जो उठा लिया जाता है, अपने काम में लिया जाता है, उसे स्तेय कहते हैं, चोरी कहते हैं। ऐसे उस स्तेय का, ऐसी उस चोरी का जिस में अभाव हो उसे 'अस्तेय' कहते हैं। और यह अस्तेय यहां तक ही नहीं है कि हम शास्त्र की आज्ञा के अनुसार किसी दूसरे के धन-धान्य के अपहरण करने से अपने आप को बचा लेते हैं। व्यास जी लिखते हैं कि- "हम वास्तव में 'अस्तेय' के सच्चे पालन वाले तब कहला सकेंगे जब कि हम अपने आप को इतना ऊपर उठा लेगें कि हमारे हृदय में भी दूसरों के धन-धान्यों को, दूसरों की वस्तु, व्यक्ति वा स्थानों को स्पृहापूर्वक देखने, ललचाई दृष्टि से निहारने वा ललचाई दृष्टि से उपभोग करने की भावना ही नहीं रहेगी।

जो भी योगीजन इस 'अस्तेय' का पालन करते हैं उनका जीवन फिर एक ऐसी खुली पुस्तक बन जाता है कि फिर उसमें कोई दुराव-छिपाव नहीं रह पाता। हम सामान्य जन यदि कोई खाने की वस्तु बच्चे को अनुकूल नहीं होती, माफिक नहीं होती तो हम उस को फिर बच्चों से छिपा कर खाते हैं। ऐसे ही कोई एक वस्तु हम किसी एक को देना चाहते हैं और दूसरों को नहीं तो फिर जिस को देते हैं तो वह छिपा कर देते हैं, कोई खाद्य पदार्थ एक को खिलाना चाहते हैं दूसरों को नहीं तो फिर जिस को हम खिलाते हैं उसे छिपा कर खिलाते हैं। ऐसे ही हम किसी का हित, उपकार करना चाहते हैं और किसी के प्रति उदासीन रहना चाहते हैं तो भी जिनका हित-उपकार करते हैं वह गुप्त रूप से करते हैं। यह सब स्तेय कर्म हम प्रायः सदा करते रहते हैं। पर इस मार्ग का जो सच्चा अनुयायी है वह यह सब कुछ करने से हृदय से बचने का पूर्ण प्रयास करता है। क्योंकि वह इन सब छोटी-छोटी बातों में भी स्तेय, चोरी का अनुभव करता है।

इस प्रकार जो हृदय से इस 'अस्तेय' को अपना लेता है, उससे फिर किसी को कोई गिला शिकवा नहीं रहता, फिर किसी को कोई दुःख, कष्ट वा हानि नहीं होती। इस प्रकार का 'अस्तेय' रूप यह यम 'अहिंसा' के रूप को ऐसा निखार देता है कि फिर वह साधक सब के लिए हार्दिक श्रद्धा और सम्मान का पात्र बनता है, अन्यथा घर-परिवार छोड़कर भी साधु-संन्यासी होकर भी, विरक्त आश्रमों में रह-रह कर भी कई इस स्तेय वृत्ति के कारण किसी के अत्यन्त अप्रिय

अश्रद्धास्पद बन जाते हैं, और फिर इन संसारी जनों के तुल्य वे भी उन सब के स्नेह वा घृणा के मान और अपमान के, सत्कार और तिरस्कार के भाजन बन जाते हैं। अतः सच्चे साधक इस विषय में सदा सतर्क रहते हैं।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य कहते हैं उपस्थेन्द्रिय के संयम को, गुप्तेन्द्रिय के संयम को। शरीर में जो रज-वीर्य उत्पन्न हो, साधक को चाहिए, (योगिन वा) योगी को चाहिए कि वह जी-जान से उस की रक्षा करे। उस की रक्षा के लिए वह सतत अन्य इन्द्रियों पर भी अपना पूर्ण नियन्त्रण रखे। अर्थात् वह अपनी आंखों से सदा भद्र देखे, कानों से सदा भद्र सुने, पैरों से सदा भद्र स्थानों पर जाए, हाथों से सदा भद्र करे, वाणी से सदा भद्र बोले, रसना से सदा भद्र पदार्थों का सेवन करे, नासिका से सदा भद्र सूंघे, त्वचा से सदा भद्र स्पर्श करे, मन से सदा भद्र सोचे, बुद्धि से सदा भद्र विचारे। इस प्रकार जब कोई (साधिका वा) साधक (योगिन वा) योगी सदा अपनी चक्षु, श्रोत्र, रसना (जिह्वा), त्वचा, हस्त-पाद, मन बुद्धि, चित्त आदि इन्द्रियों पर संयम रखेगा और अपना समय सदा स्वाध्याय, सत्संग, साधना और लोकोपकार में लगायेगा तो यह सब करते हुए धीरे-धीरे उसमें बड़ी पवित्र एवं ऊंची भावनाएं उत्पन्न होंगी, जो योगी को संसार के लिए निर्दोष बना देंगी।

इस के परिणाम स्वरूप फिर उस का संयम सहज हो जायेगा और उसके भीतर रहने वाले रज-वीर्य की रक्षा भी फिर सहज ही हो जायेगी। इस से उसकी अहिंसा में अत्यन्त निखार पैदा होगा और सब की उन में श्रद्धा बढ़ेगी, विश्वास बढ़ेगा। इसके विपरीत यदि कोई साधक-योगी हृदय से ब्रह्मचर्य का पालन न करे अर्थात् वह असंयमी रहे। खाने-पीने, सोने-जागने, हास-परिहास करने आदि में जो चञ्चल चित्त हो, अर्थात् इन के विषय में जो मर्यादाओं का अतिक्रमण करता हो तो वह फिर चाहे विद्वान् हो चाहे संन्यासी हो, घर-परिवार में रहता हो वा किसी आश्रम-मठ में वा किसी वन-आरण्य में रहता हो, उससे जहां वह स्वयम् अपने लक्ष्य से च्युत होगा, पतित होगा, वहां उसके व्यवहारों से दूसरों को भी कष्ट होगा, हानि होगी, दूसरों की आशाओं और विश्वासों पर भी पानी फिरेगा। अर्थात् दूसरों की हिंसा भी होगी। अतः साधक को चाहिए कि वह इस विषय में प्रभु साक्षी में सदा सर्तक रहे। ऐसा करने से वह जहां अपने लक्ष्य को सिद्ध कर सकेगा, वहां वह अपनी अहिंसा के स्वरूप को भी दिव्य बना कर सब के स्नेह, सम्मान और श्रद्धा का पात्र बना सकेगा। यही इस ब्रह्मचर्य रूप यम का लक्ष्य है।

अपरिग्रह

परिग्रह कहते हैं- चहुं ओर से संग्रह करने को और अपरिग्रह कहते हैं चहुं ओर से संग्रह न करने को। साधक विषयों के संग्रह करने अर्थात् धन सम्पत्ति को इकट्ठा करने, फिर उस की रक्षा करने अर्थात् उस को संभालने और फिर उस के नष्ट हो जाने, समाप्त हो जाने में तथा उस

के संग में, उपभोग में, सर्वत्र हिंसा रूप दोष को देखकर उन विषयों को स्वीकार नहीं करता, यही अपरिग्रह है। कम से कम जिस से उसकी जीवनयात्रा पूरी हो सके, उतने मात्र का ही स्वीकार करना, उस से अधिक का स्वीकार न करना, यही अपरिग्रह का अभिप्राय है। साधक जब इस अपरिग्रह रूप यम का दिल से पालन करता है तो इससे वह अपनी अहिंसा के स्वरूप को निखारता हुआ सब के प्रेम और श्रद्धा का पात्र बनता है।

इसके विपरीत यदि वह संसारी जनों के समान धन, वैभव को संग्रह करता रहता है तो उसके उस संग्रह से तब उस समाज में जो अव्यवस्था उत्पन्न होती है, जो एक व्यक्ति के धन-अन्न आदि के अधिक संग्रह से समाज में अभाव उत्पन्न होता है, उससे लोगों को दु:ख, हानि और कष्ट पहुंचता है, जिससे कि उसकी अहिंसा मलिन हो जाती है, और अप्रत्यक्ष रूप में वह फिर हिंसक बन जाता है तथा समाज की दृष्टि में वह गिर जाता है। अत: साधक अपरिग्रह रूप यम का हृदय से पालन कर यथोचित साधनों को ही स्वीकार कर अपनी अहिंसा के स्वरूप को समुज्ज्वल करता हुआ सब की श्रद्धा का पात्र बनता है।

ये पांचों यम 'व्रत' कहाते हैं और जो भी साधक-योगी इन का जी-जान से पालन करता है, वह व्रती कहाता है, पर अगर इन ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि यमों का व्रतों का 'जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न होकर, अप्रतिबद्ध होकर अर्थात् इनकी सीमाओं के बन्धन से रहित होकर, इनकी सीमाओं से ऊपर उठकर जब चित्त की ([4]क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध) इन सब अवस्थाओं में पालन किया जाता है जो फिर ये ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यम महाव्रत बन जाते हैं, और इनका पालन करने वाला साधक-योगी महाव्रती कहलाने लगता है।

अब यह जाति, देश, काल और समयावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिसके अनुसार किसी मनुष्य की अहिंसा किसी जातिविशेष, वर्गविशेष, देशविशेष, कालविशेष, समयविशेष, प्रयोजनविशेष की सीमाओं में बंधी हुई रहती है। जैसे एक मछियारा मछली पकड़ने वाला, मछली मार कर बेचता है वा खाता है तो उस व्यक्ति की मछलियों के मारने में तो हिंसा होती है, पर दूसरी भेड़, बकरी, सूअर, मुर्गी आदि जातियों के प्राणियों में अहिंसा ही रहती है। इसलिए यह जात्यवच्छिन्न अहिंसा हुई, जातिविशेष के जन्तुओं की सीमाओं में बंधी रहने वाली अहिंसा हुई। इसलिए यह अहिंसा तो है, व्रत तो है, और इस अहिंसा व्रत के पालन करने वाले का नाम व्रती भी है, परन्तु यह अहिंसा जात्यवच्छिन्न होने से, जातिविशेष के प्राणियों की सीमाओं में बंधी रहने से यह पूर्ण अहिंसा कभी नहीं कहला सकती, यह महाव्रत कभी नहीं कहला सकती। जिस दिन यह अहिंसा जात्यवच्छिन्न हो जायेगी, जाति विशेष के प्राणियों की सीमाओं को वर्गविशेष के प्रणियों की हद को लांघ कर सब के प्रति समान रूप से अपनाई जायेगी, अर्थात् जिस में किसी को भी,

किञ्चित् भी, कभी भी, कष्ट-हानि पहुंचाने की बात नहीं होगी, उस समय यह अहिंसा पूर्ण अहिं कहलायेगी, उस समय यह सार्वभौम, (आलमगीर) अहिंसा कहलायेगी, यह महाव्रत कहलाये और इसका पालन करने वाला पूर्ण अहिंसक कहलायेगा, महाव्रती कहलायेगा।

इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिस में मनुष्य यह सोचता है कि किसी देशविशेष में किसी स्थानविशेष में अर्थात् मथुरा, वृन्दावन, काशी, हरिद्वार वा मन्दिर, मस्जि गुरुद्वारे, गिरजे आदि में हिंसा नहीं करुगाँ परन्तु अन्यत्र मैं अहिंसा का पालन नहीं करुगां अथ अन्यत्र में हिंसा कर सकता हूँ।" ऐसा सोचने वाला अहिंसक तो है, परन्तु उस की अहिं देशविशेषों, स्थानविशेषों तक सीमित रहने से पूर्ण अहिंसा नहीं कहला सकती, और न ही महाव्रत कहला सकती है।

कालावच्छिन्न अहिंसा वह कहलाती है ,जो काल की सीमाओं में बंधी रहती है, जिस अपनाने वाला व्यक्ति सोचता है कि- "मैं एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णमासी वा मंगलवार आदि के दि किसी की हिंसा नहीं करुंगा, अर्थात् इन दिनों में मैं अहिंसक रहूंगा, पर इन से भिन्न दिनों में हिंसा कर सकता हूं, मैं मछली, मुर्गा आदि मार कर खा सकता हूँ।" ऐसे व्यक्ति की यह अहिंसा हुई यह पूर्णहिंसा नहीं हुई, सार्वकालिक अहिंसा नहीं हुई। अत: यह अहिंसा व्रत तो कह सकती है, यह व्रत तो है पर महाव्रत नहीं। इसलिए काल की इन सीमाओं में बंधी हुई अहिं का पालन करने वाला व्रती तो कहला सकता है, पर वह महाव्रती कभी नहीं कहला सकता।

समयावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिस में मनुष्य यह कहता है कि- "मैं सम विशेष पर वा अवसर विशेष पर किसी प्रयोजन विशेष के लिए गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिए हिं करुंगा, अन्यत्र हिंसा नहीं करुंगा। अर्थात् देव-ब्राह्मणों, बाल-वृद्धों वा अनाथ-असहायों क रक्षा-सुरक्षा के निमित्त तो मैं आततायियों को मारुंगा, उन का वध करुंगा, यद्वा क्षत्रिय बनकर दे की रक्षा के निमित्त तो युद्ध में शत्रुओं का मैं हनन करुंगा, पर अन्यत्र नहीं। यह है मेरी समय अवसरविशेष से की गई हिंसा। इस के अतिरिक्त तो मैं सर्वत्र अहिंसा का ही पालन करुंगा।" य हुई समयावच्छिन्न-समय की सीमाओं में बंधी हुई अहिंसा। अत: यह पूर्ण अहिंसा नहीं हुई।

ऐसे लोगों की यह जो अहिंसा है, यह अहिंसा तो है, पर पूर्ण अहिंसा नहीं, सार्वभौम अहिंसा नहीं। व्रत तो है, पर महाव्रत नहीं। पूर्णहिंसा तो यह तब कहलायेगी, महाव्रत तो यह तब कहा जायेगा जबकि जातिविशेष, वर्गविशेष, प्राणीविशेष, प्रसंगविशेष, प्रयोजनविशेष, अवसरविशेष की सीमाओं से ऊपर उठकर सर्वदा, सर्वथा सब प्रणियों के प्रति [5,6] "चित्त की सभी अवस्थाओं में बिना हेर फेर के अर्थात् सहज रूप से इस का पालन किया जाएगा। अर्थात् जब कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी प्रयोजन के लिए किसी की भी हिंसा न हो जावेगी तो तब वह अहिंसा सार्वभौम अहिंसा कहलायेगी, महाव्रत कहलायेगी।

ऐसे ही जो किसी जातिविशेष अर्थात् वर्ग विशेष के प्राणियों के साथ मन, वचन, कर्म से सत्य व्यवहार करता है। और अन्यों के साथ असत्य व्यवहार करता है, फिर वह देशविशेष,

स्थानविशेष अर्थात् काशी, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन वा मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे में तो सत्य बोलता है पर अन्यत्र असत्य बोलता है। फिर वह कालविशेष में अर्थात् एकादशी, चतुर्दशी वा मगंलवार वा प्रातः सायं तो सत्य बोलता है पर अन्य कालों में झूठ बोलता है। फिर वह [7]समयविशेष, प्रसंगविशेष वा प्रयोजनविशेष के लिए तो सत्य बोलता है पर वैसे वह झूठ बोल देता है तो ऐसे व्यक्ति का जो सत्य है वह जाति, देश, काल और समयावच्छिन्न है। जाति, देश, काल और समय की सीमाओं से बंधा हुआ है, अतः वह सत्य नहीं, वह महाव्रत नहीं। पूर्ण सत्य तो वह तब होगा, महाव्रत तो वह तब होगा जबकि वह जातिविशेष, वर्गविशेष, देशविशेष, स्थानविशेष की, कालविशेष, समयविशेष की, प्रसंगविशेष, अवसरविशेष आदि की सीमाओं को लांघ कर बोला जायेगा। तभी उस को बोलने वाला, तभी उस सत्य को कहने वाला वह योगी तपस्वी भी कहलायेगा, महाव्रती भी कहलायेगा। इसी प्रकार अस्तेय-चोरी का त्याग भी, ब्रह्मचर्य का पालन भी, और [8]अपरिग्रह का पालन भी, जब कोई जाति, देश, काल और समय-प्रसंगविशेष की सीमाओं से ऊपर उठ कर करता है, अर्थात् जो सर्वदा-सदा, सर्वथा-सब प्रकार से, सब प्राणियों के प्रति अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वृत्ति को अपनाए रखता है, तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी की भी, मन से भी चोरी नहीं करता, जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी के प्रति भी वासना भरे भाव नहीं रखता, जो कुछ भी, कहीं भी, कभी आवश्यकता से अधिक परिग्रह-सग्रंह नहीं करता तो ऐसे योगी का जो सत्य है, ऐसे योगी का जो ब्रह्मचर्य है, और ऐसे योगी का जो अपरिग्रह है, वह पूर्ण अर्थात् सार्वभौम सत्य, पूर्ण अर्थात् सार्वभौम ब्रह्मचर्य और पूर्ण अर्थात् सार्वभौम अपरिग्रह बन जाता है। वह महाव्रत बन जाता है और उसका पालन करने वाला महाव्रती बन जाता है।

सारांश यह है कि ये सारे अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप जो यम हैं ये एक सीमा के भीतर भी व्रत के रूप में पालन किये जाते हैं। पर जब एक योगी इन अहिंसा, सत्य आदि यमों के पालन में सारी सीमाओं को तोड़कर इनको सार्वभौम बना देता है, अर्थात् जब उसके ये अहिंसा, सत्य आदि धर्म सारी जातियों के (प्राणियों के) लिए हो जाते हैं, सारे देशों के लिए हो जाते हैं, सब कालों के लिए हो जाते हैं, और प्रत्येक अवसर के लिए हो जाते हैं, तात्पर्य यह है कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए पर अगर वह इनके पालन करने में तनिक सी भी त्रुटि नहीं करता तो तब उसके ये व्रत महाव्रत बन जाते हैं और वह स्वयं महाव्रती बन जाता है।

सन्दर्भ सूची

1. **अनभिद्रोहो अहिंसा।** योग० 2।30 ।। द्रोह शब्द "द्रुह जिघांसायाम्" मारने की इच्छा। द्रह्यति (दिवा०)। द्रोह-जिघांसा-मारने की इच्छा, अभिद्रोह-चहुं ओर से सब प्रकार से किसी को मारने-समाप्त करने, नष्ट करने, नेस्तनाबूद करने, तहस-नहस करने की भावना को अभिद्रोह कहते हैं। ऐसी भावना को समाप्त करके जो व्यवहार किया जाता है, उसे अनभिद्रोह, अर्थात् अहिंसा कहते हैं।

2. अब यदि सत्य न बोलकर असत्य बोला जाए, चोरी से बचने के स्थान पर चोरी की जाए, ब्रह्मचर्य का पालन न करके व्यभिचार आदि किया जाए, परिग्रह से, सग्रंह से बचने के बजाए परिग्रह किया जाए, सग्रंह किया जाये, बाहर-भीतर की शुद्धि के स्थान पर बाहरी शरीर वस्त्र और स्थान तथा भीतर के मन, बुद्धि आदि को अशुद्ध, अपवित्र रखा जाये, अपने कर्मों के आधार पर मिले हुए धन-धान्य आदि में सन्तोष न करके दूसरे के ध न-धान्य आदि को लोभ-लालच की दृष्टि से देखा जाए वा प्राप्त किया जाए, उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तप, त्याग न करके यों ही धींगा-मस्ती से उस को प्राप्त करने का प्रयास किया जाए इत्यादि इन सब कर्मों से दूसरों को दु:ख, हानि, कष्ट, पीड़ा आदि पहुंचते हैं। इसलिए वह अहिंसा मलिन हो जाती है और अगर सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का जी-जीन से पालन किया जाये जो फिर उस अहिंसा में निखार पैदा होता है, अत: इस सब को अहिंसा मूलक कहा गया है।

3. सामान्य जन अपने दैनिक जीवन में अपने घर परिवार में वा व्यापार-व्यवहार में प्राय: झूठ बोल दिया करते हैं। जैसे घर में बच्चा दवाई नहीं पीता तो उस का पिता कहता है- "बेटा! दवाई मीठी है।" बच्चा कहता है "पिता जी ! दवाई कड़वी है।" पिता फिर कहता है, 'बेटा! पीकर तो देख।' यह कह कर पिता ने उसे जल्दी से दवाई पिला दी। दवाई वास्तव में कड़वी थी पर झूठ बोलकर मीठी बतलाकर जल्दी से उस को पिला दी। ऐसे अनेक झूठ आए दिन हम प्राय: बोलते रहते हैं, पर साधक ऐसे झूठों से ही नहीं वरन् हास्यपरिहासों में भी बोले जाने वाले झूठों से हृदय से नित्य बचते रहने का प्रयास करता है, तभी वह अपने आचरण से अपने लक्ष्य के प्रति निरन्तर निकट होता जाता है।

4. क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त एकाग्र आदि चित्त की अवस्थाएं कहाती हैं। (योग)

5. क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, ये सब चित्त की अवस्थाएं हैं।

6. इस प्रकार के अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन तो जगत् में कोई विरला ही योगी कर पाता हैं और ऐसा जो कर पाता है, वह बड़ा ही महान् तपस्वी योगी होता है।

7. जैसे किसी के प्राणों की रक्षा होती है तो ऐसे अवसर में असत्य बोलने के सिवाय वा हंसी-मजाक में, हास-परिहास में असत्य बोलने के अतिरिक्त मैं असत्य कभी नहीं बोलूंगा। दुर्भिक्ष के बिना मैं झूठ नहीं बोलूंगा। यह सत्य समयावच्छिन्न-अवसर विशेष की सीमाओं में बोला गया सत्य है।

8. अपरिग्रह-अत्यन्त आवश्यक आवश्यकता से अधिक भोग्य साधनों का संग्रह न करना।

स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार
462, पीर गली, आर्यनगर
ज्वालापुर - 249407 (हरिद्वार)

एक दिन मैं अपने एक परिचित श्री केशवदेव जी (छद्म नाम) के यहां गया। देखा, केशवदेव पढ़ने में व्यस्त हैं। पूछा - भाई, क्या कर रहे हो। बोले कि स्वाध्याय कर रहा हूँ। मैंने पूछा कि कौन-सा ग्रन्थ है। वे कुछ उत्तर देते, उससे पूर्व ही मैंने देखा कि वे कोई उपन्यास पढ़ रहे हैं तथा बहुत से उपन्यास उनकी मेज पर रखे हैं। मैं अचम्भित हो सोचने लगा कि ये इस प्रकार की पुस्तकों को पढ़ना स्वाध्याय मान रहे हैं, पर तुरन्त ही मुझे माजरा समझ में आ गया। वे स्व + अध्ययन = स्वयं अध्ययन करने/पढ़ने को स्वाध्याय समझ रहे हैं। वस्तुतः 'सु अध्ययनं स्वाध्यायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उत्तम, अच्छे-अच्छे शास्त्रों को मनन-चिन्तनपूर्वक पढ़ना ही स्वाध्याय कहलाता है। महर्षि व्यास के अनुसार मोक्ष की ओर ले जाने वाले जो वेदादि सत्य शास्त्र हैं उनका अध्ययन करना तथा प्रणव अर्थात् ओंकार का जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है "स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्षशांस्त्राध्ययनं वाः"।

प्राचीन इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि प्राचीन काल से ही मानव के जीवन-निर्माण में 'स्वाध्याय' की अहम् भूमिका रही है। मैत्रेयी, गार्गी, मदालसा, विद्योतमा, आदि विदुषियाँ तथा याज्ञवल्क्य, मनु, कौटिल्य, कालिदास, भवभूति आदि विद्वानों ने इसी स्वाध्याय के बलबूते पर विद्वता के चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया। मुंशीराम, पं० लेखराम, गुरुदत्त विद्यार्थी आदि स्वाध्याय के परिणामस्वरूप ही स्वामी दयानन्द के पथ के पथिक बने तथा आर्यसमाज के 'मिशन' को आगे बढ़ाने में अतुलनीय योगदान दिया।

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में स्वाध्याय की महती महिमा वर्णित की गई है। सर्वप्रथम वेदों को ही लीजिये। इसमें अनेक ऋचाओं के माध्यम से वेदाध्ययन (स्वाध्याय) की प्रेरणा दी गई हैं। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद 6.62.3 में ज्ञान का तेज पाने के लिए शरीर से शुद्ध और मन से पवित्र होते हुए वेदवाणी के अध्ययन का निर्देश दिया गया है:

वैश्वानरीं वर्चस आ रमध्वं, शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेऽया सधमादं मदन्तो, ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्।।

इसी प्रकार सामवेद उत्तरार्चिक 10.7, 1-3,6 के अनुसार जो ऋषियों द्वारा संभृत पावमानी ऋचाओं का अध्ययन करता है उसे सुस्वादु परिपूत भोज्य पदार्थों का भक्षण करना मिलता है, उसे सरस्वती दूध, घृत,

मधु एवं रस प्रदान करती है। स्वस्ति प्रदान करने वाली इन ऋचाओं से मनुष्य परमानन्द की अ
को प्राप्त करता है, अमृतत्व को प्राप्त करता है।

शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय का महत्त्व एवं फल कुछ यों वर्णित किया गया है : "स्वा
और प्रवचन (अध्यापन) जिसे प्रिय होतें हैं वह मननशील, स्वाधीन हो जाता है, प्रतिदिन धनोप
करता है, सुख की नींद सोता है तथा अपना परम चिकित्सक होता है। उसकी इन्द्रियाँ संयम में र
हैं, उसकी एकाग्रता एवं प्रज्ञा में वृद्धि होती है, एवं वह यशस्वी होता है। इस द्यौ और पृथिवी के
जो कुछ श्रम हैं, स्वाध्याय ही उसका अंत है, अतः स्वाध्याय करना चाहिए।" (शत0 ब्रा0 11.5.7.1-
यहीं नहीं, जो व्यक्ति ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इन तीनों वेदों, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण आदि ग्र
का स्वाध्याय करता है उसे देवगण सभी कामनाओं और सुखों से तृप्त करते हैं (शत0 ब्रा0 11.5.7.6
तथा 11.5.6.4 - 8)। स्वाध्याय की अपरिहार्यता दर्शाते हुए स्वाध्याय न करने वाले को अब्राह्मण की
दी गई है- "तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तत्स्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत0 ब्रा0
5.7.10)। इसी ब्राह्मण में 11.5.6 में पंच महायज्ञों की विवेचना के दौरान स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ की
दी गई है- "स्वाध्यायो वे ब्रह्मयज्ञः"।

मनुस्मृति में 'स्वाध्याय' शब्द से मनु का तात्पर्य वेदों का सतत सांगोपांग अध्ययन, संध्योप
और अग्निहोत्र से है (मनु0 2.79 - 81)। मनु के अनुसार, जिस प्रकार दूध, दही, घी और मधु के
से शरीर तृप्त, पुष्ट, बलशाली ओर नीरोग हो जाता है उसी प्रकार स्वाध्याय से भी मानवजीवन शांति
गुणमय, ज्ञानमय और पुण्यमय या आनन्दमय हो जाता है:

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येव पयो दधि घृतं मधु।। मनु0 2.82

मनु ने यहाँ तक कह दिया कि द्विजमात्र को गूढ़ार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक वेदों का अध्य
करना चाहिए, क्योंकि यही उनके लिए परम तप है। जो द्विज गृहस्थी होकर भी प्रतिदिन स्वाध्याय य
वेदों का अध्ययन करता है वह निश्चय ही श्रेष्ठ तप करता है(मनु0 2. 140 - 142)। वे मानते हैं
द्विजों को सदा अधिक से अधिक समय स्वाध्याय = वेदाभ्यास में लगाना चाहिए, यही उनका सर्वोत्तम
र्म है:

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते।। मनु0 4.147

मनु की दृष्टि में गृहस्थों को कृतकृत्यता के लिये स्वाधयाय करना आवश्यक है (मनु0 4.17
इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने यह परामर्श दिया है कि "स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च
(मनु0 4.35)। यही नहीं, वानप्रस्थी को भी नित्य स्वाध्याय करने का निर्देश वे देते हैं (मनु0 6.8

कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन तथा क्षत्रिय एवं वैश्य का धर्म अध्ययन करना है (कौटि० अर्थ० 1.2.3)। उन्होंने आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचारी के लिये नियमित स्वाध्याय करने का विधान किया है-

"ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायः"।

योग दर्शन में स्वाध्याय को क्रियायोग कहा है:

"तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः" (साधनपाद 1) इसमें वर्णित पांच नियमों में एक नियम 'स्वाध्याय है- **"शौच-संतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"** (यो० द० 2.32)।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार वेदारंभ के समय ब्रह्मचारी को तथा समापवर्तन (दीक्षान्त) के समय स्नातक को आचार्य स्वाध्याय से विमुख न होने का उपदेश देता है (तैत्ति० उप० 9. 1-2 तथा 11.1)।

यह तो रही शास्त्रों की बात, जिसे सैद्धान्तिक पक्ष भी कहा जा सकता है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में भी स्वाध्याय करने से बहुत से लाभ मिलते हैं। कर्तव्याकर्तव्य का बोध करने के लिए भी स्वाध्याय=वेदाध्ययन की आवश्यकता है। क्या धर्म है और क्या अधर्म है, यह वेदज्ञ ही बतला सकता है। स्वाध्याय से मनुष्य की विद्या बढ़ती है और वह भले बुरे, उचित-अनुचित का विचार ठीक प्रकार से कर सकता है। स्वाध्याय के बिना मनुष्य की एक बड़ा सहायक विद्या मनुष्य से पृथक् हो जाती है और वह कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से विहीन हो कर जीवन में कष्ट उठाता है।

एक आम धारणा है कि स्वाध्याय केवल ब्राह्मणों एवं ब्रह्मचारियों के लिए ही विहित है, परन्तु यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः स्वाध्याय मानव-मात्र के लिए अपरिहार्य है, चाहे वह किसी भी वर्ण का हो, किसी भी आश्रम-धर्म का पालन कर रहा हो, नर हो या नारी हो, हर किसी को किसी न किसी रुप में वेदादि श्रेष्ठ ग्रन्थों का स्वाध्याय करना ही चाहिए। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रत्येक आर्य के लिए वेदों का पढ़ना-पढ़ाना परम धर्म कहा है (आर्यसमाज का नियम 1)। जैसा कि ऊपर वर्णित किया जा चुका है, मनु, कौटिल्य आदि पूर्वाचार्यों का भी यही अभिमत था।

उपर्युक्त संकल्पना के परिप्रेक्ष्य में दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि आर्यसमाज के प्रारंभिक दिनों में आर्यसमाजी लोगों में स्वाध्याय के प्रति अत्यधिक रूचि थी, प्रत्येक आर्य स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सत्यार्थ प्रकाश आदि मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का स्वाध्याय करना अपना नैतिक कर्तव्य समझता था। इन ग्रन्थों के पाठन से स्वामी जी के मंतव्यों को जान लेने के बाद कुछ लोग वेदभाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अध्ययन की ओर अग्रसर होते थे। उन दिनों में आर्यसमाजी विचारधारा के लोग संख्या में वर्तमान की अपेक्षा कम होते थे, परन्तु समाज के सिद्धान्तों से भिन्न लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कहीं अधिक थी। उन दिनों के आर्यसमाजी पत्र आध्यात्मिक/धार्मिक सिद्धान्त विषयक चर्चा से भरे होते थे - कहीं पुराणों में उल्लिखित विचारों का खण्डन एवं स्वमत मण्डन होता था, कहीं वेदों को ब्राह्मणातिरिक्त सिद्ध

किया जाता, तो कहीं किन्हीं इतर मतावलम्बियों द्वारा आर्यसमाज के सिद्धान्तों एवं महर्षि के मंतव्यों आदि के संबंध में उठायी गई शंकाओं का सप्रमाण तर्कसंगत खण्डन-मंडन किया जाता। यह सब आर्यसमाज के तत्कालीन स्वाध्यायशील-वैदिक एवं एतत्संबंधी साहित्य के पठन-पाठन में तल्लीन विद्वानों की लेखनी का कमाल था। यह कमाल केवल लेखन तक ही सीमित नहीं था, वरन् उनकी वाणी पर भी सरस्वती का वास था। उनके गहन अध्ययन की प्रवृत्ति का ही परिणाम था कि वे पौराणिक एवं अन्य मतावलंबी विद्वानों से रूबरू हो कर दुरूह से दुरूह विषय पर शास्त्रार्थ करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे और सफलता प्राप्त होने पर आर्यसमाज की तूती हर जगह बोलती थी।

बीच में कुछ समय ऐसा आया जब स्वाध्याय के प्रति लोगों की रुचि उत्तरोत्तर कम होती गई। वेद, शास्त्र और सिद्धान्त संबंधी गम्भीर विवेचना या अन्वेषणा से परिपूर्ण ग्रन्थों को पढ़ने वाले और उन पर विचार करने वाले लोगों की संख्या उत्तरोत्तर घटती गई - केवल गिने चुने विद्वान् ही इससे लाभ उठाते थे, यहाँ तक कि स्वामी दयानन्द जी के मंतव्यों एवं सिद्धान्तों की विवेचना करने वाली पुस्तकें व लेखों को गंभीरता से पढ़ने वाले भी कठिनाई से उपलब्ध होते थे। आर्य समाज में इस स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लिखा था- "…. इस औदासीन्य और उपेक्षा का कारण क्या है ? इसका एक शब्द में उत्तर 'स्वाध्याय का अभाव' है। आर्यसमाजियों की अधिक संख्या प्रतिदिन अपने वेदादि धर्मग्रन्थों का अनुशीलन करना अपना कर्तव्य नहीं समझते। यदि प्रतिदिन किसी न किसी सत् शास्त्र के अध्ययन में थोड़ा समय लगा दिया जाये तो कभी संभव नहीं कि इन गंभीर विषयों की ओर से इतना औदासीन्य हो और इनकी जगह हल्के और अगंभीर साहित्य की ओर लोगों का ध्यान जावे। स्वाध्याय में आश्चर्यजनक शक्ति है। वह मनुष्य के हल्केपन को नष्ट कर देता है, सत्शास्त्रों द्वारा महान् आत्माओं की संगति से मनुष्य का मन नम्र, अगर्वित और अपने असली मूल्य को समझने के योग्य हो जाता है।" ('आर्यसमाज में स्वाध्याय का अभाव', सद्धर्म प्रचारक, 29 दिसम्बर 1910)।

स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा उक्त विचार व्यक्त किये जाने के बाद एक बार पुनः आर्यसमाज में स्वाध्यायशील विद्वानों, शास्त्रार्थियों एवं उपदेशकों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई, जिन्होनें अपनी लेखनी एवं वाणी के माध्यम से आर्यसमाज एवं महर्षि के मंतव्यों तथा वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इसमें गुरुकुलों एवं उपदेशक विद्यालयों की अहम् भूमिका रही।

आइये, अब वर्तमान पर दृष्टि डालें। आज समाज में सद्ग्रन्थों एवं सत् साहित्य को पढ़ने में रुचि रखने वाले लोगों का सर्वथा अभाव-सा होता जा रहा है। रुचि है तो समाज की राजनीति में, नेता बनने की होड़ में सहभागिता करने में। लिखने-पढ़ने तथा वेद प्रचार आदि रचनात्मक कार्यों में सक्रिय सहभागिता के प्रति अभिरुचि केवल कुछेक लोगों में ही देखने को मिलती है। वेदों एवं सम्बन्धित साहित्य की बजाये हल्के-फुलके साहित्य को 'स्वान्तः सुखाय' पढ़ लेना ही स्वाध्याय माना जाने लगा है। आर्य पत्र-पत्रिकाओं से भी इसी प्रकार के लेख, कहानी-किस्से प्रकाशित करने की अपेक्षा की जाती है, विचारपूर्ण सामग्री को 'बोझिला' समझा जाता है। इस स्वाध्याय में अरुचि का दुष्प्रभाव यह है

कि आज आर्यसमाज में शास्त्रार्थ की परम्परा तो लुप्तप्राय ही है, प्रभावशाली विद्वान् उपदेशकों की भी निरन्तर कमी होती जा रही है। इसका कुप्रभाव आर्यसमाज की प्रगति पर पड़ना स्वाभाविक ही है।

उपर्युक्त तथ्यों के परिपेक्ष्य में समष्टि रुप में कहा जाये तो सामाजिक हितभाव तथा आत्मिक एवं मानसिक उन्नति के लिए प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन स्वाध्याय के प्रति समर्पित होना चाहिए। स्वाध्याय के लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य है। जो लोग संस्कृत नहीं समझ पाते हैं वे आर्यभाषा में लिखे भावार्थों का अध्ययन कर सकते हैं। स्वाध्याय के लिए दूसरी उपयुक्त पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश है, जिसके प्रथम दस समुल्लासों के अभ्यास से बहुत लाभ उठाया जा सकता है। इन दोनों कृतियों से स्वामी जी के मन्तव्यों की पूर्ण जानकारी उपलब्ध हो सकती है। यदि आर्यसमाजी जनमानस 'वेदमंत्रों' के स्वामी जी कृत अर्थ/भावार्थ ही आर्यसमाज के सिद्धान्त हैं', यह मानकर उनका अध्ययन करते रहें तो उन्हें पूरा-पूरा आभास मिल सकेगा कि अपने जीवन के किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्यसमाज के बाहर जाने की जरूरत नहीं है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों का भी स्वाध्याय किया जा सकता है; सभी उपनिषदें मूल संस्कृत एवं हिन्दी भाष्य के रूप में उपलब्ध हैं। नैत्यिक स्वाध्याय के लिए ईश, केन, कठ, प्रश्न इन चार उपनिषदों को चुना जा सकता है। स्वामी समर्पणानन्द जी ने श्रीमद् भगवत् गीता का तथा स्वामी जगदीश्वरानन्द जी आदि कतिपय विद्वानों ने वाल्मीकि रामायण का आर्यसमाजीकरण कर दिया है, उन्हें आर्यसमाज की विचारधारा के अनुरुप बना दिया है। उनका भी अध्ययन किया जा सकता है। यही नहीं, तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से पुराणों आदि को पढ़ने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, परन्तु यह बहुत बाद की बात है यानि स्वाध्याय में प्रौढ़ता आने पर इस दिशा में सोचा जा सकता है, आरम्भिक काल में नहीं।

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य आरम्भ करने से पूर्व सन्ध्या-हवन आदि नित्यकर्मों के बाद कम से कम 30 मिनट भी इन ग्रन्थों का अनुशीलन कर लिया करे तो उसे अत्यधिक लाभ होने की संभावना है। इससे ज्ञान में तो वृद्धि होगी ही, साथ ही अन्य भौतिक लाभ भी संभावित हैं। यद्यपि गृहस्थाश्रमी के लिए भी स्वाध्यायी होने की आवश्यकता है और 30 मिनट का समय हरेक गृहस्थी इस पुण्यकर्म के लिए सरलता से निकाल सकता है, तथापि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी का तो स्वाध्याय से अत्यधिक गहरा संबंधा है। स्वाध्याय अंगी है तो ये तीनों अंग हैं। इन तीनों आश्रमों में रहते हुए व्यक्ति को जीविका प्राप्ति आदि सांसारिक कार्यों की चिन्ता नहीं रहती, अतः वह अधिक से अधिक समय निकाल सकता है, गहन अध्ययन एवं अनुशीलन कर सकता है।

आइये, हम यह संकल्प लें कि हम अपने जीवन में स्वाध्याय को अपना कर ऋषि-ऋण से उऋण होने का सतत् प्रयास करेंगे।

पाणिनीयाष्टक के आधार पर वेद की इयत्ता
(दयानन्दीय विचारधारा के आलोक में)

डॉ० दिनेशचद्र शास्त्री डी. लिट्, वेदविभा
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार

वैदिक पदों की सिद्धि के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी में उन-उन स्थलों पर छन्दस्, मं ब्राह्मण, संहिता, निगम आदि भिन्न-भिन्न पदों का सूत्रों में प्रयोग किया गया है। क्या ये सब प एक ही अर्थ को कहते हैं? या भिन्न-भिन्न अर्थों को? यह बात विचारणीय व चिन्तनीय है।

वेदों की इयत्ता के प्रश्न को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक तो यह कि वेद मंत्रों की ठीक संख्या क्या है? अनेक मंत्र वेद में कई स्थलों पर आते हैं। क्या उनको एक ह संख्या में गिना जाए, या अलग-अलग माना जाए। इसी विभाग में प्रक्षिप्त कह जाने वाले खिल सूक्त का विवेचन भी समाविष्ट हो जाता है। दूसरा यह कि किन ग्रन्थों अथवा साहित्य के कितने भाग क वेद कहा जा सकता है? प्रस्तुत निबन्ध में हम दूसरे अंश पर ही कुछ प्रकाश डालने का यत्न करें जो कि केवल पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के प्रथम और द्वितीय अध्याय के आधार पर होगा।

आर्यसमाजी वैदिक विद्वानों के अनुसार पाणिनि का समय महाभारत युद्ध के लगभग ती शताब्दी पश्चात् है। महाभारत युद्ध को हुए लगभग पांच सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस प्रका अबसे लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व तत्कालीन आचार्यों का वेद की इयत्ता के सम्बन्ध में क्या विचार था, यही स्पष्ट करना, हमारे इस लेख का प्रयोजन है।

कुछ आधुनिक विद्वानों की धारणा है, कि अष्टाध्यायी में प्रयुक्त छन्दस् आदि पद एक ही अर्थ को कहते हैं। उनका अभिप्राय यह है, कि 'छन्दस्' पद जिस अर्थ को कहता है, मंत्र तथा ब्राह्मण आदि पद भी उसी अर्थ के बोधक हैं। इनके प्रयोग में कुछ विशेषता नहीं है। लेखक की इच्छा पर निर्भर है कि वह कहीं भी किसी भी पद का प्रयोग कर दे। पाणिनि नेभी इन अनेक पदों का प्रयोग अष्टाध्यायी में इसी धारणा से किया है। अत: अष्टाध्यायी की दृष्टि में 'वेद' पद से केवल चार-ऋग्, यजु:, साम और अथर्व इन मूल संहिताओं का ही ग्रहण होना चाहिए, ऐसा नहीं है। प्रत्युत 'वेद' पद से चारों वेद, सम्पूर्ण शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि सबका ही ग्रहण होता है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, जहाँ-जहाँ अष्टाध्यायी में इन पदों का प्रयोग हुआ है, उनके उदाहरण स्थलों की तुलना करने से पता लगता है, कि इन पदों का प्रयोग विशेष अर्थों में ही हुआ है। उन उन सूत्रों के उदाहरणों का सब से प्राचीन उल्लेख जो हमें आज उपलब्ध होता है, पातञ्जल महाभाष्य में है। महाभाष्य के लिखे जाने का समय विक्रम संवत् से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व माना

जाता है। पूर्व निर्दिष्ट पाणिनि के समय से पतञ्जलि के प्रादुर्भावकाल का अन्तर लगभग दो सहस्र वर्ष होता है। पाणिनि ने जिन लक्ष्य प्रदेशों को लेकर अपने लक्षणशास्त्र की रचना की, वैयाकरणों की परम्परा द्वारा वे ही लक्ष्य प्रदेश पतञ्जलि को प्राप्त हुए, और आज उसके लेख द्वारा हमको भी प्राप्त हैं। यह संभव है, कि पतञ्जलि ने पाणिनिकाल के अनेक लक्ष्यपदों का परित्याग कर नये लक्ष्य पदों का संग्रह कर लिया हो, परन्तु जहाँ तक वैदिक पदों का सम्बन्ध है, लक्ष्यता की दृष्टि से उनके बहुत ही कम उलट फेर की सम्भावना की जा सकती है। इसलिए उन-उन स्थलों में जो उदाहरण वैदिक पदों के पतञ्जलि ने दिये हैं, उनको ही लक्ष्य समझकर पाणिनि ने अपने लक्षण सूत्रों की रचना की थी, ऐसा ही समझना चाहिए। ऐसी विद्वत् धौरेय जनों की मान्यता है। इस प्रकार पतञ्जलि के द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों में पाणिनि के पूरे सामञ्जस्य को समझकर ही हम आगे बढ़ते हैं।

पाणिनीयाष्टक में ऐसे चौदह पदों का प्रयोग किया गया है, जिनके द्वारा वैदिक पदों की सिद्धि का निर्देश होता है। वे पद ये हैं -

1. छन्दस्, 2. संहिता, 3. ब्राह्मण, 4. चरण, 5. मंत्र, 6. छन्दो नाम, 7. छन्दस् प्रगाथ, 8. छन्दो ब्राह्मण, 9. ब्राह्मण कल्प, 10. यजुः, 11. निगम, 12. ऋक्, 13. यज्ञ, 14. यजुः काठक

इन सब में से केवल पांच पदों को मुख्य समझकर उन्हीं के आधार पर हमने इस समय यह प्रस्तुत विवेचन किया है। वे पद हैं- मंत्र, छन्दस्, संहिता, निगम, ब्राह्मण। उन सब स्थलों में वैदिक पदों के जो उदाहरण दिये गए हैं उनके आधार पर वैदिक लक्ष्य पदसमूह का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है-

'मन्त्र' पद का प्रयोग, केवल चार मूल संहिताओं के लिए, तथा शाखा संहिताओं में जो मन्त्र भाग है, उसके लिए भी किया गया है।

'छन्दस्' पद का प्रयोग सम्पूर्ण वेद तथा वैदिक साहित्य के लिए किया गया है, जिसमें चारों मूल वेद, शाखासंहिता तथा ब्राह्मण उपनिषद् आदि का समावेश हो जाता है।

'संहिता' पद का प्रयोग, चार मूल संहिताओं तथा सम्पूर्ण शाखा संहिताओं के लिए किया गया है। अर्थात् 'ब्राह्मण' भाग को छोड़कर शेष सम्पूर्ण वैदिक साहित्य। इसमें चारों वेद तथा उनकी शाखा संहिताओं का ही समावेश होता है।

'निगम' पद का प्रयोग, चार मूल संहिताओं को छोड़कर शेष सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए किया गया है। इसमें सम्पूर्ण शाखा संहिता, ब्राह्मण उपनिषद् आदि का समावेश हो जाता है। इस विचार की पुष्टि तथा संतुलन के लिए मनुस्मृति का **'निगमांश्चैव वैदिकान्'** (4/19) श्लोक द्रष्टव्य है। इसी प्रकार अष्टाध्यायी में 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग केवल ब्राह्मण ग्रन्थों के लिए किया गया है तथा जो शाखान्तर्गत ब्राह्मण भाग है उसके लिए भी।

इस प्रकार उदाहरणों के आधार पर अष्टाध्यायी में मन्त्र, छन्दस् आदि पदों के प्रयोग की अर्थसम्बन्धी विशेषता को हम स्पष्ट रूप में समझ पाते हैं।

यहाँ पर यह एक विशेष विचारणीय बात है, कि अष्टाध्यायी के सूत्रों में, मन्त्र छन्दस् आदि पदों के साथ 'वेद' पद का कहीं प्रयोग नहीं किया गया। तथापि पाणिनि का स्वारस्य इस बात में सन्निहित है, कि पाणिनि ने 'वेद' पद के स्थान पर ही अष्टाध्यायी में 'मंत्र' पद का प्रयोग किया है। पूर्वोक्त वर्गीकरण के अवसर पर हमने यह स्पष्ट किया है कि उदाहरणों के आधार पर यह निश्चित होता है, कि अष्टाध्यायी में 'मंत्र' पद का प्रयोग केवल चार मूल संहिताओं के लिए किया गया है। उन्हीं मूल संहिताओं का निर्देश पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'वेद' पद से किया है। प्रथम आह्निक में ही शब्द का महान् प्रयोग विषय बताते हुए पतञ्जलि ने लिखा है-

''चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेद' इत्यादि।

यहाँ स्पष्ट रूप में चार वेदों का उल्लेख है। उनके नाम लिखे हैं- अध्वर्यु, सामवेद, बाह्वृच्य और आथर्वणवेद। अध्वर्युः यजुः तथा बाह्वृच्य ऋक् का नाम है। इस प्रकार ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, इन चार को यहाँ 'वेद' नाम से कहा गया है। ये ही चार मूलमंत्र संहिता कही जाती हैं। आगे पतञ्जलि लिखते हैं कि इन चार मूल संहिताओं में ही शब्द का प्रयोग विषय समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत इनके अतिरिक्ति और भी है। वह क्या है? पतञ्जलि कहते हैं, वेद के अङ्ग तथा रहस्य-उपनिषद् और वेद की बहुत-से शाखा। कौन-सी वेद की कितनी शाखा? यह भी उन्होंने यहां गिना दिया है। इस गणना में मूल वेद भी सम्मिलित हैं, इससे स्पष्ट हो जाता है, कि 'मंत्र' नाम से कही जाने वाली चार मूल संहिताओं को ही यहाँ 'वेद' पद से निर्देश किया गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में 'मंत्र' पद- 'वेद' के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया गया अवगत होता है। पतञ्जलि के निर्देश से इस अर्थ में पाणिनि के स्वारस्य का हम अनायास ही अनुमान कर सकते है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में 'वेद' पद का प्रयोग न होने पर भी इसके स्थान में 'मंत्र' पद का प्रयोग किया गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

यद्यपि मुख्य रूप से 'वेद' पद, मंत्र संहिता के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं गौण रूप से अन्य वैदिक-सहित्य के लिए भी इसका प्रयोग कर दिया गया है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में एक लेख है- **''वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः''**। यह निश्चित है कि ये वाक्य मंत्र संहिता के नहीं है परन्तु इनके लिए भी यहाँ 'वेद' पद का प्रयोग कर दिया गया है। ऐसे प्रयोगों की गौण मुख्यता का निर्णय महाभाष्य में उल्लिखित उन उदाहरणों के आधार पर किया जा सकता हैं, जो अष्टाध्यायी के 'छन्दस्' 'मंत्र' आदि पदों के प्रयोग स्थलों में निर्दिष्ट किये गए हैं।

अब हम इस प्रकार के कुछ उदाहरणों का यहाँ उल्लेख करते हैं, जिनसे हमारे उपर्युक्त वर्गीकरण की पुष्टि होती है-

1/2/36 सूत्र में 'छन्दस्' पद का प्रयोग है। इसके जितने उदाहरण, अष्टाध्यायी के व्याख्याग्रन्थों में दिये गए हैं, वे सब मूल वेद अर्थात् मूल चार संहिताओं के हैं।

आगे 1/2/61-62 में 'छन्दस्' पद का प्रयोग है, वहाँ जितने उदाहरण दिये गए हैं वे सब मैत्रायणी-काठक तथा तैत्तिरीय नामक शाखा संहिताओं के हैं, जो सब कृष्णयजुर्वेद की शाखा हैं। 2/3/3 में पुनः 'छन्दस्' पद का प्रयोग है। वहां जितने उदाहरण दिये गए हैं, वे सब ब्राह्मण ग्रन्थ तथा श्रौतसूत्रों से ही लिये हैं। इन आधारों पर 'छन्दस्' पद् के व्यापक प्रयोग का निश्चय होता है। इससे अंशरूप में यह भी सिद्ध हो जाता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग मूल वेद के लिए भी किया जा सकता है। इस की साक्षी साक्षात् वेद से भी हमें मिलती है। वहाँ लिखा है-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजु0 31/7)

दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में ही इस के अर्थ को स्पष्ट किया है। अब हम इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं, कि अष्टाध्यायी के आधार पर 'छन्दस्' पद का प्रयोग सम्पूर्ण वेद तथा वैदिक साहित्य के लिए होता रहा है। परन्तु ब्राह्मण पद का प्रयोग इस से भिन्न अर्थ में हुआ है, इसकी पुष्टि के लिए हम आगे बढ़ते हैं।

2/3/60 में 'ब्राह्मणे' पद का प्रयोग किया गया है और उससे अगले 61 सूत्र में उसकी अनुवृत्ति जाती है। इससे आगे ही 62 वें सूत्र में 'छन्दसि' पद का प्रयोग किया गया है। यदि 'ब्राह्मण' और 'छन्दस्' पदों का प्रयोग समान अर्थ में ही होता, तो 'ब्राह्मण' पद की पहले से अनुवृत्ति आने पर 62 वें सूत्र में 'छन्दसि' पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं थी। इससे निश्चित होता है कि अष्टाध्यायी में 'ब्राह्मण' तथा 'छन्दस्' पदों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। ऋषि दयानन्द ने अपने अष्टाध्यायी भाष्य में इस सूत्र पर लिखा है -

''छन्दः शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति। ब्राह्मण शब्देनैतरेयादि व्याख्यानानाम्। अत एव 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्त्तमाने पुनश्छन्दो ग्रहणं कृतम्।''

इस लेख से यह प्रमाणित होता है, कि ऋषि दयानन्द के विचार से 'छन्दस्' पद का प्रयोग, मूल वेद अर्थात् मंत्र भाग के लिए होना चाहिए। पर वस्तुतः 'ब्राह्मण' से 'छन्दस्' का भेद दिखलाने के लिए ही 'छन्दस्' पद का यहाँ यह अर्थ किया गया है। क्योंकि इस सूत्र पर भी जो उदाहरण स्वामी जी ने लिखे हैं, वे किसी मूल वेद के नहीं हैं। यद्यपि एक उदाहरण वाजसनेयि संहिता का है। शेष तैत्तिरीय संहिता के उदाहरण हैं। अन्य स्थलों में भी, जहाँ सूत्रों में 'छन्दसि'

पद का प्रयोग हुआ है, श्री स्वामी जी ने तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि संहिताओं के तथा ब्राह्मण औ श्रौत सूत्र आदि के उदाहरण दिये हैं। इस के लिए ऊपर निर्दिष्ट अन्तिम दो स्थलों (1/2/61-62 2/3/3) को ही देखिए। इससे स्वामी जी का अभिमत यही प्रतीत होता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग, चारों मूल मंत्र संहिता, तथा उनके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए भी होना चाहिए। इसी अर्थ को ऋषि दयानन्द ने 3/2/73 सूत्र पर एक पंक्ति लिखकर स्पष्ट किया है उसका निर्देश आगे किया जा रहा है।

इतने लेख से यह स्पष्ट हुआ कि 'छन्दस्' और 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग पाणिनि के द्वारा समान अर्थ में नहीं किया गया। अब 'छन्दस्' और 'मन्त्र' पदों के प्रयोग की विषमता को भी देखिये।

3/2/71 सूत्र में 'मन्त्रे' पद का प्रयोग **पाणिनि के द्वारा समान अर्थ में नहीं** किया गया है। अगले 72 वें सूत्र में इस पदकी अनुवृत्ति जाती है। इनके उदाहरण ऋक् तथा यजुर्वेद से दिए गए हैं। 73 वें सूत्र में फिर 'छन्दसि' पद का प्रयोग हुआ है। इसका उदाहरण शतपथ ब्राह्मण से दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'छन्दस्' और 'मंत्र' पदों की पर्यायता नहीं कही जा सकती यदि ऐसा होता, तो 73 वें सूत्र में 'छन्दस्' पद का प्रयोग निरर्थक था। इसी दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने इस सूत्र पर निम्न पंक्ति लिखी है-

"मन्त्र इत्यनुवर्त्तमाने पुनश्छन्दोग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्-'मंत्र' शब्देन मूल संहितानां ग्रहणं भवति, तत्र (छन्दोग्रहणे) शाखान्तराणामपि ग्रहणं यथा स्यात्।"

अर्थात्- 'मंत्र' पद की अनुवृत्ति आने पर फिर 'छन्दस्' पद के ग्रहण का यह प्रयोजन है कि मंत्र शब्द से मूल संहिताओं का ग्रहण होता है, 'छन्दस्' शब्द का कथन करने पर भिन्न शाखाओं का भी ग्रहण हो जायेगा।

ऋषि दयानन्द के इन दोनों स्थलों के लेखों को मिलाकर समझने से यह अभिप्राय स्थिर होता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग अष्टाध्यायी में मूल वेद, उनकी सम्पूर्ण शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा श्रौत, गृह्यसूत्र आदि सब ही वैदिक साहित्य के लिए होता है। और 'मंत्र' पद का केवल चार मूल संहिताओं के लिए। 2/3/62 सूत्र की व्याख्या पंक्ति में 'छन्दस्' पद का जो अर्थ ऋषि दयानन्द ने किया है वह केवल उसी स्थल में 'ब्राह्मण' से भेद बताने के लिए कहा गया है। क्योंकि वहाँ भी उदाहरणों में शाखाओं (तैत्तिरीय, मैत्रायणी संहिता) के उदाहरण दिये गए हैं। अभिप्राय केवल यही है कि 2/3/62 सूत्र के उदाहरण स्थल, ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं हैं। इतने लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टाध्यायी में मंत्र, छन्दस् तथा ब्राह्मण पद अपने विशेष अर्थों को प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त किये गए हैं। इनसे एक ही अर्थ का बोध नहीं होता।

अब अन्य सूत्रों के उदाहरणों का भी तुलना के लिए यहाँ उल्लेख किया जाता है।

2/4/28 में 'छन्दसि' पद का प्रयोग है। इसके उदाहरण केवल मूल संहिताओं से दिये गये हैं। 2/4/39 में भी 'छन्दसि' पद का प्रयोग है। परन्तु वहाँ उदाहरण मूलसंहिताओं तथा तैत्तिरीय, मैत्रायणी एवं काठक आदि शाखा संहिताओं से भी दिये गये हैं। 2/4/73 में 'छन्दसि' पद का प्रयोग है। परन्तु वहाँ उदाहरण केवल मूलवेद से दिये गए हैं। इसी प्रकार 2/4/76 में 'छन्दसि' पद के उदाहरण केवल शाखा संहिताओं अर्थात् मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक संहिताओं से दिये गये हैं। फलतः इन प्रकरणों से भी स्पष्ट हो जाता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग, मूलवेद तथा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए पाणिनि ने किया है।

2/4/80 में 'मन्त्रे' पद का प्रयोग है। इसके सब उदाहरण मूलवेद से ही दिये गए हैं। परन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है। इस सूत्र की अन्तिम धातु 'जनि' का 'अज्ञत' प्रयोग, ब्राह्मण में ही दिया गया है, मूल वेद में नहीं। इस का वेद में अन्वेषण करना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने अष्टाध्यायी भाष्य की टिप्पणी में इस सूत्र पर अन्तिम धातु के प्रयोग को लक्ष्य कर इस प्रकार लिखा है-

''मन्त्रग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्।''

अर्थात् इस सूत्र में 'मंत्र' का ग्रहण, छन्दस् का भी उपलक्षण है। तब सूत्र में 'मंत्र' पद का उपादान होने पर भी यथासम्भव कोई उदाहरण मूल वेद के अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य से भी उपस्थित किये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'जनि' धातु का 'अज्ञत' उदाहरण ब्राह्मण का होने पर भी प्रकृत में कोई असामञ्जस्य नहीं होता। तथा इस लेख से भी इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है, कि 'मंत्र' पद 'छन्दस्' का समानार्थक समझा जाकर अष्टाध्यायी में प्रयुक्त नहीं किया गया। अन्यथा 'मन्त्र' पद को 'छन्दस्' का उपलक्षण बताना अनर्थक होगा।

ऐसा नहीं है, कि ऋषि दयानन्द ने ही यह उल्लेख किया हो। काशिका में वामन जयादित्य ने भी लिखा है- **'जनि' अज्ञत वा अस्य दन्ताः। ब्राह्मणे प्रयोगेऽयम्। मन्त्र ग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्।''**

इससे स्पष्ट है कि बहुत पहले से ही वैयाकरणों में यह व्यवस्था चली आ रही है। महाभाष्य में यह सूत्र खण्डित हो गया है। इसका भाष्य उपलब्ध नहीं होता। पर काशिका में इस प्रकार के उल्लेख प्रायः सब भाष्यानुसारी ही देखे जाते हैं। इससे खण्डित भाष्य लेख का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है।

यहाँ तक अष्टाध्यायी के प्रथम तथा द्वितीय अध्याय में जहाँ-जहाँ 'छन्दस्' 'मन्त्र' आदि पदों का प्रयोग हुआ है, उसके आधार पर हमने विवेचन किया है। जिसके आधार पर अति संक्षेप से इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, कि अष्टाध्यायी में मंत्र, ब्राह्मण, छन्दस्, संहिता आदि पदों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया। इसलिए जो विद्वान् पाणिनि के आधार

पर मन्त्र तथा ब्राह्मण आदि को समान रूप से वेद कहते हैं, उन्हें अपने चिन्तन पर पुनः विचार करना चाहिए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अष्टाध्यायी (मूल) शुद्धसंस्करण, रामलाल कपूर ट्रस्ट
2. अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति (1 से 3 भाग), रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत-हरियाणा
3. काशिका, आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला, दिल्ली, 1978
4. अष्टाध्यायी काशिका (प्र0अ0) डॉ0 वेदपाल विद्याभास्कर,साहित्य भण्डार, मेरठ, 1985
5. महाभाष्यम् पतञ्जलिमुनि विरचितम् (प्रथमो भागः), यु0 मीमांसक, प्यारेलाल द्राक्षा देवी ट्रस्ट देहली, 1979
6. पातञ्जल महाभाष्यम्, गुरुकुल झज्जर, हरियाणा
7. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (1-3 भाग), यु0 मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1973
8. दयानन्दकृत अष्टाध्यायीभाष्य (1-3 भाग), वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभाअजमेर (राज0)
9. स्वाध्याय (प्र.भाग), विरजानन्द वैदिक संस्थान (ज्वालापुर)
10. वैदिक पदानुक्रम कोश, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर (पञ्जाब)
11. मनुस्मृति, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
12. ब्राह्मणोद्धार कोष, विश्वेश्वरानन्द शो.सं.
13. शुक्लयजुर्वेद संहिता, चतुर्थ संस्करण, स्वाध्याय मण्डल पारड़ी
14. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (स्वा. दयानन्द) आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली
15. स्वाध्याय मण्डल पारडी द्वारा सम्पादित तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि संहितायें।
16. वेदमीमांसा, स्वा. विद्यानन्द, विजय कुमार, गोविन्दराम हासानन्द, नई दिल्ली

"भारत-राष्ट्र के उच्चतम जीवनादर्शों की अमूल्य सम्पदा: वाल्मीकि रामायण"

डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक कविता के उपरान्त लौकिक संस्कृत कविता का प्रारम्भ वाल्मीकि-रामायण से माना जाता है। अत: इसे संस्कृत-साहित्य का आदिकाव्य कहा गया है[1]। यह एक ऐसा इतिहास-काव्य है, जो भारतीय विरासत का मेरुदण्ड है। इस काव्य के अनुशीलन के बिना भारतीय इतिहास, सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा की सही समझ पैदा नहीं हो सकती है। महाकवि वाल्मीकि हमारी जातीय अस्मिता तथा राष्ट्रीय अभीप्सा से प्रखर भास्वरता में पहचान कराते हैं। वे हमारी उन ऊँचाइयों का स्पर्श कराते हैं, उन गहराइयों में गोता लगवा कर मोती प्राप्त करवाते हैं और उन आस-पास की सच्चाइयों से सम्बन्ध स्थापित करवाते हैं जो बाद के भारतीय साहित्य के सर्वोच्च रचनाकारों के लिए भी अगम्य रही हैं। वे अनेक युगों से सञ्चित स्मृति और मिथक की धरोहर के एक विराट् प्रतिभा की सर्जनाशक्ति के ताप को जीवन्त प्रक्रिया का साक्षी बनाकर भारत की सम्पदा को विश्व में आने वाली अनेकानेक परीक्षाओं के समक्ष उपस्थित करते हैं। विश्व की संस्कृति के सामने भारत की संस्कृति को **'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा'** के रूप में दर्शाने वाले महाकवि वाल्मीकि भारतीय जनमानस के लिए अभिनन्दनीय हैं, वन्दनीय हैं, अर्चनीय हैं और समादरणीय हैं। वैदिक संस्कृति का विस्तार स्वलौकिक काव्य में अवतरित कर उन्होंने वेद के उन रहस्यों को वे चाहे पारिवारिक रहे हों या सामाजिक हों, धार्मिक रहे हों या आध्यात्मिक हों, राजनैतिक रहे हों अथवा वैज्ञानिक हों सभी को लोकभाषा में व्यवहृत शब्दों के माध्यम से सहजता की क्षति किये बिना ही अकल्पित सामर्थ्य से उपस्थापित किये हैं। भारत की गौरवगाथा ज्ञान और विज्ञान, लोक तथा परलोक सभी का सामञ्जस्य महाकवि वाल्मीकि के आदिकाव्य रामायण में दृष्टिगत होता है।

भ्रातृस्नेह का अप्रतिम उदाहरण विश्व के इतिहास में रामायण जैसा कहाँ होगा? **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्**[2], भाई भाई से द्वेष न करे-इस मन्त्रांश को जीवन में चरितार्थ करने वाले राम और भरत जैसे भाई किस इतिहास के पन्नों पर अंकित हैं? मातुलगृह से आकर राम का वनगमन सुनकर और उसमें माता कैकेयी को कारण समझकर उसे धिक्कारते हुए कहते हैं-

दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः। राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम्॥
कुलस्यास्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता॥ अयो0 73,3,4

भरत भाई राम की खोज में घर से वन को प्रस्थान करते हैं। मार्ग में एक स्थान पर गं के किनारे इङ्गुदिवृक्ष के नीचे घास पर राम के रात बिताने सम्बन्धी चर्चा को सुनकर विलाप करते हैं

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम्। ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् अयो0 88,17

अति प्रयास करने पर भी जब राम अयोध्या नहीं लौटते हैं तब विवश हो राम की पादुका प्रतिनिधिरूप में लेकर स्वयं वानप्रस्थी का रूप धारण कर नन्दिग्राम में 14 वर्ष व्यतीत करने की प्रतिज्ञा भरत करते हैं-

स पादुके संप्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्।।फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन। तवागमनमाकांक्षन् वसन् वै नगराद्बहिः। तव पादुकयोर्न्यस्य राजतन्त्रं परन्तप।चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम। न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् अयो0 112,23-25

भरत का आदर्श महान् है, राम ने राज्य का त्याग और वनवास पिता के वचनों के पालनार्थ लिया किन्तु भरत ने राज्यश्री का त्याग और नन्दिग्राम में निवास किया ज्येष्ठानुवृत्तिधर्म एवं मर्यादा के पालनार्थ। एवं भरत का त्याग राम के त्याग से कम नहीं है। भरत के सम्बन्ध में राम के वचन वन्दनीय हैं, जहाँ राम सुग्रीव से कहते हैं कि भरत जैसे भाई सभी नहीं होते हैं-

न भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।। युद्ध 18,15

लक्ष्मण का आदर्श विश्व के इतिहास में अनुपमेय है। भाई राम की सेवा करने के लिए स्वेच्छा से उनके साथ वनवास ग्रहण करते हैं। भाई राम के बदले कबन्ध राक्षस के साथ युद्धकाल में वे स्वयं मरना पसन्द करते हैं-

मां हि भूतबलिं दत्वा पालयस्व यथासुखम्। अधिगन्तासि वैदेहमचिरेणेति मे मतिः। प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम्। तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा। अरण्य0 69, 39-40

करुणाजनक यह आदर्श जहाँ इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है वहां चरित्र का ऐसा प्रमाण किस देश के इतिहास में मिल पायेगा-

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले। नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥ किष्कि0 5, 22

लक्ष्मण के सदाचार को सीता हनुमान् के समक्ष निम्न शब्दों से कहती है-

पितृवद् वर्तते रामे मातृवन्मां तथैव च।। (सुन्दर का 3,50)

स्त्री के प्रति लक्ष्मण की अवाङ्मुखता तारा नाम की बालि-पत्नी को देखकर भी प्राप्ति होती है :-

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं तस्थावुदासीनतया महात्मा। अवाङ्मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः

स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्तकोपः॥ कि0 33,39

अपनी पत्नी को छोड़कर लक्ष्मण का राम के साथ चल पड़ना उसके पूर्ण वैराग्य और संयमशीलता को तो दर्शाता ही है, किन्तु वह अनेक स्थलों पर राम को भी वैराग्य अर्थात् संसार की अस्थिरता का उपदेश देता है-

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने। अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद् वर्तिरार्द्रापि दह्यते॥ (कि0 1,118) स चिन्तया दुःसहया परीतं विसंज्ञमेकं विजने तपस्वी। भ्रातुर्विशादात्त्वरितोऽतिदीनः समीक्ष्य सौमित्रिरुवाच रामम्॥ किमार्य कामस्य वशङ्गतेन किमात्मपौरुष्यपराभवेन। अयं ह्रिया संह्रियते समाधिः किमत्र योगेन निवर्ततेन॥ क्रियाभियोगं मनसः प्रसादं समाधियोगानुगतं च कालम्। सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्वः स्वकर्महेतुं च कुरुष्व तात॥ (कि0 15-17)

एवं लक्ष्मण का उदात्त चरित्र अनेक दृष्टियों से राम से न्यून नहीं है। संसार की समस्त नारियों में सीता का चरित्र अति उत्तम है जो पति के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख मानती है। इसीलिए राम के वनवास जाते समय वे कहती हैं-

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥

अयो0 27,7

वन के कष्टों को राम द्वारा बताने पर भी सीता उन्हीं के साथ जाने की ठान लेती है-

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति। गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेह पुरस्कृतान्॥ अयो0 29,2, कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः। तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया॥ अयो0 30,12

रावण के निन्दित अभिप्राय को सुनकर सीता का सटीक उत्तर दर्शनीय है-

शक्या लौभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा। अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा॥ उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्। कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित्॥ अहमौपायिकी भार्या तस्यैव वसुधापतेः। व्रतस्नातस्य धीरस्य विद्येव विदितात्मनः॥ सुन्दर० २१,१५-१६ त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम्। नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा॥ अर० ४७,३६ तथाहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी दृढव्रता। त्वया स्प्रष्टुं न शक्याहं रक्षसा धर्मपापिना॥ अर0 59,19

धर्मतत्त्व जानने वाली सीता ने अवसर आने पर राम को भी उपदेश दे दिया-

अपराधं विना हन्तुं लोकान् वीर न कामये। क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्॥ धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्। क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ॥ आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः। प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम्॥ नित्यं

मणिस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः॥ सु० ३,९
सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम्।
तलैः स्फटिकसंकीर्णैः॥ सु० ३,५३
यस्यां स्तम्भसहस्रेण प्रासादः समलंकृतः॥ यु० ३९,२३

लताओं से घिरे हुए घर, चित्रों से निर्मित घर, पुष्पों से अलंकृत घर, क्रीड़ा करने हेतु घर तथा घरों के अन्दर अनेक घरों की चर्चा रामायण में की गयी है[15], भूतल में घरों के निर्माणकला का उच्चतम आविष्कार की चर्चा आज हम प्रारम्भ करने जा रहे हैं किन्तु रामायणकाल में यह अति परिष्कृत रूप धारण कर चुकी थी-

अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः परवीरहा। प्रविवेश गुहां रम्यां किष्किन्धां रामशासनात्॥
स तां रत्नमयीं दिव्यां श्रीमान् पुष्पितकाननाम्। रम्यां रत्नसमाकीर्णां ददर्श महतीं गुहाम्॥
हर्म्यप्रासाद संबाधां नानापथोपशोभिताम्। सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम्॥ कि० ३३,१-५

हैदराबाद दक्षिण में प्राचीनकालीन एलोरा एजेण्टा की गुफाएं भी इसी प्राचीन कला का उदाहरण हैं जिसकी चित्रकारिता पर विश्व मुग्ध है। उस समय में महाबुद्धिमान् इञ्जीनियर भी होते थे। इञ्जीनियर को ब्रह्मा के नाम से जाना जाता था। उनमें से नल, मय, ऋषभ, नील, कुमुद-इनकी चर्चा नामशः प्राप्त होती है, इनमें नल विश्वकर्मा का पुत्र था। जिस विश्वकर्मा ने लङ्का की रचना की थी-

नलश्चक्रे महासेतुं मध्ये नदनदीपतेः॥ यु० २२,६२
तानि प्रयत्नाभिसमाहितानि मयेन साक्षादिव निर्मितानि॥ सु० ६,४
पुरस्ताद् ऋषभो नीलो वीरः कुमुद एव च।
पन्थानं शोधयन्ति स्म वानरैर्बहुभिः सह॥ यु० ४,३२
विश्वकर्मसुतो वीरो नलः प्लवगसत्तमः॥ यु० ३०,३४
लङ्कामीक्षस्व वैदेहि निर्मितां विश्वकर्मणा॥ यु० १२७,३

भूतल के अन्दर जहाँ नगर प्राप्त होने की चर्चा है वहाँ भूतलपुष्पवाटिका का वर्णन उस समय के निर्माण कला का अनुपम उदाहरण है-

इत्युक्तास्तद्बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम्। अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम्॥
ततस्ते देशमागम्य सौम्या वितिमिरं वनम्।
ददृशुः काञ्चनान् वृक्षान् दीप्तवैश्वानरप्रभान्॥ कि० ५०,१७,२४

रामायण में विभिन्न प्रकार के आयुधों, शस्त्रास्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है। शतघ्नी जिसे

आजकल तोप कहा जाता है उससे अयोध्या चारों ओर से रक्षित थी-

सर्वयन्त्रायुधवती....। शतघ्नीशतसंकुलाम्....। बाल० ५,१०,११

बड़े बड़े पर्वतों को तोड़ने में समर्थ अस्त्र लक्ष्मण के पास थे। जिन्हें 'नाराच' कहा जाता था। ये नाराच अस्त्र स्फोटक बम जैसे रहे होगें जिनसे वर्तमान में पर्वत को तोड़ा जाता है-

लक्ष्मणस्य च नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः।
वज्राग्निसमस्पर्शा गिरीणामपि दारकाः।। कि०५४,१५

राम के पास रौद्रास्त्र था, जिसके प्रयोग करने से आंखों से आंसू बहने लगते थे और शत्रूपक्ष को दीखना बन्द हो जाता था। जिसे आजकल आंसूगैस भी कहा जा रहा है-

रौद्रेण कश्चिदस्त्रेण रामेण निहतं रणे।। सु० ३६,२७
अथ दाशरथी रामो रौद्रमस्त्रं प्रयोजयन्।। यु० ६७,११८

फेंके जानेवाले प्रयोग का नाम अस्त्र है। विषवायु फेंकने वाले अस्त्र को वायव्यास्त्र, वरुणभाव धुन्धलापन धुँआं फेंकने वाले अस्त्र को वारुणास्त्र, अग्नि फेंकने वाले अस्त्र को आग्नेयास्त्र, रुलानेवाले अस्त्र को रौद्रास्त्र करते हैं। उस समय ये सब अस्त्र विद्यमान थे-

ब्राह्ममस्त्रं च रौद्रं च वायव्यं वारुणं तथा।। सु० ५९, १०

रावण के हाथ से छुटा हुआ विद्युत् की तरङ्ग से घिरा हुआ आठ दीप्त बमों वाला महानादकारी अस्त्र आकाश में चमका-

तद्रावणकरान्मुक्तं विद्युन्मालासमाहतम्।
अष्टघण्टं महानादं वियद्गतमशोभत।। यु० १२,६१

उस काल में इस प्रकार के बाण महारथियों के पास थे कि शत्रु पर प्रहार कर पुनः वापस आ जाया करते थे-

सायकस्तु मुहूर्तेन तालान् भित्वा महाजवः।
निष्पत्य च पुनस्तूणं तमेव प्रविवेश ह।। कि० १२,४
तं समुत्सृज्य सा शक्तिः सौमित्रिं युधि निर्जितम्।
रावणस्य रथे तस्मिन् स्थानं पुनरुपागमत।। यु० ५९,१२१

रामायण काल में हस्तशिल्प की स्थिति बहुत ऊँची थी। दान्त बनाने वाले लोग, शरीर को सुन्दर रूप देनेवाले तथा इत्र का निर्माण करने वाले लोग भी थे-

दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः।। अयो० ८४,१३

अंगों को सुन्दर रंग देने वाला पालिश का वर्णन भी प्राप्त होता है-

अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम्। मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्॥ अयो० ११८,१८-१

अनेक शलाकालों वाला छाता तथा सूक्ष्म शलाकाओं वाला छाता धूप और वर्षा से बचाने हेतु प्रयो किया जाता था-

इदुं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
छत्रं सबालव्यजनं प्रतीच्छस्व मया धृतम्॥ कि० १०,३
यत्रैतदिन्दुप्रतिमं विभाति च्छत्रं सितं सूक्ष्मशलाकमग्र्यचम्॥ यु० ५९,३

स्फटिक मणियों एवं स्वर्ण के वर्तनों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था-

हिरण्मयैश्च विविधैर्भाजनैः स्फटिकैरपि॥ सु० ११,२१
गृहं मणिभाजनसंकुलं च॥ सु० १,३६

नाचते हुए भौरों के पंखों में वायु से उठे धुओं को स्फटिक के गवाक्षों की उपमा देने से ज्ञात होता है कि स्फटिक के गवाक्षों का उस समय प्रकाशार्थ प्रयोग किया जाता था-

अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः। स्वैःपक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फटिकैरिव॥कि० १,३

रात को प्रकाशार्थ बड़े-बड़े हण्डे और बिजली के तीव्र प्रकाश का उपयोग किया जाता था-

तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरैश्च महाग्रहैः। दीप्तैर्भास्वरैश्च महागृहैः।
नगरीं राक्षसेन्द्रस्य ददर्श स महाकपिः॥ सु० ३,१९

सोने के रंग चढ़े विमान और चान्दी के रंग चढ़े घर उस समय में थे-

काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च॥ कि० ५१,५
विमानं सर्वतो रजतप्रभम्॥ सु० १२१,२४

यही नहीं सोने चाँदी के पलंग भी उस समय थे-

हैमराजपर्यंकैर्बहुभिश्च वरासनैः॥ सु० ३३,२०

व्यक्ति के नाम की अंगूठी आदि स्वर्णाभूषणों में अंकित करने की कला हो चुकी थी।

रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्॥ सु० ३६,२५

रामायणकाल में कृत्रिम मृग; किसी भी व्यक्ति को कृत्रिम शिर तथा कृत्रिम संपूर्ण शरीर तक बनाने की अद्भुत कला तैयार हो चुकी थी-

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतविन्दुभिः। आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर॥
अर० ३५,१८

दीप्तजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः। व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः॥
अर० ३९,९

**मोहयिष्यावहे सीतां मायया जनकात्मजाम्। शिरो मायामयं गृह्य राघवस्य निशाचर।
मां त्वमुपतिष्ठस्व महच्च सशरं धनुः॥** यु० ३१,८

इन्द्रजित्तु रथे स्थाप्य सीतां मायामयीं तदा। बलेन महतावृत्य तस्या वधमरोचयत्॥
यु० ८१,५

रामायण में यन्त्रों एवं यन्त्रयानों का अनेकत्र वर्णन मिलता है[16], किन्तु हाथी के समान विशाल प्रस्तरखण्डों को एवं पर्वत चट्टानों को उठाकर पुल बनाने वाले यन्त्र भी तत्काल बन चुके थे-

हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः। पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च॥
यु० २२,२९

जैसे आजकल विद्युत्सोपान का प्रयोग ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं पर गमनागमनार्थ किया जाता है, ऐसे ही यन्त्र का वर्णन रामायण में प्राप्त होता है-

निमलियत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः। नहि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः॥ ततो निमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः। सहसाऽपि दधुर्दृष्टिं हृष्टा गमनकांक्षया। वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा। निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तया। कि० ५२,२५-२९

रावण के पास सहस्त्रखरों से युक्त मेघ के समान गर्जन ध्वनि कारक यान था-

सहस्त्रखरसंयुक्तो रथो मेघसमस्वनः। यु० ६८/४

श्लोक में सहस्रखरों (गधों) से युक्त रथ का वर्णन है। किन्तु एक रथ में हजारों गधे कैसे जोड़े जा सकते हैं? यदि कहां जाये कि वेग से रथ को चलाने के लिए तब तो गधों की जगह घोड़े जोड़े जाने चाहिए, गधे घोड़ों से अधिक वेगवान् नहीं हो सकते। परन्तु इस 'खरः' पद का नाम उत्तर निघण्टु के माध्यम से हमें प्राप्त होता है। 'अश्विनोः खराः[17]' अर्थात् 'अश्विनौ' के उपयोजन खर हैं। निरुक्तकार ने अश्विनौ के लिए लिखा है-

ज्योतिषाऽन्यः रसेनान्यः।

इसका भाव है कि एक ज्योतिर्मय है, दूसरा रसमय है। हमारे विचार से ज्यातिर्मय का अर्थ अग्नि है और रसमय का अर्थ पानी है। ज्योति विद्युत् है रसमय वायु या वायव्य सम्पादक पदार्थ

तैल (पैट्रोल आदि) भी हो सकता है अथवा विद्युत् के धन-ऋण भेद भी कह सकते हैं। रामाय भी स्वयं इसका प्रमाण है जहां एक सूखी विद्युत् का वर्णन है और आर्द्र विद्युत् का भी-

अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन॥ बा० २७,९

यहाँ विश्वामित्र राम को शुष्क और आर्द्र दो प्रकार की विद्युत् देते हैं। 'खर' का अर्थ 'अग्नि' और जल की सम्मिलित शक्तियाँ अथवा विद्युत् और वायव्य सम्पादक तैल के सम्मिलि वेग को कहा जा सकता है। रावण का यान इन्हीं उभयविध शक्तिपुञ्जों से गति करता था।

रामायण में आकाशमार्ग में गमन करने वाले विमान का वर्णन अनेकत्र आता है, जो विमा मणिरत्नों से जडित, स्वर्णतारों की जालियों से युक्त तथा एक घण्टे में अढ़ाई सौ मील की या अनेकजनों को लेकर गति करता था-

कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम्। विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः॥
अर० ३१,१४

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्। वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्॥
अर० ४८,६

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो महद्विमानं मणिरत्नचित्रितम्। प्रतप्तजाम्बूनदजालकृत्रिमं दद धीमान् पवनात्मजः कपिः॥ तदप्रमेयप्रतीकारकृत्रिमं कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा। दिवं गते वायुपथे प्रतिष्ठितं व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्मवत्॥
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं ददर्श तद्वानरवीरसत्तमः॥ सु० ८,१-२,८
जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फटिकैरपि॥ सु० ९,१६
अन्हां त्वां प्रापयिष्यामि तां पुरां पार्थिवात्मज। पुष्पकं नाम भद्रं ते विमानं सूर्यसन्निभम्॥
यु० १२१,८-१

मूर्दे को ज्यों का त्यो बनाएं रखने की विद्या उस समय प्रचलित थी महाराज दशरथ का मृत शरीर तैल से भरे कढ़ाए में रख दिया गया था। आजकल बर्फ की सील्लियाँ लगाई जाती है।

बालस्य च शरीरं तत्तैलद्रोण्यां निधापय। गन्धैश्च परमोदरैस्तैलैश्च सुसुगन्धिभिः॥
यथा न क्षीयते बालस्तथा सौम्य विधीयताम्। विपत्तिः परिभेदो वा न भवेच्च तथा कुरु॥
उत्तर० ७५,२-४

प्रातः सन्ध्या हवन करना धार्मिक कृत्य माना जाता था[18]। स्त्रियों को सन्ध्या यज्ञादि का समान अधिकार पुरुषों के समान था[19]। यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करने का भी स्त्री को अधिकार था[20]। स्त्री जैसे पतिव्रत धर्म का पालन करती है, पुरुष भी तद्वत् पत्नीव्रत धर्म का पालन करने में गौरव का अनुभव करते थे[21]। सत्य का आचरण करना परम-धर्म समझा जाता था[22]। जड़ पदार्थो से अज्ञों

की तरह सीता को पूछना राम को ईश्वर का अवतार ज्ञापित नहीं करता है-

अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया। कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम्॥

अरण्य० ६०,१२

राम यदि ईश्वर का अवतार होते तो सुग्रीव सदृश मनुष्य राम को दुःखी देखकर उन्हें सान्त्वना न देता-

किं त्वया तप्यते वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा॥ यु० २,२

रामतो स्वयं स्वर्ग की इच्छा रखते हुए कहते हैं-

करिष्यामि यथार्थं तु काण्डोर्वचनमुत्तमम्। धर्मिष्ठं च यशस्यं च स्वर्ग्यं स्यात्तु फलोदयम्॥

यु० १-८,३२

वे स्वयं लक्ष्मण के पीछे यमलोक में प्रस्थान करने की बात करते हैं-

यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः। अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥

यु० ४९,१८

राम संसार को विधाता की रचना मानते हैं-

लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा॥ कि० २४,४५

एवं वाल्मीकि राम को महान् पुरुष के रूप में समाज के सामने उपस्थित करते हैं जिससे राम का जीवन अधिक आदरणीय बन जाता है।

मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हाथ से हाथ मिलाने की परम्परा लोगों में प्रचलित थी-

रोचते यदि ते सख्यं बाहुरेष प्रसारितः। गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा॥

कि०५,१२

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम्। सम्प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना॥

कि० ५,१३

मित्रता का भाव जताने के लिए भी 'नमस्ते' पद का प्रयोग किया जाता था-

नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा॥ अयो० ५२,१७

शासक को शिर झुकाकर 'नमस्ते' पद का प्रयोग होता था-

राक्षसा राक्षसश्रेष्ठं शिरोभिस्तं ववन्दिरे॥ यु० ११,१३

रामायणकाल में स्त्री और जुए में फंसना तथा कामक्रोध के वशीभूत हो जाना पाप समझा

जाता था[23]। कर्मचारियों को भत्ता और वेतन समय पर देने की परिपाटी प्रचलित थी[24]। रामायण से आजतक भारत के ग्रामीण आंचल में 'मेहतर' पद का प्रयोग उसी रूप में होता चला आ है[25]। पानी छिड़कने वाले को उस समय में विष्टी कहा जाता था, जिसे आज भी 'भिश्ती' के से हम जानते है[26]। उस समय के दो मुहावरे आज भी जनभाषा में यथावत् प्रचलित हैं। प्र आंसू पोछने का मुहावरा उस समय में भी था जो अब भी है। खर ने राम को कहा-

त्वद्विनाशात्करोम्यद्य तेषामश्रुप्रमार्जनम्।। अर० २१,

दूसरा मुहावरा किसी को लघुतम दिखाने के लिए उसे केवल भोजन में भी प्रातरा योग्य ठहराना था- रावण सीता को कहता है-

शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वाद्वश भामिनि।
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि।।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः।। अर० ५६,२
मम त्वां प्रातराशार्थमालभन्ते महानसे।। सुन्दर० २

स्वयं हेतु सीता हनुमान से कहती है-

ध्रुवं मां प्रातराशार्थं राक्षसः कल्पयिष्यति।। सुन्दर० २

दूत और गुप्तचर में भी भेद करना लोग जानते थे[27]। अपनी बात मनाने के लिए 'हड़ताल' भी की जाती थी।[28]

रामायणकाल में विज्ञान यहाँ तक पहुँच गया था कि सूर्य के अन्दर काला धब्बा देखने यन्त्र निर्मित हो चुका था[29]। जबकि आज तक हम उस विज्ञान तक नहीं पहुँच पाये हैं। सू आकार को स्पष्ट रूप से उस समय देखकर जाना गया था कि यह पृथिवी के समान ही वि है[30]। पृथिवी से चन्द्रमा की दूरी अस्सी हजार योजन अर्थात् 320000 कोश जो चार लाख दूर बैठती है, बतायी गयी है[31]। रामायण के अनुसार यह चार लाख मील दूर की लम्बाई की लम्बाई है।

रामायण के अध्ययन के उपरान्त हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मनु महाराज ने पृ पर रहने वाले सब मनुष्यों को जब आचरण की शिक्षा भारतीय जनों से ग्रहण करने को कहा वह कोई अतिशयोक्ति अथवा अनर्गल प्रलाप नहीं था। भारत के समीप रामायण काल में वह और विज्ञान, कर्म तथा उपासना पद्धति विद्यमान थी जिसकी आज विश्व अन्वेषण करने का प्र कर रहा है। प्रचुरता उन मानवों की और उन मानवमूल्यों की थी जिनकी कामना युगों युगों से समाज करता आया है। समाज की गति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-इस पुरुषार्थ चतुष्ट्य के प्रति रूप से थी। समस्त विश्व के समक्ष रहस्यमय विद्यास्रोतों को उद्घाटित करने वाला भारत राष्ट्र

लौकिक आदिकाव्य रामायण किस बुद्धिजीवी के हृदय से वन्दनीय और अर्चनीय न होगा जो हमारा मस्तक संसार के सामने स्वाभिमान से खड़ा करने योग्य बनाता ही नहीं पूजनीय मनवाता है। जिसके एक एक चरित्रनायक की कथा अतुलनीया है। जिसका राम लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी न केवल भारतीय अपितु धरातल पर रहने वाले प्रत्येक मानव के लिए पूजनीय एवं समादरणीय हैं। वह राम वस्तुतः अनुकरणीय है। अन्ततः वह रामायण अर्चनीय है जो लाखों वर्षों के भूत को और भारतीय स्वाभिमान को अपने अन्दर संजोये हुए है।।

प्रमाण तथा टिप्पणियाँ-

1.क. ऋषे, आद्यः कविरसि। आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः। उत्तररामचरित अंक- 2

ख. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्वमागतः।। ध्वन्यालोक 15

2. अथर्व0 3, 30, 3

3. मनु ने भी कहा है- वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशते तु मृतप्रजा। एकादशो स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी।।
या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्।।
9, 81-82

4. वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तथा।
स्त्रियः कस्माद् वधं वीर मन्यंसे राक्षसेश्वर।। सु0 92, 64

5. आर्य पुत्रैति वादिन्यो ह नाथेति च सर्वशः।। यु0 110,4

6. तामुवाच दशग्रीवः सीतां परमदुःखिताम्।
अवाक्शिरा प्रपतितो बहु मन्यस्व मामिति।। सु0 58, 67

7. एवं चैतदकामां त्वां न च स्प्रक्ष्यामि मैथिलि।। सु0 58, 67

8. वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः।। बाल0 1, 14
यस्मिन् न चलते धर्मो यो धर्मं नातिवर्तते।
यो ब्राह्ममस्त्रं वेद वेदान् वेदविदांवरः।। यु0 2,8

9. सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।। अयो0 1, 20

10. क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मकृतज्ञता।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम।। अयो0 12, 33

11. एताभ्यां धर्म शीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे।। अयो0 101, 22

12. या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयते।। अयो0 43, 7
13. आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघवः।। कि0 27, 35
14. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीवो वा यदि वा रावणः स्वयम्।। यु0 18, 34
15. सु0 12, 1, 12, 13, 14
16. सर्वयन्त्रायुधवती।। बाल0 5, 10
17. निघं 1, 15
18. आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत।। यु0 6, 23
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च।
प्रशुचीं परमं प्राप्य सः सदा नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम्।। बा0 29, 31-32
19. गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्।। अयो0 6, 1
सन्ध्यायमाना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यायै वरवर्णिनी।। सु0 15, 49
प्राणायामेनं पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्।। अयो0 4, 33
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला।। अयो0
20. श्रीमान् सहपत्नीभिः राजा दीक्षामुपाविशत्।। बाल0 13, 41
21. मोघं हि धर्मश्चरितो मयायं तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थकम्।। सु0 28, 13
22. सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परम् पदम्।।
भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत तत्।। अयो0 109, 13, 22

23. सद्य: प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यश:।
    कामक्रोधाभिभूतश्च यस्सार्योऽनुमते गत:।। अयो0 75, 41
24. कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
    सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे? अयो0 100, 33
25. रजकास्तन्तुवायाश्च ग्रामघोषमहत्तरा:।। अयो0 84, 15
26. विष्टीरनेकसाहस्रीश्चोदयामास भागश:।। यु0 127, 5
27. नायं दूतो महाप्राज्ञ: चारक: प्रतिभाति मे।। यु 20, 33
28. निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विज:।
    शेष्ये पुरस्ताच्छालाया यावन्न प्रतियास्यति।। अयो0 111, 13-14
29. आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते।। यु0 23, 1
30. यत्नेन महता भूयो भास्कर: प्रतिलोकित:।
    तुल्यपृथिवीप्रमाणेन भास्कर: प्रतिभाति नौ।। कि0 61, 13
31. अशीतिं तु सहस्राणि योजनानां प्रमाणत:।
    चन्द्रमास्तिष्ठते यत्र नक्षत्रसंग्रहसंयुत:।। उ0 23, 16
32. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:।
    स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवा:।। मनु0 2, 20

आर्ष परम्परा और ऋषि दयानन्द

डॉ० ज्वलन्त कुमार शा
अध्यक्ष-स्नातकोत्तर संस्कृत वि
रणवीर रणञ्जय महाविद्यालय, अमेठी (उ
फोनः ०५३६८ - २२२०

वेदार्थ की आर्ष-परम्पराः-

वेदार्थ के यथार्थ बोध का मार्ग ब्राह्मणग्रंथ और निरुक्त प्रशस्त करता है। विशेषतः मंत्रगत पदों का तात्पर्य, व्याख्यान या निर्वचन निरुक्त साहित्य में मिलता है। महर्षि वेदव्यास लिखा है कि "यास्क ने नष्ट हुये निरुक्त शास्त्र का पुनरुद्धार किया"[1]। यास्क का निरुक्त वस् निघण्टु ग्रन्थ की व्याख्या या भाष्य है। निघण्टु वैदिक शब्द-कोष या वैदिक-पदों का संकलन इसमें 5 अध्याय हैं जिसमें 1768 वैदिक पद संगृहीत हैं। 1 से 3 अध्याय में पृथिवी, हिरण्य, मनुष्य, अन्न, धन, गो, बहु ह्रस्व, प्रज्ञा, यज्ञ आदि 69 समानार्थक शब्दों का संकलन है। 4 अध में कठिन या व्याख्येय 279 पद संगृहीत हैं। अध्याय 5 में देवतावाचक 151 शब्द संग्रथित निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने 14 निरुक्तकारों की चर्चा की है। दुर्भाग्य से आज एक यास्कीय निरुक्त ही उपलब्ध है। यास्क ने पूर्ववर्ती 12 निरुक्तकारों (आग्रायण, औपमन और्णवाभ, गार्ग्य, गालव, वार्ष्यायणि, शाकपूणि आदि) के मतों का यथास्थान उल्लेख किया वेदव्याख्या का नैरुक्तिकमार्ग आर्ष है और यह प्राचीन वेदार्थ परम्परा का संवाहक है। आध्यात्मि आत्मवादी, परिव्राजक, नैदान, पूर्वे याज्ञिक, याज्ञिक और आर्षमत आदि की चर्चा भी निरुक्त मिलती है। वेदार्थ के ऐतिहासिक मत से यास्कादि ऋषि सहमत नहीं है[2]। वेदार्थ की आर्ष-परम का पोषक ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य है। इसकी पुष्टि में ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत है-

(1) निघण्टु (1/1) में पृथिवी के नामों में 'गोत्रा' पद पढ़ा गया है। सायण ने ऋग्वेद भा में 'गोत्रा' पद का कहीं भी पृथिवी अर्थ नहीं किया है। फलतः देवराज यज्वा ने जब निघण्टु टीका लिखी तो इस पद के सम्बन्ध में 'निगमोऽन्वेषणीयः' लिखकर विराम लगा दि 'निरुक्तालोचन' के कर्त्ता पं. सत्यव्रत सामश्रमी लिखते हैं - "**बहुमंत्रेषु श्रूयते गोत्रापदं, परं तत् क्वापि पृथिवीपरमिति भावः। एवञ्च गोत्रेत्यस्य पृथिवीनामसु पाठः किं मुधैव। चेदवश्यं सायणादिव्याख्यातृणामेव तत्र तत्र मंत्रेषु व्याख्यागतं दूषणमूरीकार्यम्।**"

अर्थात् अनेक मंत्रों में श्रूयमान् 'गोत्रा' पद कहीं तो पृथिवीवाचक होना चाहिए। सायण भाष्य में यह मंत्रपद कहीं भी पृथिवी अर्थ में व्याख्यात न होने से सायणभाष्य का यह दूषण समझना चाहिए।"

यद्यपि स्वामी दयानन्द का ऋग्वेद भाष्य सप्तम मण्डल के 61वें सूक्त के 2रे मंत्र तक मिलता है। पुनरपि ऋग्वेद के 6/65/5 मंत्र[3] के भाष्य में स्वामी जी ने मंत्रान्तर्गत 'गोत्रा' पद का 'भूमि' अर्थ किया है -

"(गोत्रा) भूमिः। गोत्रेति पृथिवीनाम। निघं० १/१। (गोत्रा) पृथिवी के समान वा........॥

(ऋग्वेद 6/65/5 का दयानन्द भाष्य)।

(2) मन्त्रार्थ चिन्तन-विषयक ऊहापोह के संबंध में यास्क का अभिमत है कि मन्त्रार्थ चिन्तन श्रुति के अनुसार और तर्क के अनुसार होना चाहिए। प्रकरण से अलग करके मन्त्रों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। इन मन्त्रों के अर्थ की प्रतीति उन सामान्य जनों को नहीं हो सकती जो ऋषि अर्थात् मन्त्रार्थद्रष्टा नहीं हैं या जो तप नहीं तपते हैं। यह भी समझना चाहिए कि विद्वानों में अधिक विद्यावान मनुष्य प्रशंसनीय हुआ करता है।" एक पुराना इतिहास बताते हुए यास्क कहते हैं- "ऋषियों के उठ जाने पर मनुष्य देवों से बोले कि हमारा कौन ऋषि होगा?, जो कि हमें वेदार्थ का दर्शन (बोध) करायेगा। तब उन मनुष्यों को देवों ने 'तर्क' रूपी ऋषि को दिया, जिसमें (तर्क में) मन्त्रार्थ-चिन्तन विषयक ऊहापोह था। इसलिए जो भी कुछ वेदज्ञ (अनूचान) मन्त्र-तत्त्व की खोज करता है, वह आर्ष (ऋषि कृत) ही है। अर्थात् वेद के अविरुद्ध तर्क से भूयोविद्य वेदज्ञ जिस तत्त्व की खोज करता है उसे ऋषि-दृष्ट-तत्त्व ही समझना चाहिए[4]। स्पष्टतः यास्क ने तर्क को ऋषि कहा है। परन्तु मध्यकालीन सायणादि आचार्य तथा आधुनिक मैक्डॉनल, पीटर्सन, विल्सन आदि वेदभाष्यकारों के वेदार्थों में मन्त्रपदस्थ 'ऋषि' का 'तर्क' अर्थ नहीं मिलेगा। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद 1/1/2 मन्त्र के भाष्य में 'ऋषिभिः' पद का अर्थ विकल्प से 'तर्कैः' भी किया है[5]।

(3) **चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।**
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋ. 1/164/45)

इस मंत्र का अर्थ है- चार वाणी के परिमित (नपे तुले) पद हैं। उनको जो मनीषी ब्राह्मण हैं वे जानते हैं। उन चारों में से तीन गुहा में निहित (धरे हुये) हैं, इंगित (चेष्टित) नहीं होते। वाणी के चतुर्थ (चौथे) भाग को ही मनुष्य बोलते हैं।

इस मन्त्र के व्याख्यान में महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं- **"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।"** अर्थात् वाणी के चार प्रकार के पद नाम आख्यात उपसर्ग और निपात हैं। महाभाष्यकार के इस व्याख्यान को टीकाकार नागेश स्पष्ट नहीं कर सके और उन्होंने परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूपी चार पदजात की चर्चा कर दी। यहाँ विचारणीय यह है कि भाष्यकार पतञ्जलि जब स्पष्ट रूप से नाम आख्यात उपसर्ग और निपात रूप चार पदों का ही ग्रहण

करते हैं, तब परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूप भेद की चर्चा भाष्यकारीय व्याख्यान में अप्रासंगिक है। वैसे इस मन्त्र के स्वतन्त्र व्याख्यान में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप का ग्रहण हो सकता है, जैसा कि भट्टभास्कर मिश्र ने तैत्तिरीय संहिता (2/8/8) में स्वतन्त्र में किया है।

ऋषि दयानन्द के इस मन्त्र (1/164/45) के व्याख्यान से महर्षि पतञ्जलि का पू व्याख्यांन स्पष्ट हो जाता है- **"विदुषामविदुषां चेयानेव भेदोऽस्ति-ये विद्वांसः सन्ति, नामाख्यातोपसर्गनिपातांश्चतुरो जानन्ति। तेषां त्रीणि ज्ञानस्थानानि सन्ति, चतुर्थं सिद्धं शब्द प्रसिद्धे व्यवहारे वदन्ति। ये चाऽविद्वांसस्ते नामाख्यातोपसर्गनिपातान्न जानन्ति, किन्तु निपात साधनज्ञानरहितं सिद्धं शब्दं प्रयुञ्जते।"** अर्थात् - विद्वान् और अविद्वानों में इतना ही भेद है जो विद्वान् हैं वे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चारों को जानते हैं। उनमें से तीन ज्ञा रहते हैं, चौथे सिद्ध शब्दसमूह को प्रसिद्ध व्यवहार में सब कहते (बोलते) हैं। और जो अवि हैं वे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातों को नहीं जानते, किन्तु निपात रूप साधन-ज्ञान-र प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग करते है। इस संबंध में पं. युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी अति महत्त्व है- "यहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निपात का अर्थ वैयाकरणों का पारिभाषिक नहीं लिया इसका अर्थ 'निपात्यन्ते इति निपाताः' अर्थात् रूढ़ाः = प्रकृतिप्रत्यय-विभाग-शून्य अर्थ स्वी करते हैं। इस प्रकार उनके मत में यौगिक = प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से युक्त सिद्ध नाम = आदि विभक्तियुक्त, आख्यात = तिङादि विभक्तियुक्त, उपसर्ग धातु के साथ जुड़ा हुआ अंश तीनों में प्रकृति-प्रत्ययकृत भिन्नता के कारण ये भेद बुद्धि में स्थित हैं, अर्थात् बौद्धिक हैं। मनीषी ब्राह्मण वैयाकरण ही प्रकृति-प्रत्यय-संयुक्त रूप को देखते हैं। जनसाधारण तो "देवदत्तः ग्रा उपसर्पति" आदि सिद्ध रूपों का ही प्रयोग करते हैं। अर्थात् वे प्रकृति-प्रत्यय- विभाग-कल्पना पु शब्दों का प्रयोग नहीं करते। रूढ़ शब्द का अर्थ है- अर्थविशेष में प्रयुज्यमान वर्णानुपूर्वी-विशिष्ट श निपात शब्द का रूढ़ अर्थ में प्रयोग स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वीय उणादि वृत्ति में बहुत्र किया यथा - **"खष्पादयः पप्रत्ययान्ता निपाताः।**(3/28) **शुकादयः कप्रत्ययान्ता निपाताः।** (3/42)

यहाँ 'निपाताः' का अर्थ 'रूढ़ाः' ही है। इस निपात शब्द में कर्म में घञ् प्रत्यय है। निपा रूढ़ शब्दों का ही होता है, यौगिकों का नहीं। यह वैयाकरणप्रसिद्ध तत्त्व है"।

(4) महर्षि यास्क ने वाणी (वाक्) के पूर्वोक्त व्याकरण-सम्मत चार परिमित पदों से भिन्न का भी विशद वर्णन **"चत्वारि वाक् परिमिता०"**(ऋ0 1/164/45) मन्त्र भाष्य में किया है **"कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्चे वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः ऋचो यजूंषि सामा चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वागदयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः।"** (निरुक्त-अध्याय-13)

अर्थात्- (1) ओंकार, भूः, भुवः, स्वः, (महाव्याहृतियाँ) यह ऋषियों का मत है। (2) नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात- यह वैयाकरणों का मत है। (3) मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण, व्यावहारिकी वाक् - यह याज्ञिकों का मत है। (4) ऋक्, यजुः, साम, व्यावहारिकी वाक् - यह नैरुक्तों का मत है। (5) सर्पो, पक्षियों, क्षुद्र सरीसृपों की वाक् तथा व्यावहारिकी वाक् - यह अन्य आचार्यों का मत है। (6) (ग्राम्य) पशुओं, (मुरली आदि) वाद्यों, मृगादि जंगली पशुओं और अपने आप में अर्थात् मनुष्यों में वर्तमान वाक् - यह आत्मवादियों का मत है।

वेदार्थ की यही शैली ऋषि दयानन्द के चत्वारि श्रृंङ्गा0[7] (ऋग्0 4/58/3) मन्त्र के भाष्य में दिखालाई पड़ती है। ज्ञातव्य है कि इस मंत्र का शब्दपरक व्याख्यान महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तथा यज्ञपरक व्याख्यान महर्षि यास्क ने किया है। दयानन्दीय भाष्य में इन दोनों अर्थों के साथ-साथ दो और व्याख्यान मिलते है। ऋषि दयानन्द की आर्षप्रज्ञा "धर्म व्यवहार" और "सत्य कर्त्तव्य रूप" दो महान् देवों को मरणधर्मा मनुष्यों में व्याप्त और प्रविष्ट देखती है। वेदार्थ के द्रष्टा ऋषि दयानन्द की वेदव्याख्या का यह व्यावहारिक अर्थ है जो मनुष्यमात्र के लिए परम उपयोगी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं-

(चत्वारि श्रृङ्गाः) -

(1) चत्वारो वेदाः (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद)।

(2) नामाख्यातोपसर्ग निपाताः (नाम आख्यात्, उपसर्ग और निपात रूप)।

(3) विश्वतैजसप्राज्ञतुरीय (विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय)।

(4) धर्मार्थकाममोक्षाश्च इत्यादि श्रृङ्गाणि इव (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इत्यादि श्रृंग के तुल्य)।

(त्रयः पादाः)-

(1) कर्मोपासानाज्ञानानि (तीन अर्थात् कर्म उपासना और ज्ञान रूप चलने योग्य पैर)।

(2) त्रीणि सवनानि (प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, तृतीयसवन तीन सवन अर्थात् त्रैकालिक यज्ञ कर्म)।

(3) त्रयः कालाः (भूतभविष्यद्वर्तमानाः-व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल)।

(4) मनोवाक्शरीराणि चेत्यादीनि पादाः (मन, वाणी, शरीर इत्यादि पाद हैं)।

(द्वे शीर्षे)-

(1) (द्वे) अभ्युदयनिःश्रेयसे(शीर्षे) शिरसी इव (दो- उन्नति और मोक्ष रूप शिरस्थापन्न)।

(2) द्वौ व्यवहारपरमार्थो (दो व्यवहार और परमार्थ)।

(3) नित्यकार्यौ शब्दात्मानौ (नित्य और कार्य शब्दस्वरूप)।

(4) उदगयणप्रायनीयौ (उदगयन और प्रायणीय)।

(5) अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि (अध्यापक और उपदेशक इत्यादि शिर हैं)।

(6) धर्मयुक्तस्य नित्यनैमित्तिकस्य (धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक धर्म के [अर्थात्-नि धर्म तथा नैमित्तिक धर्म])।

(सप्त हस्तासः)-

(1) पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि अन्तःकरणमात्मा च हस्तवद्वर्त्तमानाः (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, अन्तःक और आत्मा ये हाथ के समान वर्तमान)।

(2) पञ्चकर्मेन्द्रियाण्यन्तःकरणमात्मा च (पांच कर्मेन्द्रिय शरीर और आत्मा इत्यादि ह हैं)।

(3) गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि (गायत्री आदि सात छन्द)।

(4) सप्त विभक्तयः (व्याकरणसम्मत सात विभक्तियां)।

(5) सप्त प्राणाः (सात प्राण)।

(त्रिधा बद्धः)-

(1) श्रद्धापुरुषार्थयोगाभ्यासैः (तीन- श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से बंधा हुआ)।

(2) त्रिषु मन्त्रब्राह्मणकल्पेषु (तीन- मंत्र, ब्राह्मण, कल्प)।

(3) उरसि कण्ठे शिरसि (हृदय, कण्ठ, शिर में)।

(4) श्रवणमनननिदिध्यासनेषु (श्रवण, मनन, निदिध्यासनों में)।

(5) ब्रह्मचर्य्यसुकर्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारः (ब्रह्मचर्य, श्रेष्ठकर्म, उत्तम विचारों के बीच सिद्ध यह व्यवहार अर्थात् - उक्त तीन प्रकार से बंधा हुआ [धर्म] व्यवहार भी जानने योग्य है)।

(महो) महान् पूजनीयः (बड़ा सेवा और आदर करने योग्य)।

(देवः) स्वप्रकाशः सर्वसुखप्रदाता धर्मव्यवहारः, सत्कर्त्तव्यः वा (स्वप्रकाशस्वरूप और सबको सुख देने वाला [धर्म] व्यवहार या सत्कर्त्तव्य)।

(मर्त्यान्) - मरणधर्मान् मनुष्यादीन् (मरणधर्मवाले मनुष्य आदिकों को)।

(आ विवेश) - 1. समन्तात् व्याप्नोति ([आ] सब प्रकार से [विवेश] व्याप्त होता है)।

2. (मनुष्येषु) प्रविष्टोऽस्ति (मनुष्यों के बीच प्रविष्ट है)।

कर्मकाण्ड की आर्ष-परम्परा-

महर्षि वेदव्यास कहते हैं -

अग्निहोत्रफलावेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला दाराः दत्तभुक्तफलं धनम्॥

अर्थात्-वेद का फल अग्निहोत्र है, ज्ञान का फल शील अर्थात् सदाचार का आचरण है, स्त्री का फल रति (सुख) और पुत्र है तथा धन का फल दान और भोग है। अतः वेद और वैदिक वाङ्मय का निहितार्थ यज्ञिय भाव और यज्ञमयी संस्कृति में निहित है। स्वयं वैदिक ऋचाओं का उद्घोष भी यही है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ (यजुर्वेद 31/16)
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुतस्मादयाजत॥ (यजु0 31/7)
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ (यजु0 31/9)

किन्तु इस यज्ञ का अर्थ यदि उत्तरवर्ती याज्ञिकों तथा अर्वाचीन मीमासंकों के अनुसार 'देवतोद्देश्यक हविर्त्याग' मात्र किया जायेगा तो वह वेदविहित या वैदिक यज्ञ को पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पाएगा। चारों वेदों में उपलब्ध पुरुषसूक्त में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वह यज्ञ विराट् है, उस परम पुरुष के द्वारा जो यज्ञिय वितान किया गया है, उसमें बसन्त 'आज्य' (घृत) है, ग्रीष्म 'इध्मं' (समिधा) है तथा शरद् (ऋतु) 'हवि' (हवनसामग्री) है-

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
बसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ (यजु0 31/14)

वैदिक ऋचाओं से प्रेरित होकर ऋषियों ने जिस द्रव्य यज्ञ का विधान किया है वह अधिदैवत और अध्यात्म का प्रतीक है। अधियज्ञ का तात्पर्यार्थ या पर्यवसित अर्थ अधिदैवत और अध्यात्म है- **"याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा"** (निरुक्त)।

दयानन्द-वाङ्मय में दो पङ्क्तियाँ अनेक बार आती हैं -

(1) ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त।

(2) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त।

उक्त पंक्तियों में प्रथम पंक्ति ऋषि परम्परा का बोध कराती है तथा द्वितीय पंक्ति
परम्परा का। समयाभाव तथा विषपांन-वश आकस्मिक निधन के कारण ऋषि दयानन्द वृहद् वै
यज्ञों तथा यागों का स्वरूप नहीं निरूपित कर पाये, किन्तु उन्होंने सन्ध्या अग्निहोत्र
पञ्चमहायज्ञों तथा 16 संस्कारों का विशद निरूपण 'पञ्चमहायज्ञविधि:' तथा 'संस्कारविधि' ग्रंथों
किया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मन्त्र ब्राह्मण, मनुस्मृति, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनि
चरक, सुश्रुत, महाभाष्य, श्रौतसूत्र, चारों वेदों के गृह्य सूत्र - मुख्यतया आश्वलायन, पारस्
कात्यायन, गोभिल, शौनक, इत्यादि प्राचीन (आर्ष ग्रंथों) ऋषियों की मान्यताओं तथा वचनों
आधार पर ऋषि दयानन्द ने 'पञ्चमहायज्ञविधि:' तथा 'संस्कारविधि' आदि ग्रंथों की रचना की
ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य का ग्रंथ इतना व्यापक नहीं है, जिसमें पूर्वाचा
के प्रमाणों का अधिकाधिक ग्रहण करके उसमें सामंजस्य करने का प्रयत्न किया गया
उदाहरणार्थ-

(1) हिन्दुओं में प्रचलित कर्मकाण्ड के अनुसार सन्ध्यादि नित्यकर्म में **ॐ केशवा
नमः। ॐ नारायणाय नमः। ॐ माधवाय नमः।** ये तीनों लौकिक संस्कृत वाक्य बोलकर आच
किया जाता है। (नित्य कर्म पूजा प्रकाश, पृ. 18 गीताप्रेस गोरखपुर, दशम संस्करण, 20
वि0सं0)। जबकि स्वामी दयानन्द जी ने **'शन्नो देवीरभिष्टय०'** (यजुर्वेद 36/12) त
'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' प्रभृति (आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/24/12, 21, 22) तीन मंत्रों
सन्ध्या और अग्निहोत्र में 'आचमन' का विधान किया है। ज्ञातव्य है कि इन मन्त्रों में आगत 'आ
तथा 'अमृतं' पद जल का भी वाचक है, इस प्रकार यह रूपसमृद्ध विनियोग है।

(2) वेदों में भी उच्चावचता की मान्यता के कारण पौराणिकजन दैनिक सन्ध्या
'अथर्ववेद' का मन्त्र नहीं बोलते। जबकि ऋषि दयानन्द ने सन्ध्या में परम्परा से प्रचलित **'अघमर्ष
मन्त्र'** (ऋग्वेदीय) तथा **'उपस्थान मन्त्र'** (यजुर्वेदीय) को यथावत् स्वीकार करते हुए **'मनस
परिक्रमा'** के लिए अथर्ववेद से **'प्राची दिगग्नि०'** प्रभृति (अथर्ववेद 3/27/1-6)6 मंत्रों का
विनियोग किया है।

(3) प्रांचीन गृह्यसूत्रकारों ने पुसंवन संस्कार का प्रयोजन (पुरुष) पुमान् अर्थात् पुरुष के
जन्म से माना है - **पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुसंवनमीरितम्** (शौनक, वीरमित्रोद
संस्कार-प्रकाश, भाग-1 पृ. 166 पर उद्धृत)। किन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार पुसंवन-संस्कार
का उद्देश्य पति के पुरुषत्व अर्थात् वीर्य लाभ से है। स्वामी जी की मान्यता है कि जब तक बालक
का जन्म न हो जाये और जन्म के पश्चात् भी दो महीने न बीत जायें तब तक पति को ब्रह्मचर्य
का पालन करना चाहिए और स्वप्न में भी वीर्यनाश न होने देना चाहिए। (संस्कार विधि-पृ. 64
अष्टम संस्करण 1993 ई., रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत)। स्वामी जी ने पुसंवनसस्कार के प्रमाण
में सामवेदीय मन्त्र ब्राह्मण (1/4/8,9) अथर्ववेद (6/11/1-3) के मन्त्रों को उद्धृत करने के बा

स्पष्टतः यह लिखा है- 'इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिए।' (संस्कार विधि-पृष्ठ 65)। इससे भलीभाँति स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द स्त्री-पुरुष के भेदभाव के घोर विरोधी हैं। जबकि अन्य आचार्यों के अनुसार पुसंवन संस्कार का अर्थ पुत्र की कामना करना बालिकाओं के प्रति अन्याय तथा कन्या-जन्म को हेय दृष्टि से देखना है। यह कैसा संस्कार है कि जिसके द्वारा कन्या जन्म की इच्छा ही न की जाये। अतः स्वामी दयानन्द की क्रांतिकारी मान्यता स्त्री के प्रति भेदभाव को जड़-मूल से मिटाती है।

(4) जातकर्म संस्कार में पिता बालक के दायें कान में आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार **'मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती। मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ'** मंत्र का जाप करता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार **ओम् अग्निरायुष्मान्०** से लेकर **ओम् समुद्र आयुष्मान्.........** तक 8 मंत्रों का दायें कान या नाभि में जपने का विधान किया। स्वामी जी ने दोनों ऋषियों के मतों का समाहार और संशोधन करते हुए जपने के मन्त्रों में दोनों का योग कर 9 नौ कर दिया तथा नाभि में मन्त्र जप को व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया। और इन्हीं 9 नौ मंत्रों का पुनः बायें कान में भी जपने का विधान किया। ध्यातव्य है कि पौराणिक विचारधारा बायाँ हाथ, बायाँ कान इत्यादि को अशुद्ध मानती है।

(5) निष्क्रमण संस्कार में बालक के दक्षिण कान में मन्त्र जप करने का विधान है। इस संबंध में पारस्कर गृह्यसूत्र का मत यह है कि यदि बालिका का निष्क्रमण संस्कार हो रहा हो तो उसके कान में जप आदि न करके बिना मंत्र पाठ किये मौन होकर बालिका के सिर का स्पर्श करें। यही मत गोभिल गृह्यसूत्र का भी है। (**सव्ये स्त्रियै तु मूर्धानमेवाजिघ्रति तूष्णीम्'** - पारस्कर गृह्यसूत्र 1/18/6 **स्त्रियातूष्णीं मूर्धन्यभिजिघ्रणम् मूर्धन्यभिजिघ्रणम्** - गोभिल गृह्यसूत्र 25) टीकाकारों ने दो कदम आगे बढ़कर कन्या के दायें कान में मन्त्र का जप करना और सूर्यदर्शन कराने का भी प्रतिषेध कर दिया है। स्वामी जी का कन्या के प्रति भेदभावमूलक विधान से सहमत होने का तो प्रश्न ही नहीं है। वे बालक या बालिका के संस्कारगत विधियों को समान रूप से संपन्न कराने के पक्षधर हैं। अतः उन्होंने पारस्कर तथा गोभिल के उपर्युक्त वचन का तात्पर्य इस रूप में प्रस्तुत किया कि- "यज्ञमान बालिका की उपर्युक्त सभी विधियाँ बालकवत् सम्पन्न करके वाम पार्श्व में (वाम भाग) स्थित जो स्वस्त्री उसका भी मस्तक का स्पर्श करें" (संस्कार-विधिः, प्रथम संस्करण पृ० 41)। "और मौन करके स्त्री के सिर का स्पर्श करे"(संस्कार विधि द्वि० सं० पृ० 92)। यहाँ स्वामी जी ने कन्या के स्थान में स्वस्त्री का और सिर सूंघने के स्थान पर शिरः स्पर्श का संशोधन किया है।

निष्कर्षतः संस्कार करने कराने वालों के लिए संस्कारविधि एक उपयोगी ग्रंथ बन गया है। इसके पूर्व ब्राह्मण परिवारों में अपनी-अपनी वेदशाखा के अनुसार (पारस्कर या गोभिल या

आश्वालायन गृह्य सूत्रानुसार) संस्कार संपन्न किया जाता था। स्वामी जी ने इन सभी गृह्यसू समाहित करके सर्वोपयोगी संस्कार ग्रंथ की रचना की है। संस्कारविधि की कुछ अन्य विशे इस प्रकार हैं-

(1) संस्कारों की कतिपय विधियों में मांसभक्षण का विधान गृह्यसूत्रों में मिल विशेषकर मधुपर्क के निर्माण में तथा अन्नप्राशन में। किन्तु स्वामी दयानन्द ने स्व 'संस्कार-विधि' में मांस, मछली तथा सुरा को कहीं किसी रूप में स्थान नहीं दिया ।

(2) गृह्यसूत्रों में संस्कार का पात्र मुख्यत: ब्राह्मण या द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय तथा को माना गया है। स्वामी जी संस्कारों का पात्र मानवमात्र को मानते हैं। संस्कार श्रद्धा और पूर्वक कोई भी कर सकता है। स्वामी जी के अनुसार संस्कारों को करने वाला द्विजत्व निर्धारण गुण, कर्म स्वभाव के आधार पर है जन्म पर नहीं। इस प्रकार जन्म के आधार पर कुलोत्पन्न बालक को संस्कार के अयोग्य नहीं माना जा सकता।

(3) गृह्यसूत्रों में स्त्री या नारी वर्ग के प्रति अत्यन्त ही भेदभाव मिलता है। मनुस्मृति अनेक गृह्यसूत्र अनेक संस्कारों के लिए स्त्री को अधिकारी ही नहीं मानते हैं। संस्कारों की विधियाँ स्त्रियों के लिए विहित नहीं हैं या उन विधानों को स्त्री (बालिका) के संद मन्त्रपाठरहित मौन होकर सम्पन्न करना है। स्वामी जी ने इस प्रकार के भेदभाव की कड़ी स की है और स्त्री पुरुष दोनों के लिए समान रूप से सभी विधियों का विधान किया है।

सन्दर्भ-सूची

1. यास्क ऋषिरुदारधी: .... नष्टं निरुक्तमधिजग्मिवान्। (महाभारत, शान्तिपर्व अ 342, श्लोक 73)।

2. क्या निरुक्तकार यास्क वेदों में इतिहास मानते थे? आर्य समाज के दिग्गज विद्वानों शास्त्रार्थ (सम्पादक- पं. युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक- रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनी हरियाणा)

3. इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति।
   व्यर्केण बिभिदुर्ब्रह्मणा च सत्या नृणामभवद्देवहूति:।। (ऋग्वेद 6/65/5)

4. अयं मन्त्रार्थचिन्ताऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु, पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्, मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एव तं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळ्हं तस्माद् यदेवं किंचानूवचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति (निरुक्त 13/12)।

5. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।।(ऋग्वेद 1/1/2)।(ऋषिभिः) मन्त्रार्थद्रष्टृभिरध्यायपकैस्तर्कैः कारणस्थैः प्राणैर्वा (दयानन्द भाष्यम्)

6. महाभाष्यम् (पतञ्जलिमुनि-विरचितम्) हिन्दी व्याख्या- सहितम्, प्रथमो भागः, [व्याख्याकारः- युधिष्ठिरो मीमांसकः] पृ0 30-31 प्रथम संस्करण, वि0 सं0 2036 (सन् 1979 ई0)।

7. चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश। (ऋ0 4/58/3)

पञ्चकोश साधना एवं चेतना

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार -२४९४०४ (उत्तरांचल)

**हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[१]**

'चमकदार सुवर्णपात्र से सत्य का मुख ढ़का हुआ है। हे सत्यान्वेषी! तू उस ढ़क्कन को हटा जिससे सत्य का दर्शन हो सके'। उपनिषद्कार की यह उक्ति सत्यान्वेषी साधक को (चेतना) के आवरणों को हटाकर आत्मसाक्षात्कार करने की प्रक्रिया का संकेत करती है।

आत्मतत्त्व पर आवरण क्या है? ये आवरण ही कोश कहलाते हैं जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय है। इन कोशों की वेद और उपनिषदों में लोक के सदृश व्याख्या की गई है।[2] तभी तो कहा गया है- 'यत्ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'। यहाँ इन कोशों के वर्णन का उपक्रम किया जा रहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि कहता है कि सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म हृदय की गुहा में छुपा हुआ है परन्तु वही परम-व्योम और अन्तरिक्ष मण्डल में दीख रहा है।[3] उसी ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियाँ से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष हुए। यह शरीर अन्न तथा अन्नरस के अतिरिक्त और क्या है? यह स्थूल शरीर ही 'अन्नमय कोश' है।[4] इसके अन्दर एक और शरीर है जिसे प्राणमय कोश कहते है।[5] इस प्राणमय कोश के अन्दर एक और शरीर है जिसे मनोमय कोश कहा जाता है। मनोमय कोश के अन्दर एक और शरीर है जिसे विज्ञानमय कोश कहा जाता है।[7] विज्ञानमय कोश से भिन्न, इसी के अन्दर एक अन्य शरीर है जिसे आनन्दमय कोश कहा जाता है।[8]

अन्नमय कोश :-

यह प्रथम स्थूल आवरण है। इसे स्थूल शरीर कहा जाता है। माता-पिता के खाए अन्न से उत्पन्न रज-वीर्य से जो पैदा होता है और जन्म के पश्चात् क्षीरादि भोजनों से जो बढ़ता है, वह देह ही अन्नमय कोश है।[9] महर्षि दयानन्द का मत है कि त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। उसी का नाम अन्नमय कोश है।[10]

इस अन्नमयकोश की तीन अवस्थाएं जाग्रत, स्वप्न एवं सषुप्ति है। जाग्रत अवस्था में

जीवात्मा सृष्टिभोग क्रियाओं को इन्द्रियों आदि की सहायता से सम्पादित करता है। स्वप्नावस्था में रजोमिश्रित वृत्ति का उपराम होकर रजोमिश्रित तमोवृत्ति का प्राधान्य हो जाता है जो स्वप्न देने वाली स्थिति है। इस अवस्था में भी सुख-दु:ख की प्रतीति होती है किन्तु यह प्रतीति जाग्रतावस्था में नहीं रहती। सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण प्रधान होने से जीव को 'मैं सुखपूर्वक सोया' या 'मेरा चित्त क्लान्त है' आदि का वृत्यात्मक ज्ञान होता है।

प्राणमय कोश :-

अन्नमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है। इसके अन्तर्गत प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, तथा नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय ये दश प्राणों को लिया जाता है। विद्यारण्य मुनि पाँच मुख्य प्राण तथा पांच कर्मेन्द्रियों को भी इस कोश में स्थान देते है।[11] सदानन्द ने भी वेदान्तसार में इसी मत को ग्रहण किया है।[12] 'प्राणो हि भूतानामायु:'[13] कहकर प्राण की महत्ता प्रतिपादित की गई है। रक्तसंचरण, श्वसन, भोजन-पाचन, छींक, जम्भाई, मलमूत्र विसर्जन आदि कार्यों का सम्पादन इन्हीं के द्वारा होता है।

मनोमय कोश :-

प्राणमय कोश के अन्दर मनोमय कोश है। मन और पंच ज्ञानेन्द्रियों को इसके अन्तर्गत माना जाता है।[13] ज्ञान की क्रिया ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन के संयोग से ही होती है। यही मन रजस् प्रधान होकर चंचल होता है। जिसके कारण संसार की ओर गति होती है। साधना के लिए सर्वप्रथम मन को वश में करने के लिए निर्देश दिया जाता है।

विज्ञानमय कोश :-

मनोमय कोश के अन्तर्गत विज्ञानमय कोश की स्थिति कही गई है। चेतन के प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास से युक्त जो बुद्धि सुषुप्तिकाल में लीन होकर शरीर में व्याप्त रहती है, वह विज्ञानमय कहलाती है।[14] यह बुद्धि अहंकार के साथ मिलकर मन के क्रियाकलापों का निग्रह करने वाली है। यह ज्ञान के क्षेत्र में निश्चयात्मक स्थिति देने वाली है।

आनन्दमय कोश :-

जीवात्मा के कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहा जाता है। विद्यारण्य मुनि का कथन है कि जब हम किसी पुण्यकर्म के सुखरूप फल का अनुभव करते है, जब कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और उस पर आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है तथा भोगों के शान्त हो जाने पर वही बुद्धिवृत्ति निद्रा रूप से विलीन अर्थात् संस्कार रूप हो जाती है, उस वृत्ति को ही आनन्दमय कोश कहते है।[15] महर्षि दयानन्द का मत है कि जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द आनन्द और आधार कारणरूप प्रकृति है, वह आनन्दमय कोश होता है।[16]

उसको प्रकृति का निवृत्तप्रसवारूप कहा जा सकता है।[17] साधक जब त्रिगुणातीत, स्वरूपनि जीवन्मुक्त अवस्था में प्रवेश करता है, तभी आनन्द की विशेष अनुभूति होती है। उस आनन्दानु का आधार होने के कारण इसे आनन्दमय कोश कहा गया है।[18]

उपर्युक्त कोश विवरण के अनन्तर आत्मा के आवरण रूप इन कोशों को किस तरह हटाकर आत्मसाक्षत्कार किया जा सकता है, उस पर विचार किया जाना अपेक्षित है। यह जो तत्त्व इन कोशों में भी व्याप्त होकर सम्पूर्ण क्रियाकलाप करता सा दृष्टिगत होता है, वह इन कोशों से बंधा है। इन कोशों से ढ़का होने के कारण वह आत्मस्वरूप को भूल गया है। अत: दु:खी होकर संसार में बार-बार जन्मादि धारण कर रहा है। पंचदशी (पीताम्बरी भाष्य) में कहा गया है कि अन्नमयादि कोशों से ढ़का हुआ स्वरूपभूत आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर जन्मादि प्राप्ति संसार में आता है। जैसे कोश-कोश बनाने वाले कीड़े को ढांपकर उसके दु:ख का कारण बनता है, उसी प्रकार अन्नमयादि कोश भी आत्मा की अद्वयता, आनन्दमयता आदि को ढ़क कर उसके लिए क्लेश-हेतु होते हैं, इसलिए इनको कोश कहते है।[19]

कोश आत्मा से नितान्त भिन्न हैं-यह साधक को जान लेना चाहिए। यह जानने के लिए विवेक ज्ञान होना अनिवार्य है। जब साधक अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश को अनात्म तत्त्व समझकर इनसे उपराम हो जाता है, तो आनन्दमय स्थिति को प्राप्त करता है। यह स्थिति आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण विशिष्ट आनन्ददायिनी है। अत: साधक इस स्थिति को ब्रह्मानन्द ही मान बैठता है। किन्तु तैत्तिरीय का ऋषि इस अवस्था को भी पार करने को निर्देश देता है।[20] क्योंकि यह आत्मस्थिति नहीं है। विद्यारण्य मुनि भी पंचकोश के परिज्ञानपूर्वक इनके परित्याग की बात करते है।[21]

पंचकोश साधना विधि :-

आत्मसाक्षात्कार हेतु इस साधना विधि का आश्रय लेकर सहज ही मानव निज कल्याण के लिए प्रयास में रत हो सकता है।

अन्नमयकोश साधना :-

शुद्ध सात्त्विक आहार का सेवन करना, शरीर को बलशाली बनाना और इस शरीर के द्वारा सुकर्मों का सम्पादन करना अन्नमयकोश की साधना है। गीता में युक्ताहार, युक्तचेष्टा, युक्तनिद्रा और युक्तजागरण के प्रसंग से इस अन्नमय कोश साधना का संकेत किया है। यौगिक षट्कर्मों से शारीरिक शुद्धि करके आसन द्वारा शरीर में दृढ़ता तथा आरोग्यता की प्राप्ति करनी चाहिए। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र-इन सप्त धातुओं की पुष्टि हेतु आहार-विहार का विचार करके सेवन करना चाहिए। तब प्राणमय कोश की साधना के लिए मार्ग प्रशस्त होगा। किन्तु इन सब कार्यो के साथ शरीर में आत्माध्यास छोड़कर केवल साधन रूप स्वीकार करना चाहिए।

प्राणमयकोश साधना :-

प्राणायाम दोषों को दूर करने वाला[22] और प्रकाश देने वाला है[23]। जैसे अग्नि धातुओं के मलों का नाश कर देती है, वैसे ही प्राणायाम से शरीर व इन्द्रियों के मलों का नाश होता है।[24] अतः प्राणायाम का अभ्यास करके इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करें। प्राणायाम साधना से ही आत्मतत्त्व के आवरण को भेदकर साक्षात्कार किया जा सकता है क्योंकि मलपूरित नाड़ियों में उन्मनी अवस्था नहीं आ सकती।

मनोमय-कोश साधना :-

यम-नियमों का अभ्यास तथा मन व इन्द्रियों को वश में करके मनोमय कोश की साधना प्रशस्त होती है। मन ही चंचल और दुर्निग्रह है किन्तु इसे अभ्यास वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। यही महर्षि पतंजलि का भी विचार है।

विज्ञानमय-कोश साधना :-

विज्ञानमय कोश की साधना में बुद्धि व अहंकार को वशवर्ती करना है। जब पूर्वकोशों पर विजय प्राप्त हो जाएगी तो सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था तक पहुँच जाएंगे। वितर्कानुगत के पश्चात् विचारानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि करनी चाहिए। आनन्दयुक्त सम्प्रज्ञात समाधि से आगे बढ़ना और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति तक पहुँचना विज्ञानमय कोश की साधना है। यही साधना के विवेक-ख्याति का आधार है।

आनन्दमयकोश साधना :-

इस अवस्था में पहुंचने पर साधक की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध होकर एक वृत्ति विवेकख्याति रहती है जिसके द्वारा परमानन्द की अनुभूति होती है। इसी वृत्ति से संस्कारों को दग्धबीज अवस्था प्राप्त होती है और असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति आती है। यहाँ जीवन्मुक्तावस्था के आनन्द की अनुभूति होने लगती है। परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति वृति से भी छूट जाने पर प्रकृति का प्रतिप्रसव हो जाने से वह अपने मूलरूप में समाहित हो जाती है जिससे कैवल्य की अवस्था प्राप्त होती है। यही अवस्था चेतन तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली है। जैसे झीने आवरण में से प्रकाश फूट पड़ता है, वैसे ही आत्मतत्त्व की ज्योति प्रकट होती है। यह आवरण हट जाने पर साधक कैवल्यावस्था में स्थित हो जाता है।

इस प्रकार पंचकोश साधना द्वारा साधक चेतना तक पहुँचने में समर्थ होता है। वह उस परम चेतन तत्त्व का साक्षात्कार करके चरम लक्ष्य प्राप्ति में समर्थ हो जाता है।

सन्दर्भ

1. ईशावास्योपनिषद्-15
2. यत्र लोकांश्च कोशांश्चायो ब्रह्मजना विदुः। अर्थर्ववेद-10/7/10
3. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।-तैत्तिरीयोपरिषद्-ब्रह्मनन्द वल्ली
4. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्
पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नरसमयः। ब्रह्मानन्द वल्ली-।
5. तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तरआत्मा प्राणमयः। -वही।
6. तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तरआत्मा मनोमयः। -वही।
7. तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमयः। -वही।
8. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तरआत्माऽऽनन्दमयः। -वही।
9. पंचदशी-विद्यारण्य मुनि (पंचकोशविवेकप्रकरण)
10. सत्यार्थप्रकाश- नवम समुल्लामस।
11. पंचदशी (पंचकोशविवेकप्रकरण-5)
12. वेदान्तसार, पृ0 45।
13. पंचदशी (प्रत्यक्ततत्त्वविवेकप्रकरण-5)
14. वही (पंचकोशविवेकप्रकरण-7)
15. काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तो निद्ररूपेण लीयते।। पंचदशी (पंचकोशविवेकप्रकरण-9
16. सत्यार्थप्रकाश-नवम समुल्लास।
17. सांख्याकारिका-65।
18. वेदों में योग विद्या-पृ0 177।
19. पंचदशी पीताम्बरी भाष्य, पृ0-65।
20. तैत्तिरीयोपनिषद् - 218।
21. पंचकोश परित्यागे साक्षिबोघावशेषतः।
स्व स्वरूपं स एवं स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम्।। पंचदशी (पंकोशविवेकप्रकरण-22)
22. प्राणायामैर्दहेद्दोषान्-गोरक्ष संहिता।
23. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्-योगसूत्र 2/52
24. दह्यन्तेध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथैव दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।। मनु स्मृति

दृढ़व्रतधारी ब्रह्मचारी महादेव शिव

लेखक : महावीर 'नीर' विद्यालंकार,
गुरुकुल कांगड़ी

जग का कल्याण करनेवाले शिव उन नामधारी (देवों)विद्वानों में अग्रगण्य, शिवालिक नरेश, विद्वानों की त्रिमूर्ति (ब्रह्मदेव, विष्णुदेव, महादेव) में प्रतिष्ठित, (देव+देव) महादेव शिव शंकर भारत-राष्ट्र की अस्मिता के प्रतीक बने हुए हैं। हजारों वर्षों से लोग उनके गुणों का गान करते आ रहे हैं। अन्धश्रद्धा के अतिरेक में लोगों ने उनको न जाने क्या-क्या रूप दे दिये हैं। न जाने कैसे-कैसे किस्से कहानियाँ गढ़ दिये हैं। उनकी महिमा में कहीं शिव पुराण, कहीं स्कन्द पुराण, कहीं लिंग माहात्म्य, कहीं शिव-स्त्रोत, कहीं कालिदास रचित कुमार सम्भव तथा टी0वी0 पर 'ऊँ नमः शिवाय' आदि सीरियल दिखाये जा रहे हैं। वहाँ उनकी कैसी महिमा है? इस पर न जाकर संक्षेप और सीधे-सीधे शब्दों में अपनी बात को कहकर उस महामानव के ऊँचे व कल्याणकारी जीवन पर विचार करेंगे।

'विद्वांसो हि देवाः' विद्वान् ही देव हैं और विद्वानों को ही पहले देव कहा जाता था। ये देते ही देते थे। ऐसे ही ज्ञान और विज्ञान के दाता हमारे महादेव थे। इन्हें 'रुद्र' भी कहा जाता है। 'रुद्र' ब्रह्मचारी भी है और उसे शस्त्रों में (रुद्रःउपदेशको जनः) भी कहा जात है। ये महादेव **'अग्निष्वात्त'** के पुत्र थे। इनका लोक (निवास) हिमालय का हिमाच्छादित भयंकर ऊंचा प्रदेश था, जिसे 'कैलाश' भी कहा जाता था। कालान्तर में विष्णु व महादेव आदि कुलों के नाम पड़ गए। शिव का शासन उज्जैन, काशी और हरिद्वार क्षेत्र में भी था।

लोगों के दिलों में महादेव शिव की इतनी महिमा क्यों है? इस पर विचारने से ज्ञात होता है कि वे महादेव यों ही नहीं थे? वे बड़े वीर, तपस्वी, विद्वान्, व साधक थे। लोक में प्रचलित है कि जिसने अपना लंगर (लंगोट) कस लिया, उसने सबको जीत लिया। इन्द्रियों को वश में करना बहुत कठिन है। शिव ने इस कठिन कार्य पर विजय पाकर 'ब्रह्मचर्य' के माहात्म्य को जग-जाहिर किया था। बस महादेव शिव ऐसे ही लंगोट के पक्के ब्रह्मचारी या तपस्वी थे। व्रतचारी थे। जटाजूटधारी थे। नग्न रहकर मिट्टी, राख, रेत शरीर पर मलकर रहते थे। वैराग्य-भाव और योग-भाव की उनकी प्रवृत्ति थी। देखिए आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वनामधन्य महर्षि दयानन्द भी तो ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत करते हुए राख (भभूत) एवं रेत शरीर पर मलकर विचरते और उपदेश करते फिरते थे। इसलिए उस समय के महादेव यदि कठोर तप करते हुए, श्मशान की राख आदि शरीर पर मलकर रमते रहते थे तो आश्चर्य की क्या बात? ऐसे शिव को पाना भी हंसी खेल नहीं था। हिमाचल प्रदेश के राजा हिमवान् की पुत्री 'पार्वती' को भी तप करना पड़ा। तपस्विनी व ब्रह्मचारिणी बनना पड़ा। अपने को साधना पड़ा। तप से कुन्दन बनकर ही ऐसे शिव को पाया जा

सकता था। वास्तव में जिसने कामवासनाओं पर विजय पाकर अपार ब्रह्मचर्य शक्ति धारण की- नामी-ग्रामी महामानव थे महादेव शिव। इतिहास के पन्ने पलटिए- जैसे दिलीप और सुदक्षिणा 'वसिष्ठ' के तपोवन में रहकर 'नन्दिनी गाय' की सेवा करते हुए तपस्यामय जीवन बिताकर ' जैसा पुत्र पाया। जिसके नाम से 'रघुकुल' प्रसिद्ध हुआ। योगिराज श्री कृष्णचन्द्र महाराज के जी को देखिए-बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत धारण कर 'प्रद्युम्न' जैसा परमवीर पुत्र प्राप्त कि अंजना और केसरी ने 12 वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर 'वीर हनुमान्' जैसा असाधारण बलश व बुद्धिमान् पुत्र-रत्न प्राप्त किया। इसी प्रकार पूर्व में महादेव शिव ने अखण्ड ब्रह्मचर्य के त 'कुमार कार्तिकेय' सा वीरशिरोमणि पुत्र प्राप्त किया। जिसने राक्षसवृत्ति के लोगों से देववृत्ति मनुष्यों की रक्षा का भार उठाया।

यही कारण है प्राचीन काल से ही विद्वान् लोग व जिज्ञासु मानव उन कामवासनाओं वश में करने व ज्ञान-'विज्ञान प्राप्त' करने के लिए (देवों) विद्वानों के पास जाते थे। उनके लो आश्रमों या तीर्थों में जाकर सान्निध्य प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाते। इन देव लोकों में भी समय-स पर ज्ञान-विज्ञान पर चार्चाएं हुआ करती थी। जिनमें सभी लोकों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। त के तटों पर या विद्वान् रूपी तीर्थों से, आश्रमों के समीप बहने वाले जल-स्त्रोतों में स्नान क ज्ञान-विज्ञान की नदी में गोता लगाकर शरीर और मन से पवित्र हो 'व्रत' लिया जाता था। 'व्र **वै पूज्यभावः'** गंगाजल या पवित्र जल हाथ में लेकर या पात्र में लेकर 'व्रत' या 'संकल्प' अ 'शपथ' लेते थे। 'कावड़ी' भी तो 'गंगाजल' लेकर जाते हैं, किन्तु 'तीर्थ पुरुषों' या 'ज्ञानी-पुरु या 'विद्वान् पुारुषों' से कौनसा ज्ञान लेकर जाते हैं, तथा उनके 'संकल्प' क्या होते हैं, ये तो वे जाने? वैसे पूर्व में लोग 'व्रत' का महत्त्व समझते थे। अच्छी बातों का व्रत लेते थे। **'संगच्छध्वं-संवदध्व** का व्रत लेते थे। खाना न खाने का भूखे मरने का कोई 'व्रत' नहीं होता। सत्य बोलने का धर्म चलने का सबसे मित्र-भाव रखने का ब्रह्मचर्य से रहने का, विद्वानों का आदर करने का, बुद्धि लोप करने वाले पदार्थों का भक्षण न करने का, माता-पिता व गुरु की आज्ञा मानने व आदर क का, ईश्वर की सच्ची आराधना करने का 'व्रत' (पूज्यभाव) होता है। उपनिषद् का एक वाक्य है **'अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्'** अन्न की निन्दा न करो व पूज्य है। 'क्षत्रिय राजा' प्रजा-पालन उसकी रक्षा का व्रत लेता था। वैश्य धन इकट्ठा करके राष्ट्र को समृद्ध बनाने का व्रत लेता थ ब्रह्मण आजीवन तपस्या व त्यागमय जीवन का व्रत लेकर विद्या बाँटता फिरता था। 'शुद्र' समा का वह मूल भूत अंग था जो सेवा का व्रत लेकर पुण्य का भागी बनता था। हमारे यहाँ तो ऐसे-ऐ व्रत थे और इन्हीं व्रतों पर चलने वाले बड़े-बड़े धर्मात्मा, संत, भक्त, पितृभक्त व मातृभक्त थे इसलिए पुराने लोग अग्नि की साक्षी में व्रत लेते थे, ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानकर व्रत लेते थे किसी महान् विभूति को साक्षी मानकर व्रत लेते थे। मन में शिव संकल्प का भाव उदय हो यह प्रयत्न होता था। **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'**। इसलिए मन की शुद्धि का विचार सर्वोपरि होत

था। 'शिव' जी के महान् चरित्र से यही सीख सकता है। 'शिव' भी ऐसे ही मनोविकारों को दूर कर में करने वाले तपी व्रतधारी थे। आज का मानव- 'शिव' जैसा व्रत कोई ले तो सही। कहा है- **शिवः रुद्रः शान्तोऽग्निः।**

यही कारण है कि लोक में महादेव शिव को इतना महत्त्व मिला है। ये बड़े दयालु, कृपालु, विद्वान् प्रजावत्सल व वेष बदलकर प्रजा का हाल जानने वाले, प्राणिमात्र पर दया करने वाले अधिपति थे। वेद-वेदांगों के ज्ञाता एवं संगीत व नृत्यकला के पारखी थे। जीवन में फक्कड़ टाइप थे। कर्मप्रधान जीवन के अनुयायी एवं ईश्वर के 'सत्यं-शिवम्-सुन्दरम्' रूप के उपासक व उद्घोषक थे। मन की सुन्दरात के पोषक एवं बाह्य-पहनावे के दिखावे को वे महत्त्व नहीं देते थे। अपनी प्रजा के गरीब व दुःखी जनों की सहायता करने वाले थे। यही नहीं वे ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता थे। बड़े-बड़े वीर, जिज्ञासु, विद्वान् उनके राज्य (लोक) में आकर 'पाशुपतास्त्र' आदि शस्त्रों-अस्त्रों एवं शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करते थे। उन दिनों अयोध्या कौशल राज्य की राजधानी थी। इस राज्य के उत्तर की ओर हिमालय देश था। हिमालय के पश्चिमोत्तर में 'कैलाश देश' और उत्तर में किरात देश था। उस से उत्तर में देवलोक था। देवलोक से उत्तर में ब्रह्मलोक था। उन दिनों आकाशमार्ग से जाने के साधन गुब्बारे व विमान उपलब्ध थे। यह जानकर आश्चर्य होगा कि शिवलोक के अधिपतिशिव अयोध्या भी आया जाया करते थे, यही नहीं वीर हनुमान् ने भी 'शिवालय' में ही सब प्रकार की शिक्षा ली थी। महाभारत काल में अर्जुन भी जहाँ दिव्य-अस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पाताल लोक (अमरीका) गए थे, वहाँ वे 'पशुपतास्त्र' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'शिवलोक' भी गए थे। ऐसे एक दो नहीं अनेकों उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

पर्वतीय प्रदेशों में तब भी और अब भी पशुओं की हिंसा (मारने) की प्रवृत्ति कम नहीं थी। ये लोग सांप आदि जीवों तक को नहीं छोड़ते थे। महादेव शिव ने पशुओं, पक्षियों आदि को मारने पर पाबन्दी लगाई। उन्हें अपने गले का हार बनाया। प्राणिमात्र की रक्षा के आदेश जारी किये। अपना वाहन भी 'वृषभ' के आकार का बनाया। गणों (सैनिकों) और प्रजाजनों के कार्यों में इन पशुओं की भागीदारी निर्धारित की। इनसे सामान आदि ढोने, रसद पहुँचाने, फल एवं मेवे आदि बाह्य-प्रदेशों में पहुँचाने का कार्य लिया। सांपों को मारना बंद करवाया। पशुओं की 'बलि-प्रथा' पर रोक लगवाई। पक्षियों की भी रक्षा की। फलों-फूलों के हरे-भरे उद्यान व वन संरक्षित किये। जीवन को कर्मप्रधान बनाया। जनता में करके खाने का भाव जागृत किया। उनके राज्य में हर कोई स्वतन्त्र विचर सकता था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सबको प्राप्त थी। ऐसे थे महादेव शिव। किन्तु इन अच्छे कार्यों के करने के कारण लोगों ने उन्हें भला बुरा भी कहा। उनके प्रति समाज में कटुता व वैमनस्य का जहर भी उगला, यहाँ तक कि कुछ पितृ-समान बड़े लोग भी उनके द्वेषी हो गए। पर महादेव शिव इस जहर को भी अमृत समझकर पी गए। किन्तु अपने कर्त्तव्य-कर्मों से विमुख नहीं हुए।

उन्होंने यह भी जाना था कि पर्यावरण के बिगड़ने और वन्य प्राणियों की प्रजातियों विनाश से प्राकृतिक सन्तुलन खतरे में पड़ सकता है। आज भी इस समस्या के निराकरण के वृक्षों के कटाव, जल-उद्गमों को मनमाने ढंग से प्रयोग में लाने, वन्य-प्राणियों के आखेट पर पर्वतीय क्षेत्रों में निषेधाज्ञाएं जारी की जाती है। कंटीलें तार बाड़ आदि के द्वारा वन्य-जीवों वन्य-वृक्षों व वनस्पतियों का संरक्षण किया जाता है। हम आज यह स्पष्ट देख रहे हैं कि आधुनि युग की चकाचौंध ने पर्वतों की काया को बिगाड़ दिया हैं इसलिए प्रकृति का क्रोध हम पर दिखाई दे रहा है। इसलिए महादेव शिव प्रकृति-पुजारी, पशुपति और कैलाशपति थे।

उनकी महान् दयालुता और लोकोपकार भावना के कारण ही भगीरथ गंगा की धारा धरती तक ला सके। अपने राज्य की सीमाओं (जटाओं) से शिवजी ने गंगा (प्रथम नाम पद्म देवनदी) को निकालने की आज्ञा देकर संसार के प्राणियों के लिए महान् कल्याण का कार्य कि इस कार्य के लिए महाराज भगीरथ को भी वर्षों तक अथक परिश्रम व अनुनय-विनय (तपस् करनी पड़ी थी। (आज भी यदि किसी राज्य से कोई दूसरा राज्य अथवा देश 'नदी-जल' करना चाहंता है तो उसको बड़ी-बड़ी बाधाओं को पार करना पड़ता है, ऐसे ही स्वीकृति नहीं जाती) भगीरथ को भी ऐसे ही स्वीकृति नहीं मिल गई, बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था उसे। क्यों उसके पुरखों और उसने अपनी सन्तान तुल्य प्रजा को अकाल (जल, व अन्न के अभाव) से देखा था। (इन तथ्यों को समझने की आवश्यकता है) भगीरथ के इस महान् श्रम और शिव लोक-कल्याणकारी भावना को और आगे बढ़ाया था, अंग्रेजी-राज में 'काटले साहब' ने जिन गंगनहर निकाली थी। अब तो अनेकों नहरें, राजवाहे, ट्यूबवेल व नल आदि निकाले व लगाये रहे हैं, किन्तु कल्पना कीजिए हजारों वर्ष पूर्व ही नहीं पचास सौ वर्ष पूर्व ही जब कृषक ही साधारण जनता भी पानी के लिए तरसती थी। खैर! विद्वानों, राजाओं, तपस्वियों व ईश्वर के वर्षों तक तप कार प्रभाव फल देनेवाला होता ही है। तप से ही कुछ हासिल होता है। इसी जगमंगल है। जग का कल्याण निहित है।

महादेव जी अपने गुणों के कारण जगत् विख्यात थे। वे अपने गणों (सैनिकों) को पुत्र समझते थे। इसलिए गणपति (गणेश) जी जोकि उनकी सेना के प्रमुख सेनापति थे और जिन वाहन की आकृति मूषक (चूहे) के समान थी। शिवजी को उनपर पुत्रवत् स्नेह और विश्वास था शिवशंकर महादेव शासन में 'रुद्र' थे। कठोर थे। (रुद्रः सेनाध्यक्षः)(रुद्रशत्रुविदारको राजा) हिमालय की पर्वतमालाओं को लांघकर पहले भी विदेशी शत्रुदल इस महान् भारतभूमि पर आक्रमण करते रहते थे। किरात, यवन, हूण, शक व तारक आदि असुर देवभूमियों को आक्रान्त करते रहते थे। यह राक्षसवृत्ति के लोग सबको कष्ट पहुंचाते थे। इसीलिए शत्रुओं पर महादेव शिव का 'रुद्र' रौद्र होता था। उनका भयंकर ताण्डव क्या है? शस्त्र-संचालन करने और शत्रु के दिल में भय पैदा करने का, वाद्य-यन्त्रों (बड़े-बड़े डमरूओं, भेरी, नरसिंगे) आदि के उद्घोष सहित, विविध

मुद्राओं में शत्रुदल पर चढ़ाई करते थे तो भंग के सात्त्विक नशे में उनकी भुजायें फड़कती और मुख-भंगिमायें रौद्र-रूप धारण करती थी। 'धम-धम और बम-बम' की ध्वनि से धरती-आकाश गुंजायमान होता था। शिव के शस्त्रागारों में शत्रुमर्दन के लिए जहाँ विविध प्रकार के दिव्यशस्त्रों-अस्त्रों का निर्माण होता था वहाँ उन्होंने साधारण शत्रुओं पर विजय पाने के लिए एक नोक वाले 'शूल' भाले के स्थान पर तीन 'शूल' नोक वाला भाला अर्थात् 'त्रिशूल' बनवाया। जिसका वार शत्रु पर भारी पड़ता था। ऐसे परम प्रतापी महान् गुणों के भण्डार थे महादेव शिव। वे दिखावे और गर्व से दूर थे। सच्चे ईश्वर आराधक, मंगलमय प्रभु के प्रस्तोता और **'ओ३म्'** या 'ओंकार' के उपासक थे। उन्होंने अपने जीवन को इतना तपा लिया था कि वे ऊंचे दर्जे के साधक व तपस्वी थे। समाधि की अवस्था में रह जाते थे। इसलिए उन्होंने लगभग 250-300 वर्षों की लम्बी आयु का भोग किया। अन्त में समाधिस्थ हुए। देखिए महाभारत काल में भी भीष्म, कृष्ण, धृतराष्ट्र, बलराम आदि 200/250 वर्ष से कम के नहीं थे। आज भी ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिनकी आयु 100 को पार करके दूसरा शतक बनाने को उद्यत है। इसलिए शिव द्वारा वर्षों की लम्बी आयु भोगना गलत नहीं है। वे अपने लोकोपकारी कार्यों से जन-जन में आज भी अमर हैं। किन्तु उनका नाम लेकर जो भंग-धतूरा पी-पीकर अनाप-सनाप बकते हैं, वे उनके सच्चे अनुयायी या भक्त नहीं शत्रु हैं। उस महान् महापुरुष, महाविद्वान् महादेव (तथा अन्य महापुरुषों) के विषय में जो अनाप-सनाप, ऊल-जलूल मनगढ़ंत कथायें गढ़ी या की जाती हैं उनका खण्डन और उनके महान् जीवन का मण्डन होना ही चाहिए।

॥ इति शुभम्, अलम्, शिवम् ॥

ऋग्वेद में विश्वकल्याणार्थ युद्ध और हिंसा

डॉ.नन्दिता सिंघ
व्याख्याता, संस्कृ
राजकीय डूंगर महाविद्याल
बीकानेर (राज०

वेद मानव को निम्न लोक से उच्च लोक में प्रतिष्ठित करना चाहता है और मानव में दि गुणों का विकास देखना चाहता है - **मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्**[1]। ऋग्वैदिक मन्त्रों में आर्यों द्व दिव्य गुणों को धारण करने के लिये देवों की आराधना के साथ ही एक सुखमय और शान्तिपू जीवन की कामना की गयी है। इसी श्रृंखला में वेद में सर्वभूतमैत्री का संदेश दिया गया है।[2] जीव में बहुविधसम्पन्नता के लिये वेद में कतिपय निषेधात्मक कामनाएं भी की गयी हैं, जैसे दरि से मुक्ति, रोगों की शान्ति और शत्रुनाश आदि। वैदिक आर्य सकरात्मक चिन्तन में विश्वास रख थे। उनके अनुसार मानवजीवन के दो प्रशंसनीय मार्ग हैं- सत्य और अहिंसा। इनसे ही मनुष्य इहलोक और परलोक में कल्याण हो सकता है।[3] महाभारत में अहिंसा को परम धर्म घोषित कि गया है।[4] जैसे- हाथी के पदचिह्न में अन्य सब प्राणियों के पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार स धर्म अहिंसा से प्राप्त हो जाते हैं।[5] योगशास्त्र में अहिंसा के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा ग है कि अहिंसा माता के समान समस्त प्राणियों का हित करने वाली है, अहिंसा विश्वरूपी मरुस्थ में अमृत का झरना है, अहिंसा दु:खरूपी दावानल को नष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों घनघोर घटा है, अहिंसा भवभ्रमण रूपी रोग से पीड़ितजनों के लिये उत्तम औषधि है।[6] प्राणिमा के प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा से बचने के लिए अथर्ववेद में कहा गया है कि चलते-फिर बैठे हुए, खड़े हुए, दाहिने या बायें पाँव से टहलते हुए भूमि में हम किसी को दु:ख न दें।[7] जल पृथ्वी, वृक्ष आदि सभी में जीव व्याप्त हैं। कतिपय जीव तो इतने सूक्ष्म हैं कि मनुष्य की पलक गिरने मात्र से ही मर जाते हैं, अत: महाभारत में सम्पूर्ण जगत् को जीवों से व्याप्त मानकर यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या कोई प्राणी हिंसा से बच सकता हैं?[8] इसका समाधान यह दिया गया कि हिंसा और अहिंसा का आधार बाह्य घटना न होकर, मनुष्य की मनोदशा आधार है। तत्वार्थसूत्र में भी कहा गया है कि राग-द्वेष आदि प्रमादों से युक्त होकर किया जाने वाला प्राणवध हिंसा है। अहिंसा के दो भेद हैं- पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक अहिंसा आत्मा की समानता के सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार जैसे सुख-दु:ख की अनुभूति मेरी है वैसी ही अन्य प्राणियों की है, अत: दूसरे प्राणियों को कष्ट देना स्वयं को कष्ट देना है।[10]

व्यावहारिक अहिंसा उपयोग पर आधारित तथा स्वार्थप्रेरित अहिंसा है। वेदों में हमें अहिंसा के दोनों रूप दृष्टिगत होते हैं, किन्तु व्यावहारिक अहिंसा पर वेदों में विशेष बल दिया गया है। सामान्य मानव इसी व्यावहारिक अहिंसा को जीवन में अपनाता है। भौतिक सुख पाने के लिए शुत्रओं की हिंसा अनिवार्य है। ईर्ष्या-द्वेष-लोभ आदि प्रवृत्तियों के कारण मानव विकासशील प्राणी है। इन प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य एक-दूसरे का शत्रु बनता है अतः शत्रुरहित बनने के लिये उसे मानसिक या शारीरिक हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। वेद अकारण हिंसा का विरोध करते हुए सकारण हिंसा को विश्व कल्याण हेतु अनुज्ञा प्रदान करता है।

अथर्ववेद ने हिंसक की हिंसा में कोई दोष (पाप) नहीं माना और कहा कि जो मांस खाते है उन्हें तुम मार डालो।[11] अथर्ववेद के एक मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह अपने अहिंसक दिव्य तेज से सत्य का नाश करने वाले को जला दे।[12] तात्पर्य है कि जो सत्य का नाश करता है उसका नाश करना हिंसा नहीं अपितु अहिंसा है।

आर्यों ने अपने देवताओं को हिंसारहित अथवा अहिंसक गुण से विभूषित किया है।[13] वे आर्य स्वयं भी इन गुणों से युक्त हो इसके लिये उन्होंने अहिंसक बुद्धि की कामना की है।[14] इन्द्र से ऐसी विपुल समृद्धि की प्रार्थना की गयी है जो कल्याणकारिणी, अहिंसक तथा शुत्रओं को तारने वाली हो।[15] देवता भी अहिंसक मानव को चाहते हैं इसलिए इन्द्र और वरुण दानी अहिंसक पुरुष को ऐश्वर्ययुक्त और अन्नयुक्त धन देते हैं।[16] जो उत्तम अहिंसक यज्ञशील मनुष्य अन्न से, समिधा से, आहुति से, ज्ञान से अग्नि के लिये आहुति प्रदान करता है, वह मनुष्य उत्तम सुख से युक्त होता है।[17] इसके विपरीत किसी भी मानव की धूर्तता या हिंसा विश्वकल्याण के लिए घातक हो सकती है और मानवीय सुखों में विघ्न उत्पन्न कर सकती है।[18] अतः वेद ऐसे लोगों के विनाश का निर्देश देता है।

तैत्तिरीय संहिता में असुरों को देव-विरोधी, राक्षसों को मानव-विरोधी तथा पिशाचों को पितृ-विरोधी बताया गया है। सारे वैदिकसाहित्य में ऐसे लोगों के वध व विनाश की कामना की गयी है, क्योंकि ये पर्यावरण को विनष्ट करते हैं एवं ऋत के नियमों के उल्लंघनकर्ता हैं। सभी देव ऋत के उल्लंघनकर्ताओं को दण्डित करते हैं अथवा उनका वध करते हैं तथा संसार से हिंसाजन्य तत्वों का नाश करते हैं।

वेद के अनुसार समाज में जो लोग अकर्मा, अविचारशील, पापव्रती और अमानवतापूर्ण राक्षसोचित कार्य करते हैं, उन्हें सहन नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा विश्व में अमानवता का साम्राज्य हो जायेगा।[19] इन्हीं कारणों से अहिंसावादी होते हुए भी ऋग्वेद ने हिंसकों और दुष्टों से मानवजाति की रक्षार्थ युद्ध और हिंसा के प्रयोग का निर्देश दिया है। वेद का मन्तव्य है कि इस संसार में राक्षसों, घातकों और उपद्रवी लोगों का कल्याण न हो अपितु जो गाय, वीर और यश प्राप्ति

के लिये प्रयत्न करने वाले हों, उन्हीं का कल्याण हो।[20] हम अपने मित्र का ध्यान रखें कि शत्रु गुप्त स्थान में रहकर हमको बाधा देता है हमारे ही बीच में रहकर हमारा नाश करता है शत्रु को अपने तेज से अथवा तप द्वारा तेजस्वी होकर अपने जरा रहित बलयुक्त तेज से नष्ट देना चाहिए।[21] मनुष्य राक्षसों से अपना बचाव करे, पापी और छली दुष्टों से अपने आपको रखे और सेना लेकर आक्रमणकारी शत्रु का पराभव करने के लिये तैयार रहे।[22] मोह, क्रोध मत्सर आदि दुर्गुण मानवता के लिये घातक हैं अतः ऋग्वेद में कहा गया है कि उल्लू, कुत्ते, कोक पक्षी, गरुड़ और गिद्ध के समान आचरण करने वाले अर्थात् मोहग्रस्त, क्रोधी, मत्सर कामी, गर्विष्ठ और लोभी हैं उन्हें पत्थर से मारना चाहिए और अपनी रक्षा करनी चाहिए।[23] में मनुष्यों के बीच अपने को ही सबसे श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी मनुष्य को नष्ट करने की कही गयी हैं क्योंकि घमण्डी मनुष्य के कारण जगत् में स्पर्धा, युद्ध तथा घातपात होते हैं। पर जब युद्ध आरंभ हो तो पुत्र, पशु और जलों की प्राप्ति और रक्षा के लिये शस्त्रधारी की सहायता ली जानी चाहिए।[24] इन्द्र मानवों पर दया करने वाले देव हैं[25] वे विश्व कल्याणार्थ और हिंसा का प्रयोग करते दृष्टिगत होते हैं। जब राक्षस और दुष्ट बहुत बढ़ जाते है तब अत्याचार करने लगते हैं जिन्हें देखकर द्यौ और पृथ्वी कांपने लगते हैं। तब इन्द्र वीरों के साथ अत्याचारियों पर आक्रमण करता है और अपने शस्त्रास्त्रों से उन्हें मारता है।[26] इन्द्र ने मिलकर जाने वाले, सुख प्राप्त कराने वाले युद्धों में सैकड़ों रक्षाओं से यजमान की रक्षा की। ज्ञानी के लिए नियम तोड़ने वालों को दण्ड दिया और काली त्वचा वालों को विनष्ट किया। वह हुए अग्नि के समान सारे हिंसकों को सर्वथा जला देता है।[27] इन्द्र दुर्बुद्धि और दुष्ट विचार को प्रजा के मध्य नहीं रहने देता। अपने भक्तों से दुश्मन सा व्यवहार करने वाले तथा व्यवहार करने वाले को मारता है तथा मार्ग से दूर करता है।[28] इन्द्र लोगों के हित करने योग्य कर्मों को जानता है। शस्त्रों से भयंकर हुआ इन्द्र इन शत्रु सेनाओं के अन्दर प्रविष्ट होता है शत्रुओं के नगरों को कंपाता है। हर्षित होकर अपनी महिमा से वज्र हाथ में लेकर शत्रु का करता है।[29] इन्द्र अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी के ऊपर के सारे शत्रुभूत प्राणियों का पराभव करता है प्रजाहितैषी इन्द्र प्रजा का अहित करने वाले वृत्र को मारता है। इस मायावी दानव की मायाओं बहुत दूर करता है।[31]

इस प्रकार इन्द्र विश्व कल्याण के लिये युद्ध और हिंसा करता है न कि बल प्रदर्शन, या गर्व के कारण। उत्तम कर्म करने, उत्तम प्रकार से प्राणियों का रक्षण करने, प्राणियों की हिं न करने तथा छल-कपट से रहित होने के कारण इन्द्र ऋत् रूप हैं।[32]

इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवता भी विश्व कल्याणार्थ युद्ध और हिंसा करते हैं। इन्द्र के अग्नि को 'वृत्रहणम्' अर्थात् दुष्ट शत्रुओं का नाश करने वाला और 'पुरन्दरम्' शत्रु के नगरों को करने वाला कहा गया है।[33] एक मंत्र में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे अग्ने!

जो हमारे अन्न के सारभूत रस का नाश करता है, जो घोड़ों का गौओं का और अपने शरीरों का नाश करता है वह चोरी करने वाला चोर समाज का शत्रु है। वह अपने शरीर और संतान के साथ विनष्ट हो जावे।[34] अग्नि राक्षसों को संताप देने वाला और प्रजाओं का पालक है[35] अतएव अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि - हे अग्ने ! तू हिंसकों, द्वेष करने वालों को मारता हुआ तथा राक्षसों को जलाता हुआ सर्वदा तीव्र तेज से प्रकाशित हो।[36] हे महातेजस्वी बलवान् अग्ने ! हमें राक्षसों से बचा। कंजूस धूर्तों से बचा। हिंसकों और घातकों से हमें सुरक्षित रख।[37] शुभ्र किरण वाला, अमर, पवित्र, शुद्धता करने वाला स्तुत्य अग्नि राक्षसों का नाश करता है उसी प्रकार से मनुष्य तेजस्वी, सर्वत्र पवित्रता और शुद्धता करने वाला होकर दुष्टों का नाश करने वाला हो।[38] सोम पापी को कभी नहीं छोड़ता तथा मिथ्या व्यवहार करने वाले बलवान को भी नहीं छोड़ता। वह राक्षस को मारता है तथा असत्य भाषण करने वाले को भी मारता है। ये दोनों अपराधी इन्द्र के बन्धन में रहते हैं।[39] बलवान इन्द्र से ऐसे पुत्र की याचना की गयी है जो अपने सामर्थ्य से शुत्र जनों से सामना कर सके और शत्रुओं का त्वरा से नाश कर सके।[40] वीर पुत्रों वाली अदिति देवी से प्रार्थना की गयी है कि हमारी दीन या अच्छी दोनों ही अवस्थाओं में मारने की इच्छा करने वाले लोग हमारे पुत्रादियों की हिंसा न करे।[41] अश्विदेवों ने शम्बर का वध करने के लिए किये गए युद्ध में अतिथिग्व, कशोयुज और दिवोदास की रक्षा की और त्रसदस्यु की शत्रु के किले तोड़ने में सहायता की। ऋषि प्रार्थना करता है कि यह काम जिन शक्तियों ने किया उन शक्तियों से वे अश्विद्वय हमारे पास आ जायें और हमारी सहायता करें।[42] इस प्रकार सभी देवाताओं से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि - हे रक्षा करने की इच्छा करने वाले देवो ! कुटिल शत्रुओं की हिंसा हमें कष्ट न दें। उस हिंसा से हमें मुक्त करो।[43] हे देवो ! हमें रथों से युक्त, मानवों की तृप्ति करने वाले, बहुत पुत्र-पौत्रों से युक्त, महान् सत्य का रक्षक ऐसा धन और अक्षय धन दें, जिससे हम शत्रु के सैनिकों पर और दुष्ट स्पर्धा करने वालों पर आक्रमण करें।[44] आर्यों द्वारा किये गए युद्ध और हिंसा मूल्य आधारित थे। ऋग्वेद के अनुसार वीर मनुष्य जब शत्रुओं से युद्ध करते हैं तब शस्त्रास्त्रों के लगने के कारण होने वाले दुःखों की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करते अपितु वीरता से लड़कर जो लोभी शत्रु होते हैं, उन्हें पशु की तरह बांधकर ले जाते हैं पर जो निर्बल होकर उनके पास आता है, उस पर अपने बल का प्रयोग नहीं करते तथा जो गर्दभ आदि निकृष्ट वाहनों पर बैठकर लड़ने आता है, उससे वे वीर अश्व आदि उत्कृष्ट वाहनों पर बैठकर लड़ने नहीं जाते।[45] वे शत्रुओं का नाश उत्तम बुद्धिपूर्वक करते हैं।[46]

मानव अकारण हिंसा करने से बचे, इस बात की ओर वेदों में विशेष ध्यान दिया गया है अतः अथर्ववेद (5,31,10) में कहा गया है कि कुमार्ग में चलने से हिंसा की प्राप्ति होती है किन्तु सुमार्ग से उसे दूर किया जा सकता है। मूढ़ मनुष्य मर्यादा धारण करने वाले पुरुषों से बिना सोचे उपाय कर सकता है। वेदों की हिंसा और हिंसक दोनों के प्रति अनास्था रही है अतः ऋग्वेद में

कहा गया है कि मनुष्यों को हिंसा तथा कुटिलतारहित कर्म करने चाहिए। उनमें दिव्य विबुधों बुलाना चाहिए और उनका सम्मान करना चाहिए।[47] अत्यावश्यक होने पर ही वेदों में हिंसा के की आज्ञा दी गयी है। ऋषि कहता है कि- हम युद्ध में हिंसा कर्म करने वाले शत्रुओं को तथा दुष्ट बुद्धि वालों पर भी शासन करें। वीरों की सहायता से वृत्र को मारे फिर इन्द्र का बढ़ावें तथा हमारी बुद्धि सुरक्षित रहे।[48] विश्व के कल्याण तथा रक्षण के लिये सर्वत्र फैले शत्रु नाश किया जाना चाहिए, उसके पैर पकड़ कर पर्वत पर फेंक दिया जाना चाहिए।[49] इस ऋग्वेद में विश्व कल्याणार्थ युद्ध और हिंसा का प्रयोग कर मानवता की रक्षा की गयी है। में भी युद्ध और हिंसा का प्रयोजन विश्वकल्याण हो तब ही विश्व का मंगल तथा मानवता कल्याण हो सकेगा।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद, 10.53.6
2. दृते दृंह मां मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
   मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
   मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजुर्वेद, 36.18
3. स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि।
   उभे सुष्टुती सुगातवे।। अथर्ववेद, 6.1.3
4. अहिंसा परमो धर्मः - महा. भा. अनुशासन पर्व, 115.1; लाटी संहिता, 1.1
5. पद्म पुराण, 18.441
6. मातेवं सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।
   अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारिणी।।
   अहिंसा दुःखदावाग्नि प्रावृषेण्य धनावली।
   भवभ्रमिरुगार्तानाम हिंसा परमोषधी ।। योगशास्त्र, 2.51-52
7. उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्त प्रक्रामन्तः।
   पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ।। अथर्ववेद, 12.1.28
8. महा. भा., शान्तिपर्व, 15.25.26
9. तत्वार्थसूत्र, 7-8
10. आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पश्यति; अन्यत्र द्रष्टव्य - यजुर्वेद 40.6,7; मनुस्मृति 12.91, 125
11. य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये कविः।
    गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ।। अथर्ववेद, 8.6.23

12. अथर्वज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष - वही, 8.3.21
13. ऋग्वेद 1.31.13; 1.33.1; 1.95.9; 1.116.14 आदि
14. वही, 7.67.5
15. वही, 6.22.10
16. वही 6.68.6
17. वही 8.19.5
18. वही 7.94.8
19. अकर्मा दस्युरभि.................दम्भय - वही, 10.22.8
20. वही, 8.47.12
21. वही, 6.5.4
22. वही, 7.1.13
23. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
    सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।। वही, 7.104.22
24. वही, 6.19.12
25. एको देवत्रा दयसे हि मर्तान् - वही, 7.23.5
26. वही, 1.133.6
27. वही, 1.130.8
28. वही, 1.131.7
29. वही, 7.21.4
30. वही, 7.21.6
31. वही, 211.1
32. सुगोपा असि दभाय सुक्रतो परो मायाभिर्ऋत आस नाम ते - वही, 5,44.2
33. वही, 6.16.14
34. वही, 7.104.10
35. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः - वही, 8.60.19
36. वही, 8.43.26, अन्यत्र द्रष्टव्य - वही, 6.15.12
37. वही, 1.36.15 अन्यत्र द्रष्टव्य - वही, 1.36.20 1.74.2, ; 7.94.8

38. वही, 7.15.10
39. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
    हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ।। वही, 7.104.13
40. वही, 6.20.1
41. वही, 8.67.11
42. वही, 1.112.14, अन्यत्र द्रष्टव्य - वही, 1.112.1-13, 15-23 (यहां टेक द्वारा क
गया है- ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्) ; 1.116.1-24
43. वही, 8.67.9
44. वही, 6.49.15
45. वही, 3.53.22
46. प्र स्वां मतिमतिरत् - वही, 1.33.13
47. वही,
48. वही, 8.21.22
49. जिनामि वेत् क्षेम आ सन्तमामुं प्र ते क्षिणां पर्वते पादगृह्य - वही, 10.27.4

राम और कुम्भकर्ण के युद्ध में वीररसः

राम और कुम्भकर्ण का भयानक युद्ध भी भट्टिकाव्य का वीर-रसोत्पादक प्रसंग है। कुम्भकर्ण ने युद्ध-भूमि में आकर सहस्त्रों वानर-वीरों को धराशायी कर दिया। महाकवि भट्टि ने युद्ध वर्णनों के अवसरों पर कहीं भी विपक्षी पात्रों की वीरता वर्णित करने में कृपणता नहीं दिखाई क्योंकि रामादि की वीरता तभी प्रकट होती है जब वे महान् बलशाली राक्षसवीरों को पराजित करते हैं। किसी साधारण व्यक्ति को पराजित करने में वीरता का महनीय रूप प्रकट नहीं होता।

कुम्भकर्ण द्वारा वानरों की सामर्थ्य समाप्त किये जाने, अंगद के द्वारा वानरों के बल को बढ़ाते हुए उन्हें पुनः युद्ध के लिए प्रेरित करने और स्वयं भी उनका साथ देने पर विभीषण के द्वारा कुम्भकर्ण की शक्ति का परिचय मिलते ही राम-लक्ष्मण के आदेश से वानरों का फिर से कुम्भकर्ण पर आक्रमण करने, सुग्रीव और हनुमान् के कुम्भकर्ण के साथ युद्ध करने[23], सुग्रीव के मूर्छित होने[24], लक्ष्मण द्वारा कुम्भकर्ण के मुकुट और कवच काट ड़ालने के प्रसंग में[25] तथा तदनन्तर राम का उन बाणों से प्रहार करने जिनसे पहले खर-दूषण, मारीच आदि को मारा था परन्तु कुम्भकर्ण का डटकर मुकाबला करने[26], राम द्वारा एक हाथ को वायव्य से तथा दूसरे को शक्रास्त्र से काटने, हृदय को ऐन्द्रास्त्र तथा बाणों से जंघाओं को काटने पर कुम्भकर्ण की मृत्यु होने और देवताओं द्वारा राम की स्तुति करने[27] आदि के प्रसंग वीररस के सुन्दर स्थल हैं।

यहाँ राम और कुम्भकर्ण आलम्बन विभाव हैं। एक-दूसरे पर किये गए कठोर प्रहारादि उद्दीपन विभाव हैं। कुम्भकर्ण के अंग-प्रत्यंगों का कटकर भूमि पर गिरना तथा मृत्यु को प्राप्त होना, देवताओं का हर्षनाद आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, गर्व, अमर्ष, विषाद, मूर्छा आदि संचारी भावों से परिपुष्ट 'उत्साह' स्थायीभाव वीररस की अभिव्यंजना करता है।

लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध में वीररसः लंका के युद्ध में जहाँ राम-रावण के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी योद्धा के रूप में वर्णित हैं वहाँ लक्ष्मण-मेघनाद को भी परस्पर प्रतिद्वन्द्वी के रुप में चित्रित किया गया है। दोनों ही महान् हैं जो कभी युद्धक्षेत्र में पराजित नहीं हुए। एक-दूसरे को रोषपूर्ण वचन कहते हुए भयानक अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करते हैं।

विभीषण द्वारा पिता के दोषों को सुनकर क्रोधित हुए मेघनाद का अपने चाचा तथा लक्ष्मण पर प्रहार[28], लक्ष्मण द्वारा मेघनाद के सारथि, घोड़े, रथ को तोड़ने, मेघनाद के लक्ष्मण पर बाणों की बौछार करने तदनन्तर लक्ष्मण द्वारा वरुणास्त्र और माहेश्वरास्त्र-प्रयोग तथा मेघनाद द्वारा रौद्रास्त्र और आसुरास्त्र- प्रयोग करने[29], लक्ष्मण द्वारा मेघनाद को मारकर देवताओं और कपि-सेनानियों को प्रसन्न करने[30] तथा राक्षसी सेना और रावण को रुलाने[31] आदि से सम्बन्धित स्थल वीररस की सुन्दर अभिव्यक्ति करते हैं।

यहाँ लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध का वर्णन करते हुए अनुभावों की इतनी सुन्दर योजना की गई है कि सहृदय वीररस की सरिता में आकण्ठ निमग्न हो जाता है।

राम-रावण-युद्ध में वीररसः- पुत्रवध से सन्तप्त रावण का राम की सेना पर आक्रमण, धनुर्धारी राम द्वारा हाथी, घोड़े, पैदल सेना का संहार करके यमपुरी तैयार करने[32], रावण द्वारा मार्ग में होने वाले अपशकुनों की परवाह न करते हुए अपने भयंकर रथ पर सवार होकर नदी, पर्वत, वनों सहित पृथ्वी को गुंजाते हुए अनेक वानरों को मारकर लक्ष्मण को व्यथित करने[33], राम द्वारा सर्पसदृश बाणों से रावण को ढकने, रावण द्वारा आसुरास्त्र और रौद्रास्त्र तथा राम द्वारा पावकास्त्र और गन्धर्वास्त्र छोड़ने, विभीषण द्वारा घोड़ों को मारने और रथ को तोड़ने पर रावण द्वारा उस पर भयंकर शक्ति छोड़ने[34], लक्ष्मण द्वारा शक्ति के तीन टुकड़े करने तथा रावण को युद्धभूमि से भगाने और लक्ष्मण को मूर्छित करने[35], राम द्वारा असंख्य बाणों कर वर्षा कर रावण को युद्धभूमि से भगाने और लक्ष्मण को सचेत करने[36] के लिए हनुमान् द्वारा औषधियाँ लाने के अवसर पर अनेक वीरोचित कार्य करने सम्बन्धी स्थल वीररस की सुन्दर छटा बिखेरते हैं।

राम और रावण का यह भयानक युद्ध चलता रहा। दोनों ओर की सेना का संहार होता रहा और युद्ध का वह अन्तिम दिन भी आ गया, इतिहास जिसकी प्रतीक्षा कर रहा था। महाकवि भट्टि की वाणी जिसका वर्णन करने के लिए लालायित थी, जिसको सम्पूर्ण जगत् देख रहा था और जो वीररस का सर्वश्रेष्ठ प्रसंग बना।

रावण का फिर से युद्ध के लिए आना, मातलि द्वारा विशेष रूप से सजे रथ पर सवार राम द्वारा अनेक अस्त्रों का प्रहार, अनेक अपशकुन, राम-रावण-युद्ध से वसुन्धरा का कांपना, विषधर सर्पों के समान बाणों के सन्धान से राम का रावण के 101 सिरों को काटना, मातलि का ब्रह्मा जी द्वारा रावण के वध के लिए बनाये गये उग्रशस्त्र का स्मरण कराना, जिसके पाँख में वायुदेव, मुख में सूर्य और अग्नि थे, उस ब्रह्मास्त्र द्वारा राम का रावण को पृथ्वी पर सुलाना, देवताओं का राम की प्रशंसा करना[37] दर्शनीय है।

दानवीरः- दानवीर वही कहा जाता है जो दान देने में उत्साह दिखाता है। वैसे तो सभी कुछ न कुछ दान करते हैं, किन्तु सभी को दानवीर नहीं कहा जाता। दान देने में ही जिसे प्रसन्नता होती है जिसे दुःख का अनुभव नहीं होता अथवा जिसके दान में उत्साह, जो वीररस का स्थायी भाव है, स्पष्ट रुप से परिलक्षित होता है, वही सच्चा दानवीर कहलाता है। ऐसे प्रसंगों में ही वीररस के 'दानवीर' नामक भेद की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।

राजा दशरथ की दानवीरता :- भट्टिकाव्य में सर्वप्रथम राजा दशरथ की दानवीरता दिखाई देती है। मेघों के द्वारा सर्वत्र समान वर्षा करने के समान राजा दशरथ का पक्षपात रहित

होकर प्रजाओं में धन की वृष्टि करने[38], तथा पुत्रेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले सभी ऋत्विजों को समुचित दान देने वाले[39] प्रसंगों में उनकी दानवीरता का परिचय मिलता है।

राम की दानवीरता :- पिता की आज्ञा से राम चौदह वर्ष के वनवास के लिए प्रस्थान के समय धन-धान्य से परिपूर्ण वसुधा को भरत के लिए छोड़ना, राज्य, सुख, पृथ्वी, स्वर्गप्राप्ति की अपेक्षा अपना सब कुछ देने में ही आनन्द अनुभव करना, जन्म देने वाले तथा भय से रक्षा करने वाले पिता के लिए सर्वस्व त्याग को सर्वश्रेष्ठ मानना[40] इत्यादि राम की दानवीरता को बताने वाले स्थल हैं। कितना महान् त्याग है राम का - जो पृथ्वी का राज्य भरत को तिनके के समान प्रदान कर रहे हैं।

लंकायुद्ध की समाप्ति पर, स्वर्ग से भी बढ़कर वैभवशाली लंका के राजा होने पर भी राम का हँसते-हँसते विभीषण को राज्य प्रदान करना राम की दानवीरता का उत्कृष्ट नमूना है। संसार में ऐसे दानवीर बहुत कम हुए हैं जिन्होंने हस्तगत राज्यलक्ष्मी को इस प्रकार दान किया हो। श्रीराम का स्वर्णिम घट के जल से विभीषण का राज्याभिषेक करना[41] तथा राजनीति का उपदेश देना[42] और शुभाशीर्वाद देना[43] आदि प्रसंगों में राम का दानवीर रुप प्रकट होता है।

धर्मवीर :- जहाँ धर्मकार्य में उत्साह दिखाई दे वहाँ उत्साही धर्मवीर कहा जाता है। राम धर्मज्ञ एवं धर्मचारिन् हैं। वे प्रत्येक परिस्थिति में अपने धर्म का पूर्ण पालन करते हैं। वे कभी भी धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए दिखाई नहीं देते, अतः स्वधर्मनिष्ठ राम को शरीरधारी धर्म भी कहा गया है। न केवल राम अपितु सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान् आदि अनेक प्रमुख पात्र भी अपने आदर्श जीवन द्वारा धर्म के उच्चतम स्वरुप को प्रतिष्ठित करते हैं।

मानव का जीवन विभिन्न व्यक्तियों में विभक्त होता है। परिवार, देश, जाति, समाज के प्रति उसके पृथक्-पृथक् उत्तरदायित्व होते हैं। महापुरुष सामाजिक सर्वजनहितकारी कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए अपने व्यक्तिगत सुखों का परित्याग कर एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार का कार्य करते हुए अनेक कष्टों को सहन कर वे सच्चे वीर कहलाते हैं। भट्टिकाव्य में ऐसे धर्मवीरत्व के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

राम की धर्मवीरता :- राम के राज्याभिषेक को सहन न करने वाली कैकेयी द्वारा राम को चौदह वर्ष का वनवास तथा भरत का राज्याभिषेक महाराज दशरथ से वरदान के रूप में माँगने, प्रजा के शोकमग्न होने पर राम के द्वारा उनको समझाने, पिता की आज्ञा का पालन पुत्र का सर्वश्रेष्ठ धर्म बताने[44], समस्त पृथ्वी के राज्य का परित्याग कर वन जाने के लिए उत्सुकता दिखाने वाले[45] स्थल राम की धर्मवीरता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ऐसे अवसर पर सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त महात्मा की भान्ति राम के मन में थोड़ा सा भी विकार नहीं है। वे स्वयं ही धर्म का पालन नहीं करते अपितु माता कौशल्या, पत्नी सीता, भाई लक्ष्मण को भी धर्मपालन का अनुरोध करते हैं।

सीता की धर्मवीरता :- सीता के चरित्र में भी धर्मपालन का उत्साह अपनी चरमसी पर स्थित दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति में नारी का सर्वस्व पति को माना गया है। पति अनुकूल आचरण करते हुए तन-मन से उनकी सेवा में ही सम्पूर्ण जीवन लगा देना भारतीय का धर्म है। सीता पतिव्रत धर्म का साकार रूप है। अपने पति के साथ वन में कठोर जी को बिताने का संकल्प करते हुए वे धर्मवीरत्व का परिचय देती हैं।

लक्ष्मण की धर्मवीरता :- युद्धभूमि में हँसते-हँसते अपने प्राणों को समर्पित करने के लि उद्यत रहने का उत्साह ही केवल वीररस का स्थायीभाव नहीं है अपितु जीवन की विस्तृत कठोर भित्ति पर स्वधर्म का पालन करने में उपस्थित होने वाली बड़ी से बड़ी आपदा को कण्ठहार बनाने का उत्साहयुक्त चित्र भी वीर-रसोत्पत्ति में किसी प्रकार कम नहीं हो सकता। पुरुष आवेश में आकर खड्ग के एक ही प्रहार से शत्रु-ग्रीवा को धड़ से विच्छिन्न कर सक है और अपने कलेवर को तीरों की वर्षा में स्नान करा सकता है किन्तु दीर्घकाल तक धर्म आचरण करते हुए तिल-तिल कर जलना वस्तुत: कठिन कार्य है। सीता और लक्ष्मण ने इसी का परिचय दिया है। एक नहीं, दो नहीं अपितु चौदह वर्ष की दीर्घावधि के लिए वन के कष्टों को सुख समझकर गले लगाने की अभिलाषा धर्मवीरता के इतिहास का स्वर्णिम अध्याय है।

दयावीर :- राम के चरित्र में दयावीरता भी विद्यमान है जो अनेक प्रसंगों में प्रकट होकर वीर की व्यंजना करती है। कहीं वह दानवीरता के साथ और कहीं धर्मवीरता के साथ मुखरित होती है।

सीता की खोज करते हुए राम को जटायु का दर्शन, जटायु का अपनी करुण व्यथा सुन हुए सीता का पता बताना, राम द्वारा जटायु का अन्तिम संस्कार तथा पिण्डदान करना,[48] साथियों के मना करने पर भी राम का शरणागत विभीषण को आश्रय प्रदान करना[49] आदि प्रसंगों में राम की दयावीरता का परिचय मिलता है। यदि राम के समुद्र सम हृदय में दया की लहरें न उठतीं तो विभीषण को शत्रुपक्ष का गुप्तचर समझकर उसका वध करवा सकते थे।

लंका के युद्ध में राम के बाणों के प्रहार से घायल रावण के हाथ से धनुष छूटने पर असहाय रावण के प्रति राम के दयार्द्र अन्त:करण में क्रूर राक्षस के प्रति भी दया का भाव उठना तथा रावण की मृत्यु के पश्चात् शत्रुता को विस्मृत कर स्वयं उसकी अन्त्येष्टि-कर्म के लिए विभीषण को आज्ञा देना[50] आदि प्रसंग राम के दयावीरत्व के सुन्दर निदर्शन हैं।

निष्कर्ष:- उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भट्टिकाव्य राम जैसे सर्वशक्ति सम्पन्न, उत्साह के सागर, धर्म के धाम, परम-दयालु, महान् वीर नायक की प्रमुख घटना है। अत: वीररस की प्रभावशाली योजना करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। भट्टिकाव्य में वीररस का अत्यन्त उज्ज्वल, ओजस्वी, हृदयावर्जक रूप परिलक्षित होता है। वीररस के चारों भेदों की प्रभावशाली योजना में कवि सफल हुआ है। नायक राम के अतिरिक्त लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान

आदि सपक्ष के पात्रों तथा रावण, कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् आदि विपक्ष के पात्रों के माध्यम से वीररस की हृदयग्राही योजना की गई है।

सन्दर्भ सूची

1. नाट्यशस्त्र - 6/15-17 तक
2. साहित्यदर्पण - 6/17
3. अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक:। ना0 शा0 पृष्ठ 324
4. सा0 द0 - 3/178
5. स चासंमोहाध्यवसाय-नय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। ना0 शा0 अभि0-पृष्ठ-324
6. सा0 द0-3/233
7. ना0 शा0 अभि0-324
8. अनुभावास्तु तत्र स्यु: सहायान्वेषणाय:। (सा0 द0-3/233)
9. ना0 शा0 - पृष्ठ 324
10. सा0 द0 - 3/234
11. ना0 शा0 - 6/79
12. सा0 द0 - 3/234
13. अवाक्शिरसमुत्पादं कृतान्तेऽपि दुर्दमम्। भुङ्क्त्वा भुजौ विराधाख्यं तं तौ भुवि निचख्नतु:।। भट्टिकाव्य 4/3
14. वही-4/41-45
15. निराकरिष्णू वर्तिष्णू वर्धिष्णू परितो रणम्।
    उत्पतिष्णू सहिष्णू च चेरतु: खरदूषणौ।। 5/1
16. वही-5/2, 3
17. वही-9/26, 27, 28
18. वही-9/29, 30, 32, 33
    संयुयूषं दिशो बाणैरक्षं यियविषुर्द्रुम:।
    कपिर्मायामिवाऽकार्षीद्दर्शयन् विक्रमं रणे।। 9/35
19. वही-9/31, 34, 36, 37
20. मायाभि: सुचिरं क्लिष्ट्वा राक्षसोऽक्लिशितक्रियम्।
    सम्प्राप्य वानरं भूमौ पपात परिघाऽऽहत:।। वही-9/38
21. वही-12/39
22. वही-14/1-10, 23, 24, 25, 26, 27, 31, 33, 34, 35, 40, 41, 42, 80, 81, 110, 111

23. वही-15/31, 32, 33, 34, 35, 36, 37
24. वही - 15/54, 55, 56
25. वही - 15/65
26. वही - 15/66
27. वही - 15/67, 69, 70
28. वही - 17/40, 41
29. वही - 17/42, 43, 44, 45, 46
30. वही - 17/47
31. वही - 17/48
32. वही - 17/64, 65, 66, 67, 68
33. वही - 17/73, 74, 75
34. वही - 17/76...........90 तक
35. वही - 17/91, 92
36. वही - 17/93, 94
37. वही - 17/95.............112 तक
38. वसूनि तोयं धनवद्व्यकारीत् सहाऽऽसनं गोत्राभिदाऽध्यवात्सीत्। वही - 1/3
39. निष्ठां गतेदत्रिमयभ्यतोषे विहित्रिमे कर्मणि राजपत्न्य:।। वही - 1/13
40. असृष्ट यो यश्च भयेष्वरक्षीत् य: सर्वदाऽस्मानपुषत्स्वपोषम्।
महोपकारस्य किमस्ति तस्य तुच्छेन यानेन वनस्य मोक्ष:।। वही- 3/13
41. वही - 19/23
42. वही - 19/24, 25...........29 तक
43. वही - 19/30
44. वही - 3/12
45. वही - 3/13, 14
46. वही - 3/30, 31, 32
47. वही - 3/54, 55, 56
48. वही - 6/42, 43, 44
49. वही - 12/87
50. वही - 18/42

विश्वकल्याण के सूत्र

भैरवदत्त शुक्ल
बलदेव वैदिक विद्यालय इण्टर कालेज
पलिया कलाँ, खीरी (उ०प्र०)- २६२९०२

(१) न केवल यूरोप में वरन् भारत में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो परम कल्याणकारी उपनिषदों में निवृत्ति मार्ग की ही झलक पाते हैं। उन्हें उपनिषदों में कहीं भी प्रवृत्ति मार्ग की आभा तक दृष्टिगत नहीं होती। अन्य उपनिषदों की ही भांति ईशोपनिषद् को केवल संसार त्याग का प्रतिपादक ग्रंथ मानने वाले भ्रम में हैं- किसी न किसी अज्ञान मूलक भुलावे के शिकार हैं। ठोस वास्तविकता तो यह है कि समग्र वेदानुमोदितउपनिषदों में सम्पूर्ण संसार के प्रति एवं समष्टि परक लोकहित कारक कर्मपथ की श्रेष्ठता स्वीकार की गयी है। यदि हम चाहते हैं कि हम समष्टि परक लोककल्याण के पथिक बनें तो हमारे समाने सदैव ईशोपनिषद् के ये छह सूत्र बने रहने चाहिए-

(२) **तेन त्यक्तेन भुंजीथा**

ईश्वर के छोड़े हुए भाग- रूप संसार के प्रत्येक भोग्य पदार्थ का भोग करो। अर्थात् जितने भी संसार के पदार्थ उपकारक उपादान हैं, उन सब का समुचित उपभोग करो किन्तु सभी प्राणियों के नियत भाग उनमें सर्वप्रथम वितरित कर देने के उपरान्त ही। कितनी सुन्दर धारणा है, जो इसे हृदयंगम कर लेगा या जो इसे व्यावहारिक धरातल पर अवतीर्ण करने का सत्प्रयास करेगा, वह विश्व के किसी भी कोने का निवासी क्यों न हो, किसी भी मत या सम्प्रदाय का सदस्य क्यों न हो, किसी विशेष आस्था या निष्ठा से सुसम्बद्ध, बद्ध-विवश क्यों न हो, मगर देश के नाम पर मत या संप्रदाय के नाम पर, आस्था निष्ठा के नाम पर या आर्थिक लाभ के तुच्छ प्रलोभन में पड़कर किसी का शोषण नही करेगा, अनाप-शनाप रूप में किसी प्राकृतिक उपकरण का दोहन नहीं करेगा, किसी के प्रति घृणा नहीं पालेगा और ईर्ष्या-बुद्धि को तो, पनपने ही नहीं देगा।

(३) वह पीड़ित व्यक्ति की विपत्ति का निवारण करेगा, सन्तप्त प्राणी का परिताप-हरण करने का इच्छुक होगा, लोकोपकार की दीक्षा लेगा। केवल पशुवत् स्वार्थपूर्ति के हेय प्रलोभन में औरों के दबाने-कुचलने के बुरे घिनौने काम में भूलकर भी नहीं उलझेगा। वह यदि अणु-परीक्षण करेगा तो किसी देश को त्रस्त-आतंकित करने के लिए नहीं वरन्

तिमिर-उन्मूलन के लिए, यातायात के सौकर्म-व्यवस्था के लिए, लोक प्राप्ति अभिवृद्धि के लिए यज्ञ-अनुष्ठान के रूप में करेगा। यज्ञ का नाम सुन कर साम्प्रदायिक की गंध पाने के भ्रम में नाक-भौं सिकोड़ने वाले ध्यान में रक्खें कि वस्तुतः यज्ञ उसे समझना चाहिए, जिसमें अशक्त-असमर्थों को शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करने (दान) अन्वेषण-लोक-हितार्थ तपस्या-लीन, औषधि-उपचार की खोज में लगे ऋषि-मुनिवत् लोकोपकारी लोगों की सुख-सुविधा का ध्यान, स्वागत-सम्मान, आदर-सत्कार करने (देव-पूजा) बिखरे तन्तुओं को जोड़ने एवं विशृंखलित तत्वों को एक में अनुस्यूत-सुसम्बद्ध करने (संगति करण) का समावेश अवश्य हो। यह भी नहीं विस्मृत करना चाहिए कि आहार जीवन के लिए है, जीवन आहार के लिए नहीं, इसलिए भोजन के लिए ही न जियो जीवित रहने के लिए भोजन करो।

(४) मा गृधः कस्य स्विद् धनम्

किसी के धन पर, किसी के वैभव पर अपनी लोलुपता पूर्ण दृष्टि मत डालो। तुम्हारे पास किसी वस्तु की कमी नहीं है। औरों के भाग पर दीदे अटकाने से, दूसरों के धन पर -दृष्टि रखने से तुम्हारे आत्म-बल का पतन होगा, नैतिकता के विलोप के साथ तुम्हारी बुद्धि का भी विनाश हो जाएगा और तुम न केवल मानवता की कोटि से ही अधः पतित होगे वरन् पशु-कोटि में परिगणित किये जाने पर शृंग-पुच्छ-रहित पशु-कोटि में समा जाओगे। तुम्हारे जीवन के गुण-हरिकों का हरण हो जाएगा और अजब-सा रीतापन उभर कर तुम्हारे हाथों की क्षमता व्यर्थ कर देगा।

कितनी बुरी बात है कि भंयकर धूप में सारे दिन श्रम-साधना-लीन बेचारे श्रमिक को वास्तविक भाग न प्रदान करके कुछ अपर्याप्त पैसे दे दिये जाते हैं। अथक परिश्रम के साथ अध्यापन करने वाले, शत्-प्रतिशत परीक्षा-परिणाम प्रर्दशित करने वाले योग्य अध्यापक के हस्ताक्षर करवाकर, अंकित वेतनस्तर के स्थान पर केवल आधा या एक तिहाई वेतन दिया जाता है। यह धन छीनने के डकैती-राहजनी जैसे कुकृत्यों से भी अधिक भंयकर पाप है, सामाजिक अपराध है। इसे ही आजकल की भाषा में शोषण कहा जाता है। ये जो मुठ्ठी भर धनी पूंजीपति दिखायी पड़ रहे हैं जिन्होनें राष्ट्र के कोटि-कोटि जनों का भाग अपनी तिजोरी में बन्द कर रक्खा है, वास्तव में सामाजिक अपराधी हैं और जो शासन इन्हें अनुशासित नियंत्रित दंडित करके सही मार्ग पर नहीं लाता, वह घोर अपराधी है, फिर उस शासन को तो और भी बुरा समझना चाहिए जो हर क्षणं पूंजीपतियों के ईशारों पर नाचने के लिए विवश हो। इस दुष्प्रवृत्ति से राष्ट्रीयपतन का चित्र उभरे बिना नहीं रह सकता।

(५) इसी सूत्र का द्वितीय अंश है- यह धन किसका है; अर्थात् किसी का भी नहीं है। विश्व

में न जाने कितने बर्बर लुटेरे हुए हैं, जिन्होंने तुच्छ धन लिप्सा में मध्यकालीन वातावरण को रक्त-पात से कलंकित कर दिया, शिल्प एवं कला के नमूने ध्वस्त कर डालें, देशों की स्वायत्तता खतरे में डाल दी पर मरते समय वे एक पैसा भी अपने साथ नहीं ले जा सके। आज भी बैकों में करोड़ों की धनराशि, नगरों में अनेक महले-दुमहले और घर में परिवारिक जन यहीं रह जाते हैं। मृत्यु का समय आने पर कोई भी साथ नहीं जाता। इसीलिए भगवती श्रुति का स्पष्ट उपदेश है कि धन किसी का नहीं है, सिर्फ प्रजापति का है। अर्थात् व्यक्तियों को समझ लेना चाहिए कि धन व्यक्तिगत नहीं है, सामूहिक समाज, विश्व और राष्ट्र के लिए है। यह जितना ही चलता रहता है, उतनी ही विश्व की प्रगति होती है। यह जितना ही ठहरा रहता है उतना ही राष्ट्र या विश्व की प्रगति में ठहराव आ जाता है।

इस धन को साधन समझना चाहिए, साध्य नहीं। इससे भूख शांत करना, तन ढकना, बसेरे के लिए कुटीर बनाना ठीक है परन्तु मानव की विवेकशीलता का तकाजा है कि वह इस धन को व्यक्तिगत तिजोरी में बन्द न करे, मुनाफाखोरी पर न्यौच्छावर न करे, काला बाजारी में न खपाये; दान देव-पूजा, संगतिकरण पर अर्पित करे, सार्वजनिक विद्यालयों, संस्थानों पर न्यौच्छावर करे।

(६) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा

तरह-तरह के उपादेय करते हुए ही कम से कम सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करो! यह सूत्र मानव-प्रगति और लोक-अभ्युदय का सहज संकेतक है। जिस देश में बेकारी पनपती है, बेरोजगारी होती है, निठल्लूपन या अकर्मण्यता को सम्मान का प्रतीक समझा जाता है, अपना काम खुद करने में अपमान का अनुभव होता है, औरों से मुफ्त या बेगार में काम लेना बुद्धिमानी एवं चातुर्य का परिचायक मान जाता है, कर्म-निरत दीन-हीनजनों की या तोखिल्ली उड़ायी जाती है या खुला तिरस्कार किया जाता है, वह देश पनप नहीं सकता, प्रगति नही कर सकता। गली-गली कूचे-कूचे में श्रम का निरादर करने वाला समाज या देश देर-सवेर या तो औरों के सामने हाथ फैलाता है या ऋण और उधार के खाते में वृद्धि करता है। ऋण या उधार खाते की अनियंत्रित वृद्धि से वह प्रत्यक्ष या परोक्ष पराधीनता के निर्मम-निष्ठुर पाशों की ओर स्वयमेव बढ़ता जाता है।

जीवन की अंतिम साँस तक कर्म-निरत रहना ही वास्तविक मानव की निशानी है, परन्तु, कर्म नियोजित होना चाहिए, अनियोजित नहीं, स्पृहा-परिहार के लिए अपेक्षित है कि कर्मों में प्रवृत्ति होने की अवस्था में फल के अधिकार से दूर या फलाशा के आल-जाल से अलग

रहा जाये। इसीलिए भारतीय जीवन-व्यवस्था में चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का नियोजन किया गया है जिसे आधुनिक भाषा में संक्षेप के साथ यों समझा जा सकता है कि दायित्व (धर्म) का आधार लेकर, साधन-सुविधा (अर्थ) का सम्बल लेते हुए कामनाओं, इच्छाओं और आवश्यकताओं (काम) की पूर्ति करके प्रश्नों समस्याओं, जीवन-मरण की दुश्चिन्ताओं से मुक्ति या छुटकारा (मोक्ष) उपलब्ध करें। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही भारतीय सुधी ऋषियों ने सम्पूर्ण मानव-जीवन का औसत समय सौ वर्ष मान कर उसे चार आश्रमों में विभक्त किया जिनका विवरण आधुनिक शब्दावली में यों दिया जा सकता है कि शैशव के पालने से लेकर जीवन की परिपक्व अवस्था अर्थात् पच्चीस वर्ष तक ज्ञान-विज्ञान के सभी पक्ष जाने समझें जानें (ब्रह्मचर्य); पचास वर्ष की अवस्था तक घर बसाकर हर सुख-सुविधा का संयमित अनुशासित भोग-उपभोग किया जाये और समाज के उपकारी वर्गों का परिपालन किया जाये (गृहस्थ); पचहत्तर वर्ष की अवस्था तक भावी पीढ़ी को कर्म-रत होने में खुली छूट देते हुए अपना परामर्श-धन वितरित करके उचित दिशा संकेत किया जाये (वानप्रस्थ) और शेष आयु जीवन तक अपने प्राप्त पिछले अनुभव को सार्वजनीन बनाने के लिए स्वयं को पूरे समाज के लिए समर्पित कर दिया जाये (संन्यास)। ये पच्चीस-पच्चीस साल की कालावधियाँ भारतीय संस्कृति में असंख्य महनीय युगों का वितान तानती रहीं और आज भी उपादेय बन सकती हैं, परन्तु, हम अकर्मण्यता छोड़कर उठ नहीं रहें हैं, आश्वासन, प्रलोभनों की मृग-तृष्णा में भटक रहे हैं। फिर भला उनसे हमें लाभ कैसे होगा? यही नहीं कर्म-कोटि के आधार पर सारा समाज चार वर्णों में विभक्त किया गया हमारे भारतीय परिसर में जो पच्चीस साल तक ब्रह्मचर्य आश्रम में ज्ञान-विज्ञान अर्जित करके केवल बुद्धिपरक कर्मों पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-योग का वरण कर सके वे ब्राह्मण, जो रक्षा-सुरक्षा के घटक बनना पंसद कर सके, वे क्षत्रिय और जो कृषि-व्यापार, उद्योग-धंधे के विकास को ही अपना पाये वे वैश्य कहलाये। परन्तु, कुछ इन तीन दायित्वों में से किसी को भी अंगीकार न कर सके और दिल व दिमाग से कम प्रतिभावान प्रतीत हुए, उन्हें शुद्र कहा गया। यह वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधृत है, कोरे जन्म पर नहीं। हम देखें-समझें ! आज तो इसकी रीढ़ जाति-पाति ने तोड़ दी है।

इसलिए अब हमें संभालनी है पुरुषार्थ-चतुष्टय, आश्रम-चतुष्टय और वर्ण चतुष्टय कर्पूर व्यावहारिक आधारशिला जिस पर कर्म की विशाल अट्टालिका बन-सँवर सकती है। त्रिभुवन-विभव

के अधिष्ठाता आदि पुरुष के वंशज होकर, तुच्छ स्वार्थ कलुष पूरित इन ओछी सम्पत्तियों के दास बनने से हमारा यश धूलि-धूसरित हो जायेगा। हम भोग-लिप्सा के लिए ही जीवित रहें वरन् कर्म करने के लिए ही, अनुष्ठान संपन्न करने के लिए ही सदा जीवित रहने की सुदृढ़ इच्छा कर लें। क्योंकि यदि भोग का ही कोरा आग्रह रहेगा तो सौ वर्ष की औसत आयु नहीं उपलब्ध हो सकेगी। क्या हम भूल गये तीतर के माध्यम से दिया गया वह चरक उपदेश जो छोटाहोने पर भी उपादेय है- प्रस्तुत प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है। एक बार तीतर बोल रहा था। किसी ने उसकी बोली का तात्पर्य जानने की इच्छा आचार्य चरक सदृश आयुर्वेदाचार्य के समाने व्यक्त की। उन्होंने कहा कि यह तीतर बतला रहा है- 'हित भुक्, ऋत्, भुक्, मित भुक्!' अर्थात् अच्छा हितकारी सुस्वादु आहार ग्रहण करो। ऋतु वातावरण परिस्थिति केअनुकूल खाद्य पदार्थों का सेवन करो! और जितनी भूख की अनुभूति हो, उससे कुछ ग्रास कम ही ग्रहण करो! इन्हीं तीनों लघु वाक्यों में समाज की औसत आयु सौ वर्ष होने की अमोघ औषधि सन्निहित है। इसका प्रत्येक स्थान, क्षेत्र और अवसर पर व्यावहारिक उपयोग करके लाभान्वित हुआ जा सकता है।

गुप्तकालीन समाजिक जीवन
(एक विवेचनात्मक अध्ययन)

डॉ० राकेश शर्मा
विभागाध्यक्ष, प्रा०भा० इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गु०का० विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मौर्य-साम्राज्य के पतन के उपरान्त भारत में जो राजनीतिक विघटन और विश्रृंखलता की प्रक्रिया आरम्भ हुई थी वह गुप्तो के अभ्युदय तक पूर्ववत् ही दिखाई पड़ती है। ''मौर्यो के पश्चात् महान गुप्तों का युग निसन्देह भूतीय राष्ट्र के इतिहास में नवजागरण, नवनिर्माण और नवोत्कर्ष का द्वितीय महान सर्जनात्मक अर्ध्वकान्ति का काल था।''1 गुप्तो अभ्युदय मौर्य-काल के लगभग चार सौ वर्ष पश्चात हुआ। इस बीच दुर्बल शासकों एवं विदेशी आक्रमणों और भारत के कुछ भू-भाग विदेशी राज्य स्थापित हो जाने के कारण, भारतीय समाज में कुंढा बढ़ी जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन कुठिंत हो गया। नाग वंश और वाकाटक वंश ने विदेशी राज्यों का उन्मूलन करके वैदिक धर्म और संस्कृति के विकास का जो प्रयत्न किया था उसे गुप्त वंश ने नवीन उचाईयों तक पहुचाया। ''गुप्त सम्राटों के विशाल साम्राज्य, उनके श्रेष्ठ सुव्यवस्थित शासन देश में शान्ति और समृद्धि के वातावरण, उनकी उदारता और सहिष्णुता की नीति, उनके विद्यानुराग, ललित कलाओं और साहित्य को उनका संरक्षण आदि ने सांस्कृतिक पुनरूद्वार और अभिसृष्टि के लिए, समाज की बहुमुखी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए नवीन युग का प्रारम्भ किया। इस युग में सामाजिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति का जन्म हुआ एक नया प्रकाश मिला और इस प्रकाश में समाज अपना बहुमुखी विकास करने मे सफल ले सका। भारतीय समाज ने अपना जितना विकास गुप्त काल में किया, उतना विकास अन्य काल में शापद ही हुआ है।2

गुप्तकालीन साहित्य, अभिलेखों और मुद्राओं द्वारा तत्कालीन समाज पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। गुप्तकालीन समाज के सन्दर्भ में चीनी यात्री फाहयान ने भी विस्तृत रुप से लिखा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में यह भारत आया था उसने तत्कालीन समाज के बारे में लिखा है। ''लोगों का व्यावहार बड़ा सौहार्दपूर्ण था। वे प्रेममय जीवन व्यतीत करते थे। केवल चाण्डालों को छोड़कर कोई मांस, मंदिरा आदि का सेवन नहीं करता था। लहसुन प्याज, आदि का प्रयोग कम होता था। मुर्गीपालन तथा सुअर-पालन घृणित कार्य समझा जाता था। .... समाज में नैतिकता की प्रबल भावना थी। धनी व्यक्ति मुक्तहस्त निर्धनों की साहयता करते थे तथा मन्दिर, धर्मशाला में तथा प्याऊ इत्यादि बनवाते थे।''

गुप्तकालीन समाज धन-धान्य से सम्पन्न था। आम-जन स्वतन्त्र था। गुप्त नरेशों का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने में था। इस कारण प्रजाहित सर्वेपरि था। उनके द्वारा विश्रामालय, औषधालय अनाथालय जैसे जनता को सुख पहुँचाने वाले साधनों का निर्माण अनेक स्थानों पर किया गया। आम जनों में चरित्रबल, नैतिकता और सदाचारिता थी। गुप्तकाल से पूर्व भी भारतीय समाज अनेक उन्नत पराकाष्ठओं को प्राप्त कर चुका था। गुप्तकाल में इस सामाजिक जीवन के कई बहुमुखी विकास हुये। जिनके फलस्वरूप गुप्तकालीन समाज में कुछ नवीनताये दृष्टिगोचर होती है। इन नीवनतओं को गुप्तकालीन समाज के विभिन्न आयामों को निम्नतः समझा जा सकता है।

वर्णव्यवस्था एवं जाति प्रथा:- गुप्तकालीन समाज परम्परागत चार वर्णो में विभाजित था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। मनुस्मृति में ब्राह्मण कर्त्तव्य बताये गये, अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना यथा-

''अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दान प्रतिग्रहश्चैय षट् कर्माण्यग्रजन्मन।:।।३

क्षत्रिय का कर्त्तव्य शस्त्र के द्वारा राष्ट्र की रक्षा की करना था। यथा

''क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालन्''४

वैश्य का व्यासाय वाणिज्य था। यथा

''वाणिज्यं कारयेत् वैश्यम्''५

शुद्रों का कर्म सेवा करना था यथा

''दास्यं शुद्रं द्विजन्मनाम्''६

गुप्तकाल में समाज की आधार शिला वर्ण व्यवस्था थी और जाति प्रथा भी प्रचलित थी। ''लुप्त वैदिक परम्परा पुनः जाग्रत हो उठी आई समाज में वर्णाश्रम धर्म का महत्व बढ़ने लगा था। सामाजिक सगंठन में चारों वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैय और भूद्र) तथा चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की महत्ता पुनः प्रतिष्ठित हो गयी थी। विभिन्न वर्ण के लोगों का आदर-सत्कार उनके कर्त्तव्य पालन के आधार पर किया जाता था। ब्राह्मण वर्ण के लोग अध्ययन, अध्यापन और यजन याजन करने में, क्षत्रिय क्षात्र धर्म और प्रजा रक्षण में, वैश्य कृषि और वाणिज्य-व्यावसाय में तथा शुद्र वर्ण के लोग समाज की सेवा में रत रहते थे। समाज में ब्राह्मणों को अन्य वर्णो की अपेक्षा अधिक आदर व श्रृद्धा से देखा जाता था।, क्योंकि वे प्रायः बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे। ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय वर्ण क लोग भी अपने कर्त्तव्यों के निष्ठा, योग्यता तत्परता और सर्तकता से सम्पन्न करते थे। वे प्रजापालन और प्रजारक्षण में विशेष ध्यान देते थे वैश्य भी व्यापार वाणिज्य, कृषि और पशुपालन के कार्य करके देश को समृद्ध बना

रहे थे। शुद्र भी अपनी शक्ति के अनुसार समाज सेवा के कार्य करते 44 शुद्रों के अति कतिपय जंगली, अर्द्धसभ्य जातियाँ भी थी जो अपने रहन सहन खानपान, व्यवसाय आदि के क हीनमानी जाती थी। ये समाज से बाहर रहती थी। इन्हे चाण्डला और श्वपच कहा जाता था। ये और गांव के बाहर रहते थे तथा लोग इनका स्पर्श नहीं करते थे। इसमें स्पष्ट है समाज में अस्पृ भी थी।7

गुप्तकाल में वर्णसंकरों की जातियाँ भी थी। स्मृतिग्रन्थकारों के अनुसार इन वर्णसंकरों उत्पत्ति अन्तर्जातीय विवाहों तथा अनुचित यौन सम्बन्धों द्वारा हुई थी। गुप्तकाल में वर्ण परि करने की अनुमति थी। इस समय अनेक ब्राह्मण तथा वैश्य सैनिक वृत्ति करते थे, तो अनेक क्ष कृषि व्यापार तथा व्यवसायों को अपनाये हुए थे। गुप्तकाल में लेखक का कार्य करने वालों 'कायस्थ' कहां जाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्रों से विदित होता है कि प्रथम कायस्थ शासन भाग लेता था तथा वह प्रान्तीय सभा का सदस्य होता था। डॉ0 ओड़ा का विचार है कि ब्राह्म क्षत्रिय आदि जो लेखक का कार्य करते थे। कायस्थ कहलाये। 'मृच्छकटिक' में शुद्रक ने काय को 'भो श्रोष्ठि कायस्थों' कहा है तथा उनकी उपमा सर्चो से की है। यथा-

''नानावाश्ककङ्क पक्षिरुचिरं कायस्थ सर्पास्पद्म।
नीतिक्षुण्णातटं च राजकरणं हिस्त्रे: समुद्रायते।।८

गुप्तकाल में उपजातियों का विकास होना प्रारम्भ हो गया था। ब्राह्मणों का भेद शाखा गोत्र का उल्लेख करके किया जाता था। क्षत्रियों में उपजातियाँ नहीं थी। क्षत्रिय प्राय: एक वर्ण वह सदैव सत्कर्मो में लगा रहता था। वैश्य वर्ण में अनेक उपजातियाँ थी। पेशों के कारण शुद्रों अनेक उपजातियाँ बन गई थी।9

दास प्रथा :- गुप्तकाल में दास-प्रथा पर किसी भी विदेशी लेखक द्वारा उल्लेख नहीं किया है। नारद स्मृति में दास प्रथा का विवरण मिलता है। नारद स्मृति में दासों के प्रकार निम्नत: ब है- प्राप्त किया हुआ दास, स्वामी में प्रदत्त दास, ऋण न चुना सकने के कारण बना दास, पर हार जाने वाला दास, स्वयं दासत्व ग्रहण करने वाला, अपने को एक निर्धारित समय के लि दास बनाने वाला, दासी के प्रेम पाश में पड़कर बनने वाला, और आत्मविक्रयी दास। उपर्युक्त दा अपना प्रतिनिधि देकर दासत्व से मुक्ति पा सकते थे। स्वामी के प्राणों की रक्षा करने पर दास केवल दासता से मुक्त हो जाता था, वरन उस स्वामी के पुत्र के हिस्से के बराबर धन भी प्रा होता था। स्वामी द्वारा दासी को पुत्र उत्पन होने पर बहदासत्व से मुक्ति पा जाती थी।

परन्तु इस बात के अनेकानेक प्रमाण मिले है कि गुप्तकाल में दास प्रथा कमजोर हो ग थी दास मुक्ति के अनुष्ठान का विधान सर्वप्रथम नारद ने किया है। दासों में सगंठन होने से दास व्यवस्था कमजोर हुई होगी। भारत में दासों के साथ दुर्व्यवहान नहीं किया जाता था। अत:

विदेशी यात्री इसके अस्तित्व का पता भी नहीं लगा सके। इस काल में अनेक बाते दिखाई पड़ती है, जिनके दास प्रथा के थिथिल होने का प्रमाण मिलता है। रामशरण शर्मा के अनुसार "ऐसा लगता है कि वर्ण व्यवस्था ही कमजोर पड़ गई थी और इस कारण दास प्रथा के कमजोरी आई। वर्ण प्रथा का नियम था कि शुद्ध को दास बनाना चाहिये, पर गुप्त कालीन पुराणों के वर्णन से पता चलता है कि वैश्य और शुद्ध अपने वर्ण-धर्म का पालन नहीं करते थे- अर्थात् किसान के रूप में अन्न पैदा कर वैश्य कर नहीं देते थे और शुद्ध द्विजो की सेवा करने को तैयार नहीं थे। घोर वर्ण सकंट की स्थिति पैदा हो गई थी।" बटवारे और धार्मिक भूमिदानों के फलस्वरूप भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गई थी, अत: छोटे कृषि-क्षेत्रों में स्थायी रुप से अधिक शुद्ध, दास और मजदूर रखने की आवश्यकता नहीं थी। इससे अधिकांश दासों को छांट दिया गया। यह दास प्रथ का कमजोर होने का मुख्य कारण था।

पारिवारिक जीवन:- वैदिक और मौर्यकाल की भांति गुप्तकाल में भी संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। इस प्रकार समाज के सगंठन का आधार पितृ-प्रधान परिवार था। इस काल के स्मृतिकारों ने भी किसी प्रकार से परिवार की सम्पत्ति आदि बटवारे को सर्वथा अनुपयुक्त एवं धर्म विरोधी कहा है। इसलिए गुप्त काल के परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री आदि सभी छोटे बड़े कई पीढ़ी के सदस्य साथ मिलकर रहते थे। "गुप्तकाल के अभिलेखों में संयुक्त परिवार प्रथा का उल्लेख है। परिवार का मुखिया पिता या वयावृद्ध व्यक्ति होता था वह परिवार के सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करता और परिवार के हित में दान पुण्य भी करता था।11

पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामित्व पिता को ही प्राप्त था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुत्रों और भाइयों को इस अधिकार से वंचित रखा जाता हो कुछ एक भूमिदान पत्रों से इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है कि परिवार के पुरुष उत्तराधिकारी को संयुक्त सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था। भविष्य में यही प्रथा मिताक्षरा प्रणाली के नाम से प्रचलित हुई। स्मृतिकारो ने ऐसे ब्रह्मण को 'श्राद्ध' से वंचित किया है जिसके अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध सम्पति का विभाजन कराया हो। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति में पुत्र का अधिकार जन्म जात था।12

गुप्तकाल में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी नियमों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है वैसे तो पूर्व क स्थापित नियम भी बहुत कुछ मात्रा में चलते रहे उदाहरण के लिए पूर्व के स्मृतिकारो द्वारा वर्णित यह सिद्धान्त कि ज्येष्ट पुत्र को अधिक भाग मिलना चाहिए, अब यदाकदा ही पालन किया जाता था।3

इस प्रकार सामन्यत: सभी पुत्रों को सम्पत्ति में से समान भाग मिलता था। विधवा को अपने पति के हिस्से का उत्तराधिकर मिलना चाहिए अथवा नहीं इस प्रश्न पर इस काल के

स्मृतिकारो में सतैभ्य नहीं है। याज्ञवल्य और बृहस्पति कहते है कि पति के संयुक्त परिवार के सदस्य होने पर उसकी विधवा को सम्पत्ति में से केवल निर्वाह करने का अधिकार मिलना चाहिए ओर पति परिवार से अलग हो गया हो तो उसे अपने पति की सम्पत्ति का हिस्सा अपने जीवनकाल में भोगने के लिए मिलना चाहिए। इसके विपरीत नारद ने इसके विरोधी है। "बहुत कुछ सम्भावना इस बात की है कि सुधारवादी प्रथा अभी प्रचलित नहीं हुई थी जैसा कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के छटे अंक से प्रतीत होता है। जिसमें कि वर्णन आया है कि विधवा स्त्री के यदि कोई पुत्र न है तब ऐसी अवस्था में उसकी सम्पत्ति निश्चय ही राज्य सरकार को दे दी जाय। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा नियम के अनुरूप ही इस युग में यह प्रथा भी थी कि भाईयों के होते हुए भी बहिनों को पिता की सम्पत्ति में से कोई भाग नहीं मिल सकता था। धर्मशास्त्रों में अवश्य ही यक विचार प्रस्तुत किया गया है कि पिता को पुत्री के विवाह के समय उदारता से धन व्यय करना चाहिए जो कम से कम पुत्र के हिस्से का चतुर्थ भाग अवश्य होना चाहिए।14

विवाह- मनु ने पूर्व में यह मत प्रतियादित किया था कि योग्य वर के अभाव में पुत्री किसी भी अवस्था तक अविवाहित रहा सकती थी। परन्तु गुप्त कालीन स्मृतिकारों नारद एवं याज्ञवलक्य ने यह कहा कि रजस्वला होने के पूर्व पुत्री का विवाह न करने पर पिता पाप का भागी समझा जाता 215 प्रतिशत कालीदास के ग्रन्थों के अनुसार इस काल में चार प्रकार के विवाह समाज में प्रायः प्रचलित थे। प्रथम प्रजापत्य विवाह जिसके पिता पुत्री को वर को प्रदान करते समय बहुत सा धन तथा आभूषण दहेज के रुप में देता है द्वितीय गन्धर्व विवाह जिसमें स्त्री और पुरुष स्वयं ही विवाह सम्बन्ध बना लेते थे।16 तृतीय आसुर विवाह जिसमें दुहिता-शुल्क के बदले में पिता विवाह सम्बन्ध स्वीकार करता था।17 चतुर्थ स्वयवर-विवाह जिसमें अनेक वरों में से कन्या स्वयं एक वर चुनती थी।18 परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में प्रजापत्य विवाह को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त थी। इसी प्रकार समाज में एक पत्नी प्रथा सर्वमान्य थी परन्तु राजवंशों एवं धन सम्पन्न लोगों के अनेक पत्नियाँ होती थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमार गुप्त प्रथम के अनेक पत्नियों के प्रमाण मिलते है। परन्तु धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर महारानी के भाग लेने के साक्ष्य मिलते हैं।

गुप्तकालीन समाज के समाजीय विवाह की प्रथा प्रचलित थी परन्तु साथ ही अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के उदाहरण भी प्राप्त होते है। अनुलोम विवाह में वर कन्या से एक वर्ण ऊँचा होता था। एक गुप्तकालीन अभिलेख में ब्राह्मचर्य और आत्मसंयम के जीवन को आवश्यक कहा है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की विधवा पत्नी ध्रुव देवी से विवाह किया था। अनमेल विवाहों का भी प्रचलन था। स्वयं कुमार गुप्त ने अपनी वृद्धावस्था में नवयुवती से विवाह किया था। अन्तर्जातीय विवाह होते थे। क्षत्रिय गुप्तों का विवाह सम्बन्ध वाकाटक ब्राह्मण वंश में हुआ था।19 इसी प्रकार जो विरोधियों ने भारतीय धर्म स्वीकार कर भारतीय बन गये थे उनका वैवास्कि सम्बन्ध भारतीयों से बनना प्रारम्भ हो गया। ऐसे विवाहों को भी सामाजिक मान्यता मिली। परन्तु स्मृतिकारों ने ब्राह्मण या क्षत्रिय द्वारा शुद्र कन्या के साथ विवाह की अत्यधिक निन्दा

की है परन्तु समाज में ऐसे विवाह भी सम्पन्न होते थे। ऐसे विवाहों द्वारा उत्पन्न पुत्र को स्मृतिकारों ने सम्पत्ति में भागीदार स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि शुद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार बताया।

खान पान - चीनी यात्री फाहयान के अनुसार गुप्तकालीन समाज शकाहारी था उसने लिखा है ''सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है, न मघ पीता है और न लहसुन प्याज खाता है। केवल चाण्डाल ही ऐसा करते है। जनपद में लोग न सुअर और मुर्गी पालते है और न जीवन पशु ही बेचते है। न ही मांस की दुकान है और न कही मधपान गृह।20 ऐसा प्रतीत होता है कि फाहयान का उपर्युक्त विवरण बोद्ध धर्मवलम्बियों का प्रतिनिधित्व करता है। क्योंकि इस विवरण कालीदास के नाटको में तो स्त्री पुरुषों द्वारा सामुहिक रूप से मदिरा पान का तथा मांस परोसे जाने का उल्लेख मिलता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में माढण्य नामक ब्राह्मण द्वारा सुअर का भुना हुआ मांस खाने का उल्लेख है। कालीदास ने मध21, मदिरा22, आसव23, वारुणी24, कादम्बरी और शिधु26 प्रकार की मदिराओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार धनी व्यक्ति पदाधिकारी और पुलिस अधिकारी भी मदिरा का सेवन करते थे। सैनिक भी विजय के उपलक्ष्य में मदिरापान करते है।26

इस प्रकार ऐसा होता है कि गुप्तकाल में खानपान व्यक्तिगत रुचि के अनुरुप था सामाजिक रुप से खान पान के प्रति कोई बाध्यता नहीं थी मांसाहारी और शाकाहारी दोनों प्रकार के लोग थे। 'मृच्छकटिक' में चालक, गुड़, घृत, दृधि, मोदक और यूप आदि खाद्य पदार्थो का इस प्रकार मिलता है।

''गृडोदनं घृतं दधि तण्डुला'' तथा बहुविधाहारविकारं उपसाधपति सूपकारे: बद्ध्यन्ते मोदका:। पच्चयन्ते चापूपका: दाल चावल, रोटी बाजरा, दूध, घी, मिठाई ओर शक्कर सामान्य भोजन के अंग थे सामान्य रुप स्त्रियों तथा ब्रांह्मण शाकाहारी थे, भोजन तथ खानपान में शुद्धता तथा शुचिता का ध्यान रखा जाता था। भोजन दिन में दो बार किया जाता था। खाद्य सामग्री सस्ती थी। विभिन्न आकड़ों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति के भोजन के लिए ढाई रुपये प्रतिमाह पर्याप्त थे।27

वस्त्राभूषण- प्राचीन काल से भारत में बिना सिला उत्तरीय एवं धोती धारण करते थे। परन्तु शकों कुषाणों के प्रभाव के पश्चात कोट और पजामा भी पहना जाने लगा। शुभ या विशेष अवसरों पर पगड़ी बाधने की प्रथा थी। ''राजवर्ग सुन्दर तथा बहुमूल्य वस्त्रों का अत्यन्त प्रेमी था। भारतीय नरेश पगड़ी पहनते थे, जिन पर विभिन्न प्रकार के बेलाबूटे बने रहते थे तथा पत्तियों का काम किया जाता था। कामदार साफों में बहुधा झालरे लटकाई जाती थी और उन्हे आभूषणों से युक्त किया जाता था। गुप्त गुद्राओं से ज्ञान होता है कि गुप्त नरेश टोपी भी पहनते थे अपनी मुद्राओं पर समुद्रगुप्त कोट तथा चूड़ीदार पाजामा एवं जूता पहने हुऐ अंकित अलंकृत हुआ करती थी। ये लोग बहुमूल्य क्षोम तथा कौशैय वस्त्र धारण करते थे।28 चन्द्रगुप्त प्रथम के मुद्रा में वह एक चुस्त कोट

और पायजामा पहने हुए है। शीर्ष पर भी एक वस्त्र धारण किये हुऐ है। कानों में कुण्डल बा
में बाजुबन्द धारण किये है उसके समीप ही कुमार देवी ने एक ढीला वस्त्र कुण्डल, हार
बाजुबन्द धारण किये है सिर पर उसने एक चुस्त टोपी ग्रहण कर रखी है। चन्द्रगुप्त द्वितीय
मुद्राओं वह धोती पहिने दिखाई पड़ता है उसके सिंहनिहन्ता प्रकार के सिक्कों वह कटि के
ओर कटिबन्ध, भुजाओं में भुजबन्द और कानों में कुण्डल धारण किये है। कुमारगुप्त प्रथम
गुद्राओं से ऐसा पता चलता है कि घुटकों के उपर छोटे और ढ़ाले वस्त्र धारण किये जाते थे।
भी हो सकता है कि यह वस्त्र आरवेट के समय पहने जाने वाली पौशाक हो।

इस प्रकार साधारण लोग प्रायः सूती वस्त्र तथा धनी एवं सम्पन्न लोग रेशमी, ऊनी
बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय (शाल) का प्रयोग पुरुषों द्वारा
साड़ी और पेटीकोट का प्रयोग स्त्रियों द्वारा किया जाता था। पाजामें और कोट का प्रयोग सीमित
पुरुष पगड़ी भी बाधते थे। सिथियन महिलाऐं फ्रांक, जैकेट, पायजामे तथा ब्लाउज पहनती
''अजनता की चित्रकारी में स्त्रियों को विविध प्रकार की चोलियाँ पहने हुए चित्रित किया गया
प्रायः सूती वस्त्रों का ही प्रयोग किया जाता था। परन्तु रेशमी ऊनी तथा विविध प्रकार के काम
जड़ाऊ वस्त्रों का भी प्रचुर प्रयोग किया जाता था। वस्त्रों की रंगाई, छपाई तथा कढ़ाई की
का विकास हो चुका था। रेशम का आयात चीन से तथा उनी वस्त्रों का आयात पश्चिमोत्तर
से किया जाता था। फहियान के अनुसार भारतीय उसी तथा इतना चित्ताकर्षक था कि विदेशी
बड़े चाव तथा गर्व से पहनते थे।29

गुप्तकालीन समाज में नारी और पुरुष समान रुप से आभूषण प्रिय थे। अजन्ता के चि
से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ सिर की मांग के बीच में टीका पहनती थी। धार्मिक अनुष्ठानों
आभूषण पहनने का रिवाज था। कालीदास ने रघुवंश में वर्णन किया है कि स्वयंवर में आने वा
राजा केयूर और अंगुलीयक पहने हुऐ थे। ''गुप्तयुग की भास्कर कला, चित्रकला और साहित्य ग्र
स्त्रियों के विविध प्रकार के आभूषणों की सुन्दरता और विलक्षणता को पूर्ण परिचय देते है। गु
युग के आभूषण में सुन्दरतापूर्वक बनायी गयी आकर्षक कानों की बालियाँ, विविध प्रकार
मोतियों की मालाएँ व हार, लगभग एक दर्जन प्रकार के कन्दोरे, वक्षस्थल और जघांओं के जालीदा
मोतियों के आभूषण और रत्नजडित चूड़ियाँ आगूठियाँ आदि मुख्य थे, पर नथ या नाक के का
का उपयोग नहीं होता था। 30

गुप्तकाल में श्रृगांर प्रियता भी काफी थी ''अलंकार प्रेमी नागरिक सुगंधित द्रव्यों का प्रयो
करते थे। उनके पास सुगन्धित द्रव्यों की एक पेटी होती थी, जिसमें वे सुरभियुक्त जल, तेल पू
तथा अनुलेप आदि रखते थे। सौरयुक्त पुष्पों की माला धारण की जाती थी। मुखवास को शुद्ध कर
के लिए नागरिक ताम्बूले का सेवन करते थे। स्त्रियाँ अपने नेत्र तथा अंगरंग चढ़ाती थी। नाट्यशा
में इसका उल्लेख मिलता है। (नेत्र योरजंन कार्यमधास्य च)।31

गुप्तकाल में केश विन्यास के अनेक उदाहरण अजन्ता की चित्रकारी में देखे जा सकते है जो कि अत्यन्त आकर्षक वह मनोहरी हैं। केशों के जूड़े और वेणी बन्ध में व्यवस्थित कर उसमें विभिन्न पुष्पों द्वारा सजाया भी जाता था। स्त्री एवं पुरुषों सभी को सुगन्धित पुष्प-मालाऐ धारण करने का शोध था। स्त्रियाँ आखों और अधरो पर अगंराग को प्रयोग में लाती थी, नाखून रंग जाते थे तथा हाथों और पैरों में मेंहदी लगाना भी प्रचलन में था। स्त्रियाँ अपने बालों को लम्बा दिखाई देने के लिए एवं कलात्मक रुप से जाने के लिए नकली बालों का प्रयोग भी करती थी।

मनोरजंन के साधन - उधान यात्रा, पशुपक्षी पालन, द्यूत आदि। रघुवंश में धूत क्रीड़ा के उदाहरण मिलाते है 'मृच्छकटिक' में तो धूत क्रीड़ा का विशद वर्णन मिलता है। यथा

''धूतं ही नाम पुरुषस्य असिहासनं राज्यम्।।३३

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त द्वारा आखेट करने का वर्णन प्राप्त

31 उदयनारायण राय-पूर्वोम्त-पृ0 342

32 शाकुन्तलम् अंक 2

33 मृच्छकरिक पृ0 2

प्राप्त होता है। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त की मुद्राओं में सम्राट का आखेट प्रेम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार वात्सायन ने कामसूत्र में नागरिकों की उद्यानशाला का उल्लेख किया ह ।
धनी व्यक्ति अपने घरों में एक पक्षीशाला बनवाते थे। मृच्छकाटिक में उल्लेख है कि उज्जयिनी की वैश्य बसन्तसेनां ने अपनी पक्षीशाला में शुक, सारिका कोयल, काक, तीतर, चातक, मोर, हंस एवं कबूतर आदि पक्षी पाल रखे थे। यथा-

''पठति शुकः कुरकायते मदनसारिका, योध्यन्ते प्रेप्यन्ते पञ्जरकपोता''३४

अनेक नट, जादुगर गायक, भाट तथा नाटक दल व्यवसाय के रुप में लोगों का मनोरजंन करते थे।

सन्दर्भ

1. भगवती प्रसाद यांथरी — भारत का स्वर्ण युग पृ0 338
2. बी0एन लूनिया — प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ0 512
3. मनुस्मृति — 10/75
4. विष्जुस्मृति — 5/3
5. मनुस्मृति — 8/410

6. मनुस्मृति 8/410
7. बी0एन0 लुनिया पूर्वोक्त पृ0 513
8. मृच्छकाटिक 9/14
9. ईश्वरी प्रसाद प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला संस्कृति, धर्म तथा दर्शन पृ0
10. डी.एन. झा एवं
श्री कृष्णमोहन श्रीमाली प्राचीन भारत पृ0 311
11. बी.एन. लुनिया पूर्वोक्त पृ0 514
12. भूपेश चन्द्र सक्सैना गुप्तकालीन भारत
13. फ्लीट जे.एफ. कोरप्स इन्सक्रिप्रिशंस इन्डिकेमरवाल्यूस तृतीय पृ0 199
14. भूपेश चन्द्र सक्सैना पूर्वोक्त पृ0 281
15. रघुवंश 7/13
16. अभिज्ञान शाकुन्तलम 3/20
17. रघुवंश 11/38
18. रघुवंश 6/84
19. बी.एन. लुनिया पूर्वोक्त पृ0 5105
20. गाइल्स फाहयान, पृ0 53
21. ऋतुसंहार 5/100
22. ऋतुसंहार 6/10
23. ऋतुसंहार 4/110
24. रघुवंश 106/52
25. रघुवंश 4/42
26. कुमार सम्भव 4/12
27. ईश्वरी प्रसाद पूर्वोक्त पृ0 183
28. उदयनारायण राय गुप्त सम्राट और उनका काल पृ0 341
29. एम.पी. श्रीवास्तव प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति पृ0 256-57
30. बी.एन. लुनिया पूर्वोक्त पृ. 517
31. उदयनारायण राय पूर्वोक्त पृ0 342
32. अभिज्ञान शाकुन्तमलम् अंक 2
33. मृच्छकटिक पृ0 2
34. मृच्छकटिक अंक 4

वैदिक साहित्य में उदात्त भावना

डॉ० सुमन चावला
विष्णु गार्डन कनखल, हरिद्वार

विश्व में प्राचीन काल से आज तक अनेक संस्कृतियों ने जन्म लिया है। जिनमें से कतिपय संस्कृतियाँ काल का ग्रास बन गयी कतिपय नये परिधान धारण कर कुछ परिवर्तित रूप में आ गयी हैं। यद्यपि समयानुसार सभी जातियों और संस्कृतियों के आचार विचारों में परिवर्तन होता रहता है किन्तु उसकी मूलभावना या केन्द्रीय विचार सदा अपरिवर्तनीय रहता है। भारतीय वैदिक संस्कृति में भी कुछ ऐसी मूल भावना विद्यमान है जो लाखों वर्षो से इसे जीवित रखे हुए है। इन्हीं मूलभूत भावना पर मैं अग्रिम पंक्तियों में विचार करना चाहती हूँ।

१) **अध्यात्म भावना** - वैदिक संस्कृति की मान्यता है कि इस असीम विश्व की उत्पत्ति ब्रह्मतत्व से हुई है, विश्व में तीन प्रमुख तत्व है- ब्रह्म, प्रकृति, जीवात्मा। यह दृश्यमान संसार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशादि पंचमहाभूतों से बना है। जिस प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होता है उसी प्रकार इस पृथिवी आकाशादि का रचयिता परमात्मा है। वह परमात्मा या परब्रह्म नित्य, निर्लेप, नि:संग तथा निर्विकार है, पृथिवी आदि की उत्पत्ति होती है, अत: उसका नाश भी अवश्य होगा, जीवात्मा जन्म धारण करता है अत: उसे भी शरीर त्याग करना पड़ता है। श्रीमद्भगवत गीता का वचन है

"जातस्य हि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच"

प्रत्येक जन्म लेने वाले प्राणी की मृत्यु तथा प्रत्येक मृत प्राणी का पुनर्जन्म होता है।

हमें एक दिन इस नश्वर का त्याग अवश्य करना पड़ेगा, अत: इन नश्वर धन सम्पत्ति भोग विलास में अधिक आसक्ति न रखकर त्याग की भावना रखना आवश्यक है।

२) **पुनर्जन्म की भावना** - वैदिक साहित्य, वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि ईश्वरीय ग्रन्थों में पुनर्जन्म की पुष्टि की गयी है। जीवात्मा अपनी वासना, कर्म और संस्कारों के कारण बारम्बार जन्म ग्रहण कर अपने कर्मों का भोग भोगता है।

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्डस्य सदसद्योनि जन्मसु।।"

३) **सर्वभूतदया या प्राणिमात्र के प्रति समभाव** - यह सर्वभूतदया भी प्रथम मूल भावना का ही अंग है। सभी प्राणियों में परमपिता परमात्मा विद्यमान हैं। अत: उस परम सत्ता का सम्मान

सर्वभूतदया के रूप में आवश्यक है। परमसत्ता का प्राणिमात्र में भान होने पर बुद्धिमान पुरुष से तुच्छ जीव को भी हीन दृष्टि से नही देखता और न किसी को कष्ट पहुँचा सकता है, भावना का अंग अहिंसा है।

वेद का उद्घोष है कि हम मनुष्य सहित सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि
समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

अर्थात् समस्त प्राणी मुझे मित्र की भावना से देखें और मैं भी समस्त प्राणियों के मित्रता की भावना से व्यवहार करूँ तथा हम सभी मैत्री भाव से परस्पर व्यवहार करें। सर्वभूत या प्राणिमात्र के प्रति समभाव वैदिक साहित्य की प्रमुख श्रेष्ठता है।

४) विश्वशान्ति एवं स्वस्ति भावना - वैदिक मंत्रों में विश्वशान्ति की व्यापक भावना विद्यमान है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक सूक्तों द्वारा विश्वशान्ति की कामना की गई है, यथा-

शं नो मित्रः शंवरुणः, शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः, शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
शंनो देवः सविता त्रायमाणः शन्नो भवन्तूषसो विभातीः।
शन्नः! पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तुशम्भुः॥

अर्थात् मित्रदेवता हमारे लिए मंगलकारी हो, वरुण देवता हमारे लिए कल्याणकारी हो, तथा इन्द्रदेव, बृहस्पति देव और विस्तृत गमनशील भगवान विष्णु हमारे लिए कल्याणकारी होवें। सबकी रक्षा करने वाला सूर्य और सूर्य तेज से उद्भासित उषाः काल हमारे लिए कल्याणकारी हो।

स्वस्ति भावना - वेदों में अनेक स्थलों पर स्वस्ति भावना परक स्तुतियाँ है जिनसे सर्वभूत कल्याण की कामना का हमें ज्ञान होता है। यथा-

ॐ आनो भद्रा क्रतवोयन्तु विश्वतोऽदब्धासोअपरीतासउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे।
स्वस्तिनः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति
स्वस्ति न पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्तिराये मरुतेदधातन॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

अर्थात् हमें सब ओर से भली भावनाएँ मिलें। उनमें धोखा न हो, उनमें बाधा न हो, उनमें उन्नति ही उन्नति हो, इससे प्रसन्न हो हमारी उन्नति करे वृद्धि करे, सदा हमारा साथ दे।

सुविस्तृत मार्गों पर हमें सुखप्राप्ति हो, भूमि के मरुभागों में हमें सुखलाभ हो। जलप्रधान प्रदेशों, खुले मैदानों तथा धनी बस्तियों में सुख प्राप्ति हो।

वृहद्श्रुत ज्ञान सम्पन्न इन्द्र और समस्त विद्यायुक्त पूषा हमारे लिए सुखकारी हो, गरुड़ अरिष्टनेमि और बृहस्पतिदेव हमारे लिए कल्याणप्रद होवें।

५) यमनियमादि का आचार में समन्वय-योगदर्शन में यमनियमादि योग के आठ अंगों का समन्वय किया है इनमें से सदाचार की दृष्टि से यम नियम का विशेष महत्त्व है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह ये पाँच यम है-

१) अहिंसा- मन, कर्म या वचन से किसी को कष्ट न देना अहिंसा, प्राणिमात्र को ईश्वर का अंश समझकर किसी प्रकार भी कष्ट न देना अहिंसा है।

२) सत्य- मन, कर्म और वचन से सत्य का पालन करना सत्य है।

३) अस्तेय- किसी भी वस्तु को उसके धारक की अनुमति के बिना स्वेच्छामात्र से ग्रहण न करना अस्तेय अर्थात् चोरी न करना है।

४) ब्रह्मचर्य- मन, कर्म, वचन से वीर्य की रक्षा करना, समाज या विधि के विपरीत यौन सम्बन्ध से दूर रहना तथा समाज के तथा विधि के अनुरुप ही यौन सम्बन्धों की पूर्ति करना ब्रह्मचर्य है।

५) अपरिग्रह- मन, कर्म या वचन से विषयोपभोग के लिए पदार्थो का अधिक सग्रंह न करना अपरिग्रह है।

६) ऋत और सत्य की सत्ता - वैदिक साहित्य में सृष्टि के नियमों का विचार करते हुए निश्चित नियमों का निर्देश किया है। सृष्टि प्रक्रिया कुछ नियमों से बंधी हुई है, इसी नियमबद्धता को वेदों में ऋत संज्ञा से अभिहित किया गया है। यही ऋततत्व पृथ्वी या संसार को धारण किए हुए है, ऋत वे नियम हैं जो नित्य और अनादि हैं, कोई भी शक्ति उनका उल्लंघन नही कर सकती। यथा- सूर्य आदि सभी ग्रह नियमित रुप में अपनी परिधि में परिभ्रमण कर रहे हैं, इस नियम में वर्षो से कोई विराम या परिवर्तन नही हुआ। तारा नक्षत्र आदि अपने अपने स्थान पर रहते हुए संचारी दशा में घूमते रहते हैं, समय पर फल और वनस्पति आदि पकते हैं, प्रकृति के साथ प्राणियों और मनुष्यों के जीवन का आधार भी ऋत नियमों पर ही निर्भर है। मनुष्य का कल्याण इसी बात में है कि वह ऋत के इन नियमों का परिज्ञान कर उनके साथ अपने जीवन की सानुकूलता स्थापित कर ले। इसी ऋत तत्व से सत्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा प्राचीन भारतीय मनीषियों ने यह सिद्धान्त

प्रतिपादित किया कि सत्य ही धर्म का आधार है और सत्य का अनुसरण करने से ही मनुष्य का कल्याण सम्भव है। संसार में जो नियम और व्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है, वह सत्य पर ही आधारित है।

जिसका पालन करने से संसार में मनुष्य का अभ्युदय तथा परलोक में नि:श्रेयस् या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है वही धर्म की परिभाषा है, किन्तु यह धर्म वेद शास्त्रादि विहित होना चाहिए मनुष्यादि साधारण प्राणियों द्वारा रचित धर्म मान्य नहीं हो सकता। मनुष्य अपनी इच्छा एवं विवेक का प्रयोग कर धर्म का निर्माण नही कर सकता क्योंकि धर्म सत्य पर आधारित होता है और सत्य के प्राकृतिक एवं अनादि नियम है, जो मनुष्य द्वारा रचित नही है। ऋत और सत्य के नियम भारतीयों के धार्मिक जीवन को सदा अनुशासन में रखते आये है।

७) कर्मफल - प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मनुष्य जीवन को अधिक प्रभावित करने का सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त माना है। मनुष्य इस जीवन में जैसा भी पुण्य या पाप कर्म करता है उसी का फल भोगना पड़ता है। कर्म तीन प्रकार है- प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण।

प्रारब्ध कर्म :- पूर्व जन्मों के किये गये कर्मो के अनुसार फलस्वरूप हमें अच्छे, मध्यम या नीच कुल में जन्म मिलता है। प्राय: वर्ण या जाति को भी हमारे पूर्व जन्मों के कर्म ही प्रभावित करते है।

संचित कर्म :- मनुष्य को माता-पिता द्वारा अर्जित सम्पत्ति का भोग अपने प्रारब्ध के अनुसार मिलता है। मनुष्य अपने परिश्रम द्वारा जो धन अपने दैनिक जीवन यापन से बचाकर बैंक आदि में जमा कर लेता है उसे किसी सावधिक जमा खाते में डाल देता है तथा अपनी वृद्धावस्था में निर्वाह के लिए रखता है या अपनी सन्तान के लिए छोड़ जाता है, वह संचित धन कहलाता है, इसी प्रकार संचित कर्म भी हमारे इस जन्म तथा भावी जन्म को प्रभावित करते है। मनुष्य सामान्य जीवन यापन के अतिरिक्त अथवा दैनिक कर्त्तव्य निर्वाह से अधिक जो विशेष कृत्यों का निष्पादन करता है, जैसे विशेष अनुष्ठान, पुरश्चरण आदि जिसका फल संचित होकर चिरकाल तक उसके ऐहिक जीवन तथा भावी जन्म को भी प्रभावित करते है।

क्रियमाण कर्म :- मजदूरों या निर्धन व्यक्तियों के उस कर्मो की भाँति है जो सुबह से शाम तक परिश्रम द्वारा जो कमाते है उसी को खाकर रात को निश्चिन्त सो जाते है अथवा जो पूर्वजो की सम्पत्ति का उपभोग कर ऋण भी ले लेते है तथा अधिक ऋण हो जाने पर पूर्वजों द्वारा प्राप्त मकान तथा कृषि की भूमि आदि को भी बेच देते है। ऐसे लोग केवल उदरम्भीर कहलाते है।

प्राचीन आर्य मनीषियों कर मान्यता थी कि मनुष्य को स्वधर्म के पालन में तत्पर रहना चाहिए। अच्छे कृत्यों को सम्पन्न करने वाला व्यक्ति यदि इस जन्म में उसका फल नहीं पाता तो

भावी जन्म में उसे सुकृत्यों या कुकृत्यों का फल अवश्य प्राप्त होता है।

८) **अभयभावना** - वैदिक साहित्य अभयता की भावना से युक्त है यथा -

अभयं करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादभयं नो अस्तु॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो मे।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

जिस प्रकार प्राचीन आर्यो द्वारा भारतीय संस्कृति में अध्यात्म भावना का प्रवेश हुआ उसी प्रकार उन्होनें अभयभावना को भी प्राप्त किया। जिस प्रकार मनुष्य स्वयं को सबमें तथा स्वयं में सबको देखने लगता है, तथा जिस समय वह सर्वत्र एकत्व की अनुभूति करने लगता है, तब वह अभय अर्थात् भयमुक्त हो जाता है। वह शोक, मोह आदि से ऊपर उठ जाता है। वैदिक ऋषियों की मान्यता है कि मुझे मित्र से अभय प्राप्त हो तथा शत्रु से भी अभय की प्राप्ति हो। ज्ञातवस्तु तथा परिचित व्यक्ति से हमें अभय की प्राप्ति हो, परोक्ष अथवा अपरिचित व्यक्ति से अभय दान मिले। मैं रात दिन में सदा अभय होऊँ और सभी दिशाएं मेरे प्रति मित्र भावना रखे। इस अभय भावना की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य सभी वस्तुओं में एक ही परमपिता परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करे और सभी के प्रति एकता का अनुभव कर सके।

९) **मधुर, पवित्र एवं सम्पुष्ट जीवन की कामना**-वेद में जीवन की पवित्रता हेतू भी कामना की गई है।

यत् ते पवित्रमर्चिष्यने विततमन्तरा ब्रह्म तेन पुनीहि नः।
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वाभूतानि पवमानः पुनन्तु माम्॥
पवमानः पुनन्तु मां क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥
उभामयां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे॥

हे अग्नि देव पवित्र और विशाल ब्रह्म तेरी ज्वाला में विलसित हो रहा है, हमें उसके द्वारा पवित्र करो। देवजन मेरे विचारों को पवित्र करे और मनुगण मेरे विचारों को पवित्र करे। सभी भूतगण मेरे विचारों को पवित्र करे, पवित्रकारी भगवान मुझे पवित्र करे। पवित्रकारी परमात्मा मुझे पवित्र करे। मेरे भीतर पवित्रता एवं कर्मण्यता का विकास हो। मुझे जीवन और आरोग्य दोनों के द्वारा पवित्र करो। हमें भली भाँति देखकर चलने वाला बनाओ।

वैदिक ऋषियों ने हमारे जीवन में सरसता, पवित्रंता एवं सम्पुष्टि की प्राप्ति के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की हैं जो परस्पर प्रेम एवं मधुर जीवन में सुख शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

योग-दर्शन में ईश्वर-प्रणिधान द्वारा 'कैवल्य'

बबलू वेदालं
शोध-छात्र, दर्शन वि
गु०कु०कां० विश्वविद्याल

- व्यावहारिक दृ

'योग' गुह्य विद्या है, जिसको महर्षि पतञ्जलि ने अनुशासित करके 'योग-दर्शन' की र की है। योग-दर्शन वैदिक षड्दर्शनों की श्रेणी में रखा जा सकता है, जो अपनी व्यावहारिक दृ के कारण अन्य सभी भारतीय दर्शनों से विशिष्ट है। जहाँ चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी भार दार्शनिक सम्प्रदाय 'मुक्ति' की बात को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करते हैं वहीं योग-द 'मुक्ति' की प्राप्ति के लिए व्यावहारिक मार्ग प्रस्तुत करता है- अभ्यास और वैराग्य-

''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥'' (यो0सू0 1-12)

योग-दर्शनकार ने अभ्यास में अनेक विधियों का वर्णन किया है परन्तु सम्प्रति भौतिकवा जगत् में समय के अभाव तथा अनेक समस्याओं के कारण प्रायः नहीं अपना पाते, परन्तु मह पतञ्जलि ने एक ओर जहाँ कठोर साधना की व्यवस्था दी है वहीं व्यावहारिक जीवन में बि किसी अलग समय निकाले व किसी विशेष स्थान के भी 'कैवल्य' प्राप्ति की व्यवस्था दी है जिसे ईश्वर-प्रणिधान कहा जाता है-

''ईश्वरप्रणिधानाद्वा'' (यो0सू0 1-23)

ईश्वर-प्रणिधान के ऊपर दृष्टि डालने से पहले पतञ्जलि द्वारा ईश्वर के लक्षण व गु की विवेचना करना आवश्यक प्रतीत होता है। ईश्वर के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है-

''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरपामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।''(यो.सू. पाद-5,सू. 24)

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय-इन चारों से जो सम्बन्धित नहीं है, जो सम पुरुषों से उत्तम है, वही ईश्वर है। पुनः कहा गया है -

''तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।'' (यो0सू0 1-26)

अर्थात् उस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज या ज्ञान निरतिशय है। गुरु के रूप में ईश्वर क कहा गया है-

''पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'' (यो0सू0 1/26)

अर्थात् वह ईश्वर सबके पूर्वजों का भी गुरु है, क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं ही है।

महर्षि पतञ्जलि ईश्वर का नाम प्रणव बतलाते हैं -

''तस्य वाचकः प्राणवः।'' (यो0सू0 1-27)

उपर्युक्त ईश्वर के विवेचन के पीछे महर्षि पतञ्जलि का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है क्योंकि मानवीय कमजोरी है कि वह एक ऐसी सत्ता को ही समर्पण कर सकता है जो उससे अधिक उच्च हो।

ईश्वर-प्रणिधान उस साधनापद्धति को कहा जाता है जिसमें साधक सम्पूर्ण कर्म-फल, धन-सम्पदा, सुख-दुःख आदि को ईश्वर को समर्पित कर देता है।

यहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित होना स्वाभाविक है कि 'क्रिया-योग'[1] में तथा अष्टांग-योग[2] में भी नियमों[3] के अन्तर्गत 'ईश्वर-प्रणिधान' का निर्देश योग-दर्शन में किया गया है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुछ मानवीय चेतना अपने 'अहंकार' के वशीभूत होकर सब-कुछ प्राप्त करने की कोशिश करती हैं, परन्तु क्रिया-योग में तप, स्वाध्याय करने के बाद भी ईश्वर को समर्पित करना अनिवार्य है क्योंकि व्यक्ति के कठोर तप आदि के करने पर भी क्लेश पैदा होते हैं परन्तु ईश्वर को समर्पित करने पर क्लेश उत्पन्न नहीं होते, यही दृष्टिकोण अष्टांग-योग के विषय में भी है क्योंकि यदि ध्यान भी करते हैं तो भी बन्धन या क्लेश का ही कारण बनता है, जिसका कारण मात्र इतना है कि ध्यान न लगे तो भी क्लेश उत्पन्न होता है और क्योंकि ध्यान में असीम आनन्द की अनुभूति भी होती है, जो राग नामक क्लेश उत्पन्न कर देती है अतः ध्यान कभी ईश्वर को समर्पित करके ही करें।

ईश्वर-प्रणिधान को व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार उतारा जाये यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसके केन्द्र में यह शोध-पत्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यदि हम अपने व्यावहारिक जीवन में देखें तो किसी भी प्रकार का क्लेश हो तो वह हमारी अज्ञानता के कारण ही होता है; क्योंकि जब हम यह समझ लेते हैं कि-यह मेरा है, मैंने किया है, पुत्र मेरा है, पत्नी, बच्चे, पति मेरा है, शरीर मेरा है। जब इस अज्ञानतावश किसी को भी कष्ट होता है, किसी इच्छा के विपरीत कोई कार्य होता है तो हमें क्लेश पैदा होता है। परन्तु ईश्वर प्रणिधान में मात्र यह करना है कि ये धन-सम्पदा, यें सगे-सम्बन्धी, यें शरीर, यें उपलब्धि, ये पद, यें सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की ही हैं- इस बिन्दु से समर्पण की साधना आरम्भ होती है। जैसे-जैसे हम इस मार्ग में आगे बढ़ते हैं तो सृष्टि के प्रति अज्ञानता के कारण उत्पन्न हुआ मोह नष्ट होने लगता है, संसार में वैराग्य की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। सम्पूर्ण सृष्टि ही ईश्वर की लगने लगती है। एक दिन ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि समस्त कार्य के पीछे ईश्वर का हस्तक्षेप पैदा होता अनुभव होने लगता है। सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी होता दिखाई पड़ता है वह ईश्वर की लीला या नाटक मात्र रह जाती है

और एक अज्ञानी साधक बन जाता है ज्ञानवान् नाटक का पात्र।

जब सम्पूर्ण सृष्टि नाटक लगने लगती है तो वह उस समय अपने समस्त क्लेश व ... से निवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार नाटक में न तो कोई किसी को मारता ही है और न किसी ... जीवन ही देता है। अतः न कोई कर्म होता और न कोई फल और न ही पाप-पुण्य होता है। ... सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति इस तत्त्व-ज्ञान की अ... में किसी को मार भी देता है तो कोई पाप नहीं और यदि किसी की सेवा भी करता है तो ... पुण्य नहीं। जिसे योग-दर्शन में इस प्रकार कहा गया है -

"ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।" (यो0 सू0 4-...

ईश्वर-प्रणिधान में समर्पण की अगली घटना घटती है कि यह शरीर भी ईश्वर का ... तब आपके चेतन-तत्त्व प्रकृति से निर्मित शरीर को देखता है, उस समय आत्मा का शरीर में ... हुए भी संयोग समाप्त हो जाता है, क्योंकि अविद्या का नाश हो जाता है। अब जिस शरीर को ... समझते थे वही ईश्वर का हो जाता है। पतञ्जलि इस संयोग का कारण उक्त अविद्या को ही मान... -

"तस्य हेतुरविद्या" (यो0सू0 2-2...

अर्थात् आत्मा और शरीर के संयोग का कारण अविद्या है।

योग-दर्शनकार कहते हैं कि अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव हो जाता है, ... 'हान' है, यही चैतन्य का 'कैवल्य' है -

"तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।"(यो0सू0 2-25)

योग-दर्शनकार विवेक ज्ञान के बाद साधक की बुद्धि को सात प्रकार की अन्तिम अव... वाली बताते है -

"तस्य सप्तधाया प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।" (यो0सू0 2-27)

अर्थात् जो कुछ जानना था जान लिया, जिसका अभाव करना था कर लिया, जो प्रा... करना था कर लिया, जो भोगना था भोग लिया अदि।

ईश्वर-प्रणिधान की इस अवस्था में जब नरक के पांत्र साधक विवेक-ज्ञान की महिमा ... भी वैराग्य हो जाता है उसका विवेक-ज्ञान सर्वथा रहने के कारण धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती ... -

"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा
विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥" (यो0सू0 4-29)

अर्थात् जिनका पुरुषों के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना 'कैवल्य' है अथवा यों कहिये कि द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही 'कैवल्य' है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो ईश्वर-प्रणिधान के माध्यम से व्यावहारिक जीवन में 'कैवल्य' अर्थात् समस्त दुःखों में मुक्ति मिल जाती है। गम्भीरता पूर्वक देखने पर सभी साधनाओं का अन्त ईश्वर-प्रणिधान में ही है जिससे वैराग्य, पर-वैराग्य घटता है और समस्त दुःखों से छुटकारा मिल जाता है।

ईश्वर-प्रणिधान उस प्रक्रिया का नाम है जिसमें सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पर अपनी मोहर हटाकर ईश्वर की मोहर लगा देता है अर्थात् ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है।

सन्दर्भ

1. यो0सू0 2-1
2. यो0सू0 2-29
3. यो0सू0 2-32

दयालु है वह.........................

- महावीर 'नीर' विद्यालं

दयालु है वह और दया कर रहा है, जहां में है वह पर नहीं दिख रहा है।।

गगन में जो मोती बिखरे पड़े है,
बिना टेक के जो सितारे जड़े है।
उन्हे देख दिल बस यही कह रहा है,
अजब है, अनोखा, गजब कर रहा है।

बनाया है उसने जो चोला हमारा,
न कैंची चलाई न सुई और धागा।
सभी का अलग है नक्शा उतारा,
गजब का है दर्जी, अजब कर रहा है।

सुबह-शाम उसका लिया नाम जिसने,
जो उसका हुआ है लिया लाभ उसने।
वह देता सभी को, समझ जग न पाता,
ईशारों, ईशारों में सब कर रहा है।

दगा जो करेगा, वह वैसा भरेगा,
जो भूलेगा उसको, भटकता फिरेगा।
गुनाह तो किए, कुछ भला भी तो करले,
उसे भूल कर फिर गुनाह कर रहा है।

कभी फूल बनकर हमें गंध देता,
कभी शूल बनकर हमे बींध देता।
कर्मों, सुकर्मों का खाता खुल है,
यथायोग्य सबको सजा दे रहा है।

तुझे क्या मिलेगा, किसी से दगाकर,
तेरा क्या बनेगा, उसको भुलाकर।
सम्भलजा, सम्भलजा, अरे चोट खाकर,
तू बहरा न बन, वह कुछ कह रहा है।

समाधी में योगी, उसे ढूंढते हैं।
जंगल में उसका निशां खोजते हैं।
इधर भी नहीं वह, उधर भी नहीं है,
वह सीपी में मोती, बन छिप रहा है।

सिकन्दर भी आए, कलन्दर भी आए,
सभी इस जमीं के अन्दर समाए।
उन्ही का है रोशन सितारा जहाँ में
जो इबादत में उसकी बसर कर रहा है।

सदा न्यायकारी, दयालु, अजन्मा,
गुणागार, अनुपम, सर्वशक्तिमन्ता।
निराकार ईश्वर, निर्विकार भी है,
जो समझा न उसको, वह भटकता रहा है।

कभी 'नीर' तेरी सुनेगा, सुना तो,
कभी उसको अपने दिल से लगा तो।
करीब उसके जो भी गया है जहाँ में
वह उसको मिला है, मिलता रहा है।

डॉ० भद्रसेनः मरीजों के मसीहा

प्रो० वेदव्रत विद्यालं
सी-१९८, सर्वोदय एन्क्लेव, नई दिल्ली-

डॉ0 भद्रसेन आयुर्वेदालंकार 27 अप्रेल 2005 को सदा के लिए हम से विदा हो ग प्रोफेसर रामनाथ एवं अन्य मित्रों का आग्रह है कि मैं उनके विषय में कुछ लिखूं। एक तो जीवन का 94 वां वर्ष चल रहा है, इसलिए कुछ लिख सकना अब कठिन हो गया है, दूसरे मेरे छोटे भाई थे और हम लगभग 14 वर्ष गुरुकुल में इकट्ठे रहे थे, इसलिए घनिष्ठ आत्मी लिखने में बाधक हो जाती है। फिर भी प्रयास कर रहा हूँ।

डॉ0 भद्रसेन का जीवन बड़ा सफल और सक्रिय रहा, इसलिए उसे समझने के लिए कु पृष्ठभूमि को जानना अच्छा रहेगा। हमारे पिता जी लाला चेतराम जी स्यालकोट जिले के (अ पाकिस्तान में है) एक सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त महाजन परिवार में पैदा हुए थे। उनकी प्रकृति में प्रार से विशेषता थी कि वे जिस वातावरण में रहते थे या जिस बात को पकड़ते थे, उसमें पराकाष्ठ कर जाते थे। प्रारम्भिक जीवन खेल-कूद में और कुछ भोग-विलास में व्यतीत हुआ। एक दफा स्यालकोट में किसी आर्यसमाजी सम्मेलन में कुतूहलवश चले गए। वहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जी व अन्य कुछ महानुभावों के भाषणों से ऐसे प्रभावित हुए कि आर्यसमाजी बन गए। फिर क्या था उन्होंने इलाके में धूम मचा दी। अछूतोद्धार के लिए अपने घर और कारोबार में सब नौकर एव कर्मचारी मेघ जाति के रख लिए। अपने सब बच्चों को शिक्षा के लिए गुरुकुल, डी.ए.वी. स्कूल कन्या महाविद्यालय जालन्धर में भेजने का फैसला कर लिया। सम्बन्धियों, बिरादरी एवं समस्त परम्परावादी पौराणिक समाज में शोर मच गया। पिता जी ने किसी की परवाह नहीं की। तीन भाइयों को गुरुकुल कांगड़ी में स्वामी श्रद्धानन्द जी के सुपूर्द कर दिया। इस ख्याल से कि यदि वे न रहें तो पीछे कौन पढ़ायेगा।, हम तीनों की 14 साल की इकट्ठी फीस जमा करा दी। सन् 1921 में महात्मा गान्धी जी के प्रथमं असहयोग आन्दोलन में वे जेल चले गए, परन्तु हमारी पढ़ाई निर्बाध जारी रही। अब वैसे आर्यसमाजी कहाँ मिलते है?

सन् 1920 में मैं और भद्रसेन गुरुकुल कांगड़ी में दाखिल हुए। कुछ अरसे बाद मैंने अनुभव किया कि भद्रसेन के व्यक्तित्त्व का ठीक विकास नहीं हो रहा है। कुछ साल बाद वे एक कक्षा नीचे हो गये। उनका विकास ऐसा निखर कर सामने आया कि आश्चर्य हुआ। दरअसल दो भाईयों व बहिनों को इकट्ठे कहीं पर पढ़ने नहीं डालना चाहिए। जब भद्रसेन महाविद्यालय सतह पर पहुँचे तब वे न केवल अपनी कक्षा में अग्रणी थे; अपितु उनमें नेतृत्व के पैतृक गुण विकसित हो गए थे।

वे आयुर्वेद महाविद्यालय में दाखिल हुए। वहाँ उन्होंने न केवल आयुर्वेद को भली-भांति पढ़ा और समझा, अपितु समस्त आयुर्विज्ञान को जानना चाहा। ग्रीष्मावकाश में लाहौर जाकर वे प्रसिद्ध चक्षुरोग विशेषज्ञ एवं प्रसिद्ध सर गंगाराम हॉस्पिटल के संचालक डॉ0 कौल और प्रसिद्ध सर्जन, डॉ0 रोशनलाल खेड़ा के सहायक बनकर आयुर्विज्ञान का समग्र ज्ञान प्राप्त करते रहे।

आयुर्वेद की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे गुरुकुल, इन्द्रप्रस्थ में चिकित्सक के रूप में काम करते रहे। विद्यार्थियों के अलावा आसपास के इलाके में भी उनकी चिकित्सा की चर्चा फैल गई।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध दानवीर श्री दीवानचन्द जी ने अपने जन्मस्थान सैदपुर में (अब पाकिस्तान में) एक चिकित्सालय खोला था। उनके पीछे उनकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी सतभ्रामा देवी ने आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब से आग्रह किया कि किसी योग्य डॉक्टर को वहाँ नियुक्त किया जाये। सभा ने डॉ0 भद्रसेन को इस काम के लिए चुना। इन्होंने वहाँ सात साल तक न केवल प्रमुख चिकित्सक का काम किया, अपितु आर्यसमाज के प्रति सम्मान की भावना इलाके में पैदा की। दीवान चन्द ट्रस्ट वाले अब दिल्ली के पास एक अच्छा हस्पताल बना रहे है। डॉ0 भद्रसेन की सेवाओं का ध्यान में रखते हुए वे वहाँ एक बड़ा गेट उनकी स्मृति में बनाने का विचार कर रहे है।

परिवार की योजना के अनुसार डॉ0 भद्रसेन ने सर्विस छोड़कर अपने कस्वे में काम करना प्रारम्भ किया। यहाँ भी उन्होंने कई चामत्कारिक केस किये, जिनमें कुछ सफल ऑपरेशन भी शामिल थे। शीघ्र वे लोकप्रिय डॉक्टर बन गए और इलाके में उनकी धूम मच गई। देश विभाजन के बाद पिता जी ने रिफ्यूजी बनकर हिन्दुस्तान जाने से इन्कार कर दिया, तो डॉ0 भद्रसेन बड़ी दुविधा में पड़ गए। पिता जी को छोड़कर वे कैसे निकलें? जब सारा इलाका हिन्दू-सिखों से खाली हो गया तो पिताजी से आग्रह करके डॉ0 भद्रसेन और उनके परिवार को स्थानीय मुसलमानो की सहायता से निकाला। हमारे नानके हमारे कस्बे से लगभग 10 मील दूर सीमा की भारतीय तरफ थे। मुसलमान अंगरक्षक डॉ0 साहिब को वहाँ पहुँचा गए। हमारे पिता जी के पाकिस्तान में रहने और फिर वहां से निकलने की बड़ी मनोरंजक और लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहाँ नहीं लिख रहा हूँ।

दिल्ली आकर डॉ0 भद्रसेन ने दरियागंज में सुभाष मार्ग पर प्रैक्टिस प्रारम्भ की और शीघ्र ही अनेक उनके................ मरीज बन गए। उनके निधन पर अनेक लोगों ने उनकी चामत्कारिक चिकित्सा के किस्से सुनाये। उनकी चिकित्सापद्धति की विशेषता मैं यहाँ संक्षेप से ही लिखूंगा। पहली बात उनकी मरीज और उसके परिवार के साथ आत्मीयता थी, जिससे मरीज का उनमें विश्वास सुदृढ़ हो जाता था। वे उन डॉक्टरों में से नहीं थे जो चलाऊ ढंग से मरीज को देखकर बाजारी पेटेंट नुस्खा लिख देते है। मरीज को उनके पास आते ही विश्वास हो जाता था।

दूसरी बड़ी विशेषता यह थी कि उनका निदान बड़ा ठीक होता था। वे कुछ समय मरीज

को देखने में और उसकी बात को समझने में लगाते थे। क्योंकि वे स्वाध्यायशील थे। उन्हें आ... के अलावा पाश्चात्य पद्धति होमियोपैथी, बायोकैमिस्ट्री, प्राकृतिक चिकित्सा, एकूपंक्चर आयु... का अच्छा ज्ञान था, जो मरीज को अच्छा करने में बहुत काम आता था।

तीसरी बात यह थी कि वे अपने मरीजों से व्यक्तिगत संबन्ध रखते थे और उनका ध्यान रखते थे। दोपहर के खाली समय में जब वे दौरे पर निकलते थे तो रास्ते में पड़ने वाले मरीजों के परिवारों को देखने और मिलने जाते थे। उनके मरीज भी उनकी बड़ी इज्जत करते जैसा कि उनके निधन पर देखने में आया।

अन्त में एक बात जिसकी वे मेरे साथ अक्सर चर्चा किया करते थे, यहाँ उल्लेख करना चाहता हूँ ....

जैसा कि सर्वविदित है, स्वामी श्रद्धानन्द जी (पहले महात्मा मुंशी राम) ने भारतीय देशभक्ति की भावना उत्पन्न करने और विद्यार्थियों को पाश्चात्य शिक्षा से बचाकर प्राचीन भा... वातावरण में शिक्षित करने के लिए गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की थी। सरकार ने आ... सहायता आदि अनेक प्रलोभनो द्वारा स्वामी जी को विचलित करना चाहा, परन्तु वे डगमगाये न... विद्यार्थियों के संरक्षक माता-पिता जानते थे कि उनके बच्चों को स्नातक बनकर निकलने के ... सरकारी नौकरी आदि नहीं मिलेगी। उनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित या-गुरुकुलों में अध्यापन, प्र... बनना, पत्रकारिता, वैद्यक, इत्यादि ....देश विभाजन के बाद जब डॉ0 भद्रसेन दिल्ली आये उन्होंने देखा कि सरकारी कॉलेजों से निकले डॉक्टरों द्वारा अन्य चिकित्सा पद्धति बालों के ... प्रयत्न हो रहा है कि उन्हें नीमहकीम मान कर प्रैक्टिस न करने दी जाये। डॉ0 भद्रसेन तबियत... संघर्ष करने वाले थे। उन्होंने अपने जैसे डॉक्टरों की स्वीक्रियता के लिए संघर्ष किया, अधिका... से मिले, समाचार-पत्रों में लिखा, अपने साथियों के संगठन बनाये। आखिर सफलता मिली।

वे कहा करते थे कि हमें नहीं मालूम था कि जिस स्वतन्त्रता के लिए हम लोगों ने ... कष्ट उठायें, उसके मिलने के बाद भी हम अपने स्वतन्त्र देश में सेकेण्ड क्लास नागरिक ... जायेगे। यह भावना हम सब में है। हमारा शासन-तन्त्र अब भी पराधीनता की हीन भावना से ग्रसि... है। खैर, यह एक लम्बा विषय है।

डॉ0 भद्रसेन के मन में यह परेशानी अन्त तक रही। परिवार की दृष्टि से डॉ0 भद्र... बड़े खुशकिस्मत रहे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सावित्री देवी एक धर्मपरायण आर्यसमाजी परिव... से हैं। उनका लड़का अमेरिका में सफल और विख्यात डॉक्टर है। वह आजकल यूनाईटेड नेश... संगठन में उच्च पद पर आसीन है। लड़की डॉ0 सुमन और दामाद डॉ0 अशोक कौशिक एम.बी. बी.एस. एवं एम.डी. (इंग्लैन्ड से) हैं और दिल्ली में प्रैक्टिस कर रहे है। बीमारी के बाद डॉ... साहिब उन्हीं के पास और उन्हीं की देखरेख में रहे। छोटी लड़की शरद् न्यूयार्क में न्यूयार्क टाइम्स में काम कर रही है।

उनके देहावसान पर जब मैं उन्हें देखने गया तो मैंने उनके पैरों में नमस्कार किया। मेरे पौत्र ने कुतूहलवश मुझसे पूछा कि आप इनसे बड़े थे, फिर आपने पैर क्यों छुये? मैंने कहा; बेटा जो चला जाता है, जिसने अब लौटकर नहीं आना है वह बड़ा हो जाता है और श्रद्धांजलि का पात्र हो जाता है।

गुरुकुल से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय तक

कुलभूषण शर्मा
पुस्तकालय विभाग
गु०कां०वि०वि०, हरिद्वार

हरिद्वार, 19 सदी भारत में शिक्षा जगत के लिए एक महत्तवपूर्ण उपलब्धियों से परिपूर्ण समय था। इस समय के महान् समाज सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने आर्दशों व संस्कृति को जिन्दा रखने के लिए आर्य समाज की स्थापना की थी जिसमें सभी को समान शिक्षा देने कि व्यावस्था थी चाहे वह राजा का पुत्र हो या फिर किसी साधारण परिवार का दैनिक शिक्षा के साथ साथ सभी को ज्योतिष, भूगोल, यन्त्रकला, चिकित्सा शास्त्र, भूगर्भ, शिल्प विद्या का अभ्यास कराया जाना अनिवार्य किया गया। सदी के अन्त में कुछ लोगों के मन में यह विचार आया कि स्वामी दयानन्द कि शिक्षा प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए। महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के प्रयासो सेयह कार्य संभव हो पाया व शिक्षा के क्षेत्र में नई क्रांति का प्रारम्भ हुआ। 1898 के आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में गुरुकुल खोलने की स्वीकृति प्रदान कि गई। इसके बाद गुरुकुल के नियम आदि बनाने के लिए मुन्शीराम जी को अधिकृत किया गया। सर्वप्रथम समस्या यह थी की गुरुकुल को कहा खोला जाये अनेको भूमि दानियों के होने के बावजूद भी मुन्शीराम जी गुरुकुल को गंगा के तट पर खोलना चाहते थे। अन्त में मुन्शी अमन सिंह ने अमन सिंह ने अपना कांगड़ी ग्राम जो हरिद्वार के सामने गंगा के पूर्वोतम पर जिला बिजनौर में स्थित था गुरुकुल के लिए आर्य-प्रतिनिधि सभा को अपनी 1400 बिघा भूमि दान में दे दी। इससे पूर्व 16 मई 1900 को गुजरावला (पाकिस्तान) में गुरुकुल की स्थापना कर दी गई थी। 4 मई 1902 को गुजरावाला से गुरुकुल को कांगड़ी, ग्राम में लाकर स्थापित किया गया। तथा कुछ दिनों बाद गुरुकुल का स्थापना दिवस मनाया गया उस समय गुरुकुल के प्रति लोगो का विशेष प्रेम देखने को मिला जिसका प्रमाणं इस बात से मिलता है कि उस समय गुरुकुल के विकास के लिए तीन हजार रुपये नकद एकत्रित हुए तथा चार वर्षो के अन्दर पच्चीस हजार रुपये की लागत से बाइस पढ़ने के कमरे छात्रों के रहने के लिए अलग से आश्रम में बना दिये गये। गुरुकुल के पहले आचार्य पं0 गंगादत्त जी थे तथा मुन्शी राम जी इसके मुख्याधिष्ठाता (प्रबन्धक) थे।

1917 में मुन्शीराम जी ने गुरुकुल की सेवा करने से मना करने के साथ ही गृहस्थ आश्रम त्याग कर सन्यास ले लिया संन्यासी बनने के बाद इन्हे स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से जाना गया। 1919 में भारत में रायल एक्ट के विरोध में आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप गांधी के सत्याग्रह की घोषणा पर हुए सरकार विरोधी आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप हुए जलियावाला बाग कांड से प्रेरित हो स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी इस आन्दोलन में बढ़चढ़कर हिस्सा लिया।

1921 का गुरुकुल के इतिहास में बड़ा महत्तवपूर्ण स्थान है इसी वर्ष 22 मार्च 1921 को आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल में निम्न महाविद्यालय खोलने की सविकृति प्रदान की। 1. वेद महाविद्यालय, 2. साधारण महाविद्यालय, 3. आयुर्वेद महाविद्यालय, 4. कृर्षिमहाविद्यालय

तथा इसी वर्ष गुरुकुल को विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया गया तथा 1923 में इसकी शिक्षा पटल की स्थापना की गई।

सन् 1924 में असाधारण वर्षा के कारण गंगा में भयंकर बाढ़ आ जाने के कारण गुरुकुल की अधिकांश इमारते नष्ट हो गई जिसके बाद गुरुकुल को हरिद्वार में वर्तमान स्थान पर लाया गया सन् 1926 में गुरुकुल की रजत जयन्ती मनायी गई जिसमें महात्मागांधी, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, पं॰ मदनमोहन मालवीय जैसे महान लोगो ने भाग लिया परन्तु 23 दिसम्बर 1926 में इस संस्था के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की दिल्ली में हत्या कर दी मई सन् 1950 में गुरुकुल की स्वर्ण जयन्ती मनायी गई इस अवसर पर भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद यहां पधारे और उन्होंने प्रथम बार गुरुकुल के लिए एक लाख रुपये का सरकारी अनुदान दिया।

भारत सरकार ने 19 जून 1962 को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को डिम्ड टु बी युनिविर्सिटी का दर्जा प्रदान किया। अपनी निरन्तर गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर इस विश्वविद्यालय ने वर्ष 2002 में अपनी शताब्दी मनायी इस अवसर पर भारत सरकार ने विश्वविद्यालय पर एक ड़ाक टिकट जारी किया तत्कालिन कुलाधिपति पं0 हरबन्सलाल शर्मा के नेतृत्व में यह शताब्दी समारोह बड़े हर्षोउलास के साथ मनाया गया जिसमें अनेको अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें अनेको विदेशी से आये विद्वानों ने भाग लिया।

विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति प्रो0 स्वतन्त्र कुमार ने कुलपति के पद का कार्यभार ग्रहण करने के बाद विश्वविद्यालय के विकास को एक नई दिशा तथा गति प्रदान की आर्य प्रतिनिधि पंजाब के महामंत्री के रूप में किये गये कार्यो का लाभ इन्हें विश्वविद्यालय को प्रगति के पथ पर ले जाने में मिला। इन्होंने अपने कार्यकाल में अनेक नये पाठयक्रम विश्वविद्यालय में खुलवाये तथा इन्ही के प्रयासों के फलस्वरूप यू0जी0सी0 द्वारा गठित राष्ट्रीय मूल्याकनं एवं प्रत्यायन परिषद् ने विश्वविद्यालय को चार सितारा स्तर देकर गौरग्वित किया।

आज भी यह विश्वविद्यालय देश के अन्य विश्वविद्यालय के साथ निरन्तर प्रगति के पथ की ओर अग्रसर है यह विश्वविद्यालय आज आधुनिक शिक्षा के साथ साथ छात्रों में अपनी प्राचीन संस्कृति व राष्ट्र भावना जगाने का कार्य कर रहा है। यहाँ पर जहाँ छात्रो को प्रौघौगिकी, एम.बी. ए., एम.सी.ए., एम.एस.सी, बी.एससी जैसे वैज्ञानिक विषयों में अध्यापन के साथ शोध कार्य कराये जाते है वही दूसरी तरफ वेद दर्शन, संस्कृत, योग, प्राच्य, ज्योतिष जैसे विषयो में भी छात्रों को अध्ययन व शोध की सुविधा प्राप्त है।

कुलपति प्रो0 स्वतंत्र कुमार के अनुसार विश्वविद्यालय के अनेको छात्र आजविभिन्न तकनीकी क्षेत्रों में कार्य कर देश ही नही विदेशों में भी विश्वविद्यालय का नाम रोशन कर रहे है। विश्वविद्यालय के कुलपति पं0 सुर्दशन शर्मा जी के कुशल निर्देशन में विश्वविद्यालय निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है यहाँ पर छात्रों को सभी प्रकार के पाठयक्रमों में शोध कार्य करने के लिए सभी संसाधन उपलब्ध कराये जा रहे है तथा यहाँ के छात्र अपने शोध कार्यो में लगें हुए है यहाँ के कुलपति का कहना है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सपनो को पूरा करना उनके जीवन का उद्देश्य है जिसे पूरा करने के लिए वह विश्वविद्यालय के सभी शिक्षकेतर व शिक्षक साथियों को साथ लेकर पूरा करने में प्रयासरत है।

प्रतिष्ठित स्नातक वैद्य महेन्द्रनाथ वेदालंकार नहीं रहे

रामनाथ वेदालंकार
वेदमन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

वेदों के विद्वान्, गुजराती भाषा में वैदिक साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदानप्रदाता, आर्यसमाज संगठन के अग्रणी पं. वैद्य महेन्द्रनाथ जी वेदालंकार का देहावसान दिनांक 16.7.05 शनिवार को वानप्रस्थ साधक आश्रम आर्यवन, रोजड़, जि0 सावरकांठा (गुजरात) में हो गया। अपने 90 वर्ष का दीर्घायुष्य प्राप्त किया। उनका अन्तिम संस्कार शस्त्रोक पूर्ण वैदिक से वानप्रस्थ साधक आश्रम में ही सुसम्पन्न हुआ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से आय वेदालंकार उपाधि प्राप्त करके वेदों के विद्वान् बन कर निकले थे। आपने वैदिक लेखन, वेदप्रचार, वैदिक पुस्तकों का गुजराती अनुवाद आदि साहित्य कार्य करके यश प्राप्त किया भी। आयुर्वेद का ज्ञान आपने अपने स्वाध्याय से प्राप्त किया। आयुर्वेद की परीक्षाएं भी उत्तीर्ण की इसमें रोगियों की सेवा मुख्य उद्देश्य था। आप 156/1876, प्रतीक्षा अपार्टमेंन्ट्स सोला रोड़, अहमदाबाद-63 में निवास करते थे।। अहमदाबाद में प्रख्यात आयुर्वेज्ञ चिकिसकों में आपकी गणना थी। अनेक ऐसे रोगी जो अन्य चिकित्सा कराते थक चुके थे, इनकी शरण में आकर स्वस्थ हुए।

आप गुरुकुल सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में 12 वर्ष तथा भरुच के शिक्षणालयों में 11 वर्ष शिक्षक रहें। आप राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भरुच के संस्थापक थे। गुजरात एवं सौराष्ट्र की विभिन्न आर्यसमाजों कें आप प्रधान व मंत्री रहे। स्व0 प्राणजीयनदास यमुनादास ट्रस्ट के ट्रस्टी एवं गुजरात प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य भी रहे। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके विद्वतापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे। गुरुकुल में ये मेरे सहकारी थे। अच्छे क्या और हॉकी-फुटबाल के उज्जवल खिलाड़ी थे। पुस्तकालय का सहुप्रयोग करने का भी आपको शौक था।

इनके देहावसान से गुरुकुल का एक यशस्वी स्नातक चला गया है। गुरुकुल-परिवार इनके प्रति श्रद्धाञ्जलि तथा इनके परिवार के प्रति संवेदना प्रकाशित करता है। इनके छोटे पुत्र श्री दिनेश जी पर प्रस्थ साधक आश्रम, आर्यवन, रोजड़ में सतधक तथा समर्पित कार्यकर्ता के रूप में रहते हैं।

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल - 1277

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

अगस्त – सितम्बर – अक्टूबर 2005

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग

अध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक मण्डल

मूल्य	१०० रुपये वार्षिक
विक्रमी सम्वत्	२०६२

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975

विषयानुक्रमणिका

The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Swami Shraddhanand Ji
(1856-1926)

सम्पादकीय

प्रो० महावीर

यह अब निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि समस्त संसार को ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, संस्कृति और अध्यात्म का प्रकाश देने वाला भारतवर्ष ही है। इसी देश के ऋषियों, मुनियों और आचार्यों के तपः पूत हृदयों से प्रवाहित होने वाली पावन ज्ञान-गंगा ने विश्व को शान्ति और शीतलता प्रदान की थी। ज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म का कौन सा ऐसा पक्ष है जो देवभाषा और मानवता के पुजारियों के पवित्र अन्तःकरण में प्रकाशित न हुआ हो। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का उत्कृष्टतम रूप यदि कहीं है तो वह प्राचीन भारतीय वाङ्मय में है। आज के अशान्त, क्लान्त, निराश और हताश मानव को उसी अमृत की तलाश है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं-पृथिव्याः का उद्घोष करने वाले भारतीयों ने कणाद बनकर वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और बताया कि परमाणु अविभाज्य और दिक् रहित है। पांचवी शताब्दी में अपनी प्रज्ञा का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए आर्यभट्ट ने सर्वप्रथम प्रतिपादित किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है और तारे स्थिर हैं।

1150 ई0 में महान् वैज्ञानिक भास्कराचार्य ने अपने अमर ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि में पृथ्वी पर स्थित वस्तुओं पर गुरुत्वाकर्षण के प्रभावी होने का विवेचन किया। पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है और इस शक्ति से आकाश की ओर फेंका हुआ पदार्थ पृथ्वी पर गिरता हुआ सा प्रतीत होता है। वास्तविकता यह है कि पृथ्वी इसे अपनी ओर खींचती है क्योंकि आकाश सब ओर सम है।

बोधायन (6 वीं-शताब्दी ई0पू0) के शुल्वसूत्र में ज्यामिति का प्रारम्भिक विकास वर्णित है। गणित में शून्य की अवधारणा वैदिक संहिताओं की देन है। दाशमिक प्रणाली (Decimal System) संस्कृत भाषा की देन है जिसको आज सबने स्वीकार किया हुआ है। आचार्य पिङ्गल के छन्दः सूत्र में 'प्रस्तार-पद्धति' का विवेचन है, जिसका प्रयोग कम्प्यूटर सहित अनेक आधुनिक वैज्ञानिक विधाओं में किया जा रहा है।

हमारा औपनिषदिक मंत्र-'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' गणित की 'अनन्त की अवध ारणा' का मूल है।

आचार्य सुश्रुत की सुश्रुत संहिता शल्य-चिकित्सा का प्रथम ग्रन्थ है।

वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'तात्पर्यटीका' में त्रि-आयामी रेखागणित (Three Dimensional Geometry) का विवेचन किया है।

आधुनिक संगणक-विज्ञान की (Natural Language Processing) सम्बन्धी अवधारणा मुख्यतः संस्कृत व्याकरण के सिद्धान्तों पर आधारित है।

इतना ही नहीं विज्ञान की समस्त शाखाओं की तरह मानवता के समस्त पक्षों को पुष्पित-पल्लवित करने वाला विशाल संस्कृत वाङ्मय इस देश की अनमोल धरोहर है। वैदिक वाङ्मय, दर्शन, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति के बिना भारत की कोई पृथक् पहचान नहीं हो सकती है। किन्तु आज आवश्यकता है इस अमृत-कुम्भ में छिपे हुए अमृत-कणों से हम मानवता का अभिषिंचन करें, अपने प्राचीन वाङ्मय में विद्यमान ज्ञानमुक्ताओं से कोटि-कोटि मानवों को अलंकृत करें। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ की अग्नि में भस्मसात् होते हुए जीवन मूल्यों की रक्षा करें। सहृदयता, सुमनस्कता, दया, करुणा, सेवा, समर्पण और प्रेम का मधुर सन्देश फैलाकर वैदिक संस्कृति की पताका विश्वगगन में फहरायें।

गुरुकुल पत्रिका में प्रकाशित लेखों, कविताओं एवं अन्य रचनाओं के माध्यम से हमारा यही प्रयास रहता है।

इसी श्रृंखला में हमारा एक प्रयास है- 3, 4, 5 मार्च 2006 में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पावन परिसर में राष्ट्रिय शोध संगोष्ठी का आयोजन।

हमारी इस शोध संगोष्ठी का शीर्ष बिन्दु है- 'वेद और बाल्मीकि रामायण'। वेद यदि समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूल है, तो रम्या रामायणी कथा इस देश का प्राण है। कान्तासम्मित शैली में आदि कवि बाल्मीकि के करुणाविगलित हृदय से प्रवाहित होने वाली रामकथा प्रत्येक मानव को पवित्र करती है।

हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि देश की मनीषा शोध संगाष्ठी के माध्यम से वेद एवं रामायण मन्थनोत्थ नवनीत कुछ इस ढंग से प्रदान करें कि सहस्रों व्यक्तियों तक भारतीय ज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म का सन्देश पहुंच सके।

हम आपके स्वागताभिनन्दन की उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे। अपने आगमन की स्वीकृति तथा शोध पत्र का सारांश 31 दिसम्बर 2005 तक प्रेषित कर अनुगृहीत करें।

तव सख्ये न नश्याम:

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

ऋग्० १.९४.२

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कार:

ऋषि: कुत्स: आङ्गिरस:। देवता अग्नि:। छन्द: त्रिष्टुप्।

(**यस्मै**) यजमानाय (**त्वं**) परमेश्वर: (**आयजसे**) स्व-रक्षां प्रयच्छसि (**स:**) असौ जन: (**साधते**) सफलो भवति, किञ्च (**अनर्वा**) अहिंसित: अपराजितश्च सन् (**क्षेति**) क्षियति निवसति, (**दधते**) धारयति (**सुवीर्यम्**) उत्कृष्टं बलम्। (**स:**) असौ (**तूताव**) वर्द्धते, (**न**) नैव (**एनम्**) एतम् (**अश्नोति**) प्राप्नोति (**अंहति:**) पापभावना दरिद्रता च। (**अग्ने**) हे तेजोमय परमेश्वर! (**वयं**) तवोपासका: (**तव सख्ये**) त्वदीये मैत्रीभावे (**मा रिषाम**) न नश्याम:।

अयि अग्ने! हे तेजोमय परमेश्वर! तव सख्यं त्वदीयं रक्षणं च अतिमहिमान्वितं वर्तते। धुरन्धरेभ्योऽपि लौकिकसम्राड्भ्य:प्राप्ता रक्षा तव रक्षायास्तुलनायां निस्तेजस्कां भवति। यस्त्वत्तो रक्षां प्राप्नोति स निश्चितमेव जीवने सफलो जायते। काठिन्यानि बाधाश्च तस्य मार्गेऽवरोधं न जनयितुं शक्नुवन्ति। असौ 'अनर्वा' सन् तिष्ठति, केनापि आन्तरेण बाह्येन वा शत्रुणा हिंसितो न भवति। नैव कामक्रोधादय: षड् रिपवस्तस्य जीवनं हिंसितुं प्रभवन्ति, न चापि चौरा वञ्चका आततायिन उपद्रविणो मानवरिपवस्तं क्षपयितुं समर्था जायन्ते। त्वदीयां रक्षां प्राप्य स कस्याप्यन्यस्याश्रयं ग्रहीतुं परवशो न जायते। स्वकीयरक्षाया:सूत्रं त्वां ग्राहयित्वा स निश्चिन्तो निवसति। त्वत्सदृशं रक्षकं प्राप्य तदभ्यन्तरे 'सुवीर्यं' जागर्ति। स उत्कृष्टेन आत्मबलेन उत्कृष्टेन देहबलेन चानुप्राणितो जायते। स तूताय, नित्यं वर्द्धते, उन्नते: अग्रमग्रं सोपानं स्वयमेवारोहन् भवति। स धनेन वर्द्धते, श्रिया वर्द्धते, विद्यया वर्द्धते, सद्गुणैर्वर्द्धते, साम्राज्येन वर्द्धते। असौ अंहतेर्वशे न जायते। हिंसार्थकाद् हन् धातोर्निष्पन्ना अंहस्-अंहु-अंहतिशब्दा: पापस्य दरिद्रतायाश्च वाचका भवन्ति। अग्ने: परमेश्वरस्य सखायं पापपीडा दरिद्रता च न व्याप्नोति। स मानसेषु शारीरेषु च पापेषु निमग्नो न भवति। किञ्चासौ न धनेन दरिद्रो जायते, न गुणैर्दरिद्रो, न च सुखस्वास्थ्यादिभिर्दरिद्र: सम्पद्यते। यत्सत्यम्, अग्ने: परमेश्वरस्य रक्षां प्राप्य मनुज: संतीर्णो जायते।

अयि ज्योतिर्मय जगदीश्वर! अस्मानपि त्वं स्वकीयं शरणं स्वकीयं रक्षणं च प्रापय, अस्मानपि स्वसख्ये गृहाण, येन वयं जीवने केनापि हिंसिता न भवेम, प्रत्युत अजिता अहता अक्षताश्च सन्तो भूमण्डलाधिपतय: संपद्येमहि।

सूत्रस्वरूपसमीक्षा

डॉ० भगवत्शरणशुक्ल
प्राचार्य
सौदामिनी संस्कृत महाविद्यालय
149, विवेकानन्दमार्ग, इलाहाबाद

"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च, तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।"
(मुण्डकोपनिषद् 1.1.4)

इति मुण्डकोपनिषच्छ्रुतिबलाद्वेदतुल्यमेव वेदाङ्गानामपि अनादित्वमपराविद्यात्वं चास्स्थीयेते। वेदाङ्गेषु व्याकरणस्य मुखस्थानीयतया प्राधान्यं सुतरामेव तिष्ठति। अत एवोक्तं भाष्यकारेण पस्पशाह्निके "प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।" तर्ह्येवम्भूतं महत्त्वपूर्णं व्याकरणं किमिति जिज्ञासायाम् व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति व्युत्पत्तौ सत्यां व्याकरणशब्दं पङ्कज शब्दवद्योगरूढं स्वीकृत्य वार्त्तिककारः व्याकरणमिति शब्दस्य कः पदार्थ इति जिज्ञासायां लक्ष्यलक्षणे व्याकरणमिति सिद्धान्तवार्त्तिकमाह। महाभाष्यकारस्तद् वार्त्तिकं व्याचक्षाणः आशङ्कितवान् यद् समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽयवये नोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान उच्यते वैयाकरण इति। इत्याशङ्कां समादधन् सः समुदाये प्रवृत्तः शब्दोऽवयवेऽपि प्रवर्त्तते यथा पूर्वे पञ्चालाः उत्तरे पञ्चालाः घृतं भुक्तम् तैलं भुक्तम्। इत्थमेव लक्ष्यलक्षणसमुदाये प्रयुक्तो व्याकरणशब्दः केवले सूत्रेऽपि प्रवर्त्तते।

पुनः भाष्यकारः उदाहरणप्रत्युदाहरणवाक्याध्याररूपव्याख्यानं सूत्रस्य सत्त्वात् सूत्रविपरीतस्य अस्वीकरणात् सूत्रमेव व्याकरणपदेन गृहीतवान्। व्याकरणस्य सूत्रमिति व्यवहारं च राहोः शिरः इति व्यवहारवत् व्यपदेशिवद्भावेन व्याकरणशब्देन शास्त्रस्य व्याकृतिक्रियायां करणतां सूत्रशब्देन च समुदायरूपतामङ्गीकृत्योपपद्यते अतो लाघवात् सूत्रं व्याकरणमितिसिद्धान्तः महाभाष्यकारेण स्थापितः। यद्यपि महाभाष्ये प्रोक्तं लक्ष्यलक्षणं व्याकरणं वार्तिककाराभिमतव्याकरणलक्षणं भाष्यकारःअखण्डयित्वा सूत्रं व्याकरणमिति लक्षणं प्रोक्तवान् तथापि अनेन ज्ञायते यत् अथवेत्यादिना वार्तिकमते स स्वारुचिं सूचितवानेव। सर्वसाधारणमुभयमतपोषकं किञ्चिल्लक्षणं व्याकरणस्य महाभाष्यकारेण आवश्यकं प्रतीयते इति महाभाष्यकारस्योभयमतप्रदर्शनेनत्थं ज्ञायते तच्चेत्थं भवितुमर्हतिशब्दकर्मकव्याकृतिक्रियाविशिष्टशास्त्रत्वम् व्याकरणत्वम्। वैशिष्ट्यं च स्वाश्रयनिरूपितलक्ष्यलक्षणनिष्ठोद्देश्यतानिरुपितविधेयताकत्वं स्वाश्रयनिरूपितसूत्रनिष्ठोद्देश्यतानिरूपिताविधेयताकत्वम् एतदन्यतरसम्बन्धेन स्वं शब्दकर्मकव्याकृतिक्रिया तदाश्रयनिरूपितलक्ष्यलक्षणनिष्ठा याः उद्देश्यता तन्निरूपिताया विधेयता व्याकरणनिष्ठा तादृश विधेयताकत्वं व्याकरणे। अपिच स्वं शब्द कर्मकव्याकृतिक्रिया तदाश्रयनिरूपितसूत्रनिष्ठा या उद्देश्यता तन्निरूपिता या विधेयता व्याकरणनिष्ठा तादृशविधेयताकत्वं व्याकरणे

इति लक्षणसमन्वयः। व्याकरणलक्षणे उभयोरपि सम्बन्धयोः सूत्रस्य प्राधान्यात् तच्च सूत्रं किमिति जिज्ञासायामुच्यते-

सूत्रयति = वेष्टयति स्वस्मिन्नखिलं तात्पर्यं स्थापयतीति सूत्रम्। 'सूत्र वेस्टने'। इति धातोरचि प्रत्यये सूत्रमिति शब्दो निष्पद्यते। भारतीयवाङ्मये वेदेषु सूत्रग्रन्थेषु षड्दर्शनेषु केषुचिद् व्याकरणादिवेदाङ्गेषु अन्येष्वपि साहित्यादिशास्त्रेष्वपि सूत्राणां परिपाटी आसीत्। किन्तु सूत्राणमेकमेव स्वरूपं सर्वत्र प्राप्यते। उक्तं च विष्णुधर्मोत्तरपुराणे2 -

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारविद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

अन्येषु विषयेषु सूत्राणां भेदाः केन रूपेण इति तु कुत्रचित् सामान्येन न लभ्यते। किन्तु व्याकरण विषये सूत्राणां स्वरूपदृष्ट्या प्रतिपाद्यदृष्ट्या वा षड्भेदाः भवन्ति। तथा च-

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

अर्थात् संज्ञापरिभाषाविधिनियमातिदेशाधिकारभेदेन सूत्राणां षड्भेदाः वर्तन्ते।

'षड्विधं सूत्रलक्षणमित्यत्रविधापदार्थो नाम' स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यमिथो विरुद्धयावद्धर्मप्रकारकबोधानुकूलव्यापारः। अत्र हि स्वशब्देन विधाशब्दो ग्राह्यः (यत्र च विभजते इत्यादिपदं तत्र विपूर्वक भज् धातुः स्वपदेन ग्राह्यः) तत्समभिव्याहृतं पदं सूत्रमिति तदर्थतावच्छेदकः सूत्रत्वधर्मः तद् व्याप्यमिथो विरुद्धाः धर्माः संज्ञात्वं, परिभाषात्वं विधित्वं नियमत्वमतिदेशत्वमिति यावन्तोधर्माः तत्प्रकारबोधाः इयं संज्ञा, इयं परिभाषा, अयं विधिः अयं नियमः अयमतिदेशः अयमधिकारः इत्येवं रूपाः। तथाहि प्रत्येकस्मिन् सविकल्पके ज्ञाने कश्चित् प्रकारो भवति, कश्चिद् विशेष्य इति। यथा अयं घटः इत्यत्र घटत्वंप्रकारः घटो विशेष्यस्तथैव इयं संज्ञा इत्यादिषु पूर्वोक्तज्ञानेष्वपि संज्ञात्वपरिभाषात्वविधित्वादयः प्रकाराः सन्ति। तस्मात् पूर्वोक्ताः बोधाः संज्ञात्वादिप्रकारकाः जाताः तादृशबोधानामनुकूलो व्यापारः संज्ञापरिभाषाविधिनियमातिदेशाधिकारा इति रीत्या पृथक् पृथक् लेखनकथानादिरूपः स एव व्यापानः विधापदार्थेन विभागपदार्थेन वा कथ्यते।

अत्रोच्यते। षड्विधं सूत्रलक्षणमित्यत्र विधापदार्थो न सम्यक्तया संघटते। यतोहि स्वौजसमौट् 4.1.2 इत्यादि सूत्रै आदिरन्त्येन सहेता 1.7.71 इति सूत्रेणैकवाक्यतया 'सूट्' 'आप' 'सुप्' प्रत्याहारसंज्ञाबोधकत्वस्य सत्त्वात् संज्ञासूत्रत्वं सिद्धयति। स्वादिविधायकत्वाच्च विधिसूत्रत्वमिति धर्मद्वयं वर्त्तते। तथैव शेषे 4.2.92

इत्यत्र ''अनुवर्त्तिष्यन्ते तत्र घादयः'' इति भाष्यबलात् अधिकारत्वं घादीनां विधायकत्वाच्च विधि सूत्रत्वमिति धर्मद्वयं विद्यते। इत्थं स्वौजसमौट 4.1.2 इत्यत्र संज्ञात्वविधित्वयोः, शेषे 4.2.92 इत्यत्र चाधिकारत्वविधित्वयोः सत्त्वात् प्रथमस्थले सूत्रत्वव्याप्यधर्मयोः संज्ञात्वविधित्वयोः द्वितीयस्थले चाधिकारत्वविधित्वयोरविरुद्धत्वात् षड् विधापदार्थानुपपत्तिरायाति।

अतः पूर्वोक्तदोषवारणाय स्वभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्य धर्मावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकमिथो विरुद्धयावद्धर्मप्रकारकबोधानुकूलौ व्यापारः इति विधापदार्थः परिस्क्रियते। तेन स्वसमभिव्याहृतसूत्रपदार्थतावच्छेदकसूत्रत्व व्याप्यधर्मयोः स्वौजसमौट 4.1.2 इत्यत्र संज्ञात्वविधित्वयोः शेषे 4.2.92 इत्यत्राधिकारत्वविधित्वयोश्च मिथोऽविरुद्धेऽपि स्वमसभिव्याहृपदार्थतावच्छेदकसूत्रत्व व्याप्यसंज्ञात्वावच्छित्रावच्छेदकसंज्ञात्वत्वधर्मस्य विधित्वावच्छिन्नावच्छेकमावच्छेदकविधित्वत्वधर्मस्य मिथो विरुद्धत्वात् स्वौजसमौट 4.1.2 इत्यत्र न दोषः। तथैव अधिकारत्वावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकाधिकारत्वत्वस्य विधित्वावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकविधित्वत्वधर्मस्य च मिथो विरुद्धत्वात् शेषे 4.2.92 इत्यत्र न दोषः।

किन्तु इत्थं विधापदार्थस्वीकारे यत्र स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यधर्मा एव मिथो विरुद्धाः यथा द्रव्यादिसप्तपदार्थान् विभजते इत्यत्र पदार्थतावच्छेदकव्याप्यद्रव्यत्वगुणत्वादयो मिथो विरुद्धास्तत्र पूर्वोक्तलक्षणस्याविद्यमानादनुगमानुपपत्तिः स्यात्। न हि द्रव्यत्वगुणत्वादयो धर्माः पदार्थतावच्छेदकव्याप्यधर्मावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकधर्माः। यद्यपि व्यपिदेशिवद्भावेन ते यथा कथञ्चित् पदार्थतावच्छेदकव्याप्यधर्मावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकधर्माः भवितुमर्हन्ति, तथापि एषा क्लिष्टकल्पना स्यात्। अतस्तद्दोषवारणाय विधापदार्थः इत्थं परिष्क्रियते स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकधर्माः भवितुमर्हन्ति तथापि एषा क्लिष्टकल्पना स्यात्। अतस्तद्दोषवारणाय विधापदार्थः इत्थं परिष्क्रियते स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यधर्मविशिष्टधर्ममिथो विरुद्धयावद्धर्मप्रकारबोधानुकूलो व्यापारः। वैशिष्ट्यं च स्वावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकत्वं, स्वावच्छिन्नावच्छेदकत्वमेतदन्यतरसम्बन्धेन। तेन शेषे 4.2.92 इत्यादि स्थलेषु प्रथम सम्बन्धस्य, द्रव्यादिसप्तपदार्थेषु च द्वितीय सम्बन्धस्य सत्वात् कुत्रापि दोषो न भवति।

इत्थं व्याकरणसूत्राणां षड्विधात्वमक्षतमेवेति बोध्यम् -

सर्वेष्वपि शास्त्रेषु केचन पारिभषिकशब्दाः भवन्ति। तेषां ज्ञानं विना तस्य शास्त्रस्यावबोधो न भवति। व्याकरणशास्त्रीयपारिभाषिकशब्दबोधकानि यानि सूत्राणि तानि संज्ञासूत्राणि। संज्ञात्वं नाम स्वशास्त्रघटकपदनिरुपितशक्तिनियामकत्वम् इति। यथा 'वृद्धिरादैच्'3 हलोऽनन्तराः संयोगः'14 इत्यादीनि। अत्र वृद्धिपदं 'आदैजर्थनिरुपितशक्तिमत्' इत्यस्य, संयोगपदं अजव्यवहितहल्समुदायनिरूपितशक्तिमत्त्व इत्यस्य च बोधके उक्तसूत्रे स्तः। इत्थमेव शक्तिनियामकत्वमेतेषु वर्तते। संज्ञासूत्राण्यपि उत्सर्गाः उपवादाश्च

सन्ति। यथा-

सर्वादीनि[5] सर्वनामानि इत्युत्सर्गसंज्ञासूत्रम्। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तर[6] इत्यपवादसूत्रम्। लक्ष्यसिद्धिरेव सूत्राणां मुख्यप्रयोजनत्वात् सामान्यतयापि एकस्याः संज्ञायाः बोधकानि अनेकानि सूत्राणि सन्ति। यथा 'सुडनपुंसकस्य'[7], शिवसर्वनामस्थानम्[8] इति, एते उभेऽपि सर्वनामस्थानसंज्ञाबोधके सूत्रे स्तः। प्रथमस्य स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनाममस्थानसंज्ञानि स्युरिति, द्वितीयस्य च 'शि' इत्येव सर्वनामस्थानसंज्ञा स्यादित्यर्थः। एवम्भूता अपि संज्ञाः यासां प्रयोजनमपि संज्ञा। यथा समाससंज्ञा प्रातिपादिकसंज्ञार्था भवति। क्वच्चिच एकस्यैव द्वे तिस्रो वा संज्ञाः भवन्ति। यथाा प्रादीनाम् उपसर्गसंज्ञा,[9] गतिसंज्ञा,[10] निपातसंज्ञा[11] अव्ययसंज्ञा, चादीनां च निपातसंज्ञा[12] अव्ययसंज्ञा। इत्थं संज्ञासूत्राणां लक्ष्यानुसारेण अनेके भेदाः सन्ति।

परिभाषासूत्राणि अव्यवस्थायां व्यवस्थाप्रतिपादकानि। अत्र परिभाषात्वं नाम सङ्केतग्राहकभिन्नत्वे सति शब्दधर्मिकसाधुत्वप्रकारशास्त्रजन्याप्रामाण्यज्ञाना-नास्कन्दिताशब्दबोधो सहकारित्वे सति विधि सूत्रैकवाक्यतया[13] बोधजनकत्वम्। यथा 'इको गुणवृद्धी'[14] इति इदं यत्र गुणवृद्धिशब्दाभ्यां गुणवृद्ध्योर्विधानं तत्रेक इति षष्ठ्यन्तपदमुपस्थाप्य शब्दधर्मिकसाधुत्वप्रकारकशास्त्रजन्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधे सहकारि भवति। इत्थमेवान्यान्यपि सर्वापि परिभाषासूत्राणि सन्ति। समेषां सूत्राणां निषेधसूत्राणि सन्ति। किन्तु परिभाषासूत्राणां निषेधसूत्राणि च वर्तन्ते। उत्सर्गापवादयोः कथा तु अन्यैव। निषेधसूत्राणि च वर्त्तन्ते। उत्सर्गापवादयोः कथा तु अन्यैव। निषेधसूत्राणि नागेशेन[15] परिभाषात्वेनाङ्गीकृतानि तत्समानधर्मित्वात्। यथा पूर्वोक्तसूत्रं तथैव क्ङिति[16] चेत्येदमपि ङित्कित्न्निमित्तकगुणवृद्ध्योरभावं बोधयत् परिभाषासूत्रमिव विध्यादिसूत्रैकवाक्यतया तादृशशाब्दबोधे सहकारि भवति। एषु कानिचित् साक्षात्सहायकानि स्थानेऽन्तरतमः[17] इत्यादीनि, कानिचित् स्वरूपबोधकतया सहायकानि समर्थः पदविधिः[18] इत्यादीनि सूत्राणि सन्ति। किन्तु साक्षात्सहायकान्येवाधिकानि परिभाषासूत्राणि सन्ति।

विधिसूत्राणि तु शास्त्ररूपिणि राज्ये नृपोपाधिकानि। साक्षाल्लक्ष्यसंस्करणं चैतेषां प्रयोजनम्। अत्र विधित्वं नाम साक्षाल्लक्ष्यसंस्कारकसाधुत्वप्रकारबोधजनकत्वमिति। एतानि अनेकविधानि। तथा भावदेशविधायकानि चक्षिङः ख्याञ्[19] इत्यादीनि, अभावादेशविधायकानि यानि च लोपलुक्श्लुलुप्। पदयुक्तानि सन्ति, एतानि लोपलुक् श्लुलुप्पदैरभावबोधकानि 'तस्यलोपः'[20] 'षड्भ्योलुक्'[21] जुहोत्यादिभ्यःश्लुः[22] जनपदे लुप्[23] इत्यादीनि प्रकृतिभावसम्पादकानि प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्24 इत्यादीनि, तिङ्कृत्णिंच्सन्यङ्प्रत्ययनामधातुसुप्तद्धितस्त्रीप्रत्ययादिप्रत्ययविधायकानि 'तिप्तसझि सिप्थस्थमिब्वस् मस्ताताझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्[25] 'अचो यत्'[26] हेतुमति च, 3.1.27, धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा 3.1.7, धातोरेकाचो हालादेः क्रियासमभिव्याहारे यङ् 11.3.22 धातोःकर्मणः सुपः आत्मनः क्यच्[27]

'स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यास्ङसिभ्याम्'[28] भ्यसुङसोसांङ्योस्सुप्, 'तस्पापत्यम्'[29] अजाद्यतष्टाप्[30] इत्यादीनि आगमविधायकानि च ङणोः कुक्टुकशरि[31] इत्यादीनि सन्ति।

अत्रेदं बोध्यम्। 'आद्यनतौ टकितौ'[32] मिदचोन्त्यात्परः[33] इत्युभाभ्यां सूत्राभ्यामेव टित् कित् मित् विधेयाः आगमाः क्रियन्ते। अन्यथा उक्तसूत्रद्वयाऽभावे 'षष्ठीस्थाने योगा'[34] इति परिभाषाबलात् एतेषामपि आदेशत्वमापतेत्। अतएव सर्वे आगमाः टित् कित्मितः एव भवन्ति। अस्मिन्नेव ह्रस्वदीर्घप्लुतविधायकानि 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'[35] सुपि च[36] दूराद्धूते च[37] इत्यादीनि उदात्तानुदात्तस्वरितविधायकानि आद्युदात्तश्च[38] अनुदात्तौ सुप्तितौ[39] तिस्स्वरितम्[40] इत्यादीनि सन्ति।

इतरव्यावर्तनपूर्वकसिद्धार्थप्रतिपादनं नियमसूत्राणां प्रयोजनम्। अत्र नियमत्वं नाम अन्यनिवृत्तिफलकत्वे सति सिद्धार्थप्रतिपादकत्वमिति।

अत्रेदं बोध्यम्। नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं च यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नातिक्तत्वेन नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यातावच्छेदकावच्छिन्ने सङ्कोचो भवतीति सिद्धान्तः। नियमस्थले नियामकशास्त्रेण नियम्यशास्त्र सङ्कोचः कर्त्तवयः तत्र नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं, नियामकशास्त्रीयोद्देतावच्छेदकव्याप्यं, नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं, नियम्यशास्त्रीयोद्दश्यतावच्छेदकं नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं चेति षड् रूपाणि उपस्थितानि। तत्र नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नातिरित्तत्वेन, नियमकशास्त्रीयोद्देस्यतावच्छेदकरूपव्याप्यरूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन वा सङ्कोचोकरणे स्नुषा श्वश्रुन्यायप्रसङ्गः स्यात्। ममैवाधिकारः तत्कार्यविधाने न तवेतिवत् तस्य सत्त्वात्। तथैव नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यातावच्छेदकरूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन, नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपव्यापकरूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन, वा सङ्कोचकरणे नियम्यशास्त्रवैयर्थ्यापत्तिः स्यात्। अतोनियामकशास्त्रीयोद्देस्यतवच्छेदकव्यापकं, नियम्यशास्त्रीयो- द्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं च, यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेनैव सङ्कोचः करणीयः। यथा 'शेषो[41] ध्यसखि, पतिः समास[42] एव' इत्यत्र नियामकशास्त्रं पतिः समास, एव इति नियम्यशास्त्रं शेषोध्यसखि इति। अत्र नियामकशास्त्रीयोद्देश्यम् असमस्तपति-शब्दभिन्न पति शब्दः तदुद्देश्यतावच्छे दकम् असमस्तपति शब्द भिन्नपति शबदत्वम् नियम्यशास्त्रीयोद्ददेश्यतावच्छेदकं घिसंज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितानदीसंज्ञक- ह्रस्वेवर्णोवर्णान्तसखिशबभिन्नशब्दत्वम् उक्तरूपस्य नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकस्य व्यापकं अथ च उक्तरूपस्य नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्देदकस्य व्याप्यं पतिशब्दत्वं तदवच्छिन्नातिरिक्तत्वेन अर्थात् पतिशब्दत्वावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छिेदकवच्छिन्ने घिसंज्ञानिष्टविधेयतानिरूपितानदीसंज्ञक-ह्रस्वेवर्णोवर्णान्त सखिशब्दभिन्नशब्दे सङ्कोचः क्रियते। तेनशेषो ध्यसखि[43] इत्यस्य अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदितौ तदन्तं सखिपतिशब्दभिन्नं घिसंज्ञं स्यात् इति सङ्कचितोऽर्थः। तेन पतिः

समास एव इति सूत्रमसस्यपतिशब्दस्य घिसंज्ञां विदधाति। नियमस्थले नियमशब्दस्य विधिमुखेन निषधुमखेन च प्रवृत्तिर्भवति। उदाहरणे विधिमुखस्य विवेचनं कृतम्। निषेधमुखेन प्रवृत्ति पक्षेतुनियामकशास्त्रीयोद्देश्यताप्रयोजकपदस्य स्वार्थभिन्नं यन्नियम्य शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यनियामकशास्त्रीयोद्देश च तावच्छेदकव्यापकरूपावच्छिन्नं तत्र लक्षणां कृत्वा नञोऽध्याहोरण नियामकशास्त्रेण प्राप्तकार्यस्य निषेध:। प्रकृतौ तावत् शेषो ध्यसखि इति नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं पति: समास एव इति नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं रूपं यत् पतिशब्दत्वं तादृशपति शब्दत्वावच्छिन्नभिन्ने योऽसमस्तपतिशब्दत्वावच्छिन्नस्तस्य घि संज्ञा न भवतीति तात्पर्यमायति। इत्थमेव सर्वत्र नियमस्थले ऊह्यम्। अस्मिन् प्रथमादिकारकनियामकानि कर्मणि द्वितीया[44] इत्यादीनि, आत्मनेपदपरस्मैपदनियामकानि अनुदात्तङित‌आत्मनेपदमित्यादीनि[45] प्रथमादिपुरुषनियामकानि युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे[46] स्थानिन्यपि मध्यम: इत्यादीनि, एकद्विबहुवचननियामकानि बहुषु बहुवचनम्[47] इत्यादीनि एवकारघटितानि धातो:[48] तन्निमित्तस्यैव इत्यादीनि सूत्राणि आयान्ति।

लक्ष्यसिद्ध्यर्थमभीष्टस्थले आरोपबोधनामतिदेशसूत्रप्रयोजनम्। अत्रातिदेशत्वं नाम आरोपबोधकत्वे सति विधिसूत्रोपकारकत्वम्। आरोपत्वं च तद्धर्माथभाववति तद्धर्मत्वेनाहार्यज्ञानम्। अस्मिन् वतिघटितानि स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ[49] इत्यादीनि सूत्राणि आयान्ति। कानिचित् एवम्भूतानि सूत्राणि सन्ति यानि आरोपबोधकत्वे सति साक्ष्ल्लक्ष्यसंस्कारकाणि स्यसिच्सीयुटतासिषु[50] इत्यादीनि तेषु अतिदेशत्वं विधित्वमुभेऽपि धर्मे स्त: तेन तत्र स्वसमभिव्याहतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यमिथो विरुद्धयावद् धर्मप्रकारकबोधनस्य विधापदार्थत्वत्। उभयोरतिदेशत्वविधित्वयोरेकस्मिन् सत्त्वात् विधापदार्थानुपपत्तिरायाति। किन्तु स्वसमभिव्याहतपदार्थता-वच्छेदकसूत्रत्वव्यापयविधित्वातिदेशत्वयोरेकत्र सत्त्वात् मिथोऽविरुद्धेऽपि विधित्वत्वातिदेशत्वत्वयोर्मिथोविरुद्धत्वात् न तदनुपपत्तिरिति सर्वं पूर्वमुक्तमेव।

स्वोच्चारणस्थानादुत्तरसूत्रेषु स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात् स्वानुवृत्तिबोधनमधिकारसूत्रप्रयोजनम्। अधिकारत्वं नाम 'स्वदेशेलक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थशून्यत्वे सति उत्तरोत्तरस्वार्थसम्पर्कत्वे सति तत्तदैकवाक्यतयाबोधजनकत्वम् इति। अधिकारोऽनेकविध: संज्ञाधिकार:, विशेषणाधिकार:, स्थान्यधिकार:, प्रकृत्यधिकार:, निमित्ताधिकार:, आदेशाधिकारश्च। यथा 'प्रत्यय:[51] शेषे[52] एक पूर्वपरयो:[53] 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्[54] आर्धधातुके[55] अपदान्तस्य मूर्धस्य[56] इति क्रमेणोदाहरणानि।

अधिकारसूत्राणां स्वाधिकारस्थसूत्रेषु स्वरितेनाधिकार: 1.3.11 इति सूत्रेण स्वरितत्व प्रतिज्ञाबलाद् अनुवृत्तिर्भवति। तत्पदानुवृत्तिर्नाम तत्पदनिरुपितशक्त्यनुमानम्। तच्चेत्थं यथा अङ्गस्य[57] इत्यधिकारसूत्रम् एतस्य सुपि च[58] इत्यत्रानुवृत्तिर्भवति। सुपि चेत् वाक्यं यञादिसुप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट-दन्ताङ्गनिष्ठोद्देश्यता-निरूपितदीर्घनिष्ठविधेयताश्रयनिरूपितशक्तिमत् एतद्बोधतात्पर्येणोच्चरितत्वात्। संयोगान्तस्य लोप: इति सूत्रवत्।

अत्र लक्ष्यसिद्धिरेव तात्पर्यग्राहकम्। तात्पर्यग्राहकत्वं नाम प्रकृतलक्ष्यधर्मिकसाधुत्वप्रकारकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दि-शाब्दबोधोपयोगिबोधकत्वम्। यतोहि एतस्यैवं बोधाभावे लक्ष्यसिद्धध्यभावात् तादृशार्थे शक्तिस्वीकरणमावश्यकं तच्चाधिकारादेव सम्भवतीति बोध्यम्। अधिकारसूत्राणां कस्य कस्मात् प्राक् किममि व्याप्य वा अधिकार इति भाष्यात् लक्ष्यसिद्धयर्थकसूत्रार्थद् वा ज्ञायते। यथा 'प्रत्ययः' इत्यस्य आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेरधिकार इत्यस्य तदधिकारस्थसूत्रार्थैरेव ज्ञानमिति बोध्यम्।

इत्थं व्याकरणसूत्राणां स्थितिरस्ति। संज्ञाद्यतिरिक्तभेदाः व्याकरणसूत्राणां नैव सन्ति। ये सन्धि निषेधादिभेदाः तेषामपि एतेष्वेवानतर्भावःतत्प्रतिपादितमेव। सूत्रस्वरूपस्य समग्रता व्याकरणसूत्रेष्वेव तत्रापि विशेषेण पाणिनीयेष्वेवेति बोध्यम्।

---

1. धा.पा. चुरादिगण 2054
2. वि.ध.पुराणे
3. पा.सू. 1.1.1
4. पा.सू. 1.1.7
5. तत्रैव 1.1.27
6. तत्रैव 1.1.34
7. तत्रैव 1.1.42
8. तत्रैव 1.1.41
9. उपसर्गाः क्रियायोगे 1.4.59
10. गतिश्च 1.4.6
11. प्रादयः 1.4.58
12. चादयोऽसत्त्वे 1.4.57
13. स्वरादिनिपातमस्यम् 1.1.37
14. पा.सू. 1.1.3
15. पारिभा.शे. 1.2-3
16. पा.सू. 1.1.5
17. तत्रैव 1.1.50
18. तत्रैव 2.1.1
19. तत्रैव 2.4.54
20. तत्रैव 1.3.9
21. तत्रैव 7.1.12
22. तत्रैव 2.4.75
23. तत्रैव 4.2.81
24. तत्रैव 6.1.125
25. तत्रैव 3.4.78
26. तत्रैव 3.1.97
27. पा.सू. 3.1.8
28. तत्रैव 4.1.2
29. तत्रैव 4.1.92
30. तत्रैव 4.1.4
31. तत्रैव 8.3.28
32. तत्रैव 4.1.46
33. तत्रैव 4.1.47
34. तत्रैव 1.1.49
35. तत्रैव 7.2.47
36. तत्रैव 7.3.102
37. तत्रैव 8.2.84
38. तत्रैव 3.1.3
39. तत्रैव 3.1.4
40. तत्रैव 6.1.185
41. पा.सू. 1.4.7
42. तत्रैव 1.4.8
43. पा.सू. 1.4.7
44. तत्रैव 2.3.2
45. तत्रैव 1.3.12
46. तत्रैव 1.4.105
47. तत्रैव 1.4.21
48. तत्रैव 6.1.80
49. तत्रैव 1.1.56
50. पा.सू. 6.4.62
51. तत्रैव 3.1.1
52. तत्रैव 4.2.92
53. तत्रैव 6.1.84
54. तत्रैव 4.1.1
55. तत्रैव 2.4.35
56. तत्रैव 8.3.55
57. तत्रैव 6.4.1
58. तत्रैव 7.3.102

कौटिल्य प्रणीत 'अर्थशास्त्र' में धर्म और राजनीति

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्था के विकास में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति के घनिष्ठ सम्बन्ध का संकेत हमें सबसे पहले वैदिक कर्मकाण्डों में मिलता है। वेदोत्तरकाल में जब राजतन्त्र का आधार सुदृढ़ हो गया तब इस सम्बन्ध का रूप भी बदल गया।[1]

वैदिक कर्मकाण्ड यदि राजा की सत्ता को सुदृढ़ करते थे, तो साथ ही उस पर अंकुश भी लगाते थे। लेकिन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में हमें राज्य द्वारा किए गए जिन धार्मिक विधानों और कार्यों की जानकारी मिलती है, उनका उद्देश्य राजा की सत्ता को सीमित करने के बजाय उसे सुदृढ़ करना है। यद्यपि कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में धर्म और राजनीति पर कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है, पुनरपि इसमें दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को दर्शाने वाले पर्याप्त प्रमाण जो कि उल्लेखनीय हैं, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। इनसे प्रकट होता है कि राज्य की अन्दरूनी नीति के निर्धारण में और बाहरी शत्रुओं से निबटने में धर्म का उपयोग प्रभावकारी ढ़ंग से किया जाता था।

जहाँ तक आन्तरिक नीति का संबन्ध है, कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य ब्राह्मण समाज़ व्यवस्था का रक्षक और समर्थक है तथा ब्राह्मण धर्माचरणों का अनुयायी है। ब्राह्मणवाद का जो रूप वैदिक धर्म में विकसित हुआ है, उसे 'अर्थशास्त्र' में वर्णित राज्यव्यवस्था के मूल आधार के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। कौटिल्य की धर्माधर्म सम्बन्धी मान्यतायें वेदों पर आधारित हैं।[2] वेदोत्तरकाल में सामाजिक ढांचे की आधारशिला के रूप में प्रतिदिन हो जाने वाले वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या कौटिल्य उन्हीं शब्दों में करते हैं जिनकी झाँकी हमें धर्मसूत्रों में मिलती है।[3] वह इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक वर्ण स्वधर्म पर चले। जो व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता है वह स्वर्ग और अनन्त आनन्द की प्राप्ति करता है। यदि वह स्वधर्म का उल्लंघन करता है तो वर्णों की अव्यवस्था के फलस्वरूप विश्व का नाश हो जाता है।[4] इससे भी महत्त्व की बात यह है कि कौटिल्य राजा को निर्देश देता है कि वह लोगों को कभी भी अपने धर्म से विमुख न होने दे कारण, यदि मानव समाज आर्योचित आचरण करेगा, चतुर्वर्णाम धर्म पर आधारित रहेगा और तीनों वेदों की शिक्षा के अनुसार चलेगा तो वह समृद्ध होगा और कभी भी उसका नाश नहीं होगा।[5] इस तरह राजा से ऐसा समाज स्थापित रखने की अपेक्षा की जाती हैं जिसकी सत्ता का मूल स्रोत वेद है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा गया है-

चतुर्वर्णाश्रमास्यायम् लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणम् राजा धर्मप्रवर्त्तकः॥ (३.१)

अर्थात् राजा धर्मप्रवर्त्तक है। उस अवस्था में धर्म प्रवर्त्तक है, जब वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो गया हो। यहाँ स्पष्टतः राजा को मनोनुकूल समाज व्यवस्था स्थापित करने की स्वतन्त्रता नहीं दी गई है, बल्कि

उसे विनष्ट व्यवस्था को पुनः स्थापित करने को कहा गया है। इस प्रकार कौटिल्य राजा से अपेक्षा करता है कि वह उस ब्राह्मण समाज व्यवस्था को कायम रखे और उसका पालन कराए जिसका औचित्य वेदों पर आधारित है। कौटिल्य के राज्य की विदेशनीति के निर्धारण में भी धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अर्थशास्त्र 13.5 और 3.16 आदि प्रमाणों के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य विजित लोगों की धार्मिक भावनाओं के प्रति आदर दिखलाने के लिए राजा को सहिष्णु नीति बरतने को जैसे कह रहा है। साथ ही उसके लिए यह भी आवश्यक बताया गया है कि वह स्वयं उनके (विजित लोगों के धार्मिक रीति- रिवाजों का पालन करे तथा ब्राह्मण समाज व्यवस्था के मुख्य सिद्धान्तों को लागू करे

ब्राह्मण प्रचलित समाज व्यवस्था के वैचारिक संरक्षक थे और उनका मुख्य संबन्ध धार्मिक कार्यों से था, इसलिए कौटिल्य अपने शास्त्र में उनको विशेष सम्मान देता है। वेदोत्तरवर्ती 'ग्रन्थों में' ब्राह्मण को तीन महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार प्राप्त थे- उन्हें शारीरिक पीड़ा नहीं दी जा सकती थी, वे सम्मान पाने के अधिकारी थे, और वे दान पाने के पात्र थे। कौटिल्य ने भी इन छूटों को आमतौर पर मान्यता दी है। परन्तु, गुरुपत्नीगमन, मद्य विक्रय और चोरी के मामलों में ब्राह्मण को दण्डनीय माना गया है। इन सभी अपराधों के लिए दोषी ब्राह्मण के ललाट पर दोष-चिन्ह अंकित किए जाने का विधान किया गया है।[6] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'अर्थशास्त्र' में भी सबसे अधिक सम्मान का स्थान ब्राह्मणों को ही प्रदान किया गया है।

प्राकृतिक संकटों से प्रजा की रक्षा के निमित्त कौटिल्य ने राजा के दायित्वों का जो संकेत दिया हैं, वह राजा के दायित्वों के सम्बन्ध में आदिम दृष्टिकोण से मेल खाता है। पर इन दायित्वों का निर्वाह राजा स्वयं पुरोहित बनकर नहीं करता, बल्कि इसके लिए वह अलग पुरोहित नियुक्त करता है। इसलिए राजा के द्वारा पुरोहित को सबसे अधिक वेतन अर्थात् 48000 पण देने का विधान किया गया है।

कौटिल्य ने आमतौर पर धर्म और धार्मिक संस्थाओं से जुड़े सभी स्थानों का विशेष ख्याल रखा है। उसका कहना है कि ब्राह्मणाख्य, सोमाख्य, देवस्थान, यज्ञस्थान और पुण्यस्थान की बाधा को राजा दूर करे। अर्थशास्त्र 2.21,24 आदि उल्लेखों से काफी स्पष्ट हो जाता है कि कौटिलीय राज्य की नीति धार्मिक बातों से प्रमाणित है और उसमें पुरोहितों, देवताओं, मंदिरों और पूज्य वृक्षों का विशेष ध्यान रखा गया है।

कौटिल्य केवल ब्राह्मणों का पक्ष ही नहीं लेता है, बल्कि ब्राह्मणवादी जीवन पद्धति के खिलाफ पड़ने वाले सम्प्रदायों का विरोध करता है।[8] धार्मिक नीति के विषय में कौटिल्य के विचारों के इस विवेचन से राज्य का धार्मिक-विशेषकर ब्राह्मण धर्मी स्वरूप सिद्ध हो जाता है। लेकिन कुछ ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि राज्य के हितों के समक्ष धार्मिक मान्यताओं और पुरोहितों के विशेषाधिकारों का स्थान गौण था। यह कहा गया है कि कानून के चार आधार है, चरित्र, व्यवहार, धर्म

और राजशासन, और उनमें से प्रत्येक उत्तरवर्ती आधार पूर्ववर्ती आधार से अधिक महत्त्व का है। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि न्यायशासन में अंततः राजशासन की प्रमुखता है, पर साथ में यह भी कहा गया है कि राजशासन धर्मसम्मत होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि धर्मशास्त्र में प्रतिपादित विधियों की व्याख्या राजा के हाथ में दी गई है, ब्राह्मणों के हाथ में नहीं।[9]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे लगता है कि ब्राह्मणीय संस्थाओं पर भी राज्य का नियन्त्रण था।[10]

राज्य की नीतियों पर धर्म के प्रभाव का ऊपर जो विश्लेषण किया गया है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि बहुत-सी बातों में धार्मिक मान्यताओं को अलग रखकर कौटिलीय राज्य की नीति की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन दोनों का आपसी सम्बन्ध दो परस्पर विरोधी रूपों में व्यक्त हुआ है। ब्राह्मणीय जीवन-पद्धति जिस अंश तक कौटिल्य के राज्य के मुख्य उद्देश्य के- अर्थात् वर्णाश्रमधर्म की रक्षा के-अनुकूल है उस अंश तक वह उसका पक्षधर है, लेकिन जो धार्मिक रीति- रिवाज राज्य शक्ति के विस्तार में बाधक है उनका वह त्याग कर देता है। भारतीय परम्परा में कौटिल्य का विशेष महत्त्व इस बात में निहित है कि उसके ग्रन्थ में राज्य के हित साध न के निमित्त अनेक प्रकार से धर्मदृष्टि की अवहेलना की गई है। इस अर्थ में उन्होंने राज्य व्यवस्था शास्त्र की रचना तथा उसे धर्म और धर्मदर्शन के प्रभाव से मुक्त करने की दिशा में प्रथम गंभीर प्रयास किया है। लेकिन जिस समाज में वह रहता है, उसका स्वरूप मुख्यतः धार्मिक था, इसलिए वह राज्य को धर्म की अधीनता से पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाए।

पाद-टिप्पणी-

1. देखो, अर्थशास्त्र 1/2
2. वही, 1/3
3. वही, 1/3
4. वही, 1/3
5. वही, 4/8
6. वही, 3/9
7. वही, 2/4, 2/36, 3/16
8. अर्थशास्त्र 3/1- टी.गण. शास्त्री संस्करण, 2/10 की टीका पर आधारित।
9. प्रा. भा. में रा. वि. और संस्थायें, रामशरण शर्मा, पृ0 255
10. वही

वाल्मीकि रामायण में 'स्वप्न'

डॉ० दिनेश कुमार शर्मा
शान्ति निकुञ्जम्, द्वितीय बीथी
दुर्गा कालौनी, कासगंज (एटा) 207123
फोन- 0577-245429
मो0 9412570911

स्वप्नमनोविज्ञान में 'स्वप्न' मनुष्य की मानसी सृष्टि है। उसके संस्कारों में जो भाव स्थायी होते हैं, वही स्वप्नावस्था में प्रायः जाग्रत हो जाया करते हैं। आचार्यगण काव्य-जगत् में कल्पना को जाग्रत स्वप्न मानते हैं और मनोवैज्ञानिक स्वप्न को अचेतन मन की कल्पना कहते हैं। अवचेतन में भाव स्थायी हो जाते हैं। जाग्रत में इन्हें कल्पना (Imagination) जगाती है और सोने में इन्हें स्वप्न जगाते हैं। स्वप्न का सत्य स्वप्न की सीमा में ही रहता हो, यह आवश्यक नहीं है। स्वप्न भले ही सत्य न माना जाए किन्तु स्वप्न का सत्य कभी-कभी जाग्रत अवस्था की सच्चाई बन जाता है। साहित्य में आगामी घटनाओं का बोध स्वप्न के माध्यम से कराने वाले कवियों की कल्पना वस्तुतः स्वप्न के माध्यम से साकार हो उठती है। पाश्चात्य विचारक स्वप्न को छाया (Shadow) के रूप में मानते हैं - **Coming evens cast their shadows before**

'स्वप्न' वस्तुतः संस्कृत की 'स्वप्' धातु में 'नक्' प्रत्यय के आगम से निष्पन्न है।[1] 'स्वप्' का अर्थ शयन से होता है। अतः स्वप्न एक ऐसी स्थिति है जो शयनावस्था से सम्बन्धित है। स्वप्न को निद्रा में अनुभव किया जाता है। स्वप्न को बहुत से विद्वान्, मनीषी और चिन्तकों ने परिभाषित किया है। स्वप्न की एक अनुपम, दिव्य परिभाषा है-

'सब कुछ स्वप्न ही है- स्वप्न ही-ऋतु, आकाश, जल, वायु, तट?

दिन क्या है? दिव्य निबुद्धिता की कोख से जन्मा सपना नींद के साँचे में ढला एक कौतुक-बस?[2]

प्राचीन साहित्य में 'स्वप्न' विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। ऋग्वेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गयी है-

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परोनिर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतोमनः
भद्रं वै वरं वृणते भद्र युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः। १०/१६४/१
जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु।[3]

अर्थात् दु:स्वप्न देव! तुमने मन पर अधिकार कर लिया है। हट जाओ, भाग जाओ, दूर जाकर विचरण करो। दूरस्थ निर्ऋति देव से जाकर कहो कि जाग्रत व्यक्ति के मनोरथ विशाल होते हैं। **अथर्ववेद** में स्वप्नों और दु:स्वप्नों से सम्बन्धित अनके सूक्त है। एक सूक्त में कहा गया है कि- **विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वम्यात्पाहि।**[4]

अर्थात् 'हे स्वप्न! मैं तेरी उत्पत्ति को जानता हूँ।' इसी प्रकार एक अन्य सूक्त में कहा गया है-

अजैष्माद्या सनामाद्या भूमानागसो वयन्।

उषो यस्माद्दुष्वम्यादभैष्माप तदुच्छतु।

द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह।[5]

अर्थात् हम दु:स्वप्न से भयभीत हैं। उसका भय दूर हो। हे स्वप्न! तू अन्त करने वाला है।

वैदिक साहित्य में 'स्वप्न' विषयक उपर्युक्त प्रसंगों के सन्दर्भ में विश्लेषित किया जा सकता है। स्वप्न **'नीद से साँचे में बढ़ता एक कौतुक'** है जिसे हर कोई व्यक्ति देखता है और जिससे बाहर कुछ नहीं है। यह कौतुक हमारे सम्मुख एक आश्चर्यजनक परिणाम उपस्थित करता है। 'स्वप्न' का सम्बन्ध निद्रा से है। अत: निद्रा के दौरान स्वप्न अनुभव किये जाते हैं। स्वप्न के दो प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर प्राप्त होते है- स्वप्न (सुस्वप्न), दु:स्वप्न। दु:स्वप्न का अवचेतन भयावह होता है और सुस्वप्न की अवचेतना आनन्ददायक। स्वप्न मानव की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। कोई भी व्यक्ति 'स्वप्न' से बाहर नहीं है।

'स्वप्न' से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। 'स्वप्न' व्यक्ति को जीवन प्रदान करता है, उसे दिशा देता है, उसे हँसाता, रुलाता है और अनेक मनोभावों से जोड़कर अनुभूति प्रवण बनाता है। चेतना की चक्षु वहीं रमती है- जहाँ रमणीय स्वप्न दिखाई देता है। संसार के सभी प्राणी स्वप्नद्रष्टा हैं। मनुष्य द्रष्टा होकर उसे अभिव्यक्त कर देता है और अन्य इस स्थिति में अनभिव्यक्त रहते हैं। 'स्वप्न' का अपना लोक है- अजर, अमर, अविनश्वर। 'स्वप्न' कभी मरते नहीं हैं, वे जीवन्त हैं। मनुष्य मर जाता है स्वप्न छोड़ जाता है उसका उत्तराधिकारी उसे पूर्ण करता है। यदि वह अक्षम होता है तो उस स्वप्न का कोई दूसरा उत्तराधिकारी बनता है। 'स्वप्न' कभी पूरे नहीं होते, लेकिन उन्हें अधूरा भी नहीं कहा जा सकता। वे तो गति की शाश्वत प्रक्रिया हैं, जो निरन्तर गतिमान रहते हैं। मरे हुओं के स्वप्न भी मर जाते हैं। यह कहने वाले वही लोग हैं जो मरे हुए हैं 'स्वप्न' तो जीवित व्यक्तियों को प्राणवन्त करने वाले हैं और प्राणवन्तों के गति-प्रदाता हैं, दशा को अपनी तीक्ष्ण दृष्टि में निबद्ध कर लेते हैं और उन्हें

मनोकुकूल मार्ग देने में सहायक सिद्ध होते हैं। संस्कार 'स्वप्न' को तराशा करते हैं। संस्कारशील व्यक्तियों के स्वप्न भी उदात्त और गम्भीर होते है। इस दृष्टि से स्वप्नों का जीवन के साथ साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान है। स्वप्न के विषय में कैसी विलक्षण बात है कि जब हम स्वप्न का अनुभव करते हैं तो उस समय सत्य सा प्रतीत होता है किन्तु जाग्रत अवस्था आते ही वह असार सा प्रतीत होता है। ऐसी ही धारणा आदि शंकराचार्य जी ने अपने **'चर्पट मंजरी'** के स्तोत्र में की है।-

'कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः कामे जननी को मे तातः।

इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं व्यक्त्वा स्वप्न विचारम्।'

(आदि शंकराचार्य-'चर्पट मंजरी!' श्लोक 12)

'स्वप्न' जीवन के घटनाचक्र का व्यक्ति-सापेक्ष परोक्ष संदर्शन है। किन्तु कवि अनुभव के आधार पर इसे दृष्टिगोचर कर लेता है और उसकी दृष्टि में स्वप्न साकार हो उठते हैं। स्वप्निल भाव भी कल्पना के सहोदर ही हैं। कल्पना 'स्वप्न' को अभिव्यक्त करती है, उसे कलित (Beautiful Performance) बनाती है और उसके अन्दर सन्निहित भाव को ललित बनाती है। कल्पना कवि की लालित्य चेतना है तो स्वप्न मनुष्य के मानसी जगत् की प्रतिच्छाया हैं जो मानसी दृष्टि के लिए ललित है।

सपने में सांई मिला, सोवत लिया जगाय।

आंखिन खोलूँ डरपता, मत सपना होई जाय।।

विश्वख्याति के अनुपम ग्रन्थ 'महाभारत' के रचियता श्री व्यासदेव स्वप्नों को भावी 'शुभाशुभ' परिणामों और घटनाओं का सूचक मानते है। 'ब्रह्मसूत्र' में उन्होंने कहा है-'श्रुति से सिद्ध होता है तथा स्वप्नशास्त्र के ज्ञाता कहते हैं कि स्वप्न भविष्य में होने वाले शुभाशुभ परिणामों के सूचक होते हैं- **'सूचकश्च हिश्रुतेराचक्ष्यते च तद्विदः।'**[6]

इससे प्रतिपादित होता है कि 'स्वप्न भविष्यवेत्ता होते हैं और इसे Encyolopdia Britanica में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है-

There is ancient belief that dreams predict the future[7]

वैसे इसी ग्रन्थ में स्वप्न को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि स्वप्न विभ्रमपूर्ण अनुभव हैं जो निद्रा के दौरान हो उठते है।[8]

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण आदि महाकाव्य है। वाल्मीकि रामायण में जो 'स्वप्न' दिये गये हैं, वे महर्षि वाल्मीकि के अनुभवजन्य थे। वैदिक साहित्य में 'स्वप्न' की प्रकारात्मक एवं

शुभाशुभ फल प्रदाता के रूप में सत्ता स्थापित है।

'योगसूत्र' में 'स्वप्न' की व्याख्या इस प्रकार की गयी है- **'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा'**[9] अर्थात् जब व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अथवा स्वभावतः सुधि से बेसुधि तथा चेतनावस्थ से अचेतनावस्था में प्रविष्ट होता है तो व्यक्ति चेतना तथा अचेतना की मिश्रितावस्था में अर्द्धचेतन में स्थित रहता है, यही स्वप्नावस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने शरीर की और मन की प्रधान वृत्तियों के अनुसार निद्रा में दृश्य देखता है जिन्हें 'स्वप्न' कहा जाता है। पित्तप्रधान व्यक्ति को स्वप्नों में अग्नि और प्रकाश से सम्बन्धित दृश्य दिखायी पड़ते हैं, कफप्रधान व्यक्ति स्वप्न में प्रायः जल तथा जलाशयों के दृश्य देखते हैं।

इस प्रकार 'स्वप्न' का मन से प्रमुख सम्बन्ध है। मन की स्थितियाँ तीन प्रकार की होती है- चेतना-स्थिति, अचेतन स्थिति तथा अवचेतन स्थिति। 'स्वप्न' का अचेतन स्थिति से विशेष सम्बन्ध हैं।

इसी प्रकार प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषण के संस्थापक सिगमंड फ्रायड एवं उनके सहयोगी मनोवैज्ञानिक ने मन की चेतना स्तर के अतिरिक्त उसके अन्य स्तरों की भी खोज की।

इन मनोवैज्ञानिकों ने यह भी खोज की कि मानव एक सम्पूर्ण इकाई नहीं है बल्कि कई इकाई अथवा वस्तुओं का पुंज है। मनोवैज्ञानिकों को इस तथ्य का ज्ञान मानसिक और स्वाभाविक रोगों का उपचार करते समय हुआ था। फ्रायड द्वारा प्रवर्तित मनोविश्लेषण की पद्धति को प्रारम्भ में मानसिक और स्नायविक चिकित्सा विधि के रूप में मान्यता मिली थी। उनके सहयोगियों और शिष्यों-एडलर, जुंग, आटो, टैंक आदि ने इस पद्धति का विकास किया। मनोविश्लेषण की पद्धति ने 20 वीं शताब्दी के चिन्तन तथा व्यवहार को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। रोगियों की चिकित्सा के समय फ्रायड ने यह अनुभव किया कि सम्मोहन (Hypnotism) द्वारा अथवा निर्बाध साहचर्य (Free Association) द्वारा रोगी के अनेक पुराने अनुभव पुनर्जीवित हो जाते थे। उन अनुभवों के मूल में फ्रायड ने दमित कामवृत्ति को पाया और यह निष्कर्ष निकाला कि दमित कामवृत्तियाँ आजीवन व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। उन्होंने यह भी पाया कि असामान्य और सामान्य व्यक्ति में कोई तात्विक अन्तर नहीं होता- उनमें केवल गुणात्मक अन्तर होता है। ऐसी स्थिति में स्नायविक विकारों से ग्रस्त व्यक्ति उपहास के स्थान पर सहानुभूति के पात्र होते है।

'स्वप्न' कल्पना प्रधान होते हैं। काल्पनिक स्वप्न में व्यक्ति की अंतश्चेतना जाग्रत रहती है। कल्पना कलाकार की जननी है। 'जो व्यक्ति कलाकार नहीं है वह कल्पना स्रोत से बहुत कम सन्तोष प्राप्त कर सकता है। कठोर दमन के कारण वह केवल थोड़े से उन दिवा-स्वप्नों का आनन्द लाभ कर

पाता है जो चेतन बन सकते हैं। एक सच्चा कलाकार अपने दिवास्वप्नों से अधिक आनन्द प्राप्त करता है। सर्वप्रथम, वह अपने दिवास्वप्नों के सम्पादन की विधि जानता हैं- वह उनमें से व्यक्तिगत अंश की कर्कशता निकाल देता है और दूसरों के लिए उन्हें सुखद बना देता है। वह दिवास्वप्नों को परिष्कृत करना जानता है जिससे उनके निषिद स्त्रोतों का आसानी से पता नहीं चलता। उसमें अपनी सामग्री को डालने की सच्चे रूप में व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता होती है। यह कल्पना लोक के प्रतिबिम्ब को आनन्द के प्रबल स्त्रोत से संयुक्त करना जानता है, जिससे दमित इच्छाओं का प्रभाव थोड़े समय के लिए दूर हो जाता है। जब वह इन कामों के करने में समर्थ हो जाता है तब वह दूसरों के लिए अचेतन आनन्द स्त्रोत से सुख और सन्तोष पाने का मार्ग खोल देता है और उनसे अनुग्रह तथा प्रशंसा पाता है। इस प्रकार कलाकार अपनी काव्य-कल्पना के माध्यम से सम्मान, शक्ति और नारी प्रेम प्राप्त करता है जिन्हें पहले वह केवल कल्पना में प्राप्त कर सकता था।[1]

इसी प्रकार का एक जाग्रत अवस्था में दिवास्वप्न महर्षि वाल्मीकि कृत 'रामायण' के अन्तर्गत प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण में महात्मा लक्ष्मण रात्रि में जागते हुए अपने पिता दशरथ के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ कर रहे हैं कि महान् तप और नाना प्रकार के परिश्रम साध्य उपायों द्वारा जो यह महाराज दशरथ को अपने समान उत्तम लक्षणों से युक्त ज्येष्ठ पुत्र के रूप में प्राप्त हुए हैं इन्ही श्रीराम के वन में आ जाने से राजा दशरथ अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकेंगे। जान पड़ता है निश्चित ही यह पृथ्वी अब शीघ्र विधवा हो जायेगी -

'महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृश लक्ष्मणः॥
अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिर वर्तयिष्यंति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति॥'

(रामायण-अयोध्याकाण्ड, ८६/१२-१३)

लक्ष्मण कल्पना करते हैं कि महारानी कौसल्या राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा, ये सब लोग आज की इस रात्रि तक जीवित रह सकेंगे अथवा नहीं? यह मैं नहीं कह सकता -

'कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि ते सर्वे जीवेयुः शर्वरीमिमाम्॥'

(वही, ८६/१४)

महाराज दशरथ की इच्छा थी कि श्रीराम को राज्य पर अभिषिक्त करूँ अपने इस मनोरथ को न पाकर श्रीराम को राज्य पर स्थापित किये बिना ही 'हाय! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया! नष्ट हो गया! ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणों का परित्याग कर देगें-

' अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम्।

राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनश्यति।।'

(वही, ८६/१७)

इस प्रकार से विलाप करते हुए महामनस्वी राजकुमार लक्ष्मण की वह रात्रि जागते ही व्यतीत हुई। यह महात्मा लक्ष्मण जी का जाग्रत अवस्था में दिवास्वप्न ही है जो यथार्थ सिद्ध हुआ।

फ्रायड महोदय 'स्वप्न' की एक विराट् परिकल्पना करते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि एक ओर जहाँ अन्तश्चेतना के अविज्ञात प्रदेशों में विद्यमान अनिष्टों, अन्धकारों और विकृतियों पर प्रखर प्रकाश डाला है, वहीं दूसरी और सपनों की उत्पत्ति का मूल कारण सैक्स का दमन माना है। ऋषि अथर्वा ने सैक्स के महान् आन्तरिक बल को स्वीकार करते हुए कहा है- 'हे कामदेव! तुम उग्र हो! स्वामी हो! अपने दुःस्वप्न को, अपनी निर्धनता को तुम उस पर भेजो, जो हमें पराजित करके विपत्ति में डालने का प्रयत्न करता है।'[12]

'स्वप्न' भविष्य का प्रतीक हुआ करते हैं। 'स्वप्न' में स्वप्नद्रष्टा होनी, अनहोनी घटनाओं का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है। वाल्मीकि रामायण में भी राजकुमार भरत को दुःस्वप्नों के माध्यम से भविष्य की प्रतीक कुछ घटनाओं से आत्मसाक्षात्कार हुआ था। वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड में महाराज दशरथ के दिवंगत हो जाने के पश्चात् गुरु वशिसि की आज्ञा से कैकेय देश के राजर्षि नगर को पाँच सन्देशवाहक जाते हैं, उससे पूर्व भरत कुछ दुःख भरे परिणामक स्वप्न देखते हैं और स्वप्न के माध्यम से भरत को कुछ अनहोनी की आशंका होती है। भरत कहते हैं कि 'मैने महाराज दशरथ को मलिन स्वप्न में देखा है उनके बाल विखरे हुए हैं तथा एक पर्वत के उन्नत शिखर से एक खाई में गिर रहे हैं जो कि गोबर से आपूरित है-

'शृणु त्वं यन्निमित्तं दैन्यमेतदुपागतम्।

स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम्।।

पतन्तमद्रिशिखरात् कलुषे गोमये ह्रदे।'

(रामायण, अयोध्या काण्ड, ६९/७-८)

राजकुमार भरत आगे बतातें हैं कि राजा दशरथ गोबर से आपूरित तालाब में तैर रहे हैं, अंजलि के माध्यम से तेल-पान कर रहे हैं। साथ-साथ वे तिल तथा भात खा रहे हैं। इसके पश्चात् उनके शरीर पर तैल पोता जा रहा है और वे तैल में गोते लगा रहे हैं-

'प्लवमानश्च मे दृष्टः स तस्मिन् गोमये ह्रदे।
पिबन्नञ्जलिना तेलं हसन्निव मुहुर्मुहुः।।
ततस्तिलोदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः।
तैलेनाभ्यक्त सर्वाङ्गस्तैलमेवान्वगाहतः।।'

(वही, ६९/९-१०)

राजकुमार भरत आगे बताते हैं कि उन्होंने स्वप्न देखा है कि समुद्र सूख रहा है चन्द्रमा आकाश से गिरा पड़ रहा है तथा सम्पूर्ण पृथ्वी अन्धकार तथा अत्याचार ग्रसित होती जा रही है-

'स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि।
उपरुद्धां च जगती तमसेव समावृत्ताम्।।'

(वही, ६९/११)

राजा दशरथ के रथ में जुते हुए हाथियों के दाँत टूट-टूट कर गिर रहे हैं तथा अग्नि स्वतः शान्त हो रही है, पृथ्वी फट रही है, विभिन्न प्रकार के वृक्ष सूख रहे है, पर्वत गिर रहे हैं, तथा धुँआ निकल रहा है-

'औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकली कृतम्।
सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः।।
अवदीर्णां च पृथिवीं शुष्काश्च विविधान् द्रुमान्।
अहं पश्यामि विध्वस्तान् सधूमाश्चैव पर्वतान्।।'

(वही, ६९/१२-१३)

राजकुमार भरत अपने स्वप्न को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि महाराज दशरथ एक लोहे के स्टूल (चौकी) पर बैठे हुए हैं, वे काले कपड़े पहने हुए हैं तथा पिंगल समूह की स्त्रियाँ राजा दशरथ पर प्रहार कर रही हैं-

'पीठे कार्ष्णायसे चैव निषण्णं कृष्णवाससम्।
प्रहरन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः।।'

(वही, १४)

अपने स्वप्न को आगे बढ़ाते हुए राजकुमार भरत कहते हैं कि धार्मिक महाराज दशरथ लाल रंग के पुष्पों की माला अपने गले में धारण किये हुए हैं तथा उनके ललाट पर भी लाल रंग का चंदन लगा हुआ है। महाराज दशरथ गधे जुते हुए रथ में बैठे हुए हैं तथा रथ बड़ी तीव्र गति से दक्षिण दिशा की ओर जा रहा है, लाल रंग के कपड़े पहने हुए एक स्त्री जो भंयकर राक्षसिनी की तरह दिखाई पड़ती है, राजा दशरथ को मुस्कराती हुई घसीटे जा रही है-

'त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः॥
प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी।
प्रकर्षन्ति मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना॥'

(वही, १५-१६)

इस प्रकार राजकुमार भरत का अचेतन मन नाना प्रकार के दुःस्वप्नों से भयभीत होता है। ये स्वप्न सत्य ही सिद्ध हुए। ऐसे स्वप्न **'अग्निपुराण'** के अनुसार दुःखद परिणामदायक होते हैं। जिनमें मुण्डन नग्नता गोबर के पानी में स्नान करना तथा -

चूर्णनिं मूर्ध्नि कांस्याना मुण्डनं नग्नता तथा।
मलिम्बार धारित्वमभ्य प दिग्धता ॥

तथा इस प्रकार **'दक्षिणाशा प्रगमनं व्याधिनाभि भवस्तथा ।'**

'काषायवस्त्रधारित्वं तद् वस्त्रैः क्रीडनं तथा।'
'रक्तमाल्यानुलेपनं, इत्यधन्योनि स्वप्नानि तेषामकथनं शुभम्।'
'शक्रध्वजामिपतनं पतनं शशिसूर्ययोः।'
'वरावश्वखरोष्ट्रायां तथा चारोहणक्रिया।'[13]

'बौद्धसाहित्य' में भी सत्य निकलने वाले स्वप्नों का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें राजा शुद्धोधन ने अपने स्वप्न में एक झण्डा, दसहाथी, एक रथ, एक चक्र, एक नगाड़ा एक मीनार एवं छः व्यक्ति देखे थे जिसकी एक महात्मा ने ध्वज समाज के पुराने रीतिरिवाजों के प्रतीक के रूप में, दस हाथी बुद्धिमत्ता के दस महान् उपहारों के प्रतीक के रूप में, एक रथ के चारों अश्व चार निर्भीक गुणों के प्रतीक के रूप में, एक चक्र कानून तथा नियमों के प्रतीक के रूप में, नगाड़ों की तीव्र ध्वनि का अभिप्राय है कि राजकुमार संसार को अपने आदर्शों की शिक्षा प्रदान करने के प्रतीक रूप में, मीनार राजकुमार के सिद्धान्त आकाश के रूप में सर्वोच्चता के प्रतीक रूप में एवं छः व्यक्तियों को रोते हुए

एवं विलाप करते हुए देखा है जिसका अभिप्राय स्वरूप ये छः व्यक्ति छः प्रमुख शिक्षक (गुरु) बनेंगे तथा राजकुमार उन्हें सच्चा ज्ञान सिखाऐगे।[14]

हिन्दी समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन भी समीचीन ही प्रतीत होता है। जिसमें उन्होंने कहा है कि '**स्वप्न-काल की प्रतीति प्रायः प्रत्यक्ष के समान ही प्रतीत होती है।**'[15] उपरोक्त समस्त स्वप्न प्रत्यक्ष के समान ही प्रतिपादित हुए। ये स्वप्न भविष्यवाणी करने वाले ऐतिहासिक स्वप्न है। 'स्वप्न' फल के विषय में पुराणों में उल्लेख मिलता है कि रात्रि के प्रथम प्रहर में दिखे सपनों का परिणाम एक वर्ष के अन्दर प्राप्त हो जाता है, दूसरे सपनों का तीन माह में और चतुर्थ प्रहर में दिखायी देने वाले स्वप्नों का पन्द्रह दिन के अन्दर, जो स्वप्न मोर-बेला में दिखाई देते है उनका परिणाम 10 दिन के अन्दर ही देखने को मिलता है-

'स्वप्नास्तु प्रथमे यामे संवत्सरविपाकिनः।
षड्भिर्मासैः द्वितीये तु त्रिभिर्मासैस्त्रियामिकाः॥
चतुर्थे त्वर्धमासेन दशाहदरूणोदये।'[16]

हिन्दी के महाकवि गो0 तुलसी दास की भी स्वप्न में आसक्ति है, 'मानस' के पात्रों के माध्यम से वे कहते हैं' कि जबसे अयोध्या में अनर्थ प्रारम्भ हुआ तभी से भरत जी को अपशकुन होने लगे। वे रात को भयंकर स्वप्न देखते थे, जागने पर (उन दुःस्वप्नों के कारण) करोड़ों प्रकार की बुरी-बुरी कल्पनाएँ किया करते थे-

'अनरथु अवघ अरंभेउ जब तें। कुसगुन होंहिं भरत कहुँ तब तें॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहि कटु कोटि कल्पना॥'

'वाल्मीकि रामायण' में भी एक दुःस्वप्न देखे-स्वप्नों में काले रंग की स्त्रियाँ (राक्षसीनियां) अपने पीले दाँत दिखाती हुई सामने आकर खड़ी हो जाती है और प्रतिकूल बातें कहकर घर के सामान चुराती हुई जोर-जोर से हंसती है-

'कालिकाः पाण्डुरैर्दन्तैः प्रहसन्त्यग्रतः स्थिताः।
स्त्रियः स्वप्नेषु मुष्णन्त्यो ग्रहाणि प्रतिभाष्य च॥'

(वा.रा.- युद्धकाण्ड, ३५/२८)

इसी प्रकार 'श्रीरामचरितमानस' में भी श्रीरामचन्द्र जी रात्रि शेष रहते ही जागे। रात्रि को सीता जी ने ऐसा स्वप्न देखा मानो कि समाज सहित भरत जी आये हुए हैं। प्रभु के वियोग की अग्नि से

उनका शरीर संतप्त है-

'उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा।

सहित समाज भरत जनु आए। नाथ वियोग ताप तन ताए।।'

(अयोध्याकाण्ड, २२५/२)

स्वप्न में सीता जी देखती हैं कि सभी लोग मन में उदास, दीन और दुःखी हैं। सासुओं की स्थिति बड़ी विचित्र है। सीताजी का स्वप्न सुनकर श्री रामचन्द्र जी के नेत्र अश्रुपूरित हो जाते हैं, सबको शोक से मुक्त करने वाले श्रीरामचन्द्र जी स्वयं शोकयुक्त हो जाते हैं-

'सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखी सासु आन अनुहारी।।

सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भये सोच बस सोच विमोचन।।'

(वही, २२५/३)

शोकयुक्त श्रीरामचन्द्र जी स्वानुज लक्ष्मण को स्वप्न फल बताते हुए कहते हैं कि हे लक्ष्मण! यह स्वप्न अच्छा नहीं हैं शीघ्र ही कोई भीषण कुसमाचार सुनाने वाला है-

'लखन सपन यह नीक न होई।

कठिन कुचाह सुनाइहि कोई।'

(वही, २२५/३)

वाल्मीकि रामायण में शुभफल प्रदान करने वाले स्वप्नों की विद्यमानता भी उपलब्ध है। सुन्दर काण्ड में जब राक्षसिनियाँ सीता जी को अधिक परेशान करती हैं तो रावण की ममेरी बहिन त्रिजटा भोर की बेला में स्वप्न देखती है तथा राक्षसिनियों को सम्बोधित करते हुए कहती है कि तुम स्वयं अपने को ही मार रही हो। त्रिजटा उन्हें अपने स्वप्न के विषय में अवगत कराते हुए कहती है कि यह स्वप्न राक्षसों के विनाश एवं सीतापति श्रीरामजी के उत्थान का प्रतीक है। त्रिजटा के ऐसा कहने पर राक्षसिनियाँ भयभीत होती हैं। वे त्रिपटा से अपने सम्पूर्ण स्वप्न के विष्य में अवगत कराने का आग्रह करती है। तब त्रिजटा उन्हें बताती है कि स्वप्न में उसने स्वर्ग में एक दैवीय पालकी का अवलोकन किया है, यह हाथी दाँत से निर्मित है इसे एक हजार हाथी खींच रहे हैं, श्रीरामचन्द्र जी श्वेत पुष्पों का हार धारण किये हुये हैं, श्वेत वस्त्र धारण किये हुए हैं, उस पालकी में बैठकर लक्ष्मण जी के साथ आये हैं-

'गजदन्तमयी दिव्यां शिबिकामन्तरिक्षगाम्।

युक्ता वाजि सहस्रेण स्वमास्थाय राघवः।
शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन समागतः।'

(सुन्दर काण्ड, २७/९-१०)

त्रिजटा अपने स्वप्न को आगे बढ़ाते हुए बताती हैं कि श्वेत वस्त्र धारण किये हुए सीता जी एक श्वेत पर्वत पर विराजमान हैं और पर्वत समुद्र से धिरा हुआ है। जिस प्रकार प्रकाश सूर्य से मिलता है उसी प्रकार सीता जी श्रीरामचन्द्र जी से मिलती हैं-

'स्वप्ने चाद्य मया दृष्टा सीता शुक्लाम्बरावृता।
सागरेण परिक्षिप्तं श्वेतपर्वतमास्थिता॥
रामेण संगता सीता भास्करेण प्रभा यथा।'

(वही, श्लोक ११-१२)

इस स्वप्न में श्वेतवस्त्रों को धारण करना धवलता का प्रतीक है, उच्च स्थान पर बैठना प्रगति की उच्चता का प्रतीक है, स्वप्न में देवलोकों की यात्रा, मन्दिर आदि का भ्रमण शुभ माना गया है। स्वप्न में देव-दर्शन यथा सूर्य देव आदि का दर्शन सौभाग्यकारी तथा मंगलकारी माना जाता है।[17]

त्रिजटा आगे बताती है कि उसने श्री रघुनाथ जी को चार दाँतों वाले हाथी पर सवार पाया है जो कि एक पर्वत की तरह ऊँचा था। सूर्य-प्रकाश के समान चमक रहा था। श्वेत हार धारण किये हुए एवं श्वेत परिधानों से सुसज्जित दोनों भाई श्रीरघुनाथ जी एवं लक्ष्मण जी जानकी के निकट आये हैं। एतत्पश्चात् जानकी जी पर्वत शिखर पर अवस्थित श्रीरामचन्द्र जी द्वारा ग्रहीत हाथी के कन्धे पर आ जाती हैं-

'राघवश्च पुनर्दृष्टश्चतुर्दन्त महागजम्॥ आरूढ़ः शैलसंकाश चकाश सलक्ष्मणः।
ततश्च सूर्यसंकाशौ दीप्यमानौ स्वतेजसा॥ शुक्ल माल्याम्बरधरो जानकी पर्युपस्थितौ।
ततश्य नगस्याग्रे ह्याकाशस्थस्य दन्तिन॥ भर्त्ता परिग्रहीतस्य जानकी स्कन्धमाश्रिता।'

(वही, १२-१५)

यह स्वप्न श्रीराम-जानकी मिलन का संकेत/सन्देश देता है। यहाँ पर उत्तुंग गजराज गणेश के प्रतीक है और गणेश बुद्धि के देवता है। अतः बुद्धिवर्धन का संदेश भी इस स्वप्न से प्राप्त होता है। तीनों सदस्यों का मिलन पारिवरिक मिलन को द्योतित करता है।[18]

इसी प्रकार त्रिजटा को आगे स्वप्न में अनुभव होता है कि आठ श्वेत बैंलो से जुते हुए एक

रथ पर सवार श्री रामचन्द्र जी श्वेत पुष्पों की माला और श्वेत वस्त्र धारण किये अपनी धर्मपत्नी सीता और भाई लक्ष्मण के साथ यहाँ पधारे है। यहाँ से दिव्य पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो उत्तर दिशा को लक्ष्य करके प्रस्थान किये हैं। इस प्रकार त्रिजटा बताती है कि भगवान् विष्णु के समान पराक्रमी श्रीराम का उनकी पत्नी सीता और लक्ष्मण के साथ उसने दर्शन किया है। श्रीराम जी महान् तेजस्वी है उन्हें देवता, असुर तथा दूसरे लोग भी कदापि नहीं जीत सकते है।[19]

त्रिजटा ने स्वप्न में रावण को भी दुरवस्था में देखा हैं वह मूँड-मुँड़ा, लाल कपड़े धारण किये हुए, तैल-पान करते हुए, गधे पर सवारी करते हुए दक्षिण दिशा की ओर जा रहा है फिर वह गधे से नीचे गिर जाता है, कीचड़ में घंस जाता है, और वहीं डूब जाता है। रावण के सभी पुत्र भी मूँड मुँडाये हैं। त्रिजटा स्वप्न में विभीषण को भी देखती है, जो श्वेत-छत्र लगाये, श्वेत माल्याभूषण धारण किये हुए, श्वेत चंदन व श्वेत अंगराग लगाये हुए है। तथा अपने चार मंत्रियों सहित चार दाँतों वाले दिव्य गजराज पर आरूढ़ होकर आकाश में खड़ें है।[20]

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसी दास के पवित्र ग्रन्थ 'श्रीरामचरित मानस' में भी ऐसा ही स्वप्न अनुभूत किया गया है। इस स्वप्न से ऐसा प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी ने 'रामायण' के उपरोक्त स्वप्न का ही हिन्दी अनुवाद कर दिया है-

त्रिजटा नाम राच्छसी एका। रामचरन रति निपुन बिबेका॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहिं सेइ करहु हित अपना॥
सपने बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि विधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहु बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥
तासु बचन सुनि ते सब डरी। जनकसुता के चरनन्हि परी॥

(सुन्दर काण्ड, १०/१-४)

निष्कर्षतः मुनि मानस वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में लोक मानस में प्रथित अनुभवों और विश्वास को बहुत विचारपूर्वक अंगीकृत किया है। महर्षि आदिकवि वाल्मीकि रचित **'रामायण'** शास्त्रीय एवं लोकीय मतों का एक विराट आगार है जिसमें हर प्रकार के व्यवहार सहज ही संदर्शनीय

हैं, विवेचनीय है। इस दृष्टि से महर्षि वाल्मीकि की स्वप्न सम्बन्धी मान्यताएें आज की परिस्थिति में भी अपना प्रमुख स्थान रखती हैं जो अत्यधिक समीचीन हैं एवं प्रासंगिक हैं। इस सन्दर्भ में स्वप्न सम्बन्धी तथ्यों के विषय में हमारी अवधारणा है कि ये स्वप्न लोकमानस के सुदीर्घ अनुभव रहे हैं और जनजीवन में व्याप्त भी रहें होंगे, उनको अपने आदि काव्य में महर्षि ने निबद्ध किया है। इन स्वप्नों के विषय में स्वयं मुनि वाल्मीकि की भी अनुभूति तथा समकालीन ऋषियों, मनीषियों से सुनकर उन्होंने रामायण के प्रधान पात्रों के माध्यम से दु:स्वप्न और सुस्वप्न दोनों को ही अंगीकार किया है। मनोवैज्ञानिकों की मान्यतानुसार मनुष्य में स्वप्न का न होना पागलपन का लक्षण है। मनोवैज्ञानिकों की मान्यता का निष्कर्ष है कि स्वाभाविक रूप से मनुष्य को स्वप्नलोक में भी विचरण करना अनिवार्य है। भारतीय वैदिक एवं वेदोत्तर कालीन वाङ्मय में स्वप्न सम्बन्धी विवेचन विवेचनीय है। विश्वास है 'स्वप्न' शीर्षकान्तर्गत प्रस्तुत यह अनुसंधानात्मक प्रयास इस विषय पर भावी अध्येताओं का पथ-प्रशस्त कर सकेगा एवं एक विराट शोध प्रबन्धात्मक रूप से दिग्दर्शन कर सकेगा।

सन्दर्भ

1. संस्कृत-हिन्दी कोश (वामनशिवराम आप्टे), पृ0 1158
2. Charless Swinburne-Modern Library (A Swimmer's Dreams)
3. ऋग्वेद - 10/164/1-5
4. अथर्ववेद- 16/3/6/1-3
5. वही- 16/2/6/2
6. ब्रह्मसूत्र- 3/2/4
7. Encyclopedia Britanica- Vol. 27, Page 305
8. Encyclopedia Britanica- Vol. 04, Page 217
9. पतञ्जलि योगदर्शन, साधनपाद 2,सूत्र 38
10. डॉ. फूल बिहारी शर्मा- समीक्षा एवं मनोविश्लेषण, पृ0 15
11. सिगमंड फ्रायड- ए जनरल इण्ट्रोडक्शन टु. साइकोस्नालाइसिस, पृ0 384-85 (डॉ0 फूल बिहारी शर्मा- समीक्षा एवं मनोविश्लेषण, पृ0 18 पर उद्धृत)

12. प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न 4/1-9
13. अग्निपुराणाम्- 229/2-13
14. Sir Edwin Arnold-Light of Asia, Books II, Line 235-300
15. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि प्रथम भाग (रसात्मक बोध के विविध स्वरूप), पृ0 150
16. अग्निपुराणम्- 229/17-18
17. डॉ. सोमवती शर्मा- वाल्मीकि रामायण में पुराख्यान तत्व (शोध प्रबंध) पृ0 304
18. वहीं पृ0 305
19. वाल्मीकि रामायण, वहीं, श्लोक 18-25
20. वहीं, 26-40

प्राचीनभारते दण्डव्यवस्थायाः स्वरूपम्

डा० श्रीगोविन्दपाण्डेयः
व्याख्याता, शिक्षाशास्त्रविभागः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः)
श्रीसदाशिवपरिसरः, पुरी, ओडिशा 7520..
दूरभाष-06752 223439 (का.) 250081 (आ.)

प्रस्तावना-

भारतीयसंस्कृतौ धर्मशास्त्रस्य स्थानं विशिष्टं वर्तते। तत्रापि स्मृतिसाहित्यग्रन्थानां स्थानमन्यतमम्... विदन्ति विज्ञाः। यथोक्तम् -

"वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले" (गौ.ध.सू. १/१-२)

धर्मस्य मूलं श्रुतिः स्मृतिस्तथाचारश्चेति। भारतीयसमाजे नीतिनियमानां निर्मा... श्रुतिस्मृतिजन्यप्रमाणमाश्रित्य वर्त्तते। यथा- वर्णाश्रमव्यवस्था, षोडशसंस्कारप्रभृतयः। राजनीतिराजधर्मविधि... शास्त्राणां ज्ञानं धर्मशास्त्रमाध्यमेन भवितुमर्हति। सन्दर्भेऽस्मिन् राजतन्त्रीये समाजे दण्डस्य प्राधान्यं कल्प... दण्डस्य परिचयो विभिन्नेषु खण्डेषु प्रदर्श्यते।

दण्डस्य महत्त्वम्-

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

(मनु० ८/३१८)

यथा सज्जनाः सत्कर्मणा स्वर्गं प्राप्नुवन्ति तथैव दुर्जनाः पापकर्मात्परं राजदण्डं प्राप्य पापात्मुक्तिं प्राप्नुवन्ति स्वर्गं प्रति च गच्छन्ति। अर्थात् समाजे पापकर्मनिवारणार्थं दण्डस्य व्यवस्था कल्पिताऽऽसीत्। यं दण्डं पापिनः सहर्षं स्वीकृत्य आत्मानं दोषमुक्तं घोषयन्ति स्म।

दण्डस्य उत्पत्ति-

दण्डस्य सृष्टिः केन प्रकारेण जातेति चेत् उच्यते-

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥

(मनु० ७/१४)

ईश्वरः राज्यशासनदक्षस्य राज्ञः कार्यसिध्यर्थं ब्रह्मणः तेजोमयस्वरूपस्य दण्डस्य रचनामकरोत्। सर्वेषां जीवानां रक्षकः राजा धर्मराट्रूपेण पुत्रेण पृथिव्यां समागतः, येन माध्यमेन सर्वेषां चराचराणां रक्षणमीश्वरः स्वयं कारयति।

दण्डस्य स्वरूपम्-

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्थामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।।

(मनु. ७/१७)

चतुर्ष्वपि आश्रमेषु धर्मव्यवस्थायाः कृते, राजा दण्डमाध्यमेन राज्यं परिपालयति नेतृत्वं च वहति। तथैव-

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्डः एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।।

(मनु. ७/१८)

समाजे प्रशासने च दण्डस्य महत्प्रभावो विद्यते। अत एव दण्डोऽपि धर्मः इति पण्डितैरङ्गीकृतः। यथा-

उपायाः साम दानं च भेदौ दण्डस्तथैव च।
सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्ध्येयुर्दण्डस्त्वगतिका गतिः।।

(या.स्मृ. १/१३/३४६)

राजानः राज्यसंरक्षणे शसने च कार्यसिद्ध्यर्थमथवा कार्यसाफल्याय चतुर्णामुपायानां विषये चिन्तयन्ति स्म। यथा- **"सामादिभिरुपक्रमैः"** (या.स्मृ.1/13/345) इत्यनेन वाक्येन साम, दानं, भेदः, दण्डश्च गृह्यते। अर्थात् साम नाम प्रियभाषणेन, दानं नाम सुवर्णादि उपहार प्रदानेन, भेदो नाम परस्परभेदेन मतभेदोत्पादनेन, दण्डो नाम कारागारप्रदानेन वधादिमाध्यमेन आर्थिकदण्डेन इति अङ्गीक्रियते। किञ्च आदौ सामदानभेदमाध्यमेन कार्यसिद्ध्ययर्थमथवा निर्णयार्थस्य प्रयासो विधीयते। यदा एभिः त्रिभिरुपायैः कर्माणि न सिद्ध्यन्ति तदा दण्ड (दण्डस्त्वगतिका गतिः) इत्यनेन दण्डस्य प्रयोगः क्रियते। यतो हि-

तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत्।
धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।।

(या.स्मृ. १/१३/३५४)

नृपः राजशासनस्य व्यवस्थां परिपालयन् दुर्जनानामुपरि दण्डस्य प्रयोगं करोति। यतो हि ब्रह्मणा आदिकाले दण्डरूपेण धर्मस्य रचना कृता। अतः राज्यपरिपालने, धर्मपरिपालने, समाजे अनुशासनसंरक्षणे च सर्वत्र दुर्वृत्तानां कृते दण्डस्य प्रयोगोऽप्युपकारकः नास्त्यत्र संशयलेशः।

दण्डस्य आवश्यकता -

निरङ्कुशानामुग्राणां हिंसकादीनां शमनार्थं साङ्कुशनियन्त्रणार्थं च समाजे राष्ट्रे च दण्डस्य आवश्यकता प्रारम्भादेव विद्यतेऽग्रेऽपि स्थास्यति। प्रारम्भादेव आचार्यसमीक्षणेन विभिन्नेषु सन्दर्भेषु द्रष्टुं शक्यते। दण्डेन जनानां प्रवृत्तिः स्व स्वधर्मे एवं भवति तथा च स्वानुकूले स्वकीये भोग्यपदार्थे श्रद्धा प्रवर्तते। इति। यथोक्तम्-

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥ (मनु. ७/१५)

दण्डस्य निर्णयः -

राजा तु सर्वदा प्रजानां हिताय कार्यं करोति। तत्रापि निष्पक्षरूपेण विचिन्त्य शास्त्रानुसारेण अन्यायिनां कृते दण्डस्य घोषणां करोति। यथा-

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्थतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥ (मनु. ७/१६)

एवमेव दण्डविधाने यस्मिन् यः दोषः भवति तस्मै अनुकूलो दण्डः दीयतेति। ते बान्धवाः भवितुमर्हन्ति अथवा स्वरक्तसम्बन्धिनः अपि भवितुमर्हन्ति। अत्रोच्यते -

अपि भ्राता सुतोऽर्ध्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात्॥

(या.स्मृ.१/१३/३५८)

दण्डस्तावत् सर्वेषां कृते समानो भवति। तत्र कोऽपि भ्राता वा पूज्यः, श्वसुरो वा, मातुलो वा भवतु नाम यदि कश्चन दुष्कर्मणि प्रवृत्तश्चेत् सः दण्डनीय एव। बान्धवानां संम्पृक्तौ अपि राजा मोहं विना दण्डयत्येव। तत्र बान्धवानां वा सम्बन्धिनां वा प्रभावः कदापि श्रेष्ठः राजा स्वमनसि न पातयति। अत एव प्रजानां सेवायै राजा भवति। राजा तावत् निष्पक्षेण निर्णयं न स्वीकरोति चेत् तर्हि प्रजानां पुरतः आदेशं दातुं न शक्नोति।

दण्डस्य सत्प्रभावः -

दण्डदानेन राज्ञः स्थितिः कीदृशी इति उच्यते यत् न्यायाधारेण सम्यक् रूपेण पर्यालोच्य दण्डस्य घोषणां राजा कुर्यात्। यथोक्तम् -

यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा सम्यगवध्यांश्च घातयेत्।
इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः॥

(या.सम‍ृ. १/१३/३५९)

अर्थात् यः राजा शास्त्रानुसारेण दण्डस्य प्रयोगं करोति स राजा अधिकदक्षिणायुक्तं, यज्ञस्य फलं प्राप्नोति। यतो हि- **"दुष्टे सम्यग्दण्डः प्रयोक्तव्यः"** (आ. 354) इत्यनेन स्पष्टं भवति यत् दुर्जनेषु दण्डस्य प्रयोगः अवश्यमेव करणीयः। तथा च राजा प्रतिदिनं स्वराजसदस्यैः सह, स्वमित्रैः सह, इतरैः नीतिनिपुणैः सह परामृश्य विविधान् विवादान् सन्निर्णयेन उद्घोषयति इति। सन्दर्भेऽस्मिन् मनुना एवमुक्तम्-

एवं वृतस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥

(मनु. ७/३३)

अर्थात् यो राजा शास्त्रानुसारेण व्यवहारेण, न्यायेन, शिलोञ्छेनापि जीवनेन दण्डस्य प्रयोगं करोति अथवा ऐश्वर्याभावेऽपि एतादृशानां राज्ञां यशः जले तैलविन्दुवत् सम्पूर्णविश्वे प्रसरति इति।

दण्डस्य दुष्प्रभावः -

यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन् सदेवासुरमानवम् ।
जनमानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत् ॥

(या.स्मृ. १/१३/३५६)

शास्त्रानुसारेण दण्डस्य प्रयोगेण न केवलं देवताः तुष्यन्ति अपि तु असुराः मानवाः च तुष्यन्ति। किन्तु अशास्त्रीयरीत्या दण्डस्य प्रयोगेण एते सर्वे कुप्यन्ति। तथैव अधर्मेण लोभेन च वशी भूत्वा कश्चन राजा अशास्त्रीयरीत्या दण्डस्य प्रयोगं करोति चेत् तस्य स्वर्गलोकगमनं तथा यशप्राप्तिरपि विनष्टं भवति। अर्थात् शास्त्रानुसारेण दण्डेन राजा स्वर्गं प्राप्नोति तस्य यशः च वर्धते तथा च स एव राजा सर्वेषु स्थानेषु विजयी भूत्वा सर्वदा अग्रे तिष्ठति। मनुना अत्रोक्तम् -

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥

(मनु. ७/३४)

अर्थात् शास्त्रविरुद्धाचरणेन स्वेच्छया च यः राजा दण्डस्य निर्णयं स्वीकरोति तस्य यशः जले घृतविन्दुवत् विघटितस्तिष्ठति। न केवलं एतावदेव अपितु अनुचितेन दण्डेनापि राज्ञः सबान्धवैः स नाशः भवति। सबान्धवनाशेन राज्ये विद्यमानाः चराचराः, पृथ्वी, मुनयः देवताश्च दुःखमनुभवन्ति।

दण्डव्यवस्था -

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा ।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥

(या.स्मृ.१/१३/३६८)

यदि कश्चन अपराधः कृतश्चेत् साक्षात् दण्डः नैव दीयते स्म। दण्डदानात्पूर्वं तस्य अपराधिनः स्थानं, कालं, शक्तिं, आयुः कर्म, धनम्, अपराधञ्च ज्ञात्वैव दण्डः दीयते स्म इति स्पष्टं भवति।

दण्डस्य भेदाः/प्रकाराः -

धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।
योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधवशादिमे॥

(या.स्मृ. १/१३/३६७)

प्राचीनकाले अपराधिनां कृते साक्षात् शारीरिकदण्डः नैव दीयते स्म। तत्र तु आदौ धिक्-दण्डेन धिक्कृतानि वचनानि, तदनन्तरं वाग्दण्डेन कटुवचनानि, ततो धनदण्डेन आर्थिकदण्डः, सर्वान्ते वध दण्डाधारेण शारीरिकदण्डश्च दीयते स्म। मनुश्च प्रतिपादयति-

स्वराष्ट्रे न्यायवृतः स्याद् भृशदण्डस्य शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मःस्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः॥

(मनु. ७/३२)

स्वराज्ये नीतिन्यायाधारेण दण्डस्य प्रयोगः, शत्रुणां राज्ये कठोरदण्डस्य प्रयोगः स्वाभाविकामित्रेषु सरलतायाः व्यवहारस्तथा ब्राह्मणेषु क्षमायाः व्यवहारः भवेत्। अत्र ब्राह्मणशब्दः ज्ञानविज्ञानविशेषज्ञानां

सदाचारशीलानां कृते प्रयुक्त इति निगमागमप्रमाणान्यधुनापि साक्ष्यभूतानि।

दण्डस्य अनधिकारी –

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेव विषयेषु च॥

(मनु. ७/३०)

सर्वे राजानः दण्डस्याधिकारिणाः भवितुं नार्हन्ति। येषु सद्गुणाः न भवन्ति, यः च असहायः, लोभी, मूर्खः, शास्त्रज्ञानहीनः तथा भोग्यपदार्थे लिप्तः राजा कदापि न्यायमार्गेण दण्डप्रदाने अधिकारी भवितुं नार्हति।

दण्डस्य अधिकारी –

स नेतुं न्यायतोऽशक्यो लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
सत्यसन्धेन शुचिना सुसहायेन धीमता॥

(या.स्मृ१/१३/३५४)

अन्यायिनः लुब्धाः चञ्चलबुद्धियुक्ताः हीनबुद्धयः दुष्टबुद्धयश्च राजानः दण्डाधिकारिणः भवितुं नार्हन्ति। ते न्यायपूर्णविचारान् प्रस्तावयितुं न भवन्ति यथार्थतः समर्थाः। न्यायपूर्णविचारान् प्रस्तावयितुं नीतिशास्त्रज्ञ, सत्यशीलः, पवित्रः, सदाचारशीलः, सज्जनः, विद्वान् एव शक्नोति न्यायं कर्तुं यथार्थतः। धर्मार्थकोविदः इति शब्देनापि वक्तुं शक्यते। अत्रोक्तम् –

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥

(मनु. ७/२६)

दण्डस्य प्रयोक्ता राजा अथवा कश्चन नियोजिताधिकारी सत्यवादी, विमृश्यकारी, प्राज्ञः, धर्मशास्त्रविच्च भवेत्। अर्थात् सदसदमार्गभेदनिर्धारणपटुः सत्यशीलश्च दण्डाधिकारी भवेत्।

यथोक्तम् –

शुचिना सत्यसंधेन यथा शास्त्रानुसारिण।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥

(मनु. ७/३१)

यः कश्चन राजा अथवा तेन योजितश्च कश्चन दण्डाधिकारीपुरुषः स्वभावेन स्वच्छः, सत्यता प्रतीकः, शास्त्रानुसारेण कार्यकौशलयुक्तः, सत्कर्मणि सहायको भूत्वा विवेकेन कार्यसाधकः य भवति स एव दण्डस्याधिकारी भवितुमर्हति।

उपसंहारः -

प्राचीनभारते दण्डव्यवस्थायाः स्वरूपं यत् कल्पितमासीत् तस्यैव परिवर्तितरूपं अद्य अस्माभिः दृश्यते। अर्थात् सन्दर्भानुसारेण, परिवेशानुसारेण, कालानुसारेण च तस्यैव दण्डस्वरूपस्य स्वरूपं दृश्यते। उदाहरणार्थम्- यदुद्देश्यं प्राचीनकाले दर्ण्डस्य व्यवस्था आसीत् तदेव उद्देश्यम् अद्यापि दृश्यते। यथा दण्डस्य प्रयोगः- अनुशासनसंरक्षणे, व्यवस्थायाः संरक्षणे, उत्तमनागरिकनिर्माणे, समाजस्य गौरवाय, राष्ट्रस्य गौरवाय, जनहिताय च इति प्राचीनकाले अपि आसीत्, अद्यापि एतान्येव प्रमुखानि उद्देश्यानि इति कथयितुं शक्यते। क्रियान्वयने प्रयोगे च भेदाः भवितुमर्हन्ति किन्तु विचारस्तावत् एक एव इति स्पष्टमस्ति। अस्मिन् विषये वेदादारभ्य स्मृतिग्रन्थेषु विद्यमानानि पौराणिकग्रन्थेषु विधानैः साकं व्यवहारगतदृष्टान्ताश्चापि प्राप्यन्ते।

प्राचीनभारते दण्डव्यवस्थायाः स्वरूपम्

1. प्रस्तावना- (क) दण्डस्य महत्त्वम् (ख) दण्डस्य उत्पत्तिः
2. दण्डस्य स्वरूपम्।
3. दण्डस्य निर्णयः।
4. दण्डस्य आवश्यकता।
5. दण्डस्य सत्प्रभावः।
6. दण्डस्य दुष्प्रभावः।
7. दण्डस्य व्यवस्था।
8. दण्डस्य भेदाः/प्रकाराः।
9. दण्डस्य अनधिकारी।
10. द्रण्डस्य अधिकारी
11. उपसंहार

वैदिक साहित्ये में न्यायप्रक्रिया के सन्दर्भ

डॉ० अरुणा शर्मा, प्रोफेसर
संस्कृत पालिप्राकृत विभाग
कु0 वि0, कुरुक्षेत्र(हरि0)

राज्य की सुव्यवस्था और स्थिरता के लिए न्याय आवश्यक है। न्यायव्यवस्था राज्य की शासनप्रणाली की कुशलता की परिचायक है। साधारण नागरिक का हित और सुरक्षा उचित न्याय में ही निहित होता है। ब्राइस का कथन है कि 'यदि न्याय का दीपक अन्धेरे में बुझ जाए तो वह अन्धेरा कितना गहन होगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।[1]'

सम्यक् शासन-सञ्चालन और जनसुरक्षा के लिए अपराधियों को दण्ड देना और निष्पक्ष न्याय करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य सिद्ध होता है। अतः असत्य के नाश और सत्य की स्थापना के लिए न्याय आवश्यक है।[2]

धर्म की स्थापना और अधर्म की निवृति भी न्याय द्वारा ही सम्भव है। न्याय के अभाव में धर्म विनष्ट हो जाता है। धर्म के विनाश से राजा, राज्य एवं प्रजा तीनों नष्ट हो जाते हैं। इसी लिए न्यायशासन को मनु ने धर्म का प्रतीक माना है और कहा है कि जब न्याय होता है तो धर्म के शरीर से उसे बेध ने वाला अधर्म नाम का बाण निकल जाता है।[3]

प्रजा में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए भी न्याय आवश्यक हैं। न्याय के अभाव में बलवान् निर्बल को पीडित करने में तत्पर हो जाते हैं और चोर डाकू आदि राज्य की सुव्यवस्था को भंगकर अशान्ति फैलाने लगते है। अतः असत्य के नाश, सत्य की स्थापना, प्रजारक्षा, अधर्मनाश, राज्य की स्थिरता-सुदृढ़ता और प्रजा में शान्ति स्थापना के लिए न्याय आवश्यक है। वस्तुतः सत्य और धर्म की रक्षा ही न्याय का उद्देश्य है।

सामाजिक सभ्यता में अन्य व्यवस्थाओं के साथ ही न्यायव्यवस्था का भी प्रचलन हुआ होगा। भारतीय न्यायव्यस्था का परिचायक प्रथम ग्रन्थ मनुस्मृति को कहा जा सकता है। स्मृतिकारों ने न्यायपद्धति को सुव्यवस्थित रूप में उपस्थापित करने के लिए पूर्ववर्ती साहित्य वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र आदि से निश्चित रूप में प्रेरणा ग्रहण की होगी। उनके चिन्तन पर वेदों और उपनिषदों में निहित धार्मिक और न्यायिक व्यवस्था का साक्षात् प्रभाव अवश्य रहा होगा। अतः इनसे बचकर कुछ भी कहना स्मृतिकारों के लिए असम्भव था। इसीलिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति के पुनीत भाव नियम-उपनियम के रूप में ऋग्वेदकाल से उद्भूत हुए हैं और अथर्ववेदकाल तक इनका पर्याप्त विकास हो गया था।

भारतीय न्यायव्यवस्था का प्रथम परिचय वैदिक मन्त्रों में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में वर्णित वरुण को एक लोकप्रिय और सर्वदर्शी न्यायविद् के रूप में देखा जा सकता है[4]। ऋग्वेद में वरुण को

एक ऐसे शासक के रूप में चित्रित किया गया है जो न्याय का व्यवस्थापक है। वह विश्व का या सम्राट् है जो प्रशासन करता है और नियमों का सञ्चालन करता है। वह प्रजाजनों के पाप-पुण्यों सत्य-असत्य का हिसाब रखता है। उसके गुप्तचर विश्वभर में भ्रमणशील हैं और अखिल विश्व देखते हैं। वरुण द्वारा स्थापित नियमों का पालन सभी प्रजाजन समान रूप से करते हैं उनके नियमों उल्लंघन करने का दुस्साहस कोई नहीं कर सकता क्योंकि सभी वरूण के भीषण दण्ड से भय रहते हैं। पापियों के प्रति वरुण की क्रोधभावना है। अपराधियों को वरूण अपने पाश से बन्धन में हैं। परन्तु जो पश्चाताप कर लेते हैं उनके प्रति वरुण क्षमादृष्टि रखते हैं। जो भूल से गलती करने या नियम भंग करने के बाद आत्मसर्मपण कर देते है, उन्हें वरुण क्षमा कर देता है। वरुण प्रजा शारीरिक और चारित्रिक नियमों का पालन करवाता हैं। वायु, चन्द्रमा, नक्षत्र, नदियाँ, समुद्र, मेघ का वह नियमन करता है और सब उसके शासन में रहते हैं। संसार को नियमों में चलाने का व्रत करने के कारण ही वह 'धृतव्रत' है।[6]

इस सूक्त से यह निर्देश प्राप्त होता है कि राजा ही न्यायसंस्था का प्रभु होता था। वही निर्णय करता था कि कौन दण्डनीय है और अदण्डनीय। स्वामी दयानन्द ने राजा को न्याय के प्र और अन्याय की निवृत्ति का हेतु कहते हुए राजा और न्याय में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। अनुचित न्याय करने पर प्रजा भी राजा को दण्ड दे सकती थी।[7] राजा की सहायता के लिए वैदिक में न्यायिक प्रक्रिया अथवा व्यवहार विधि के सुचारु सञ्चालन के लिए सभा और समितियों का किया जाता था। अथर्ववेद के सप्तम काण्ड के बारहवें सूक्त में राष्ट्रसभा की स्तुति में ऋषि शौन ने सभा और समिति दोनों को प्रजापति की पुत्रियाँ कहते हुए यह कामना की है कि ये व्यवहारकाल में मेरी रक्षा करें।[8] इनमें समिति पूरे राष्ट्र की संस्था थी, जिसमें समस्त प्रजा एकत्र हो राजा का निर्वाचन करती थी। अथर्ववेद के प्रस्तुत मन्त्र में समिति के द्वारा राजपद के निर्माण की धारणा स्पष्टतः घोषित की गई है-

ध्रुवाऽच्युतः प्र भृणीहि शत्रूम् छत्रुयताऽधरान् पादयस्व।
सर्वा दिशः समनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह॥[9]

समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। राजा का कर्त्तव्य था कि वह समिति में अवश्य जाए। ऋग्वेद में समिति में जाने वाले सच्चे राजा का निर्देश उपमानरूपेण किया गया है-

राजा न सत्यः समितीरियानः।[10]

समिति के समकक्ष ही एक अन्य राजनीतिक संगठन था जो सभा के नाम से विख्यात था। अथर्ववेद के एक मन्त्र[11] में सभा 'नरिष्टा' के नाम से मण्डित है। सायण भाष्य के अनुसार इस

का तात्पर्य यह है कि सभा में अनेक लोग मिलकर जिस निर्णय पर पहुँचते थे, वह सबके लिए अनुल्लघंनीय होता था।[12] सभा में सभासदों के बीच किसी प्रश्न विशेष के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाद होता था तथा निर्णीत सिद्धान्त सबके लिए मान्य तथा अनिवार्य होता था।[13] इस प्रकार सभा राष्ट्र के वृद्धों की एक विशिष्ट संस्था थी। इसका कार्य दुष्टों और अपराधियों के अपराध का निर्णय करना तथा तदानुसार दण्डविधान होता था। पारस्कर गृह्यसूत्र (3.13) में सभा के लिए 'नादि' तथा 'त्विषि' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिन का तात्पर्य जयराम की व्याख्या के अनुसार धर्मनिरूपण करने से 'नदनशील' तथा 'दीपनशील'[14] प्रतीत होता है। फलतः सभा उच्च न्यायालय का कार्य सम्पादन करती थी। इन्हीं की सहायता से राजा अपने न्यायकर्म का निर्वाह करता था।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल (8.45.25) में संसद शब्द का भी प्रयोग मिलता है। भाष्यकारों ने इस शब्द का अर्थ सभा और यज्ञ किया है। अथर्ववेद के सप्तम काण्ड के तृतीय मन्त्र[15] में तो संसद शब्द सभा का ही वाचक है। ऋग्वेद में विरल रूप में प्रयुक्त संसद शब्द महाभारत में न्यायसभा के लिए प्रयुक्त मिलता है। आदिपर्व के शाकुन्तलोपाख्यान में शकुन्तला दुष्यन्त की न्याय सभा में न्याय की गुहार करती है।[16] उद्योगपर्व में इस प्रकार की धर्मसंसद के लिए सभा शब्द का प्रयोग किया गया है।[17] इस प्रकार स्पष्ट है कि समिति, सभा और संसद राजा के न्यायकार्य में सहयोग करने वाली संस्थाएं थी। अथर्ववेद[18] के एक मंत्र में विधिदर्शी सभासदों के लिए यह कामना की गई है कि वे सदा एक जैसे निर्णय करने वाली वाणी बोलें, जिससे प्रजापति नरेश का ऐश्वर्य और ख्याति बढ़े। इससे प्रतीत होता है कि वे विधिदर्शी सभासद आधुनिक काल की जूरी(Jurie) के समकक्ष थे और उनके एकमत कथन के आधार पर अपना निर्णय देने वाला न्यायधीश अर्थात् राजा समुचित न्याय करके यश और ऐश्वर्य का भागी बनता था।

गाँवों में ग्राम्यवादी न्याय करते थे।[19] किन्तु मुख्य रूप से न्याय का कार्य राजा के ही अधीन था। दुष्टों को दण्ड देने का अधिकार उसे था। राजा दुष्टों को दण्डित करके उनसे प्रजा की रक्षा करता था। ऋग्वेद में प्रजापीडक असुरों को मृत्युदण्ड दिए जाने का उल्लेख है। इन मंत्रों[20] में निर्देश है कि वर्ची के 1500 अनुचर इन्द्र द्वारा मारे गए। सायण ने शम्बर, शुष्ण और वर्ची को असुर माना है। इन्द्र देवताओं का राजा है और वह देवों के शत्रु असुरों को दण्डित करके (मृत्युदण्ड देकर) अपने प्रजाजनों (देवताओं) के प्रति न्याय करता है।

ऋग्वेद[21] में राजा विष्णु के द्वारा भी मायावी दास वृषशिप्र को मारे जाने का उल्लेख है। अन्यत्र भी इन्द्र के द्वारा शम्बर[22] और शुष्ण[23] को माया द्वारा मारे जाने का वर्णन है। पुनः ऋग्वेद 10.49.4 में निर्दिष्ट है कि इन्द्र वैकुण्ठ ने कुत्स के लिए स्मदिम, तुग्र और वेतसुओं को मारा। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजा अपनी प्रजा को सताने वाले अपराधियों को मृत्युदण्ड देकर उनकी रक्षा किया करता था।

न्यायकर्त्ता अर्थात् राजा सत्यरक्षण के लिए तत्पर रहता था। सत्य की रक्षा के द्वारा वह द्युलोक और पृथिवीलोक को पवित्र करता था। इस प्रसंग में ऋग्वेद का निम्नलिखित मंत्र विचारणीय है-

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन दुहो दहामि सं महीरनिन्द्राः।
अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परितृळहा अशेरन्॥[२४]

अर्थात् ऋत् के द्वारा मैं द्युलोक और पृथिवी को पवित्र करता हूँ। जो इन्द्र का विरोध करने वाली दानवियाँ हैं, मैं उन्हें जलाता हूँ, जहाँ शत्रुगण तुम्हारे हाथों से दबाए जाकर मारे गए और मारे जाकर मृत्युकूप में छिन्नभिन्न होकर सो रहे थे। सम्भवत: दुष्टों को देश से निष्कासित करने के दण्ड का भी विधान था। ऋग्वेद (10.15.5) में दानवों का उल्लेख है, जहाँ शिरिम्बिष्ठ भारद्वाज कवि प्रार्थना करता है कि काणी विकटा अरायी दानवों के साथ (सदान्ते) पहाड़ में चली जाए।

दूसरे की सम्पत्ति को न ग्रहण करने का कानून (नियम) था। ऋग्वेद का ऋषि कामना करता है कि शत्रु की सम्पत्ति परिश्रम से (कठिनता से)प्राप्य है, हम अपनी सम्पत्ति के स्वामी बने।[25] प्रजा के हित के विरुद्ध कार्य करना अपराध था और ऐसे अपराधी के लिए दण्ड का विधान था। सृष्टि के प्रारंभ से ही मानव के लिए जल का नितान्त महत्त्व रहा है। प्रजाजनों को इस जल की आपूर्ति में बाधा पहुँचाने वाले लोग दण्ड के भागी होते थे। जलापूर्ति के लिए वर्षा का महत्त्व आदिकाल से ही रहा है। कृषि के लिए भी प्राकृतिक वर्षा अभीष्ट थी। अत: जल को रोकना वृत्र का घोर दृष्कर्म माना गया है, और वृत्रहत्या के बाद जल का अजस्त्र प्रवाह सुष्टुत, परम प्रंशसनीय काम माना गया है। वृत्र के इस घोर अपराध का दण्ड देने के लिए ही न्यायाधिकारी नृप इन्द्र वृत्र का वध करता है।[26]

वैदिक संहिताओं में वैयक्तिक सम्पत्ति का ही संकेत प्राप्त होता है। वहाँ सामूहिक सम्पत्ति का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद (4.26.2) में इन्द्र कहता है कि आर्यों के लिए मैंने भूमि दी है। इससे वैयक्तिक सम्पत्ति का ही तत्व समर्थित होता है। इस सम्पत्ति को छीनने वालों के लिए विनाश की कामना की गई है। वाजसनेयि संहिता में-

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयो॥[२७]

इस मंत्र में अग्नि से पुरोहित कहता है कि जो मलिम्लु(लुटेरा), स्तेन(चोर), तस्कर(डाकू) और अघायु(पापी/अपराधी) हैं, उनका नाश हो। इस मंत्र से प्रतीत होता है कि दूसरों का धन छीनने वाले लुटेरे अथवा धन चुराने वाले चोर-डाकुओं का विनाश करने के लिए प्रजाजन राजा के पास जाकर न्याय की गुहार करते थे और उनके विनाश की याचना करते हुए उन्हें दण्ड देने की अपील(कामना) करते थे।

वैदिक काल में द्यूतक्रीड़ा अपराध की श्रेणी में आती थी। ऋग्वेद में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि व्यसनी अक्षकितव अत्यन्त घोर कष्ट वहन करता था। कवष ऐलूष ऋषि का कथन है कि वह अक्षकितव बद्ध हो जाता था तो उसे बन्धनागार में डाल दिया जाता था। ऐसे दण्ड के भागी उस व्यसनी पुरुष को उसके माता-पिता भ्राता आदि पहचानते भी नहीं थे।[28] इससे स्पष्ट है कि जुआरी को कारावास के अतिरिक्त सामाजिक बहिष्कार का भी दण्ड भोगना पड़ता था। ऐसा ऋणी व्यक्ति इस प्रकार की दण्डव्यवस्था से भयभीत होकर ऋण चुकाने के लिए रात्रि में चोरी भी करता था।[29]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि न्याय की परिधि में प्रजापीडन, धोखाधड़ी, ऋण की वापसी, उत्तराधिकार का विवाद, चोरी और हत्या आदि से सम्बद्ध विषय समाहित थे।

वैदिक युग में न्यायप्रक्रिया सरल थी। न्यायसभा में साक्षियों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। साक्षी के लोभरहित, धार्मिक और सत्यवादी होने पर ही न्यायव्यवस्था सुदृढ़ हो सकती है। ऋषि दयानन्द के कथनानुसार स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों। उन्होंने इस प्रसंग में मनु को प्रमाण माना है।[30] उन्होंने स्त्रियों का न्याय स्त्रियों द्वारा किए जाने का विधान किया है। उनका मत है कि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त होकर यथावत् बोल नहीं पाती।[31] साक्षी का अभाव होने पर कभी-कभी आरोपी शपथ लेकर अपने को निर्दोष सिद्ध करता था। ऋग्वेद में वसिष्ठ ने आरोप लगने पर अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कहा था कि यदि मैं यातुधान हूँ तो आज ही मर जाऊँ या जो मुझ पर दोष लगाता है, वही व्यर्थ दोष लगाने पर मर जाए।[32] साक्षी के अभाव में दिव्य साक्षी पर न्याय अवलम्बित होता था। इन दिव्य साक्षियों में अग्नि, जल आदि निहित हैं। ऋग्वेद में उचथ के पुत्र दीर्घतमा ने प्रार्थना की है कि दसगुणी लकडियों अथवा इन्धनों की अग्नि उसे जला न सके, वे नदियाँ, जिनमें उसे हाथ-पांव बाँधकर फेंक दिया गया है, उसे डुबो न सकें।[33] इस कथन में समीक्षकों ने अग्नि एवं जल के दिव्यों का संकेत स्वीकार किया है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार लोग हाथ पकड़कर चोर को न्यायाधीश के समीप लाते थे। तत्क्षण अग्नि को दहकाकर परशु को तपाया जाता था और अभियोगी को उसे हाथ में लेना पड़ता था। यदि वह जल जाता था तो उसे मार डाला जाता था और यदि नहीं जलता था तो उसे छोड़ दिया जाता था।[34] यहाँ पर गर्म कुल्हाड़ी पकड़े जाने की जो चर्चा है वह अग्नि दिव्य का ही उदाहरण है। ऋग्वेद 3.53.22 में भी ऐसी दिव्य साक्षी का संकेत प्राप्त होता है। पञ्चविंश ब्राह्मण में भी अग्नि परीक्षा (साक्षी) का उल्लेख प्राप्त होता है।[35] वहाँ वत्स की कथा वर्णित है। वत्स की विमाता ने उसे शूद्रा से उत्पन्न कहा और वत्स ने इसका विरोध करते हुए कहा कि वह ब्राह्मण है। अपने कथन की पुष्टि के लिए वह अग्नि में कूद गया और बिना जले निकल आया। उक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि न्यायप्रक्रिया में साक्षी का महत्त्व वैदिककाल से ही चला आ रहा है। आधुनिक युग में भी गीता पर हाथ रखकर

शपथ लेने का चलन दिव्यसाक्ष्यों की परम्परा को द्योतित करता है।

वैदिक काल में कभी-कभी नागरिक स्वयं भी अपराधी को दण्ड दे देते थे। कौटुम्बिक परिधि से लेकर राजकीय परिधि तक सर्वत्र कठोर दण्ड का विधान था। ऋज्राश्व की आंखे उसके पिता ने केवल इसलिए फोड दी थी कि वह प्रजा की भेड़ों को मार डालता था। इससे स्पष्ट है कि न्याय के आगे व्यक्तिगत सम्बंधों का कोई महत्त्व नहीं था। दण्ड विधान इतना कठोर था कि कर्त्तव्य से च्युत होने पर राजा भी दण्ड का भागी होता था। वह अपने पद और देश से च्युत कर दिया जाता था और अपने दोषों को स्वीकार करने पर फिर से चुना जाता था।[36] शतपथ(2.5.2.20) के अनुसार कोई पाप स्वीकार किए जाने पर छोटा हो जाता है। आधुनिक युग में भी अपराधी न्यायालय में अपना अपराध स्वीकार करते हुए दिखाई देता है और न्यायाधीश के समक्ष जाकर आत्मसमर्पण कर देता है। वह न्यायाधीश से दण्ड की याचना करता है या धर्मशास्त्रोक्त विधान के अनुसार अपराध का प्रायश्चित कर लेता है। इन सब प्रवृत्तियों का मूल वेदों में वर्णित यही विचारधारा रही है कि जिसके अनुसार सोते जागते हुए कोई दुष्कृत होने पर अग्नि आदि देवों से पापमय संस्कारों से मुक्त कराने की प्रार्थना की जाती है। उक्त कठोर दण्डविधान से भयभीत होकर ही लोग मृषा आचरण से बचने की इच्छा करते थे। वैदिक काल में सभ्य लोग किसी भी पल अपने हृदय में कालुष्य नहीं आने देना चाहते थे। लोग कामना करते थे कि देवगण हमें पवित्र बनाएं और पापी न रहने दें।[37]

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों में उल्लिखित सभा, समिति आदि संस्थाओं, भूमिहरण, प्रजापीडन, द्यूतक्रीड़ा और ऋणादान आदि के प्रसंगों में दण्डविधान और घोर अपराधियों के लिए मृत्युदण्ड का निर्धारण आदि के वर्णन से वैदिक युग में विद्यमान न्यायव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनसे एक सुव्यवस्थित न्यायप्रणाली का संकेत मिलता है।

सन्दर्भ-

1. If the lamp of justice goes out on drakness how great is that darkness. Modern Democracies, Vol. II P-384
2. सत्यन्यायेन सत्यासत्य पृथकक्कृत्य न्यायकारी राजा नित्यं वर्द्धते। यजु0 भा0 26.26
3. धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
   शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः।। मनु0 8.12
4. यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यवि द्यवि।। ऋग्वेद 1.25.1
   नि षसाद धृतव्रतो वरुण पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुकृतु।। वही 1.25.10
   अतो विश्वन्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा।। वही 1.26.11

नि षसाद धृतव्रतो वरुण।। ऋग्वेद 1.25.10
5. राजान्यायप्रकाशस्यान्यायनिवृत्तेश्च हेतुरस्तीतिवेधम्। यजुर्वेद 15.37 पर भाषा
6. द्र0 यजुर्वेद 8.23 पर दयानन्द भाष्य
7. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
8. येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितर: संगतेषु।। अथर्ववेद 7.12.1
9. वही 6.88.3
10. ऋग्वेद 9.92.2.6
11. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। अथर्व. 7.12.2
12. नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाष्या। बहव: सम्भूय यद्येकं वाक्यं वदेयु:। तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम्। अतोनभिलंघ्यवाक्यत्वाद् नरिष्टेति नाम। वही, सायण भाष्य।
13. इसीलिए शुक्लयजुर्वेद (22.22) में युवा पुरुषों को सभा में योग्य होने की मनीषा प्रकट की गई है।
14. नदनशीला दीप्ता धर्मनिरूपणात्। पा0गृ0 3.13 पर जयराम
15. अस्या: सर्वस्या: संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु। अथर्व0 7.12.3
16. किमर्थं मां प्राकृतवदुत्प्रेक्षसि संसदि।
न खल्वहमिदं शून्यै रौमि किं न शृणोषि मे।। महाभारत, आदिपर्व, 68.34
17. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनानुबिद्धम्।। म0भा0 उद्योगपर्व 35.49
18. ये ते के च सभासदस्ते सन्तु सवाचस:। अथर्ववेद 7.12.2
19. इति निरुद्धस्य राज्ञ: पदमाददीत, तद्य: पुरस्ताद् ग्राम्यवादीव स्यात् तस्य सभाया अभिवातं परीत्य विध्वंसयेयु:।। मैत्रायणी संहिता, 2.2.1
20. उत दासस्य वर्चिन: सहस्त्राणि शतावधि:।
अधि पञ्च प्रधींरिव। ऋग्वेद 4.30.15
यो वर्चिन: शतमिन्द्र: सहस्त्रमपावपत् । वही 2.15.6
तथा- अहन्दासा उदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च । वही 6.47.21
21. दासस्य चिद्वृषशिप्रस्य माया जघ्नथु: । वही 7.99.4
22. अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवती शम्बरस्य । ऋग्वेद 4.26.3
उत दासं कौलितरं बृहत: पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम्। वही 4.30.14

23. उत शुष्णस्य धृष्णुया प्रमृक्षो अभि वेदनम्।
पुरो यदस्य संपिणक्। ऋग्वेद 4.30.13
तथा-मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिर: । वही 1.11.7
24. ऋग्वेद 1.133.1
25. परिषदद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य राय: पतय: स्याम। ऋग्वेद 7.4.7
26. दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आप पणिनेव गाव:।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार।। ऋग्वेद 1.32.11
27. वाजसनेयि संहिता 11.79
28. अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद् वेदने वाज्यक्ष:।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ।। ऋग्वेद 10.34.4
29. स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रिय: कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजा:।
शूद्राश्च सन्त: शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनय:।। मनुस्मृति 8.68
30. राजपत्नी सर्वासां स्त्रीणां न्यायसुशिक्षे न सदैव कुर्यात्। नैतासामेते पुरुषे कारयितव्ये। कु पुरुषाणां समीपे स्त्रियो लज्जिता भीताश्च भूत्वा यथावद् वक्तुं न शक्नुवन्त्यत:। यजुर्वेद 10.26 भाष्य
31. अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि ।। ऋग्वेद 7.104.15
32. मा मामेधो दशतयाश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्।
न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधु:। ऋ. 1.158.4-5
33. छान्दोग्योपनिषद् 6.16
34. पञ्चविंश ब्राह्मण 14.6.6
35. द्र0 अथर्ववेद 3.3 तथा 3.4
36. द्र0 अथर्ववेद 6.115

राजा रन्तिदेव गोहन्ता नहीं, अपितु महान् गोदानी थे

वेद प्रकाश गर्ग,
14, खटीकान,
मुजफ्फरनगर, उ0प्र0
251002

राजा रन्तिदेव[1] सुविख्यात भरत-वंशीय राजा थे। महाभारत में प्राप्त सोलह श्रेष्ठ राजाओं की नामावली में इनका भी नाम है[2]। एक श्रेष्ठ दानी राजा के रूप में इनका उल्लेख महाभारत में बार-बार आया है। ये संस्कृति के पुत्र थे, जिस कारण इन्हें 'सांकृत्य' पैतृक नाम प्राप्त हुआ था[3]। वायु पुराण के अनुसार इन्हें 'त्रिवेद' नामान्तर प्राप्त था। इनकी माता का नाम 'सत्कृति' था। भरत से लेकर रन्तिदेव तक का वंश-क्रम इस प्रकार है-

भरत → वितथ → भुवमन्यु → नर → संस्कृति → रन्तिदेव।

इस वंश क्रम से प्रतीत होता है कि हस्तिनापुर का सुविख्यात राजा हस्तिन् इनका पितृव्य (चाचा) था।[4]

राजा रन्तिदेव का राज्य अवन्ति राज्य के उत्तर में था, जिसकी राजधानी चर्मवती नदी के तट पर स्थित 'दशपुर' (रन्तिपुरम्) थी। यही रन्तिदेव की राजधानी थी। महाभारत में इनकी दानशूरता और इनके द्वारा किए गए यज्ञ यागों का विस्तृत वर्णन प्राप्त है। उसके द्रोण पर्व (अध्याय-67) में संजय को समझाते हुए नारद जी द्वारा इनके अतिथि-सत्कार और दान आदि का वर्णन किया गया है तथा श्री कृष्ण द्वारा भी इनके दान अतिथि-सत्कार आदि का वर्णन उसके शान्ति पर्व[5] में हुआ हैं। अतिथियों की भोजन व्यवस्था के लिए अपने राजगृह में इन्होंने पर्याप्त संख्या में पाक-शास्त्रियों की नियुक्ति की थी। अतिथियों की सेवा हेतु ये सदा सतर्कता पूर्वक तत्पर रहते थे। ये अत्यन्त दयालु, विनम्र और धर्मशील राजा थे। इनका नामोल्लेख मांस न खाने वाले राजाओं की शुभ नामावली में हुआ है[6] और ये सायं-प्रातः स्मरण करने योग्य नरेशों में गिने गए हैं[7]। अपने गुरु वसिष्ठ मुनि को विधिवत् अर्घ्यदान करने से इन्हें श्रेष्ठ लोकों (स्वर्ग-आदि) की प्राप्ति हुई[8]।

ऐसे दानशील एवं अतिथियों के आदर-सत्कार में तत्पर रहने वाले राजा के संबंध में गो-वध एवं उसके मांस-भक्षण आदि को लेकर ऐसे अनर्गल उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं कि जिन्हें पढ़ कर महत् आश्चर्य होता है। राहुल सांकृत्यायन ने अपने एक लेख में दशपुर नृपति राजा रन्तिदेव की पाकशाला में प्रतिदिन पकने वाली 22,000 गौओं का उल्लेख किया है[9] अर्थात् उनकी पाकशाला में नित्य प्रति बाईस हजार गायों का मांस पकता था। राहुल सांकृत्यायन जैसे वैचारिक धरातल वाले अन्य कुछ लेखकों ने भी गो-वध एवं उसके मांस आदि के संबंध में ऐसे ही कुछ अनर्गल विचार व्यक्त किए हैं।

राहुल विद्वान् थे, महापंडित कहलाते थे और न ही उनकी विद्वता पर प्रश्न-चिह्न लगाया ज सकता है: संदर्भ एवं प्रसंगानुकूल शब्द-अर्थ की संगति मूलकता से वे अनभिज्ञ थे, ऐसा भी नहीं क जा सकता, किंतु अपनी भ्रष्ट वामपंथी वैचारिक पृष्ठभूमि और मांस-भक्षण के संबंध में अपने दुराग्रही दृष्टिकोण के वशीभूत हो जानबूझ कर उन्होंने ऐसा लिखा है, जबकि उसका कोई औचित्य न है। यदि वास्तव में ऐसा था, तो यह अत्यधिक विस्मय की ही बात है कि ऐसी स्थिति में इस दे का गौधन फिर भी कैसे बचा रह गया? वस्तुतः यह सब उक्त लेखकों की अपनी कुंठाओं औ वास्तविक अर्थ का अपने विचारानुकूल असंगतिमूलक अनर्थकारी अर्थ करने का ही प्रतिफल है, क्योंकि शब्द के साथ उसके अर्थ को और अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्द को समझना ही एक औचि पूर्ण धर्म है और यह सब विषयान्तर्गत संदर्भ एवं प्रसंग के अनुसार करना होता है। इसके विपरीत ऊप दृष्टि से मात्र अभिव्यात्मक स्थिति को लेकर किसी शब्द का पूर्वाग्रही अर्थ करना वास्तविक अर्थ क अनर्थ करना ही है।

ध्यातव्य है कि किसी शब्द का मात्र एक ही अर्थ नहीं होता, अपितु उसके कुछ सामान्य औ कुछ विशिष्ट अर्थ होते हैं, जिनका वास्तविक अर्थ प्रसंग एवं संदर्भानुसार किया जाता है। यही नि राजा रन्तिदेव के संबंध में किए गए उल्लेखों पर भी लागू होता है। महाभारत में गौ व उससे प्रा अन्न (दुग्धादि)[10] का दान करने वाले राजा रन्तिदेव और उसके दान की साक्षी-भूता चर्मण्वती का उल्लेख इस रूप में मिलता है-

रन्तिदेवस्य यज्ञे ताः पशुत्वेनोपकल्पिताः।
अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिताः॥

यह श्लोक महाभारत के अनुशासन पर्व[11] का है और प्रचलित संस्करणों में (जिनमें गीता प्रे गोरखपुर से, प्रकाशित संस्करण भी शामिल है) उक्त श्लोक का जो अर्थ किया गया है, वह अशु है और संदर्भ के विपरीत है। उसका अर्थ किया गया है कि- "राजन्! राजा रन्तिदेव के यज्ञ में ग पशुरूप से दान देने के लिए निश्चित की गयी थी; अतः गौओं के चमड़े से चर्मण्वती नामक नदी प्रवाहित हुई थी।"

क्या उक्त अर्थ सही रूप में मान्य हो सकता है? जब गौओं का यज्ञ में दान देने के लि उपकल्पन किया गया था, तो फिर चमड़ों की बात कहाँ से टपक पड़ी? यदि गौओं के चमड़ों से व चर्मण्वती नदी प्रवाहित हुई थी, तो यह अनुमान स्वाभाविक है कि उक्त चमड़ों के नष्ट हो जाने प नदी का प्रवाह अवरुद्ध हो जाना चाहिए था, किंतु वह तेजस्विनी नदी तो आज भी अपने प्रकृत प्रवा रूप में प्रवाहित है और यमुना से उसका संगम होता है। ऐसी ही विकृत कल्पनाएँ चर्मण्वती के ना को लेकर की गई हैं, जो पूर्णतया भ्रामक हैं।

श्री वी0 एस0 आप्टे ने अपने संस्कृत-हिन्दीकोश[12] में 'गो-चर्मन्' का अर्थ विशेष माप (सतह नापने का) दिया है और वसिष्ठ-स्मृति के एक श्लोक को 'गोचर्म' के संबंध में उद्धृत किया है-

"दशहस्तेन वंशेन् दशवंशान् समंततः,
पंच चाम्यधिकान् दद्यादेतद् गोचर्म चोच्यते।"(इति वशिष्ठोक्ते।)

हाड़ौती भाषा में 'छाम या च्हाम' (चर्म का अपभ्रंश) शब्द भूमि के निश्चित परिणाम के लिए अब भी प्रयुक्त होता है। बृहस्पति का भी एक श्लोक उक्त भूमि-माप के संबंध में मिलता है, यद्यपि उसमें किंचित् अन्तर है, किंतु 'गो-चर्म' के रूप में भूमि की विशेष माप स्पष्ट है-

"सप्त हस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डैर्निवर्त्तनम्।
दश तान्येव गोचर्म ब्राह्मणेभ्यो ददाति यः॥ (इतिबृहस्पत्युक्ते)

उपर्युक्त दोनों श्लोक 'वाचस्पत्यम्' कोश (पृ0 26 95) में 'भूमान् भेदे' के अन्तर्गत दिए गए हैं। बृहस्पति वाला दूसरा श्लोक (सप्त हस्तेन.......) 'शब्दार्थ चिन्तामणि' कोश (पृ0 833) में भी 'परिमाण विशेषे' के रूप में में दिया गया है। वहाँ श्लोक का चतुर्थ चरण 'गोचर्म दत्वा स्वर्गे महीयत्' के रूप में है।

प्रो0 एच0 एच0 विल्सन ने तो अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोश में 'गोचर्म' भूमि की स्पष्ट 'माप' का उल्लेख किया है। उन्होंने 'गोचर्म' की परिभाषा में लिखा है कि 'भूमि का एक खण्ड-300 फीट लम्बा 10 फीट चौड़ा। यह भूमि के उतने भाग के रूप में भी परिभाषित है, जितने से प्राप्त फसल से एक व्यक्ति का एक वर्ष तक पोषण हो सके।[13]'

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'गोचर्म' शब्द भूमि की विशेष माप के लिए प्रयुक्त होता था। महाभारत के अनुशासन पर्व, अध्याय 62, श्लोक 19 में 'गोचर्म भूमि' दान देने का उल्लेख है, जिससे पाप का नाश हो जाता है-

यत् किंचित् पुरुषः पापं कुरुते वृत्तिकर्शितः।
अपि गोचर्म मात्रेण भूमि दानेन पूर्यते॥

अर्थात् जीविका न होने के कारण मनुष्य क्लेश में पड़कर जो कुछ पाप कर डालता है, वह सारा पाप गोचर्म के बराबर भूमि-दान करने से धुल जाता है। 'मिताक्षरा[14]' में भी इसी आश्रय का निम्नोक्त श्लोक दिया हुआ है-

यत् किञ्चित् कुरुते पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।

अपि गोचर्म मात्रेण भूमिदानेन शुद्धयतीत्याचारे॥

उक्त श्लोकों में आए हुए 'गोचर्म[15] मात्रेण' से 'एक गाय के चमड़े जितनी भूमि' का आशय लेना मूर्खता ही होगी, क्योंकि उतनी भूमि का दान तो नगण्य ही है। वास्तव में हुआ यह कि रन्तिदेव ने इस प्रकार की निश्चित परिमाण वाली बहुत सी यज्ञवेदियाँ चर्मण्वती के तट पर बनवाकर अनेक यज्ञ किए थे और सहस्त्रों गौओं का दान किया था। अत: स्पष्ट है कि राजा रन्तिदेव की विशेष परिमाण वाली यज्ञ-वेदियों के निकट से बहकर आने के कारण ही उक्त नदी का नाम 'चर्मण्वती' (वेदियों वाली) हुआ और इसीलिए वह राजा की कीर्ति का ज्ञापन करने वाली कही गई है।

रन्तिदेव की कीर्ति के रूप में चर्मण्वती का उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी अपने मेघदूत के एक श्लोक में किया है-

व्यालम्बेथा: सुरभि तनयालम्भजां मानयिष्य

स्त्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४९॥ पूर्वमेघ।

उक्त श्लोक के अर्थ को लेकर भी बड़ी खींच-तान हुई है। **'सुरभितनयालम्भजां'** का अर्थ किया गया है- 'गौओं के बलिदान से उत्पन्न' और 'स्रोतो मूर्त्या' के अर्थ- (नदी के रूप में) आधार से लिखा गया है कि "कुछ रास्ता पार करके, गौओं के बलिदान से उत्पन्न एवं पृथ्वी पर नदी के रूप में परिणत रन्तिदेव्र की कीर्ति स्वरूप चर्मण्वती के प्रति आदर-भाव दिखाने हेतु नीचे उतर कर ठहरना।" इसमें आए 'सुरभितनयालम्भ' अर्थात् 'गवालम्भ' का अर्थ अशुद्ध किया गया है। 'आलम्भ' या 'आलम्भन' का एक अर्थ- 'स्पर्श करना' (छूना) भी हैं जब गौओं को छू कर दान दिया जाता था। बहुत अधिक संख्यक गायों को स्पर्श कर दान दिया जाना ही 'गवालम्भ' यज्ञ था। महाभारत के शान्तिपर्व के श्लोक-128 में बीस हजार एक सौ गाएँ छूकर (आलम्यन्त) अतिथियों को दान दिए जाने का उल्लेख हुआ है। विवाह के समय पत्नी के और यज्ञोपवीत के समय शिष्य के 'हृदयालम्भन' का विधानोल्लेख है।

यहाँ हृदय का स्पर्श या हृदय की प्राप्ति (संकेत रूप में) ही आलम्भन है। यज्ञ में देवताओं की उपस्थिति उनके प्रतिनिधि पदार्थों से अनुभव की जाती है। अत: उन पदार्थों को ग्रहण करना (प्राप्त करना) या स्पर्श करना ही आलम्भन या आलम्भ है। ऐसे पदार्थों को यज्ञ-समाप्ति पर दान कर दिया जाता है। गो आदि पशुओं को भी दान कर दिया जाता था। इसीलिए यहाँ कहीं भी आ+लभ् का अर्थ 'वध' नहीं है।

इस स्पष्टीकरण के आधार पर मेघदूत के उक्त श्लोक का सीधा अर्थ है- "तब तुम कुछ दूर जाकर उस चर्मण्वती नदी का आदर करने के लिए नीचे उतर जाना, जो दशपुर-नरेश राजा रन्तिदेव

के गवालम्भ-यज्ञ[16](गो-दान-यज्ञ) करने की कीर्ति बन कर धरती पर वही चली जा रही है।" तात्पर्य यह है कि उक्त चर्मण्वती, नदी न होकर राजा रन्तिदेव का कीर्ति रूप प्रवाह है। यह सब आलंकारिक वर्णन ही है।

वस्तुत: बहुसंख्यक गौओं को दान दिया जाना एक प्रकार का 'स्वाराज्य यज्ञ' ही है, जिसमें दस हजार गौओं की दक्षिणा दी जाती थी। 'ताण्ड्य-महा-ब्राह्मण' में इस स्वाराज्य यज्ञ का उल्लेख मिलता है[17]। उसमें दस हजार गौओं की दक्षिणा को 'स्वाराज्य यज्ञ[18]' कहा गया है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में भी इस यज्ञ का उल्लेख है, अर्थात् इस ब्राह्मण के अनुसार वृहत् और रथन्तर लाभ का अनुष्ठान ही स्वाराज्य प्राप्ति का हेतु है। 'संहितोपनिषद् ब्राह्मण' (4) में गो, पृथिवी और सरस्वती को अतिदान कहा गया है। क्रमश: इनके दोहन, वापन और जप से नरक से उद्धार हो जाता है।

ताण्ड्य महाब्राह्मण में स्वराज्य यज्ञ के लिए 'गोसव' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। गो-सव में 'सव' शब्द **षु-प्रसवैश्वर्ययो:**- धातु से अथवा **षुञ्ज- अभिषेके** धातु से व्युत्पन्न हैं। धात्वर्थ से गोसव का अर्थ गौओं का प्रसव, गौओं के ऐश्वर्य से युक्त होना, गौओं का दोहन करना और गौओं को प्रतीक बनाकर विशेष प्रकार की साधना द्वारा प्रज्ञाशक्ति को दुह लेना है। पृथिवी को धान्यादि के प्रसव के लिए उर्वर बना देना भी गोसव ही है। गो को विशेष श्लाघा का विषय बनाने के कारण गोसव को 'गोष्टोम' भी कहते हैं।

प्रजापति से सर्जन शक्ति का उद्भव होना, सूर्य से गोरूप किरणों का प्रादुर्भाव होना, शरीर में प्रज्ञान से इच्छा, ज्ञान, क्रिया का उद्भव आदि गोसव के ही विविध रूप हैं। उक्त प्राकृतिक व आध्यात्मिक गोसवों के प्रतीक के रूप में 'गोमेध' (यज्ञ) किया जाता हैं। इसमें 'मेध' शब्द का अर्थ 'यज्ञ' है। 'गोमेध[19]' अर्थात् 'गोयज्ञ', जिसमें बहुतायत संख्या में गौओं को दान में दिया जाता था। जिस तरह 'गवामयन' में काल ब्रह्म की उपासना होती है, उसी तरह गोमेध में दिक्-तत्व या प्रतिष्ठा-तत्व को उपासना का केन्द्र बनाया जाता है। वास्तव में सूर्य का रश्मियो द्वारा अन्य पिण्डों से मिलने का यह कार्य ही गोमेध अर्थात् गौओं द्वारा संगमन (मेधृ-संगमने धातु से व्युत्पन्न)है। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सूर्य रूपी गो के गोमेध से ही उसकी रश्मियाँ चारों ओर फैलकर सब पदार्थों की रचना कर रही हैं, क्योंकि सूर्य ही ब्रह्माण्ड की शक्ति का केन्द्र है, जिससे निरन्तर शक्ति का वितरण होता रहता है। वही प्रत्येक वस्तु में अपनी रश्मियों से शक्ति भरता है और वही शक्ति उस वस्तु की रश्मियों में परिणत होती है। पिण्डाण्ड में विज्ञानमय कोश ही सूर्य है। विशेष साधना द्वारा उसकी प्रज्ञाशक्ति को जाग्रत करना, जिससे वह इच्छा, ज्ञान और क्रिया को संयत करके चैतन्य तत्व का बोध करा सके - यही गोमेध का स्वरूप हैं। इस प्रकार वास्तव में गोसव सर्जन शक्ति के उद्भव और गोमेध उस शक्ति से तादात्म्य स्थापित करने से संबंध रखता है। (दे0 वेद विद्या, 112)।

इस संबंध में महाभारत-शान्ति पर्व के दो तीन श्लोक और विचारणीय हैं। श्लोक-122 में आया है कि 'कठोर व्रत का पालन करने वाले, यशस्वी महात्मा राजा रन्तिदेव के पास गाँवों और जंगलों के पशु अपने-आप यज्ञ के लिए उपस्थित हो जाते थे'। इसका आशय है कि उक्त पशु यज्ञ-कार्य में सहयोग करने (जैसे- भार आदि ढ़ोने या दान में दिए जाने के लिए) हेतु आते थे, न कि वध के लिए, क्योंकि अपना सिर कटाने अपने-आप कोई नहीं आता। गौओं के अलावा अन्य पशुओं का भी दान किया जाता था, जैसा कि इसी अध्याय के श्लोक- 108 व 115 में उल्लेख मिलता है। वास्तव में यह सब कथन व्यञ्जनापरक होने से उक्त अर्थ ही ध्वनित होता है।

इसी पर्व के श्लोक 123 में कहा गया है- 'वहाँ भीगी चर्म-राशि से जो जल बहता था, उससे एक विशाल नदी प्रकट हो गई, जो चर्मण्वती (चम्बल) के नाम से विख्यात हुई।' उक्त श्लोक का यह अर्थ भ्रमात्मक है। वास्तविक अर्थ इस रूप में हैं- 'वहाँ भीगी यज्ञ वेदियों से जो जल बहता था, उससे एक विशाल नदी प्रकट हो गई अर्थात् यज्ञ में अत्यधिक छोड़े हुये संकल्पों के जल प्रवाह से ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उनके (यज्ञ वेदियों के) निकट बहने वाली इस नदी का उद्भव ही उक्त जल-राशि से हुआ है। वस्तुतः यह सब अतिशयोक्तिमय आलंकारिक एवं लाक्षणिक कथन मात्र है, वास्तविकता नहीं, क्योंकि चर्मण्वती (चम्बल) नदी का उद्गम स्थल तो दशपुर[20] नगरी से लगभग 500मील की दूरी पर विन्ध्य श्रेणी की 'जनपाव' या 'जनपव' नामक पहाड़ी है (पूर्व इंदौर राज्यान्तर्गत)। वहाँ से निकलकर और साढ़े छह सौ मील बहती हुई यह नदी अन्त में इटावा से 25 मील दक्षिण-पश्चिम में यमुना में आकर मिल जाती है। मध्यभारत में 'चम्बला' और 'सिपरा' इसकी प्रकार सहायक नदियां हैं। 'चम्बल' शब्द का अर्थ है- 'पानी की बाढ़', जिसकी भंयकरता का प्रमाण इस नदी के दीप्त पौरुष से निर्मित ऊबड़-खाबड़ बीहड़ दूहों के रूप में आज भी दिखलाई देता है। पता नहीं किस अभिप्राय से चर्मण्वती नदी के प्रादुर्भाव के विषय में ऐसी उक्त अनर्गल कथाएँ गढ़ ली गई हैं।

इसी पर्व के श्लोक 128 का अर्थ भी सामिष भोजन के रूप में किया गया है, जो सही नहीं हैं। वास्तविक अर्थ इस प्रकार है- "वहाँ (रन्तिदेव के यहाँ) विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किए हुए रसोइए पुकार-पुकार कर कहते थे कि "आप लोग खूब दाल-भात खाइए। आज का भोजन पहले जैसा नहीं है, अर्थात् पहले की अपेक्षा बहुत अच्छा बना है।"

महाभारत में ही देवता **'स्वाहाधामृत भुजः'** कहे गए है[21], और अमांस भक्षण विधि ऋषि पूजित कही गई है[22]। अतः रन्तिदेव के साथ गोवध की बात जोड़ देना अनुचित ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गोमांस विषयक कथा से संबंधित उल्लेख मांस खाने वालों के द्वारा पीछे से जोड़े गए हैं।'

महाभारत में गो के विषय में अत्यन्त उदात्त विचार मिलते हैं। उसमें एक कथा प्रसंग के

अन्तर्गत च्यवन ऋषि का मूल्य गोरूप में अंकित किया गया है, क्योंकि विप्र व गो दोनों ही एक कुल के होने से अनर्घ्य हैं[23]। आगे च्यवन ऋषि ने गो की महिमा पर प्रकाश डालते हुए उसे लक्ष्मी का मूल, पाप रहित, अन्न स्वरूपा, देवताओं की उत्कृष्ट छवि, स्वाहाकार-वषट्कार-संयुक्त, यज्ञ की नेत्री, यज्ञ की मुख स्वरूपा, अमृत (दुग्ध) बरसाने वाली, अमृतायतन, अग्निवत् तेजस्विनी, सुखप्रदा, स्वर्ग की सोपान, दिव्यभाव सम्पन्न, काम दुहा आदि विशेषणों से युक्त कहा है[24]। गो के समान कोई धन नहीं है[25]। उसके नाम के कीर्तन व श्रवण से या उसके दान तथा दर्शन से सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं[26]। गोदान एक प्रकार से प्राण दान ही है, क्योंकि गो को प्राणियों का प्राण कहा जाता है[27]। गो को वध के लिए अथवा कृपण, नास्तिक, गो जीवों आदि को (जहाँ उसे पीड़ा होती है) प्रदान करने पर अक्षय नरक की प्राप्ति होती है[28]। गो की महिमा को व्यक्त करने वाले अनेक श्लोक महाभारत में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, जिनमें से कुछ श्लोक दृष्टव्य हैं-

१. मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः[29]; २. गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययनं महत्[30]; ३. गावो यज्ञस्य हि फलं गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः[31]; ४. देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति नै[32]; ५.गावस्तेजो महद्दिव्यं गवां दान प्रशस्यते[33]; ६. न हि पुण्यतमंकिंच्चिद् गोम्यो भरत सत्तम[34]; ७. लोकानां मातरश्चैव गावः सृष्टाः स्वयम्भुवा[35]; ८. यज्ञांगं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव[36]; ९. यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावर जंगमम्। तां धेनुं शिरसा वन्दे भूत भव्यस्य मातरम्[37]॥ अर्थात् जिसने समस्त चराचर जगत् को व्याप्त कर रखा है, उस भूत औद भविष्य की जननी गौ को मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। १०. अघ्न्या इति गवां नामक एता हन्तुमर्हति। महच्चकारा कुशलं वृषं गावाऽऽलभेत् तु मः[38]॥ अर्थात्- श्रुति में गौओं को अवध्य कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारने का विचार करेगा। जो पुरुष गाय और बैलों को मारता है, वह महान् पाप करता है।

महाभारत के उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि गौओं का यज्ञ में दान करने के लिए उपयोग होता था, न कि वध के लिए। महाभारत ही क्या वेदों, ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, रामायण, आयुर्वेदिक ग्रंथों, जैन-बौद्ध साहित्य, महाकाव्यों, स्मृतिग्रंथों और कौटिल्य के अर्थ शास्त्र- आदि सभी में गो-महिमा का उल्लेख मिलता है। अतः उनमें गो के मातृत्व, दिव्य स्वरूप, पवित्रता, पूजनीयता एवं यज्ञ निर्वाहिका आदि के विषय में प्रभूत सामग्री विद्यमान है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वास्तव में दशपुर नरेश रन्तिदेव की कथा गो व उसके दान की महिमा को ही ध्वनित करती है, अन्य किसी अभिप्राय को नहीं। राजा रन्तिदेव तो पुण्य कर्माओं में अग्रणी थे।

सन्दर्भ-सूची

1. रमते इति रम-संज्ञायां 'तिक् रन्तिश्चासौ देवश्चेति'।(रम्+तिक्=रन्तिश्चासौ देवश्च)

2. दे0 म0 भा0 शान्ति पर्व, अध्याय-29।
3. दे0 म0 भा0, अनु0 137(6), मत्स्य, भागावत एवं विष्णु पु0 में भी इन्हें 'संकृति' का ही पुत्र लिखा है।
4. दे0 म0 भा0 आदि पर्व 1।226।
5. दे0 म0 भा0, शान्ति पर्व, अध्याय 29। 120-129।
6. म0 भा0, अनु0 115।63।
7. म0 भा0, अनु0 150।51।
8. म0 भा0 शान्ति पर्व 137।6।
9. दे0 साहित्य निबंधावलि, पृ0 86।
10. 'गो' दो प्रकार के अन्न प्रदान करती है- प्रथमत: दुग्धादि के रूप में तथा द्वितीयत: कृषि कर्म में सहायक बन कर। दोनों प्रकार से वह राष्ट्र का पोषण करती है। दुग्धादि पदार्थ 'वशान्न' और कृषिजन्य धान्य 'उक्षान्न' कहे जाते हैं।
11. अध्याय 66 श्लोक 42-43
12. दे0 पृ0 353 (प्र0 मोती लाल, बनारसीदास, दिल्ली)।
13. दे0 संस्कृत अंग्रेजी कोश पृ0 298 (सन् 1832 का संस्करण) साथ ही 'शब्द सागर' (संस्कृत-अंग्रेजी कोश), पृ0 240 भी देखें।
14. 'शब्दार्थ चिन्तामणि', पृ0 833 पर उद्धृत।
15. 'ऋग्वेद'(9।65।25;9।66।29) में भी 'गोचर्म' का सोम पात्र रखने या सोम पीसने के संबंध में उल्लेख मिलता है। ऐसे प्रसंगों पर कुछ विद्वानों ने 'बैल का चर्म' अर्थ किया है, किंतु यह अर्थ अनुचित और भ्रामक है। यहाँ भी 'गोचर्म' का तात्पर्य निश्चित् परिणाम वाली वेदी से ही है। जैसा लिखा जा चुका है कि हाड़ौती में विशेष-क्षेत्रफल की भूमि (अर्थात् विशिष्ट परिमाप की यज्ञ वेदी) के लिए 'छाम'(च्हाम) शब्द अब भी प्रचलित है। अत: एक धाम (गोचर्म) के विस्तृत क्षेत्र में बनी हुई यज्ञ वेदी पर सोम सवन करने के लिए पत्थर व सोम के पात्र रखे जाते थे।
16. डा0 सुधीर कुमार गुप्त के अनुसार रन्ति देव की स्वाराज्य रक्षा ही 'सुरभि-तनयालम्भ'(गोदान यज्ञ) यज्ञ है और चर्मण्वती का उद्भव उस यज्ञ में छोड़े हुए संकल्प जलों से (प्रतीकार्थ) हुआ है, ऐसा मान लेने पर वर्णन में विशेष शक्ति व स्वाभाविकता आ जाती है। (दे0 मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उसका सांस्कृतिक संदेश, पृ0 13-14)।
17. उक्त ब्राह्मण में परमेष्ठी मण्डल के अन्तर्गत प्रवर्तमान स्वाराज्य-यज्ञ का वर्णन मिलता है (दे0 19।13।1,3) यह यज्ञ परमेष्ठी मण्डल में चलने वाली सर्जन प्रक्रिया का प्रतिरूप है और परमेष्ठी प्रजापति स्वाराज्य है।

(स्वराज+ष्यञ्=स्वर्ग का राज्य, इन्द्र का स्वर्ग), (स्वाराज-स्व+राग्+क्विप, इन्द्र का विशेषण)।'अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः' (तां 19।13।1)। तथा- गवां कृतो यज्ञः। गोसव यज्ञे तच्छब्दे विकृतिः। गा उद्दिश्य यज्ञः। श्री कृष्णेन गोपानां हितार्थं वृन्दावने प्रवर्तिते गोवर्द्धन गिरि यज्ञ सहिते गवां महोत्सव कारिके - वाचस्पत्यम्, पृ0 2716।

18. (स्वराज+ष्यञ्=स्वर्ग का राज्य...) — see above

19. दे0 और तुलना कीजिए-महा0 अनु0, अध्याय 109, श्लोक 9 के शब्द- 'गवां में धम वाप्नोति ....।' तथा श्लोक 14 के शब्द- 'गवां यज्ञमवाप्नोति ......।' इससे स्पष्ट है कि 'मेध' का अर्थ 'यज्ञ' है।

20. दशपुर नगरी को 'मंदसौर' से समीकृत किया जाता है। दे0 पी0 के0 भट्टाचार्य- हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ मध्य प्रदेश, पृ0 205।

21. अनु0 पर्व 115।25।

22. म0 अनु0 पर्व, 115।72।

23. म0 अनु0 पर्व 50।2 से 51-25 तक।

24. वही 51।28-33।

25. वही, 51।26।

26. वही, 51।27।

27. वही, 66।49।

28. वही, 66।51-52।

29. म0 अनु0 पर्व0 69।7।

30. वही, 78।5।

31. वही, 78।8।

32. वही, 81।4।

33. वही, 81।17।

34. वही, 81।3।

35. वही, 125।62।

36. वही, 83।17।

37. वही, 80।15।

38. महा0 शान्ति पर्व, 262।47।

संस्कृत वाङ्मय में नारी

डॉ० सरिता भटनागर
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
हिन्दू महाविद्यालय, मुरादाबाद

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास को वैदिक और लौकिक संस्कृत के आधार पर दो भागों में बाँट सकते हैं। वैदिक संस्कृत से तात्पर्य वेदों में प्रयुक्त भाषा से है तथा लौकिक संस्कृत से अभिप्राय उस भाषा से है जो वेदों के बाद रचे गये ग्रन्थों में पायी जाती है तथा पाणिनि व्याकरण का अनुकरण करती है।

नारी-शक्ति वैदिक काल से लेकर आज तक भारतीय वाङ्मय में सर्वत्र व्याप्त है। मानव-जीवन का आरम्भ ही नारी की गोद से होता है। वह अपने कर्त्तव्य की गुरुता के भार को सहर्ष वहन करती हुई मानव को संसारचक्र चलाने के लिये सक्षम बनाती है। वह विधाता की सृष्टि का अनुपम रहस्य है। इसमें मानवीय गुणों एवं भावों जैसे कठोरता सरलता तथा प्रचण्डता-सुकुमारता आदि का अनुपम सामञ्जस्य है।

वैदिक साहित्य में नारी को शक्ति के रूप में माना गया है। शक्ति की प्रतीक वैदिक नारियाँ अदिति, उषा, इन्द्राणी, इला, भारती आदि हैं। वैदिक काल में नारी विदुषी रूप में भी दृष्टिगोचर होती है। महर्षि अभृण की पुत्री वाक् बृत्रह्मविद्या में निष्णात थी। वैदिक नारी का स्वरूप पूर्ण नैतिक था। स्त्री जाति का बहुत सम्मान था। उनका चरित्र ऊँचे स्तर का था। उन्हें पुरुष के समान समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान गृहस्वामिनी के बिना सम्पादित नहीं होते थे। वह माता के उच्च स्थान को भी सुशोभित करती थी। वह पति की अर्धाङ्गिनी, सहचरी, मित्र शुभचिन्तक आदि भी हुआ करती थी। परिवार के साथ-साथ सामाजिक उत्सवों, समारोहों एवं कृत्यों आदि के अवसर पर उन्हें उचित सम्मान प्राप्त होता था।

वैदिक काल के अन्त में नारी का चित्रण दो विरोधी रूपों में दिखाई देता है। जहाँ उसे '**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**' कहकर सम्मानित किया गया है, वहाँ दूसरी ओर उसे वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया गया है।

धीरे-धीरे स्मृति काल तक आते-आते स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा में ह्रास होने लगा। उन पर सामाजिक अंकुश बढ़ने लगा। उनके अधिकार पुरुषों की अपेक्षा कम होने लगे। वेदाध्ययन एवं सामाजिक अनुष्ठानों में उनको नियन्त्रित किया जाने लगा। पिता, पति या पुत्र के रूप में पुरुष पर उसकी रक्षा का भार आ गया। मनुस्मृति में कहा भी गया है।

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।

रक्षन्ति, स्थविरे पुत्रा न नारी स्वातन्त्र्यमर्हति।।

इतना होने पर भी समाज में स्त्रियों को सम्मान प्राप्त था। पुराणों के समय में भी नारी के दो रूप देखने को मिलते हैं। मार्कण्डेय पुराण में एक ओर तो नारी को देवी का रूप बताया है। तथा दूसरी ओर भोग की वस्तु बताकर मात्र एक खिलौना बताया है।

रामायण काल में पुत्र का माता के प्रति पिता के समान ही स्नेह, सद्भाव एवं श्रद्धा रहती थी अयोध्याकाण्ड में एक स्थान पर राम अपने अनुज भरत से कहते हैं कि मनुष्य की पिता में जितनी गौरव बुद्धि होती है उतनी ही माता में भी होनी चाहिये। इस काल में नारी को प्रत्येक रूप में सम्मान प्राप्त था। सौतेली माता कैकई का राम ने निरन्तर सम्मान किया। वाल्मीकि ने स्थान-स्थान पर पति की सेवा-सुश्रूषा का उपदेश दिया है। तत्कालीन समाज में नारी में दया, ममता आदि ऐसे गुण होते थे जिनके सामने पुरुष को नतमस्तक होना पड़ता था। अरण्यकाण्ड में सीता राम से निरपराध प्राणियों को न मारने और अंहिसा धर्म का पालन करने के लिये अनुरोध करती हुई कहती है-

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।

इसके अनन्तर महाभारत काल में नारी का पूज्य एवं प्रशंसनीय रूप देखने को मिलता है। स्त्रियों को घर की लक्ष्मी कहा गया है **स्त्रियाः श्रियो गृहस्योक्ताः**। महाभारत में गृहिणी को ही घर कहा गया है यथा-

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहंतु गृहिणी हीनमरण्य सदृशमतम्।।

अर्थात घर को घर नहीं कहा जाता अपितु गृहिणी को घर कहा जाता है। गृहिणी से घर जंगल के सामन माना गया हैं। महाभारत के शन्ति पर्व में **नास्ति मातृसमो गुरुः** कहकर माता को सबसे बड़ा गुरु माना है।

संस्कृत के लौकिक वाङ्मय में उपाजीव्य काव्य रामायण और महाभारत के अतिरिक्त महाकाव्य गीतिकाव्य, मद्यकाव्य, चम्पूकाव्य और नाटकों में नारी का विशद वर्णन किया गया है। कालिदास अश्वघोष, भारवि, बाण, भवभूति, श्रीहर्ष आदि कवियों ने नारी-सौन्दर्य पर प्रकाश डाला है और यह प्रयास किया है कि काम है कि काम की विशुद्ध प्रेम में परिणति का मंजुल समन्वय हो सके।

कालिदास के वर्णनों में वाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ आन्तरिक सौन्दर्य का भी परिचय मिलता है। प्रत्येक सुन्दर वस्तु आकर्षक होती है, किन्तु प्रत्येक आकर्षक वस्तु, अपने शाश्वत अर्थ में सुन्दर

नहीं हो सकती। यदि सच्चा सौन्दर्य है तो उसका आकर्षक भी मनोविज्ञान को परिष्कृत करने वा… और सात्विक होगा। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला अपने पैरों में छोटे कुश के अं… चुभने का बहाना करके वल्कल वस्त्र को छुड़ाने का प्रयास करके कहती है –

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तववदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।। २/१२

यहाँ शकुन्तला का मनोविज्ञान व्यंजक चित्र खींचा गया है। संस्कृत वाङ्मय में अधिकतर हमारे कवियों को नारी चित्रण की सात्विक महिमा अभिप्रेत थी, लेकिन उन्होंने मूर्त सौन्दर्य का आकर्षण इसलिए चित्रित किया है कि कवि का सीधा काम दार्शनिक चिन्तन नहीं होता अपितु वह ऊँचे से ऊँचा लक्ष्य भी व्यावहारिक जीवन के धरातल पर ही प्राप्त करता है।

कुमारसम्भव में कालिदास ने पार्वती को जो केवल वाह्य आकर्षण से ही शिव को जीतना चाहती थी, अच्छा खासा सबक दिया है कि शिव को तपस्या के बल पर ही जीता जा सकता है। यद्यपि कालिदास श्रृंगार रस के कवि हैं तथापि उनकी नायिकायें अश्लीलता से दूर हैं। श्रृंगार चित्रण में भारतीय आदर्श, शिष्टता, मर्यादा तथा संस्कृति का सदैव ध्यान रखा गया है।

माघ और भारवि के काव्यों में कहीं-कहीं विलासमय वर्णन हैं। माघ के काव्य में पुरांगनाओं का वर्णन तथा भारवि के काव्य में अप्सराओं का वर्णन इसके उदाहरण हैं। वैदिक साहित्य में जहाँ नारी धार्मिकता, आशावादिता और आध्यात्मिकता का प्रतीक है वहाँ लौकिक साहित्य भी इसका विकसित रूप है। लौकिक साहित्य भी आत्मा की रस या आनन्द है और इसमें भी नारी में तप, त्याग, दया, उदारता, वीरता ओजस्विता, सहिष्णुता, सत्यवादिता, दानशीलता तथा धार्मिकता आदि गुण हैं।

इस प्रकार संस्कृत के वैदिक और लौकिक वाङ्मय में नारी-चित्रण प्रत्येक रूप में हुआ है। भारतीय नारी अपनी विकास यात्रा के सभी रूपों में वन्दनीय है।

संदर्भ :- 1. मनुस्मृति - तृ0अ0, 2. वाल्मीकि रामायण –
3. महाभारत - उ0र्प0 4. महाभारत – शा0 पर्व
5. मनुस्मृति - नवम् अ

3.09.03

कवच के समान रक्षक देवता

मनोहर विद्यालंकार

देवोपम मनुष्य की अग्निदेव सर्वथा रक्षा करता है।

(१) त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः॥ ऋक् १.३१.१५

ऋषिः हिरण्यस्तूप आगिरसः। देवता-अग्निः। छन्दः- जगती।

हे (अग्ने) अग्रनेता परमात्मन्। (त्वं प्रयत दक्षिणं नरम्) आप पवित्र कमाई से उत्साहपूर्वक दान-दाता मनुष्य की (स्यूतं वर्म इव) अच्छे सिले हुए कवच की तरह (विश्वतः परिपासि) सब प्रकार की विपत्तियों से रक्षा करते हो। (यः स्वादुक्षद्मा) जो प्रत्येक भक्ष्य पदार्थ को स्वाद लेकर खाता है, और (बसत्तौ स्योन कृत) बस्ती में सुख पहुँचाता हुआ (जीवनयाजंयजते) पशु पक्षी आदि जीवों को भी भोजन देकर यज्ञ करता है (स उपमा दिवः) उस मनुष्य की स्वर्ग के देवताओं से उपमा दी जाती है।

निष्कर्ष- (1) पवित्र कमाई को दान करने वाले मनुष्य की = सब को आगे ले जाने वाले अग्नि देव, मजबूत कवच की तरह सब ओर से रक्षा करते हैं। इसीलिए कमाई सुपथ से करके, उसमें से अभावग्रस्तों के लिए दान आवश्य करना चाहिए।

(2) स्वादिष्ट मानकर प्रत्येक भक्ष्य को खाने वाले, और पड़ौसियों को सुख पहुँचाने वाले तथा जीवमात्र के लिए दान करने वाले देवोपम होते हैं।

स्वादुक्षद्मा- स्वादु+क्षद्मा-क्षद्म अन्ननाम/निरुक्तः २-७

इन्द्र के रक्षक बनते ही, दुष्ट-विरोध की हिम्मत जाग जाती है।

(१) त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन्। त्वया प्रतिब्रुवे युजा॥ ऋक् ७-३१-६.

ऋषिः- मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। देवता इन्द्रः। छन्दः- गायत्री।

हे (वृत्रहन्) दुष्ट संहारक परमेश्वर! आप (त्वं सप्रथः वर्म पुरोयोधः च असि) प्रसिद्ध तथा विस्तृत कवच के समान आगे बढ़कर युद्ध करने वाले हैं। (त्वया युजा प्रति ब्रुवे) आपको सहायक बनाकर मैं भी दुष्टों का प्रत्याख्यान (विरोध) करने में समर्थ हो जाता हूँ।

निष्कर्ष- **परमेश्वर-** दुष्टों को संहारने के लिए कवचधारी के समान आगे बढ़ कर युद्ध करते हैं। और हमारे लिए मजबूत कवच बन जाते हैं। अतः एव हम उनकी सहायता से दुष्टों का प्रत्याख्यान (मुकाबला) करने में समर्थ हो जाते हैं। अतः परमेश्वर की स्तुति करके उसे सदा अपना सहायक बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

अर्थ पोषण- स्तुतिः- आशापालनम्(धारणम्) स्वा0 दया0

सः स्तुतो धारितः प्रार्थितः सन्नस्मान् सर्वेभ्यो दुष्टगुणकर्मस्वभावेभ्यः पृथक् कृत्य सर्वेषु शुभेषु गुणकर्मस्वभावेषु प्रवर्तयेदिति। भावार्थ यजुः ३-३५

रुद्र देवता का सतत स्मरण विपदा के लिए कवच बन जाता है।

(२) दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।

हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत् ॥ ऋक् १-११४-५.

ऋषि:- कुत्स आंगिरस: देवता- रुद्र। **छन्द:-** त्रिष्टुप्।

(दिव: वराहम्) ज्ञान के द्वारा उत्तम पदार्थों को प्राप्त कराने वाले (कपर्दिनम्) इन्द्रिय सुखों को कुत्सित बनाने वाले (अरुषम्) कभी क्रोध न करने वाले (त्वेषं रूपम्) तेजस्वी स्वरूप वाले, (हस्ते वार्याणि भेषजा विभ्रत्) हाथ में वरणीय तथा रोगनिवारक ओपधियों को धारण करने वाले (रुद्रं नमसा निह्वयामहे) ज्ञान के द्वारा सभी रोगों को भगाने वाले महादेव को अपने अन्दर हृदय में विनयावनत होकर पुकारते हैं। वे महादेव (अस्मभ्यम्) हम सब के लिए (शर्म) आरोग्य जनित सुख (शर्म) वासनाओं से रक्षा करने वाला कवच तथा (छर्दि:) क्लेशों तथा रोगों से रक्षा करने वाला शरीरगृह (यंसत्) प्रदान करें- प्रदान करता है।

अर्थ पोषण- वराहम्- वरमाहन्ति 'हन् गतौ' श्रेष्ठ पदार्थों भावों को प्राप्त कराने वाले अरुषम्- अरष+रुष् रोषे=क्रोधे। कपर्दिनम्- करसुख:+पर्दकुत्सिते शब्दे- इन्द्रिय सुखों की निन्दा करने वाले। नि- , नि= सप्तलोक= सहस्रारचक्र, वार्याणि- वृञ् वरणे- वरणीय तथा नि-वारक। कुत्स: - वज्र:। नि 2-20 रुद्रम्- रुता- शब्दज्ञानेन, रुत्-रोगं द्रावयति-(द्रा कुत्सायां गतौ) तम् छर्दि:- छद् अपवारणे, छदि संवरणे- रोगों को दूर करके स्वास्थ्य का संवरण (रक्षण) करना।

निष्कर्ष- महादेव रुद्र ज्ञान के भण्डार अत्यन्त तेजस्वी, सर्व दु:ख विनाशक हैं। उनकी हृदय में उपासना की जाए, और प्राण साधना द्वारा नि(सहस्रारचक्र) में सधस्थ हुआ जा सके, तो वे सब रोगों से सुरक्षित शरीर और सब चिन्ताओं से मुक्त रहने रक्षा करने वाला मन रूप कवच प्रदान करते हैं। ये दोनों सिद्ध हो जाएं तो सुख ही सुख है।

निष्कर्ष- (1) अन्तरतम हृदय से स्मरण किये जाने पर महादेव, अज्ञान को दूर कर के शान्ति प्रदान करते हैं, और प्राकृत तथा वरणीय ओषधियों की प्रेरणा देकर शारीरिक रोगों से रक्षा करके कवच का काम देते हैं।

(2) रुद्र तो हमारी रक्षा करके शान्ति प्रदान करने के लिए सदा तत्पर हैं, हमें भी अपने अंग प्रत्यंग को रसमय (शक्तिशाली) बनाकर वज्र के समान दृढ़ बनाना होगा। और इसके उपाय का संकेत करना है, छन्द नाम 'त्रिष्टुप्' का शब्दार्थ- काम, क्रोध, लोभ, के त्रिक वश में करके मन-वाणी-कर्म के त्रिक में समन्वय करके उनमें उत्कर्ष उत्पन्न करना। ष्टुप्-स्तुप्- समुच्छ्राये स्तुभु-स्तम्भे।

पावन सोम (ओम्) को कवच बनाकर दु:खों को दूर रक्खो।

(३) य उस्रिया अपि या अन्तरश्मनो निर्गा अकृन्तदोजसा।

अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज॥ ऋक् ९-१०८-६

ऋषिः- उरुरांगिरसः। **देवता**- पवमानः सोमः। **छन्दः**- काकुभो प्रगाथः(सतो वृहती)

हे (उरुआंगिरसः) अत्यन्त शक्ति सम्पन्न बनने के इच्छुक साधक! तू व्यर्थ ही (गव्यं अश्व्यं व्रजं तत्निषे) इन्द्रियों और मन के बाड़ों का विस्तार करके क्यों दुःखी हो रहा है? यह अच्छी तरह समझ ले कि-

(यः अश्मनि अन्तः) जो साधक अपने शरीर के अन्दर की अन्तर इन्द्रिय=मन में विद्यमान (गाः निरकृन्तत्) वेदवाणियों को तर्क ऋषिकी सहायता से अध्ययन करते हुए- उनके रहस्यार्थों को प्रकट कर लेता है, (अपि ओजसा उस्रियाः) साथ ही वीर्य रक्षण से उत्पन्न ओज से प्राप्त ज्ञान रश्मियों से [गव्यं यव्यं व्रजं अकृन्तत्] इन्द्रियों और मन के बाड़े को भी छिन्न भिन्न कर देता है। इसलिए तू भी ओज= ओं जप (स्मरण) को अपना वर्म (कवच) बनाकर कवचधारी सैनिक की तरह इन शत्रुओं (विषयों) का घर्षण करने वाला (घृष्णो) धृष्णु बनकर इन्द्रियों और मन के बाड़ों को (आरुज) तोड़ फोड़ डाल और इनके बन्धन से मुक्त होजा।

अर्थ पोषण- अश्मनि-शरीरे- अश्माभवतु ते तनूः। अथर्व

अपि-समुच्चयार्थेऽणि उस्रियाः- उस्राः रश्मिनामानि 1-5, **अन्तः**- अन्दर की इन्द्रिय मन। में

'यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।

यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ यजुः ३४-५

गाः- गौः वाणी नाम। नि 1-11 गावः इन्द्रियाणि।'

अश्वः मनः- दुष्टाश्वमुक्तमिव वाहं (शरीरं) एतं मनो धारयेदप्रमत्तः। श्वेसा0 2-9 श्वेताश्वतरोपनिषद् के नाम में अश्व का अर्थ भी मन है।

तत्निषु- तनु विस्तारे, तन्तस् दुःखे। अरुज- रुजो भङ्गे।

ओजसा- रसरक्तवीर्य के बाद ओज प्रायः ऊर्ध्वरेता अथवा ईश्वर को अनुभव करने वालों में झलकता है। ओं+जप का ओज बन सकता वैदिक प्रयोग के अनुसार याचामि का यामि, तथा

निष्कर्ष-

(1) साधक को कभी दुःखी या निराश न होकर 'ओम्' ईश्वर को अपना वर्म (कवच) बनाकर वर्मी (कवचधारी) सैनिक की तरह आत्मविश्वास से पूर्ण और निर्भय होकर काम क्रोधादि शत्रुओं का विनाश करके- सुख दुःख के द्वन्द्व से मुक्त हो जाना चाहिये।

सामवेद के 585 मन्त्र में- इसी मन्त्र के अन्त में **'ओ३म् वर्मीवधृमणवारूजा'** जुड़ा हुआ है। अतः यहां सोम और ओज दोनों से 'ओम्' का ग्रहण किया है।

(५) प्राकृतिक देवता कवच बन कर प्रतिकूल स्थिति को आने ही न देतें (देते)

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्महिर्वर्मसूर्यः।

वर्म मे विश्वेदेवाः क्रन् मा प्रापत्प्रतीचिका।।

अथर्व ऋषिः- अथर्व। **देवता**- मन्त्रोक्तः। **छन्दः**- त्रिष्टुप्। 19-20-4

दृढ़ निश्चयी तथा आत्मविश्वासी मनुष्य, इस मंत्र का ऋषि द्रष्टा बनकर कह रहा है- (द्यावा पृथिवी मे वर्म) द्युलोक और पृथिवीलोक मेरे लिए कवच-रक्षा साधन हैं। (अहः वर्म, सूर्यः वर्म) दिन और सूर्य मेरे कवच हैं (विश्वेदेवाः मे वर्मक्रन्) सभी दिव्य शक्तियों ने मेरे लिए रक्षा साधन उपस्थित किए हुए हैं। ताकि (मा प्रतीचिका मा प्रापत्) प्रतिकूल परिस्थिति मुझे कभी प्राप्त न हो।

निष्कर्ष- मैं किसी से द्वेष नहीं करता तो द्यावापृथिवी पर रहने वाला कोई भी प्राणी मुझे क्यों दुःख पहुँचाएगा। मैं प्रकृति के नियमों का पालन करता हूँ, और ऋतुओं की तीव्रता को सहने में मैं समर्थ हूँ, तो ये मेरा क्या बिगाड़ कर पाएगें। इसी प्रकार सब दिव्य शक्तियां मेरे लिए कवच की तरह सुरक्षा प्रदान करने वाली है, क्योंकि मैं उनकी उग्रता से परेशान होने के बदले, स्वयं उनके अनुकूल बन जाता हूँ।

(६) मृत्यु अनिवार्य है, किन्तु उसके भय से ब्रह्म-कवच मुक्त कर देता है,

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्।

पथ इमतस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि।। अथर्व- 8,2-10

ऋषिः- ब्रह्मा, **देवता**- मृत्युः। **छन्दः**- अनुष्टुप्।

हे (मृत्यो) हे मृत्यु! (ते नियानं अनवधर्ष्यम्) तेरा मार्ग अटल हैं, अर्थात् जन्म लेने वाला मृत्यु का पराभव नहीं कर सकता, उसे एक दिन मरना तो अवश्य है। किन्तु (रजसं नियानम्) ईर्ष्या द्वेष क्रोधादि वृत्तियों वाला रजोगुणी मार्ग निश्चित रूप से नीचे की ओर अर्थात् पशु पक्षी या स्थावर योनि में ले जाने वाला है। इसलिए हम (इमम्) अपने प्रियजन को (तस्मात् पथः रक्षन्त) उस रजोगुणी मार्ग पर चलने से इसे बचाते हुए (अस्मै) इसके लिए (ब्रह्म) परमेश्वर अथवा तत्वज्ञान अथवा तपस्या को हृदयंगम करने को 'कवच' बनाने का विधान करते हैं। यदि साधक इनमें से किसी को भी अपनाएगा तो इसका अधोगमन नहीं होगा। मृत्यु से तो न कोई बचा है, न यह बचेगा। किन्तु मृत्यु इसे भयभीत नहीं कर सकेगी।

निष्कर्ष- अथर्व वेद 2-15 में आया है-

'यथा द्यौश्च पृथिवी च, यथाहश्च रात्री च, यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च, यथा भूतं च भव्यश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा विभेः।।'

मनुष्य के प्राण को प्राकृतिक देवों की तरह, भयभीत नहीं होना चाहिए। इन मन्त्रों यह आदेश दिया गया है।

(७) ब्रह्म को अपना कवच बनाने वाले का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः।

देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ अथर्व १-१७-४

ऋषिः- ब्रह्मा देवता-देवाः। **छन्दः**- अनुष्टुपा।

(यः सपत्नः) जो शत्रु और (यः असपत्नः) उदासीन-सामान्यजन (यः च द्विषन् नः शपाति) और जो कोई भी हम से द्वेष करता हुआ हमें गाली देता है या निन्दा करता है। (तं सर्वे देवाः धूर्वन्तु) सभी देव उसे हिंसित करें- दुत्कारें तथा शर्मिन्दा करें। क्योंकि मैनें (ब्रह्म मम आन्तरं वर्म) परमेश्वर को अथवा तत्वज्ञान को अपना आन्तरिक कवच बना लिया है। मैं तो (अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्) किसी भी प्राणी से द्वेष भाव नहीं रखता।

निष्कर्ष- ब्रह्म को कवच बनाने वाला कभी दुःखी नहीं होता। अपितु अन्य समझदार लोग उसका पक्ष लेकर उससे द्वेष करने वाले को ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं।

(८) समझदार व्यक्ति दक्षता और दान द्वारा सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं,

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुतयद्धिरण्यम्।

दक्षिणान्नं वनुत्ते यो न आत्मादक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥ ऋक् १०-१०७-७

ऋषिः- दिव्य आङ्गिरसः। **देवता**- दक्षिणा। **छन्दः**- त्रिष्टुप्।

(क) (विजानन्) समझदार व्यवहार कुशलजन (दक्षिणां वर्म कृणुते) दान दक्षिणा को, अपने दोषों से बचने का रक्षा कवच बना लेते हैं। और वह (दक्षिणा अश्वं गां चन्द्रं उत यत् हिरण्यं ददाति) दक्षिणा रूप में अश्व, गाय आदि पशु, आह्लाद प्रदान करने वाले भक्ष्य तथा पेय पदार्थ अथवा रजतरूप में धन और जो ग्रहीता के लिए हितकर या रुचिकर पदार्थ स्वर्ण रूप में धन प्रदान करता है। किन्तु (यः विजानन्) समझदार ग्रहीता (अन्नं वबुते) केवल अन्न की याचना करता है, क्योंकि अन्न (नः आत्मा) हमारे शरीर को पुष्ट करता है और मन को विकल नहीं करता है।

(ख) सात्विक विज्ञजन- ये सब पदार्थ समाज के लिए प्रचुर मात्रा में दान करते हैं। और उनकी सात्विक ख्याति उनके लिए कवच की तरह दैवी विपत्ति काल में रक्षा करती है।

अर्थ पोषण- वनुते- वनुयाचने। वनते- दाने, अख्यातानुक्रमणी 160।

दक्षिणा-दानं प्रतिष्ठा वा। उणादि 2-51 दक्ष वृद्धो शीघ्रार्थे च।

जम्भवाणी में लोक मंगल की भावना

डॉ० किशनाराम विश्नोई
प्रभारी
गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान
गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार

व्यक्ति की जीवनपद्वति, आचरण, रहन-सहन, स्वभाव, गुण, कर्म तथा विचार के अनुसार ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। जैसी सामाजिक संरचना होती है, वैसा ही समाज, साहित्य और दर्शन का ढ़ाँचा निर्मित होता है। मध्यकालीन समाज, साहित्य और दर्शन की स्थिति उतार-चढ़ाव, उथल-पुथल और जय-पराजय की रही है। यह काल इतिहास में सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था अराजकता, असमानता, कुव्यवस्था, अशांति, धर्म परिवर्तन और सामंती वातावरण का युग था। ऐसे वातावरण में सामाजिक मूल्यों में गिरावट, नैतिक पतन और सांस्कृतिक ह्रास अत्यधिक हुआ। इस अशांति तथा कोलाहल पूर्ण वातावरण में जन-जीवन शोषण व उत्पीड़न से ग्रस्त था। विदेशी आक्रमणों, अत्याचारों, धार्मिक कट्टरता, स्वार्थपरायणता, लूटमार, और जातीय संघर्ष से जन जीवन अस्त-व्यस्त था। गुरु जम्भेश्वर का आविर्भाव काल भी मध्यकाल रहा है। इसी काल में गुरु जम्भेश्वर ने विश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की और अपने उपदेशों तथा कार्यों द्वारा जनसामान्य को सन्मार्ग पर लाने के लिए प्रेरित किया।

गुरु जम्भेश्वर ने अपनी वाणी व उपदेशों द्वारा धर्म के आचारपक्ष को ही सुदृढ़ नहीं किया, बल्कि विचारपक्ष को भी व्यवस्थित एवं नियोजित करने के लिए उनतीस नियमों की आचार-संहिता का निर्माण किया। इस आचार-संहिता में विश्व के सभी धर्मों का समन्वय और सामंजस्य स्थापित किया है। इस आचारसंहिता में मानवजीवन का उद्देश्य साधना संकल्प, जीवन पद्धति, यश, अर्थ, काम और मोक्ष, के प्रति गहरी निष्ठा का परिचय दिया है।

गुरु जम्भेश्वर ने अपने व्यापक भ्रमण के दौरान जन सामान्य को अपने पवित्र उपदेशों, सात्विक सिद्धान्तों और अमर संदेशों द्वारा जाग्रत और प्रेरित तथा प्रभावित किया। उन्होंने बतलाया कि इन उनतीस धर्म नियमों का पालन करने पर किसी भी व्यक्ति का जीवन सुसंस्कृत एवं कल्याणकारी बन सकता है। ये नियम मानवोचित और आत्म-कल्याणकारी है। जिनका मूल आधार पवित्रता, सच्चाई, ईमानदारी कर्मठता, न्यायशीलता, मानवता, प्रकृति-रक्षा, अहिंसा, सत्य, सहिष्णुता है। इसके अतिरिक्त शुद्ध आचारण, आत्मशुद्धि और आत्मपरिष्कार इस आचारसंहिता के मूल मापदण्ड है। समस्त मानसिक शारीरिक चित्तवृत्तियों को अहंकार रहित होकर ब्रह्म के साथ तदाकार हो जाना, इस सहज पद्वति का अभीष्ट गुण है। जिसके लिए उन्होंने यौगिक क्रियाओं को बड़ा महत्व दिया है जनता को उसकी उपयोगिता और महत्ता के विषय में गहराई से बतलाया। उनकी योगसाधना का मूल उद्देश्य विष्णु की प्राप्ति है। उनका विष्णु मुक्तिदाता है। यह निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक होते हुए भी सगुण रूप में

विभिन्न अवतार लेकर आसुरी वृत्तियों को विनष्ट करता है। यह विष्णु अव्यय, अज, अनन्त और असीम है। वह अद्वैतवादी होने के साथ जड़-चेतन, व्यक्त और अत्यक्त सभी में एक साथ व्याप्त है। उनकी पहुँच सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। उनके अनुयायी और शिष्य उनको सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में जानते है।

रूप अरूप रमू प्यंड ब्रह्मड़ै

घटि घटि अघट रहायौ।

गुरु जम्भेश्वर विष्णु के सगुण रूप में स्वयं अवतरित है और निर्गुण रूप में समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है उनकी दृष्टि में विष्णु ही सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव और तिरोभाव करता है वह घट और अघट, रूप और अरूप सभी रूपों में समस्त चराचर जगत् में विद्यमान है। इसलिए जम्भवाणी का प्रत्येक पक्ष विष्णु जप का अजपाजप विधि को सर्वश्रेष्ठ मानता है। विष्णु अजप्या जन्म अकारथ आके डोडा खीणे फलियों इनकी साधना विष्णुजप और सहजवादी है। विष्णु का जप लोक और परलोक दोनों के लिए कल्याणकारी है। विष्णु का अजपाजप मनुष्य को इस संसार से पार उतार सकता है। गुरु जम्भेश्वर विष्णु मंत्र को प्राणवायु का प्रमुख आधार मानते है-

''विष्णु मंत्र है प्राणधार जो कोई जपै सो उतरै पार।

ओम विष्णु युगादि विष्णु तत्वस्वरूपी तारक विष्णु।।''

विष्णु सभी युगों में व्याप्त है। विष्णु मंत्र का उच्चारण मोक्ष का मुख्य आधार है। ओम विष्णु जो परमतत्व का प्रतीक है वह परमसत्ता आदि अनादि है। विष्णु को प्राप्त कराने का ज्ञान सद्गुरु के पास ही है। सद्गुरु की कृपा के अभाव में भवसागर से पार उतरना असंभव है। सतुगुरु की कृपा से सांसारिकता का बंधन समाप्त हो जाता है। गुरु जम्भेश्वर ने ब्रह्म (विष्णु) की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार तिल में तैल और फूल में सुगंध है उसी प्रकार विष्णु समस्त ब्रह्माण्ड में

तिल मा तेल पोहप मां वास।
पांच तंत मां लियो परगास।।

वैदिक युग से लेकर मध्यकालीन संतों ने तैल और सुगंध के संदर्भ रखने वाले अनेक उदाहरण अपनी अन्य वाणियों में बहुत दिये है। ईश्वर के विषय में ऐसा उदाहरण देकर परमसत्ता की व्यापकता को बड़े ही सहज ढंग से बताया है कि ब्रह्म अजर है, अविगत है, शाश्वतरूप में है वह सनातन है उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। वह नामरूपात्मक आदि गुणों से विलक्षण है। वह अजाति एवं आवागमन के बंधन से मुक्त है। वह सद्गुरु के रूप में मानव का रूप धारण करता है। ब्रह्म के विषय में गुरु ग्रंथ साहिब में बतलाया है कि –

"नैना बैन अगोचरि श्रवणा करणी सर

बोलन के सुख कारणै कहिए सिरजनहार"

अर्थात् जो अमर-अजर, दृश्य-अदृश्य है गम्य-अगम्य उसके विषय में कुछ न कहकर मौन रहना ही सबसे अच्छा है। परमतत्त्व और जीवात्मा के विषय में भारतीय चिंतन की यह मूल मान्यता है कि शरीर नश्वर है और आत्मा अजर अमर अविनाशी है। इसलिए कठोपनिषद् में यह कहा गया है कि आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। वह शरीर के साथ कभी नष्ट नहीं होती। वैसे ऐसी अवधारणा हिन्दू धर्म के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लामी, यहूदी आदि धर्मो में भी मिलती है। परन्तु गीता में इसके विषय में स्पष्ट कर दिया गया है।

न जायते म्रियते वा विपश्चन्नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते, हन्यमाने शरीरे। २/१८

गीता ने इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध कर दिया है -

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

यह जीवात्मा प्रकृति में ही स्थित उसके त्रिगुणात्मक सभी पदार्थो का भोग करती है अच्छी-बुरी योनियों में जन्म उसके कर्मों के अनुसार होते है।

जहाँ-जहाँ भी जीव की ज्योति है वहाँ-वहाँ मोक्ष प्राप्ति है। यह आत्मा सभी घटों में ब्रह्म की ज्योति के रूप में निवास करती है इसलिए प्रत्येक जीव में आत्मज्योति का दर्शन करना चाहिए।

जां जां जीव न जोती।

तां तां मोक्ष न मुकती॥

यह आत्म ज्योति सर्वव्यापी एवं निस्सीम है उसकी व्यापकता के विषय में गुरु जम्भेश्वर बतलाते हैं कि -

सपत प्याले त्यौंह तिरलोके

चवदा भुंवणे गिगन गहीरे बाहरि भीतरी सरब निरंतरि

जहां चीन्हें तहां सोई।

इन पंक्तियों में यहाँ वेदांत दर्शन की अवधारणा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् परमतत्त्व सातों पातालों, तीनों लोकों में चौदह, भुवनों, गहन आकाश में, बाहर और भीतर सर्वत्र सर्वदा एकरूप

है जहाँ भी देखा जाये वहाँ वही है।

तिहूं त्रिलोके चवदा भवणे

सपत पयाले जंबूदीपे

अइ इमांणो पोह परवांणौं।

यह आत्मस्वरूपी परमतत्व चौदह भुवनों, सात पातालों के अतिरिक्त जम्बूद्वीप में सर्वत्र व्याप्त है ऐसे परमतत्व को जानने वाला सत्पथ पर अग्रसर है। परमतत्व के रूप-रेख, न लीक न चिह्न, न खोज और न खेह है वह तो रहस्यमय है -

परम तंत कै रूप न रेखा

लीक न लेहूं खोज न खेहूं

अलाह अलेख अडाल अजूंनी सिंभू।

जिहका किस विनांणी ?

गुरु जम्भेश्वर कहते है परमतत्व अज्ञेय, अगम्य तथा अजन्मा स्वरूप में स्थित शाश्वत और स्वयंभू है तथा अनिवर्चनीय है।

आपै अलख उपंनो सिंभू

निरह निरंजण कै धंधूकारूं

अगोचर स्वयंभू अपने आप उत्पन्न हुआ है। सृष्टि के पूर्व निराकार, निरंजन, स्वयंभू था और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में धुँधलेपन की स्थिति थी। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो आत्मज्योति है वह परमसत्ता रूपी ब्रह्म ज्योति का ही अंश है। किन्तु मनुष्य मायावी आवरण के कारण उसके चित्त और आनंद के स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता।

सम्पूर्ण जाम्भाणीं वाङ्मय में सत्संग को भक्ति का मूलाधार माना है। सत्संग को जाम्भाणी अध्यात्म परम्परा और प्रह्लाद पंथी परम्परा में जम्भा और जागरण कहा है। जम्भे का तात्पर्य यह है कि सभी लोगों का एकत्रित होकर अध्यात्म चर्चा करना है। जाम्भाणी संतों ने इसे 'जुम्भा जमला' और 'जुमला' कहा हैं। जिसमें मुख्य रूप से नौ जाम्भाणी साखियों का गायन होता है। गायन में साखियों का सरलार्थ और भावार्थ भी किया जाता है अधिकांश साखियों में अवतार संबंधी आख्यानों का बखान भी किया जाता है। जाम्भाणी संतों व गुरु जम्भेश्वर के अनुयायियों की इन साखियों के प्रति गहरी निष्ठा

और आस्था है। विश्नोई पंथ में साखियों का महत्व भी उनके उपदेशों व सिद्धान्तों से कम नहीं है। गुरु जम्भेश्वर ने विश्नोई मत के प्रत्येक परिवार के लिए सत्संग को अनिवार्य रूप से लागू किया। सत्संग से मन में पवित्रता आती है जिससे आत्मबल बढ़ता है। इससे मनुष्य का व्यवहार परिष्कृत होता है। मनुष्य परिष्कृत होने से समाज परिष्कृत होता है। समाज परिष्कृत होने से मजबूत राष्ट्र बनता है।

जाम्भाणी सत्संग में अध्यात्म ज्ञान चर्चा है। अध्यात्म ज्ञान के साथ, ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान के विषय में नई चेतना का संचरण होता है। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि सत्संग करने करवाने का लाभ भाग्यशाली को ही मिलता है। भक्ति में धर्म की एक निष्ठता बनाये रखने के लिए सज्जन पुरुषों का साथ आवश्यक है। इस नश्वर शरीर का कोई पता नहीं, यह किस समय मृत्यु का ग्रास बन जाये इसके लिए समय रहते हुए मनुष्य को अपने जीवन का अधिकांश भाग मानवकल्याण और परोपकार में लगाना चाहिए।

सत्संग मनुष्य को विषय वासनाओं से पृथक् करता है। वह जीवमात्र के कल्याण की प्रेरणा देता है। सज्जनों की संगति से लौकिक दुःखों का विनाश होता है तथा सद्गणों का विकास होता है। मानवीय भावना उदात्त होती है। इसलिए जो हरि का स्मरण कराये, उन्हीं की संगति करनी चाहिए।

सत्संग के बिना ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। बिना ज्ञान विवेक जाग्रत नहीं होगा। बिना विवेक आनंद और कल्याण का भाव उत्पन्न नहीं होगा सत्संग से ही फल सिद्धि प्राप्त होती है। जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है। उसी प्रकार सत्संग करने से दुर्जन व्यक्ति भी सज्जन बन जाते है। सज्जनता मानव समाज के लिए एक बहुत बड़ी आधारभूमि है। अच्छे नैतिक धरातल से ही समाज व राष्ट्र का परिष्कार होता है।

भारतीय धर्म परम्परा में गुरु की महिमा को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। गुरु की महिमा ईश्वर से बड़ी बतायी है। ईश्वरीय पथ पर गुरु ही अग्रसर करवाता है। गुरु के ज्ञान द्वारा ही ईश्वरीय भाव उत्पन्न होते है। गुरु के प्रति सम्मान की भावना आदिकाल से ही रही है। गुरु धार्मिक क्रिया कलापों का संस्थापक है। धार्मिक श्रुतियों के अनुसार अविद्याजन्य हृदयग्रंथि का विमोचन गुरु द्वारा ही होता है।

अविद्या हृदयग्रंथिः वद्य मोक्षो भवेद्यतः।
तमेव गुरुरित्याहु, गुरु शब्दार्थवंदिन॥

गुरु प्रदत्त ज्ञान द्वारा ही व्यक्ति की अविद्या का नाश होता है तात्पर्य यह है कि गुरु ही ईश्वर से मिलाने वाला है। गुरु, ज्ञान, भक्ति एवं ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में साधक शिष्यों को साधना का माध्यम बनाकर चरम लक्ष्य तक पहुँचाता है। गुरु जम्भेश्वर जी ने अपनी वाणी में गुरु प्रसाद के विषय में

विस्तार से बतलाया है।

रतन काया सांचे की डौली

गुरु परसादे केवल ज्ञानै

धर्म आचारे शीले संजमें

सतगुरु तूठो पाइये।''

सम्पूर्ण जाम्भाणी काव्य नें गुरु के महत्व का गुणगान किया है। साधना को नियमित रूप से करने में गुरु का महत्व सबसे ज्यादा है। सच्चा गुरु मिलना असंभव है यदि मिल जाये तो साधना का क्षेत्र सफल हो जाता है। ऐसे गुरु के मिलने से मानव भवसागर से पार हो जाता है। सतगुरु अपने पास आने वाले प्रत्येक मानव में आस्था, विश्वास और निष्ठा की भावना उत्पन्न कर देता है। सत्‌गुरु मनुष्य में भ्रमररहित जीवन प्रदान करता है। सत्कर्म की भावना जाग्रत करता है। आचार-विचार में पवित्रता उत्पन्न करता है। जीवन के उद्देश्य की व्याख्या करता है। जीवन में यश, अर्थ, काम और मोक्ष को दिलाता है। अपने शिष्यों को दिव्यदृष्टि देता है। संतकवि सुन्दरदास ने गुरु की महिमा का उपदेश देते हुए बताया है कि :

''गुरु बिन ज्ञान नहीं, गुरु बिन ध्यान नहीं

गुरु बिन आतम विचार न लहत है

गुरु बिन प्रेम नहीं, गुरु बिन नेम नहीं

गुरु बिन शीलहि संतोष न गलत है।''

संत चरणदास की मान्यता है कि हरि की सौ वर्षो की सेवा भी उतना ही महत्त्व नहीं रखती जितनी कि गुरु की चार पल की सेवा

हरि सेवा कृत सौ बरस गुरु सेवा पल चार।
तो भी नहीं बराबरी वेदन किया विचार।।

यह वेद में भी विचार किया है कि गुरु की सेवा के बराबर दूसरी कोई सेवा नहीं है। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता, गुरु के बिना ध्यान एकाग्रचित नहीं हो सकता, गुरु के बिना आत्मा के विषय में चिंतन नहीं किया जा सकता है। गुरु के बिना प्रेम उत्पन्न नहीं किया जा सकता। गुरु के बिना शील, संतोष, संयम के विषय में गहरी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। विश्नोई पंथ में गुरु जम्भेश्वर ने गुरु की महत्ता का विशद विवेचन किया है। उन्होंने सद्‌गुरु को ही विष्णु, रहमान, रहीम, करीम, कृष्ण, राम, अल्लाह, खुदाबक्स इत्यादि नामों से संबोधित किया है। उन्होंने पहला 'सबद' गुरु को ही संबोधित करके उद्धृत किया है। गुरु जम्भेश्वर ने इसी सबद में गुरु की पहचान करने को उपदेश दिया

है। गुरु के मुख से धर्म नियमों का बखान होता है जिसने शील, संतोष को धारण कर रखा है जिसको नाद और बिंद की पहचान है। उसी गुरु को सहज में पहचान जाता है जिसने छः दर्शनों की स्थापना की है। संसार के अध्यात्म के रहस्यवाद को पहचान लिया है वही गुरु प्रत्यक्ष ईश्वर है जो स्वयं संतोषवृति का पालन करता है और दूसरों को भी ऐसा करने की प्रेरणा देता है।

''गुरु आप संतोषी अवरां पोषी

तत्व महारस वाणी।''

सच्चे सत्गुरु की पहचान होना ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त करना है तभी जीवन सार्थक होगा। गुरु जम्भेश्वर कहते है कि मन की संशयग्रस्त ग्रंथियों को सतगुरु ही समाप्त करता है -

सतगुरु तोड़े मन का साला।

सतगुरु है तो सहज पिछाणी।।

गुरु न चीन्हों पंथ पायो।
अहल गई जमबारूं।।

गुरु को पहचानना और उनके बताये रास्ते पर चलना तथा सत्कर्मो की वृत्तियों को धारण करना स्वयं पर विजय प्राप्त करना और जीवन को उद्देश्यपरक बनाना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

गुरु जम्भेश्वर जी ने ब्रह्म तीर्थाटनों, लोकाचारों व आडम्बरों का विरोध किया है। पाखंडवाद से ईश्वर प्राप्त नहीं किया सकता। अंध-विश्वास और टोने-टोटको से मनुष्य का जीवन अध्यात्म की सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। गुरु प्रदत ज्ञान द्वारा सभी कुप्रवृत्तियाँ को रोका जा सकता है। शुभ मंगलकारी और पवित्र जीवन जीने के लिए पवित्र और सदविचारों को प्राप्त करना आवश्यक है। गुरु जम्भेश्वर ने मानवता, समता, सद्भावना, सहिष्णुता और ईमानदारीपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा मानव समाज को दी है। उन्होंने अपने धार्मिक सिद्धान्तों व संदेशों द्वारा आत्मस्वाभिमानी और परिष्कृत समाज का निर्माण किया। धार्मिक विचारों को अपना कर एक मजबूत पवित्र तथा आत्मस्वाभिमानी समाज का निर्माण किया जा सकता है जिसमें सभी धर्मो के लोगों को समानता, सहिष्णुता और सद्भावना बनाये रखने का अधिकार प्राप्त हो सके। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गुरु जम्भेश्वर के उपदेशों, सिद्धान्तों व संदेशों को अपनाकर विश्व के समक्ष उत्पन्न ज्वलन्त समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

आर्यसमाज के चिन्तक महर्षि दयानन्द

डा० शिव कुमार चौहान

शारीरिक शिक्षा एवं खेल विभाग

प्राचीन आर्यावर्त्त भी भारत नाम से जाना जाता था जिसका अभिप्राय 'आर्यों का देश' अर्थात् 'श्रेष्ठतम जनों का देश' था। वह देश जहाँ ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती रही है। यह ऋषि-महर्षियों, चक्रवर्ती राजाओं की भूमि, महान् दार्शनिक नेताओं और विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता तथा वैज्ञानिकों की भूमि है। इस देश में जन्म लेना भी पूर्वकृत पुण्यों का फल कहा गया है। जिस देश में विदेशी लोग भी सुशिक्षा व विद्या अर्चन के लिये भारतीय आचार्यों की शरण में आ-आकर व्यवहार-सभ्यता शिष्टता तथा अन्य व्यवहार परक सिद्धान्तों की दीक्षा पाते हैं। वह देश जिसके आदेश का पालन करना अन्य माण्डलिक राजागण अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। वह देश जिसमें ऋषि-मुनियों का विदेश भ्रमण करना ताकि वैचारिक धरातल पर सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र में पिरोकर रखा जा सके और सभी मानवों के मानस-पटल पर एक वैदिक विचारधारा बनाई जा सके। वह देश जिसमें अनेक महान् ऋषियों-महर्षियों ने जन्म लेकर मानवता को सन्मार्ग का पथिक बनाने का सराहनीय कृत्य किया है। महानता की इस पावन माला में अलंकृत एक नाम जो आज भी मानवता के प्यासे इस मानव को अपनी आभा से सन्मार्ग की प्रेरणा दे रहा है ऐसे आर्य परिव्राट एवं दिव्य शक्ति पुंज थे **'महर्षि दयानन्द सरस्वती'**।

महर्षि दयानन्द ने आर्यों के उत्थान के लिये <u>29 मार्च 1875 ई0</u> को सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। अब प्रश्न यह उठता है कि महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना जिन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की थी वे उद्देश्य आज कितने फलीभूत हुये हैं। आर्य समाज के कर्णधारों को आज इस ओर सचेत होने की आवश्यकता है। आज हमारी मानवता को क्या हो गया है कि जिस ओर देखें भोग विलासिता का तांडव बढ़ता ही चला जा रहा है। क्या आज हम महर्षि के पद-चिह्नों का अनुसरण कर रहे है। यदि हम शीघ्र ही सचेत नहीं हुये तो वह दिन दूर नहीं जब हम अपनी भावी पीढ़ियों को महर्षि के आदर्शों से अवगत भी करा सकेंगें?

महर्षि दयानन्द समाज को सही अर्थों में मानवता का पाठ पढ़ाना चाहते थे। वे मानव को मानव के प्रति स्वार्थ, हिंसा, घृणा, राग, द्वेष तथा भय आदि अवगुणों का त्यागकर अहिंसा, परमार्थ, प्रेम, भाईचारा आदि सदगुणों से अलंकृत करना चाहते थे। मानव समाज में सौहार्द बनाने के उद्देश्य से ही महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना की तथा जगह-जगह आर्यसमाजें गठित कर उपदेश दिये। महर्षि के जीवनदर्शन से हमें आज भी त्याग तथा तपस्या की प्रेरणा प्राप्त होती है।

महर्षि ने समाज तथा देश के उत्थान के लिये 'आर्य समाज' की श्रेष्ठ 'कृति' ''सत्यार्थ-प्रकाश'' की रचना की। जिसमें उन्होंने सभी धर्मो को मानने वालों को आर्यसमाज के नियमों का पालन करने का उपदेश दिया। महर्षि ने ''सत्यार्थ-प्रकाश'' को आर्यो का 'सुदर्शन चक्र' कहा है जिसमें चौदह अध्यायों को '<u>चौदह समुल्लास</u>' के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक समुल्लास व्यवहारपरक सिद्धांतों तथा समाजोत्थान की भावना से ओत-प्रोत है। महर्षि के उपदेशों की महत्ता का यदि बखान किया जाये तो ज्ञात होता है कि पंजाब राज्य के जालन्धर जनपद में नानकचन्द के घर सन् 1913 ई0 में जन्मे मुंशीराम (पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द) जो धार्मिक पाखण्ड़ों तथा अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली के कारण नास्तिकता तथा अवगुणों की ओर झुकते जा रहे थे, भी इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने सभी अवगुणों का त्याग कर महर्षि के बताये मार्ग का अनुसरण किया तथा अपना सर्वस्व समाज सेवा तथा निस्वार्थ कार्यों के लिये समर्पित कर दिया।

महर्षि दयानन्द भारत को एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे, स्वयं गुजराती होते हुये भी उन्होंने अपने सभी ग्रंथ संस्कृतनिष्ठ आर्यभाषा (हिन्दी) में ही लिखे। भारत सरकार स्वतंत्रता के पश्चात् वोट बैंक की नीति के कारण हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा घोषित करने के पश्चात् भी पूर्णतया: लागू न कर सकी, जिसके परिणाम स्वरूप दक्षिण तथा पूर्वोत्तर राज्यों में हिन्दी की स्थिति दयनीय है। इसी कारण भारत में रहने वाले लोग अपनी राष्ट्रीय भाषा के माध्यम से अपने विचारों का आदान प्रदान नहीं कर सकते।

महर्षि ने राजनीति के स्थान पर 'राजधर्म' शब्द का प्रयोग करने पर बल दिया। जो वेद शास्त्र-सम्मत है। इसका अभिप्राय है कि देश में रहने वाले सभी लोगों के लिये एक जैसे नियम व कानून हों, उनमें मतभेद न हो। इसका परिणाम यह होगा कि राष्ट्र में रहने वाले लोग नियम व कानून पर चलना अपना धर्म समझेंगे तथा समान आचार-संहिता लागू हो सकेगी तथा सभी के हितों की रक्षा हो सकेगी।

महर्षि दयानन्द ने जहाँ भी सुधार की बात की उसमें विद्वानों से संगठित होने के लिये कहा, परन्तु देखा जाता है कि एक-जैसी शिक्षा न मिलने के कारण बुद्धिजीवी भी **'अपनी ढपली अपना राग'** वाली कहावत को चरितार्थ करते रहे हैं। जिन समस्याओं का कुछ क्षणों में ही समाधान सम्भव हो सकता है वह हठवादिता व स्वार्थ के चक्रव्यूह में फंसकर रह जाती है।

सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में 'चयन प्रणाली' के माध्यम से विद्यार्य, धर्मार्य तथा राजार्य

सभा का होना बताया है जिसमें योग्य व्यक्ति अर्थात् धार्मिक वैदिक विद्धान्, पक्षपातशून्य, बली, पराक्रमी ओजस्वी प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वालों को ही उच्च नेतृत्व दिया जाना बताया गया है।

आज संसद, विधान सभादि में घटिया चुनाव-प्रणाली के कारण मूर्खों की बाढ़ सी आ गई है। **'यथा प्रजा तथा राजा'** के अनुसार चोर-उचक्के, काले-कारनामों में लिप्त लोग सफेद वेशधारी तथा लोकतंत्र का सहारा लेकर उच्च नेतृत्व की कुर्सी पर आसीन है। ऐसी स्थिति में कौन राष्ट्र को सम्यक् दिशा देगा अर्थात् कहा जा सकता है कि दोषमुक्त व्यवस्था के कारण योग्य व्यक्ति उच्चपदासीन नहीं हो पाते। अतः बहुमत के स्थान पर सर्व-सम्मति से निर्णय लेने की पद्धति को विकसित करने की व्यवस्था को महर्षि ने उत्तम बताया है। स्वदेशी, स्वराज्य का नारा देने वाले महर्षि दयानन्द ने विद्या प्राप्त करने वाले सभी विद्यार्थियो के लिए एक जैसी शिक्षा सत्यार्थ-प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लिखी है। इस वैदिक पाठ्यक्रम के साहित्य में कही भी गुलामी का इतिहास पढ़ने की आज्ञा नहीं है। अपितु उसके स्थान पर रामायण व महाभारत जैसे ऐतिहासिक साहित्य को पढ़ने तथा अनुसरण करने की महत्ता पर बल दिया है।

वोट बैंक की नीति के कारण अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक के नारों के कारण तुष्टीकरण की नीति के अन्तर्गत प्रजा को सत्य से दूर रखा जा रहा है। इसका समाधान 'वैदिक पाठ्यक्रम' है। महर्षि ने 'ऋग्वेद' के उपवेद 'आयुर्वेद' के बारे में कहा है कि सुश्रुत व चरकादि आयुर्वेद के ग्रंथ ऋषि-मुनि प्रणीत हैं। इन वैद्यक शास्त्रों को अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, ओषध, पथ्य, शरीर देश काल और वस्तु के गुण ज्ञान पूर्वक जानकर सभी प्रकार के रोग ठीक करने की क्षमता इसमें निहित है। परन्तु इस ओर अनुसंधान करने की आवश्यकता है क्योंकि विधर्मियों के शासन में इस विद्या की बहुत हानि हुई है।

आर्यावर्त्तीय हृदय सम्राट् महाभारत कालीन श्री कृष्ण के समय भारत में प्रत्येक व्यक्ति के लिये छः गाये थी, परन्तु आज छः व्यक्तियों के लिये एक गाय भी उपलब्ध नहीं है।

उन्होंने समाज की दिशा तथा दशा सुधारने के लिये अनेक प्रमाणित तथ्यों को प्रस्तुत कर लोगों में चेतना जागृत करने के जो महान् कार्यो को किया है। उनके पश्चात् उनके कार्यो को बढ़ाने तथा समाज को दिशा प्रदान कर स्वामी श्रद्धानंद (पूर्व में मुंशीराम) ने उनके द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण किया।

स्वामी श्रद्धानंद ने आर्यसमाज में प्रवेश लेने के पश्चात् आर्य-मन्दिर लाहौर (पाकिस्तान) में

अपना पहला वक्तव्य दिया तत्पश्चात् उन्होंने समाज सुधार के कार्यो को गति प्रदान की। इसी श्रृंखला को बढ़ाते हुये भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता को विकसित करने तथा मैकाले की शिक्षा नीति के विरुद्ध उन्होंने सन् 1902 में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना गंगा के पार कांगड़ी ग्राम में की।

स्वामी श्रद्धानंद ने वैदिक परम्पराओं को पुन: स्थापित करने तथा महर्षि द्वारा बताये गये मार्ग के अनुरूप ही गुरुकुल कांगड़ी में 'शिक्षा के स्वरूप' को तैयार किया जो आज भी स्वामी जी की प्रेरणा से निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

आज समाज के बदले परिवेश में भी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय वैदिक परम्पराओं का निर्वहन करते हुये व्यवहारपरक शिक्षा से वर्तमान पीढ़ी को महर्षि दयानन्द तथा उनके बाद स्वामी श्रद्धानंद द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दे रहा है।

मेरा स्वयं का अनुभव है कि स्वामी जी आज भी किसी न किसी रूप में इस ओर चलने के लिये हमें प्रेरित कर रहे हैं।

"नियमों के पालन से जीवन-ज्योति जलायें"

वेदरत्न प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

योग० २/३३

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान-ये पांच नियम हैं।

शौच

शौच प्रथम नियम है। शौच कहते हैं पवित्रता को। यह शौच-पवित्रता भी दो प्रकार की होती है, एक बाह्य-बाहर की और दूसरी आन्तरिक-अन्दर की-भीतर की।

बाहर की शुद्धि, पवित्रता, मिट्टी, पानी आदि से शरीर, वस्त्र, स्थान आदि को शुद्ध रखने और पवित्र हित-मित खान-पान आदि के सेवन से होती है।

भीतर की शुद्धि-पवित्रता 'सुखी जनों, सुख-सौभाग्य से सम्पन्न मनुष्यों को देखकर उनके विषय में मित्रता की भावना रखने से, दुःखी जनों को देखकर उनके विषय में दया की भावना रखने से, पुण्यात्माओं (धर्मात्माओं-महात्माओं) को देखकर उनके विषय में प्रसन्नता की भावना रखने से, और अपुण्यात्माओं-पापात्माओं को देखकर उनके विषय में उदासीनता की भावना रखने से ईर्ष्या, जलन, घृणा, द्वेष, असूया आदि चित्त के मलों को धोना कहलाती है। अथवा अहिंसा, सत्य-भाषण, सत्संग, स्वाध्याय आदि शुभ गुणों के आचरण द्वारा भीतर के राग, द्वेष, मद, मात्सर्य आदि चित्त के मलों को प्रक्षालन करना आन्तरिक शौच-भीतरी शुद्धि कहलाती है।

इस बाहर-भीतर की शुद्धि से, पवित्रता से साधक अपने लक्ष्य की ओर सहज ही बढ़ता रहता है।

सन्तोष

नियमों में सन्तोष दूसरा है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार पुरुषार्थ करने पर जो भी कुछ प्रभु की न्याय-व्यवस्था से उपलब्ध हो उसी में सन्तुष्ट रहना, प्रसन्न रहना, तृप्त रहना और मन से भी कभी किसी की वस्तु, व्यक्ति और स्थान आदि को अभिलाषा भरी दृष्टि से न देखना सन्तोष कहलाता है। साधक को चाहिए कि अपने पुरुषार्थ से जो 'रूखी-सूखी मिले, उसमें ही वह सन्तोष करे, दूसरों की चुपड़ी हुई रोटी को देखकर वह कभी भी, कहीं भी, अपना जी न तरसावे। अब अगर इसके विपरीत कोई तृष्णा करे, लालसा करे तो यह ऐसी आग है कि इस पर कितना भी कुछ क्यों न डाल दिया जाए फिर भी यह निरन्तर

बढ़ती ही जाती है, और जितनी भी यह तृष्णा बढ़ती ही जाती है, सुख उतना ही घटता जाता है। इसलिए सन्तोष रूपी जल जितना भी इस तृष्णा पर छिड़का जायेगा उतनी ही यह तृष्णा-लालसा घटती जायेगी उतना ही साधक सुखी होता जायेगा। किसी संस्कृत के कवि ने ठीक ही कहा है-

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥

सन्तोष रूपी अमृत का पान करने से तृप्त हुए शान्तचित्त जनों को जो सुख मिलता है वह धन आदि की लालसा में इधर-उधर मारे-मारे फिरने वालों को भला कहाँ मिल सकता है। अन्यत्र भी कहा गया है- **''सन्तोषमूलं ही सुखं दुःखमूलं पिपर्ययः।''** सुख का मूल-आधार सन्तोष ही है। इसके विपरीत जो तृष्णा है वह तो दुःख का ही मूल है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपने समीप वर्तमान साधनों में ही सन्तोष अनुभव करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो।

तप

तीसरा नियम है तप। तपः कहते हैं **'द्वन्द्व सहन'** को। अपने उद्देश्य की प्राप्ति में जो कष्ट सहन करना पड़े उसको प्रेमपूर्वक सहना तप कहलाता है। महाभारत में यक्ष ने जब युधिष्ठिर से कुछ प्रश्न पूछे तो उनमें से एक प्रश्न यह भी पूछा कि- **''तपः किं लक्षणम्?''** तप का क्या लक्षण है? तो इसके उत्तर में महाभारत युधिष्ठिर बोले- कि **''तपः स्वधर्मवर्त्तित्वम्''**। हे यक्ष! अपने कर्त्तव्य कर्म को निरन्तर करते रहना ही तप है।'' ये द्वन्द्व क्या हैं? जिन्हें सहन करना तप कहाता है। क्षुध-तृष्णा=भूख-प्यास, शीत-उष्ण=सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, स्थान-आसन और मौन में काष्ठमौन और आकार मौन, अर्थात् काष्ठ समान किञ्चित् भी चेष्टा न करना अर्थात् संकेत से भी अपने अभिप्राय को न प्रकट करना काष्ठमौन और मुख से न बोलना आकार मौन आदि का नाम द्वन्द्व है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में प्राण, इन्द्रियों और शरीर को उत्तम अभ्यास से वश में करके जो उपर्युक्त द्वन्द्वों को सहन किया जाता है, यही तप कहलाता है। ऋषि दयानन्द के शब्दों में जैसे सोने को अग्नि में तपाकर निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को शुभ गुणों के आचरण रूप (वा उपर्युक्त द्वन्द्व सहन रूप) तप से निर्मल-स्वच्छ कर देना तप कहलाता है। साधक को चाहिए कि वह तप करता हुआ लक्ष्य की ओर बढ़े।

स्वाध्याय

नियमों में ''स्वाध्याय'' चौथा नियम है। महर्षि व्यास जी लिखते हैं कि मोक्ष की ओर ले जाने वाले जो वेदादि सत्य शास्त्र हैं, उनका अध्ययन करना और प्रणव अर्थात् ओंकार का जप करना स्वाध्याय कहलाता है।

इस स्वाध्याय शब्द पर हम वैसे भी विचार करें तो भी यह हमारे जीवन को बहुत उत्तम प्रेरणा दे सकता है। स्वाध्याय कहते हैं- **''सु अध्ययनं-स्वाध्यायः''** अर्थात् जो सु-अध्ययन है-जो उत्तम अध्ययन है, वही सुखकर अध्ययन है। इसके अनुसार जो अच्छे-अच्छे शास्त्रों का पढ़ना है, वही स्वाध्याय है। इसी प्रकार जो स्व-अध्ययन है, स्व अर्थात् अपना अध्ययन है, जो अपने आप को पढ़ना है, विचारना है, कि **''मैं इस संसार में किसलिए आया हूँ, क्या मैं कर रहा हूँ, और क्या मुझे करना चाहिये, यह सब भी इस स्वाध्याय का अर्थ है।''** इसी तरह 'स्व' कहते हैं अपने धन-वैभव वा स्त्री-पुत्र रूप आदि को, तो इसके अनुसार यह विचार करना चाहिये कि जिस धन-वैभव का स्त्री-पुत्र 'स्व' में मैं इतना डूबा हुआ हूँ, उन के सम्बन्ध में विचार करना कि आखिर ये सब मेरे साथ कब तक के साथी हैं....................?''

इस प्रकार यदि साधक यह विचार करता रहेगा तो वह इन धन-वैभवों का; स्त्री-पुत्रों का सेवन करता हुआ भी इनसे सदा ऊपर उठा-उठा हुआ सा उत्तम-उत्तम, गीता, उपनिषद, योगदर्शन एवं वेदादि अध्यात्म मार्ग के प्रेरक शास्त्रों को पढ़ता हुआ ''मैं किस लिए संसार में आया हूँ?'' इस उद्देश्य को जानकर उसके प्रति सदा सजग रहेगा। और अपने उद्देश्य के प्रति सजग रहकर ओंकार आदि का जप करता हुआ अपने लक्ष्य परमेश्वर की ओर वह अग्रसर हो सकेगा, जो कि स्वाध्याय का चरम लक्ष्य है-अन्तिम उद्देश्य है।

ईश्वरप्रणिधान

पाँचवाँ नियम है- 'ईश्वरप्रणिधान।' ईश्वरप्रणिधान कहते हैं-ईश्वर अर्थात् उस परम गुरु परमात्मा में अपने सब कर्मों को अर्पण कर देना। इस ईश्वरप्रणिधान को ईश्वर के प्रति अपने आप को पूर्णतया समर्पित कर देने को भक्ति विशेष की संज्ञा दी जाती है।

अब जिस भी साधक में इस भक्ति विशेष का प्रादुर्भाव हो जाता है, वह फिर जो भी कुछ करता है, वह प्रभु के लिए ही करता है, जो कुछ भी करता है वह प्रभु को समर्पण करने के लिए ही करता है। अब जब कोई संसार में ही अपने से किसी ज्येष्ठ श्रेष्ठ व्यक्ति को कुछ फल वस्त्र आदि सड़ा गला न होकर उत्तम से उत्तम होना चाहिये तो फिर भला जिस साधक की अपने प्रभु में भक्ति विशेष है, अत्यन्त निष्ठा है, वह भला फिर ऐसे सड़े-गले, असुन्दर कर्म कैसे कर सकता है? वह तो फिर जहाँ भी, जो भी कुछ कर्म करेगा वे बड़े ही उत्तम करेगा। क्योंकि उसने उन कर्मों को अपने प्यारे और सब जग से न्यारे प्रभु को समर्पित करने हैं। सो यह ईश्वरप्रणिधान ऐसा है कि वह साधक को समाधिस्थ तक कर देता है।

इस प्रकार ये उपर्युक्त पांच नियम उपासना का दूसरा अंग हुए।

इस प्रकार चाहे शय्या पर लेटा हुआ हो वा आसन पर बैठा हुआ हो या मार्ग पर चल रहा हो अपने स्वरूप में स्थित हुआ, संशय आदि वितर्क-जल जिसके क्षीण हो गये हों, ऐसा वह संसार के बीच को क्षय करने का अभिलाषी साधक नित्य परमपिता परमात्मा में युक्त हुआ-हुआ अमृत भोग का भागी होता है, मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाला होता है। जिसके सम्बन्ध में योगदर्शन 1/29 में कहा गया है कि **''उस से अन्तर्यागी परमात्मा की प्राप्ति और विघ्नों का नाश होता है।''**

इस तरह पहले पांच यम और ये पांच नियम हुए। हर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यमों का निरन्तर सेवन करे, केवल शौच आदि नियमों का ही नहीं क्योंकि जो अहिंसा, सत्य आदि यमों को छोड़ कर केवल नियमों का सेवन करता है, वह गिर जाता है।

अब इन नियमों के पालन में यदि विघ्न उपस्थित हों तो उनके प्रतीकार का उपाय बतलाते हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपाक्षभावनम् ॥ योग० २/३३

वितर्कों अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी आदि द्वारा इन यम-नियमों का बाध होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करे।

यम और नियमों के विपरीत जो हिंसा, झूठ, चोरी ब्रह्मचर्य का अभाव और परिग्रह, अशौच, असन्तोष, तप रूप अधर्म हैं वे वितर्क कहाते हैं। अब जीवन में किसी भी दुर्बलता के कारण जब वे वितर्क उत्पन्न होने लगें और उन यम-नियमों के पालन करने में बाधा पड़ने लगे तो उस समय साधक को चाहिए कि वह पतिपक्ष की भावना करे, प्रतिपक्ष का चिन्तन करे। अर्थात् वह उन हिंसा, झूठ, चोरी आदि वितर्कों से भविष्य में होने वाले दुःख-कष्ट आदि रूप फल का चिन्तन करे। जैसे किसी के उपचार करने पर ब्राह्मण वा योगी के चित्त में धर्मविरोधी हिंसा, झूठ, चोरी आदि वितर्क उत्पन्न होने लगें, यह सोच कर कि ''मैं तो किसी का कुछ बुरा नहीं करता, पर फिर भी जब कोई व्यक्ति मेरा अपकार करता है तो फिर मैं उस अपकारी का हनन करूंगा, मैं उस बुरा करने वाले को मारूंगा। यदि उसको हानि वा कष्ट पहुंचाने के लिए मुझे झूठ भी बोलना पड़ा तो मैं वह भी बोलूंगा। मैं उस के धन-वैभव को भी चुराऊंगा, यहां तक कि मैं उसकी स्त्रियों का शील भी भंग करूंगा, अर्थात् उसकी स्त्रियों से व्यभिचार भी करूंगा, मैं उसके धन-वैभव का स्वामी भी बनूंगा। और यानी इस तरह शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि सब नियमों को छोड़ कर भी जब उस व्यक्ति से बुरी तरह बदला लेने को मन चाहे तो इस प्रकार उन कुमार्ग की ओर झुकाने वाला प्रचण्ड वितर्कज्वर जब उस

अभ्यासी को सताए तो तब वह इसके प्रतिपक्षों का अर्थात् विरोधी भावों का चिन्तन करे। वह यह कि- ''जब संसार की घोर अग्नि में तप-तप कर, सन्तप्त हो-होकर किसी पुण्य विशेष के प्रभाव से उससे बचने के लिए मैंने सर्वप्राणियों को अभय दान देकर दुःख के मूल कारण हिंसा आदि वितर्कों का परित्याग करके सुखविशेष तथा ज्ञानरूप फल वाले अहिंसा सत्य आदि यम-नियमों का आश्रय लिया है, अत्यन्त कल्याणकारी योगधर्म का आश्रय लिया है तो इस प्रकार यदि अब मैं उस को छोड़ कर पुनः उन पूर्व त्यागे हुए हिंसा, झूठ, चोरी आदि वितर्कों-पापों का ग्रहण करूं तो निश्चय ही यह मेरा वान्तावलेही कुत्ते जैसा कर्म होगा। क्योंकि त्यागे हुए, वमन किये हुए का पुनः ग्रहण करना, चाटना तो कुत्ते का ही स्वभाव है, मनुष्य का नहीं। अतएव मुझ को इस दुःखमयी संसाराग्नि के ताप से बचने के लिए त्यागे हुए हिंसा आदि वितर्कों का ग्रहण कभी नहीं करना चाहिए।'' यों प्रतिपक्ष का चिन्तन करने से पुनः योगी के चित्त में हिंसा आदि वितर्क कदापि नहीं आते और वह फिर निर्विघ्नता पूर्वक यम-नियमों का अनुष्ठान करता हुआ अबाध गति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है।

अब इन वितर्कों के स्वरूप, प्रकार, कारण, धर्म तथा फल का निरूपण करते हुए प्रतिपक्षभावंना का स्वरूप दर्शाते हैं।

ये हिंसा, झूठ, चोरी आदि वितर्क कृत अर्थात् स्वयं किये हुए, कारित अर्थात् दूसरों से कराए हुए और अनुमोदित अर्थात् अनुमोदन किये हुए, लोभ, क्रोध और मोह रूप कारण से उत्पन्न होने वाले; मृदु, मध्य और तीव्र धर्म वाले, भेद वाले तथा अनन्त, असीम दुःख और अज्ञान रूप फल के देने वाले हैं। यह प्रतिपक्षभावना है, यह प्रतिपक्ष का चिन्तन है।

अब यम-नियमों के विरोधी जो हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि वितर्क हैं, पाप हैं, उनके तीन भेद हैं-स्वयं किये हुए। दूसरों से कराये हुए और अनुमोदन अर्थात् ताईद किये हुए। उनके कारण हैं-लोभ, क्रोध और मोह। उनके मृदु, मध्य और तीव्र-ये तीन धर्म हैं, तीन भेद हैं। इन सबका फल कभी न समाप्त होने वाला दुःख और अज्ञान है। इस प्रकार साधक प्रतिपक्ष का चिन्तन करे तो वह इन हिंसा आदि वितर्कों से बचता हुआ कल्याणकारी योगमार्ग का सच्चा पथिक बनकर कभी न कभी अपने लक्ष्य को पा ही लेना।

उन वितर्कों में से उदाहरण के लिए हिंसा को लेते हैं। यह हिंसा तीन प्रकार की होती है। पहली 'कृत'-जो स्वयम् अपने मन, वचन, कर्म से दूसरे की हिंसा की जाए; दूसरी 'कारित'- जो स्वयं तो हिंसा न की जाए, पर दूसरों से कराई जाए; तीसरी 'अनुमोदित'-जो न तो स्वयं की जाए और न ही दूसरों से कराई जाए, वरन् केवल हिंसा करने वाले का अनुमोदन किया जाए, वा उस के करने वाले की प्रशंसा आदि करके उसको वैसा करने को प्रोत्साहित किया जाए। इस प्रकार यह हिंसा तीन प्रकार की हुई। इनमें

से एक-एक फिर तीन-तीन प्रकार की हैं। जैसे (1) लोभ से प्रेरित होकर अर्थात् मांस और चर्म के लोभ से प्रेरित होकर की गई, कराई गई और अनुमोदन की गई हिंसा। (2) क्रोध के कारण की गई, कराई गई, और अनुमोदन की गई हिंसा (जैसे इस ने मेरा अपकार किया अत: इस पर मेरा गुस्सा है। अत: मैं इसे मारूंगा।) (3) मोह से की गई, कराई गई और अनुमोदन की गई हिंसा। जैसे यह पापी है, अत: इसके मारने से मेरा धर्म होगा स्वयं नहीं मार सकता तो औरों से इसे मरवाऊंगा। अगर इसे मरवा भी न सका तो इसे मारने वाले का अनुमोदन करूंगा। इस प्रकार यह हिंसा 3x3=9 प्रकार की हुई। फिर यह 9 प्रकार की हिंसा में से प्रत्येक मृदु, मध्य और तीव्र भेद से तीन-तीन प्रकार की होने से 9x3=27 प्रकार की हिंसा हुई। इस के आगे मृदु, मध्य और तीव्र के पुन: तीन-तीन भेद किये गये। मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-तीव्र, मध्य-मृदु, मध्य-मध्य, मध्य-तीव्र, तीव्र-मृदु, तीव्र-मध्य और तीव्र-तीव्र। इस प्रकार 27x3=81 प्रकार की यह हिंसा हुई। इसी प्रकार इसी हिंसा के आगे चलकर और भी बहुत से प्रकार हो जाते हैं जिनका विस्तार भय से यहां वर्णन नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, अशौच, असन्तोष, अतप, अस्वाध्याय आदि के विषय में भी जानना चाहिए।

इस तरह जब योगी के हृदय में किसी भी कारण से जब ये हिंसा, मिथ्याभाषण, चोरी, आदि वितर्क उठें तो उसे इस प्रकार चिन्तन करते हुए यह परिणाम निकालना चाहिए कि ये हिंसा आदि वितर्क पाप कर्म हैं, दुष्ट कर्म हैं। और अगर मैं इन-इन पाप कर्मों से, इन-इन दुष्ट कर्मों से नहीं बचूंगा तो फिर इनका जो फल दु:ख, कष्ट, पीड़ा, आपत्ति और अज्ञान आदि होगा, उसका भी फिर कभी अन्त नहीं होगा। अत: मुझे इन से बचने के लिए इस प्रकार प्रतिपक्ष की भावना करते हुए इन से जी-जान से बचने का प्रयास करना है। इसी में ही मेरा हित है, इसी में ही मेरा कल्याण है। इन प्रकार प्रतिपक्षभावना से वह अपने को इन हिंसा आदि वितर्कों से बचा लेगा और फिर वह निर्विघ्नतापूर्वक यम-नियमों का पालन कर सकेगा।

सन्दर्भ-

1. योगदर्शन 1/33
2. रूखी-सूखी कै ठण्डा पानी।
   देख पराई चोपड़ी न तरसावे जी।।
3. ऐसे निकृष्ट विचार कभी-कभी बड़े-बड़े महापुरुषों में भी आ जाते हैं जिन से साधनों को अत्यन्त हानि होती है।
4. वमन किये हुए को चाटने वाला।
5. योग0 2/43

''महर्षि दयानन्द सरस्वती का संस्कृत भाषा को योगदान''

डॉ० सत्यदेव निगमालङ्कार,
रीडर श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान
गु0का0वि0वि0, हरिद्वार

महर्षि दयानन्द ने अपने प्रातिभचक्षुओं से अच्छी प्रकार देख लिया था कि भारत के निवासियों में विदेशी सभ्यता और संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव से रक्षा करने के लिये इनके उज्ज्वल भूत तथा इनके आत्मविश्वास को जागृत करने के लिये संस्कृत भाषा का प्रचार और प्रसार करना आवश्यक है। इसलिये भारतवासियों के एकमात्र श्रद्धास्पद तथा युगों-युगों से वन्दनीय, अर्चनीय एवं माननीय वेदों की ओर उन्हें लाने के लिये प्रेरित करने लगे। सर्वप्रथम उन्होंने ''वाणासुर वेदों को पाताल लोक में चुरा ले गया'' इस लोकप्रसिद्धि का प्रतिवाद कर सबके समक्ष वेदों को उजागर किया जिससे जनसमूह में वेदों के चोरी होने की भ्रान्ति दूर होने लगी। इस प्रयास के लिये महर्षि दयानन्द ने **''स्वयंधीराः पण्डितमन्यमानाः''** जनसमुदाय से अनेकानेक वादविवाद किये, प्रतिवाद किये, अपवाद सहे और संघर्ष झेले। वज्र के समान कठोर, समुद्रवत् गम्भीर तथा पर्वत के समान अडिग इस ऋषि ने अगला कदम उठाया कि ये वेद सभी के लिये पठनीय, मननीय एवं आचरणीय हैं। इस घोषणा से तो भारत की जनता में एक अद्‌भुत चमत्कृत् क्रान्ति का अविर्भाव हुआ, जिससे जनता ने वेदों का पढ़ना-पढ़ाना तथा सुनना, सुनाना अपना अधिकार समझा। महर्षि ने आर्य समाज की स्थापना के साथ-साथ उसमें जो आर्य समाज के नियम बनाये उनमें वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक तथा इन्हें पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का अधिकार सबको दिया ही नहीं अपितु परमधर्म घोषित कर भारतीय संस्कृति को नये रुप में जोड़ने का अपूर्व प्रयास किया[1]। उनकी दूरदृष्टि यह देख चुकी थी कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति की मात्र रक्षा हेतु ही नहीं अपितु समस्त प्राणीमात्र की रक्षा करने के लिए मानवों को वेदों की ओर चलने के लिये प्रेरित करना होगा। वेदों को जानने के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान अति आवश्यक है, यतोहि वेदों की रचना इसी भाषा में हुई अतः महर्षि दयानन्द ने संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार पर विशेष बल दिया। इसके लिये उन्होंने संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना करायी। उनके पत्रों से ज्ञात होता है कि उन्होंने तीन पाठशालायें तो विशेष रूप से स्थापित करायी थी। एक सितम्बर 1870 को फर्रुखाबाद से लाला पन्नीलाल वाली पाठशाला में मथुरानिवासी अपने सहाध्यायी पं0 गंगादत्त चौबे को बुलाने के लिये महर्षि ने यह पत्र लिखा था-

''श्रीस्तु''

स्वस्ति श्री श्रेष्ठोपमायोग्यस्य गङ्गादत्तशर्म्मणे दयानन्दसरस्वतीस्वामिन आशीर्वादो विदितो भवत्वत्र शं वर्त्तते तत्राप्यस्तु।

भवत्पत्रमागतं तत्रस्थो वृत्तान्तोऽपि विदितः।

भवान् बुद्धिमान् भूर्तवा पत्रं तु प्रेषितवान् परन्तु स्वयं च पत्रप्रेषणवन्नागत् इदम्महदाश्चर्यम्॥ इदम्पत्रं दृष्ट्वैव शीघ्रमागन्तव्यमागत्य यस्मिन्दिने भवानत्र पाठयशालायाम्पाठनारम्भं करिष्यति तस्मिन्नव दिने एकामासस्य विचारितस्य तु प्रेषणं गृहम्प्रति कार्यमिति निश्चयो वेदितयो नात्र कार्या विचारणा॥

इयं शङ्कापि भवता न कार्या जीविका तत्र भवेद्वा नेति॥

इदानीन्तु प्रतिदिनम्मुद्रैका जीविकास्त्यत्र परन्तु यदा यदा भवतो गुणप्रकाशो भविष्यति तदा तदाधिकाधिका जीविका निश्चिता भविष्यतीति विज्ञेयम्॥

इदानीन्तु भवतात्रैव स्थितिः कार्या पुनरन्यत्र वात्रैवाजीविका निश्चिता स्थास्यति, न जाने भवेदाजीविका न वेति गमने कृते सति मयीति भवतो ह शङ्कापि मा भूत्॥

अत्रागमने कृते सति भवति सर्वं शोभनं भविष्यति॥

परन्तु भवतात्रागमने क्षणमात्रोऽपि विलम्बो न कार्यः।

किम्बहुना लेखेनाभिन्नेषु॥

संवत् १९२७ भाद्रपदशुक्लपक्षषष्ठ्यां बृहस्पतिवासरे लिखितमिदम्पत्रं विदितम्भवतु[२]॥

महाभाष्यांष्टाध्यायी-धातुपाठोणादिपाठ-कार्त्तिकपाठपरिभाषापाठ-गणपाठपुस्तकानि गृहीत्वैवागमनम्भवेत् अन्यदपि वेदस्यापि[३]॥

इस पत्र के विषय में कतिपय बातें ध्यान देने योग्य हैं।

पत्र से ज्ञात होता है कि महर्षि के समय में आर्ष ग्रन्थों के अध्यापकों का प्रायः अभाव था। इसीलिये महर्षि ने अपने सहाध्यायी मथुरानिवासी पं0 गङ्गादत्त चौबे को पत्र लिखते हुए पत्रान्त में **'महाभाष्याष्टाध्यायी०'** इत्यादि पंक्ति का विशेषतः उल्लेख किया है। पत्र की कतिपय पंक्तियों से महर्षि का अर्थशास्त्री होना दृष्टिगत होता है तथा साथ ही पत्र की कतिपय पंक्तियों से महर्षि का संस्कृत भाषा के प्रति अतिशीघ्र प्रचार की लालसा भी ज्ञात होती है।

इसी पाठशाला से सम्बन्धित संस्कृतभाषा को लेकर कतिपय पत्र महर्षि ने पुनः लिखे, जिनके कुछ अंश इस प्रकार हैं-

(क) यदुनाथ मित्र को जो तुने ४०/- रु० मासिक पर नियत किया है सो ठीक है परन्तु इस पाठशाला में अधिक करके संस्कृत की उन्नति पर ध्यान रखना चाहिये। और इसमें केवल लड़के ही पढ़ते हैं अथवा हमारे रईस लोगों में से भी कोई पढ़ता है। और उस पाठशाला में से कोई विद्यार्थी अच्छे निकले वा नहीं, क्योंकि शाला को एक वर्ष हो चुका है।........................ईश्वर

करे कुछ फल लगे[४]''।

(ख) यह पत्र आपको आवश्यक समझकर इसलिए लिखा जाता है कि आप इसको उपसभा में सब लोगों को सुना देवें। मुंशी कालीचरण रामचरण जी के पत्र से विदित हुआ कि आप लोगों की पाठशाला में आर्य्यभाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्य भाषा अंग्रेजी वा उर्दू फारसी अधिक पढ़ाई जाती है। इससे वह अभीष्ट जिसके लिए यह शाला खोली गयी है सिद्ध होता नहीं दीखता। वरन आपका यह हज़ारहा मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है। हमने कभी परीक्षा के कागज़ात वा आज तक की पढ़ाई का फल कुछ नहीं देखा। आप लोग देखते हैं कि बहुत काल से आर्य्यावर्त्त में संस्कृत का अभाव हो रहा है। वरन संस्कृतरूपी मातृभाषा की जगह अङ्गरेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है। अङ्गरेजी का प्रचार तो जगह-जगह सम्राट की ओर से जिनकी यह मातृभाषा है भले प्रकार हो रहा है। अब इसकी वृद्धि में हम तुमको इतनी आवश्यकता नहीं दीखती। और न सम्राट के सामने कुछ कर सकते हैं। हाँ, हमारी अति प्राचीन मातृभाषा संस्कृत जिसका सहायक वर्तमान में कोई नहीं है। और यही व्यवस्था देखकर संस्कृत के प्रचारार्थ आप लोगों ने यह पाठशाला स्थापित की है। तो यह भी उचित कर्त्तव्य अवश्य है कि सदैव पूर्व इष्ट के सिद्धि पर दृष्टि रक्खी जावै। अब इसके साधनार्थ यह होना चाहिये कि कुल पठन पाठन समय के छः घण्टों में ३ घण्टे संस्कृत, २ घण्टे अङ्गरेजी और १ घण्टा उर्दू फारसी पढ़ाई जाया करें। और प्रतिमास संस्कृत की परीक्षा अन्य पण्डितों के द्वारा हुआ करे। और वे प्रश्नोत्तरों के कागज़ात हमारे पास भेजे जाया करें। अभी तक कुछ फल संस्कृत में इस शाला से नहीं लगा। सो इसलिये ऊपर जो कुछ लिखा गया उसको वर्त्ताव में लाओ तो अपने अभीष्ट के सिद्धि होने की आशा कर सकते हैं। किमधिकं सुज्ञेषु॥

(ग)......................जहां तक बने पाठशाला के उद्देश्य पर कि संस्कृत की उन्नति होनी सो इस पर अच्छे प्रकार ध्यान रहे[६]॥

(घ)......................''पाठशाला में संस्कृत का काम ठीक ठीक होना चाहिये। जैसे मिशन स्कूलों में लड़के अपने अन्य स्वार्थ सिद्धि के लिये बाईबिल सुन लेते हैं और कुछ ध्यान नहीं देते, वैसे जो संस्कृत सुन लिया तो क्या लाभ हो गया। इस पाठशाला में मुख्य संस्कृत जो मातृभाषा है उसको ही वृद्धि देना चाहिये। वरन फारसी का होना कुछ अवश्य नहीं। केवल संस्कृत और राजभाषा अंगरेजी दो ही का पठन-पाठन होना अवश्य है। सो आधे-आधे समय दोनों जारी रहें। और दोनों की परीक्षा भी माहवार बड़ी सावधानी और दृढ़ नियम के साथ हुआ करे। और दोनों ही की अपेक्षा से कक्षा वा नवम्बर की वृद्धि विद्यार्थियों की हुआ करे। और

हमको सदैव परीक्षा पत्र भेजा करो। विशेषकर संस्कृत के विद्यार्थियों के माहवार पाठन का ब्यौरा और किस कक्षा में कौन-कौन पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, कितनी-कितनी हुई, यह सब सूचना दिया करो। किमधिकं विज्ञेषु। विशेष फिर आप को लिखेंगे''।।

यह पत्र महर्षि ने राजा दुर्गाप्रसाद जी को 17 जून 1881 को अजमेर से लिखा था। जिसे 27 मार्च 1927 को महाशय मामराज जी ने आर्यसमाज फर्रुखाबाद से प्राप्त किया था।

महर्षि दयानन्द के दो पत्रों से ज्ञात होता है कि उन्होंने एक पाठशाला काशी में भी स्थापित की थी। प्रथम पत्र काशी से बाबू शिवसहाय को 29 मई 1874 को लिखा गया है, जिसमें महर्षि लिखते हैं-

(क) यहां की पाठशाला का प्रबन्ध बहुत अच्छा है। एक छः शास्त्रों का पढ़ाने वाला बहुत उत्तम अध्यापक रक्खा गया है। वैसा ही एक वैयाकरण स्थापन किया गया है। दशाश्वमेध पर स्थान लिया गया है, बहुत उत्तम। इसमें पाठशाला पूर्णमासी के पीछे बैठेगी। केदारघाट का स्थान अच्छा नहीं था। इससे अब हमारे पास बाग में पाठशाला है। अच्छे-अच्छे विद्यार्थी भी पढ़ते हैं। सो जानना। आगे तुम पत्र देखते ही रुपया और पुस्तक जल्दी भेज दो। विलम्ब क्षणमात्र भी मत करना। और दिनेशराम को एक महाभाष्य पुस्तक देकर और सब पुस्तक यहां भेज दो। और जो दिनेशराम न दे, तो फिर देखा जायेगा। तुम अपने पास के पुस्तक और रुपया यह हुण्डी कराके शीघ्र भेज दो। आगे गोपाल व अन्य को पढ़ने की इच्छा होवे सो चला आवे। ब्रह्मचारी लक्ष्मीनारायण यहां अब तक नहीं आया। और न कोई तुम्हारा पुत्र। किन्तु पत्र आया, इस का यह उत्तर जानना''।।

यह पत्र महर्षि ने कानपुर निवासी बाबू शिवसहाय को लिखा था, जो गौड़ ब्राह्मण थे तथा जो महर्षि का प्रमाणपत्र लेकर काशी की पाठशाला के लिये नगर-नगर से धनसंग्रह करते थे। जब वह फरुखाबाद में थे तब उसे यह पत्र मिला। यही शिवसहाय जी संवत् 1936 में कानपुर आर्य समाज के मन्त्री भी थे। पत्र में उल्लिखित ''बाग'' सरजूप्रसाद बनिया का बाग है।

काशीपाठशाला से सम्बन्धित द्वितीय विज्ञापन पत्र भी प्राप्त होता है, जिसमें पूर्व पाठशाला का स्थान पारिवर्तन, समय-निर्धारण, अध्यापक नियुक्ति, विभिन्नग्रन्थों का पाठन, विद्याभिलाषियों के लिये निमन्त्रण तथा परितोषिक इत्यादि की चर्चा है। यह पत्र पं0 लेखराम कृत महर्षि के जीवनचरित्र में छपा है। जो प्रथम **'कवि वचन सुधा'** हिन्दी मासिक पत्रिका के 20 जून 1874 के अंक में छपा पुनः **'बिहारबन्धु'** में 28 जून 1874 को छपा और वहां से पं0 लेखराम जी ने उद्धृत किया है।[7]

महर्षि ने एक पत्र कासगंज एटा की पाठशाला से सम्बन्धित लिखा है। यह पत्र किसको लिखा, यह स्पष्ट नहीं है। हाँ, पत्र की भाषा से ज्ञात होता है कि पाठशाला के किसी अधिकारी के नाम यह

पत्र है जिसमें पाठशाला की उन्नति की जानकारी चाही गयी है। पत्र चैत्र वदी 4 शनिवार संवत् 1930 को लिखा गया है-

''विशुद्धानन्द निकल गया। इसमें जो सत्य-सत्य कारण होय, सो शीघ्र लिख भेजना। वृन्दावन सेठ जी के बाग में पूर्व निकट मलूकदास जी का बाग ठिकाना लिफाफा के ऊपर लिख दीजिये। हमको अनुमान से ज्ञात है कि युगलकिशोर से पढ़ाया नहीं गया होगा। अथवा और कुछ कारण हुआ होगा। जो ऐसे-ऐसे विद्यार्थी चले जायेंगे, तो पढ़ानेवाले की त्रुटि गिनी जाएगी। इसका हाल शीघ्र लिखो। और कौन क्या-क्या पढ़ता है, सो भी लिखना, जो जैसा वर्तमान होय।''

महर्षि दयानन्द के पत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने दानापुर में पाठशाला खुलवाने के लिये वहां के आर्य समाज के मन्त्री लाल माधोलाल को प्रोत्साहन और निर्देश भी दिया। यथा-

(क)..........मुझे यह सुनकर बहुत प्रसन्नता है कि आप आर्य्य संस्कृत पाठशाला का यत्न कर रहे हैं और भी अधिक प्रसन्नता इस बात की है कि १०२/- रु० पच्चीस पै० इस की सहायकता में एकत्र हो गये है''[८]।

(ख) आपके संस्कृत पाठशाला खोलने का विचार सुनकर मुझे बहुत हर्ष है। पर इस से पूर्व कि आप इस सर्वोपयोगी काम को हाथ में लें मुझे सूचना दें कि पाठशाला में पढ़ाये जाने वाले भिन्न-भिन्न शास्त्रों के प्रमाण ग्रन्थों के सम्बन्ध में आपने क्या क्रम रखा है? क्या अभी आप के पास सब आवश्यक ग्रन्थ तय्यार हैं। मेरा विचार है, नहीं। मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि काम को प्रारम्भ करने से पूर्व आपको सबसे पहले सब ग्रन्थ छपवा लेने चाहियें[९]॥

इस प्रकार संस्कृत भाषा के प्रचार के लिये प्रथम महर्षि ने संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना की योजना बनाई। महर्षि ने इस भाषा के प्रसार हेतु अनेकों पत्र लिखे। जोधपुर नरेश को 8,9,1883 को पत्र लिखते हुए महर्षि निर्देश देते हैं- ''महाराजकुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइयेगा। २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत विद्या जो कि सनातन आर्ष ग्रन्थ हैं, जिनके पढ़ने में परिश्रम और समय कम होने और महालाभ प्राप्त हो, इन दोनों को पढ़ें''॥

आर्य सभासदों को संस्कृत भाषा के अध्ययन हेतु उपनियमों में महर्षि लिखते हैं-

''सब आर्य और आर्य सभासदों को संस्कृत वा आर्य्यभाषा जाननी चाहिये[१०]''॥

अब हम कतिपय ऐसे स्थल उद्धृत करते हैं जिनसे ज्ञात होगा कि महर्षि ने संस्कृतभाषा के प्रसार के अनेकानेक उपाय किये-

(क)........................विदित हो कि हमने सुना है कि आपका इरादा संस्कृत पढ़ाने के लिये इंग्लैण्ड जाने का है, सो यह विचार बहुत अच्छा है।.......... और कोई बात या काम ऐसा न हो कि जिससे अपने देश का ह्रास होवे, क्योंकि वे लोग संस्कृत पढ़ाने वाले की अत्यन्त इच्छा रखते हैं''।।

यह पत्र महर्षि ने श्री श्यामजी कृष्ण वर्म्मा को 15,7,1818 को लिखा।

(ख)........................विशेष करके आर्यावर्त्तवासी मनुष्य जब तक सनातन संस्कृत विद्या न पढ़ेंगे,.............तब तक इनको सुखलाभ होना बहुत कठिन है, अन्य देशवासियों को भी''।

(ग)........................''वेद और प्राचीन आर्षग्रन्थों के ज्ञान के बिना किसी को संस्कृतविद्या का यथार्थफल नहीं हो सकता और इसके बिना मनुष्य जन्म का साफल्य होना दुर्घट है''।।

(घ) ''इससे मेरा विज्ञापन है आर्यावर्त्त देश का राजा अंग्रेज बहादुर से, कि संस्कृत-विद्या की ऋषि-मुनियों की रीति से प्रवृत्ति करावे। इससे राजा और प्रजा को अनन्त सुखलाभ होगा और जितने आर्यावर्तवासी सज्जन लोग हैं, उनसे भी मेरा यह कहना है कि इस सनातन संस्कृत विद्या का उद्धार अवश्य करें। ऋषि-मुनियों की रीति से अत्यन्त आनन्द होगा और जो संस्कृत विद्या [लुप्त] हो जाएगी, तो सब मनुष्यों की बहुत हानि होगी, इससें कुछ सन्देह नहीं''।

(ङ)........................निरामय महोत्सव में निम्नलिखित कार्य अवश्य कीजियेगा। एक......... वेदमन्त्रों से होम।.........और १०,०००/- मेवाड़ में वैदिक धर्म प्रचार और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के छपवाने (और) प्रदान करने के लिये''।

यह पत्र महर्षि दयानन्द ने जोधपुर नरेश को अगस्त 1883 को लिखा था। संस्कृत के ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु उस समय में दस हजार रुपयों की राशि विशालतम थी। महर्षि जानते थे कि संस्कृत का प्रचार न केवल पढ़ने से अपितु उस भाषा के ग्रन्थों के प्रकाशन से भी होगा। इसीलिये बम्बई आर्यसमाज के नियम सं0 5 में उन्होंने लिखा-

.........''प्रधान समाज से वेदानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नानाप्रकार के पुस्तक होगें सदुपदेश के लिये, और आठ-आठवें दिन एक आर्यप्रकाश पत्र निकलेगा। ये सब समाजों में प्रवृत्त किये जायेंगे।।''

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के 14 समुल्लास लिखे, किन्तु राजा जयकृष्णदास जी ने जो सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण मुद्रित कराया उसके मात्र 12 समुल्लास ही छापे गये थे। उस हस्तलिखित सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास के अन्त में आर्यावर्त्त की उन्नति के उपाय में विज्ञापन सं0 6 में महर्षि ने लिखा-

..........."और यह भी है- सत्य विद्या और सत्य व्यवहार सब देशों में प्रवृत्त होना चाहिये। परन्तु आर्यावर्त्त देश की स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है, जो कि उक्त प्रकार से प्रथम कही, उसी से इस देश का कल्याण होगा, अन्य देशभाषा से नहीं। अन्य देशभाषा तो जितना प्रयोजन उतनी ही पढ़नी चाहिये। और विद्यास्थान में संस्कृत ही रखना चाहिये।"

ऋग्वेदभाष्य का जो 38, 39 अंक सम्मिलित रूप से 31 मई 1882 को छपा उसके टाइटल पेज 4 पर महर्षि दयानन्द के हस्ताक्षर के बिना यह विज्ञापन छापा गया- "सब सज्जन लोगों को विदित हो कि यह भारतसुदशाप्रवर्त्तक नाम का पत्र सनातन वेदोक्त धर्मविषयक व्याख्यान नाटक तथा सत्योदेश से सुभूषित होके प्रतिमास निकलता है जिस किसी को उसके ग्रहण की इच्छा हो वह लाला कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद के पास लिख के मंगवा लेवे..........और इतने पर भी विशेष यह है कि जो कुछ बचता है वह संस्कृत और देश की उन्नति में लगाया जाता है"- पूना संस्करण के 534 पृष्ठ 567 के पत्र में इस विज्ञापन को पुनः छापने का आदेश महर्षि ने दिया है।

मुम्बई आर्यसमाज के नियम 12 और उसके व्याख्यान में लिखा गया है कि - "प्रत्येक सभासदों को न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त होय, उसमें से आर्यसमाज, आर्यविद्यालय तथा आर्यप्रकाश पत्र इन तीनों के प्रचार के लिये प्रीतिपूर्वक शतांश देवैं। अधिक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का व्यय इन तीन विषयों में ही होय, अन्यत्र व्यय नहीं किया जाय"॥

इसी में आगे 16 वें नियम तथा उसके व्याख्यान में स्पष्ट लिखा गया है- "१६-आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन और पाठन कराये जायगें, वेदोक्तरीति से स्त्री और पुरुषों को सत्यशिक्षा करने में आवैगी।।"

इस मूल के व्याख्यान में वहां लिखा है- "संस्कृत वा भाषा में नाना प्रकार के ग्रन्थ बनाने और पढ़ाने में वेदानुकूल आवेंगे। कोई भाषान्तर भी पढ़ाये जायगे। परन्तु जो जो उत्तमत्ता युक्त होगें मुख्य संस्कृत ग्रन्थों का ही पठन और पाठन कराया जाएगा"॥

महर्षि दयानन्द ने शाहपुराधीश श्री नाहरसिंह वर्मा को मिति श्रावण वदी 4 मंगलवार सम्वत् 1939 को एक पत्र लिखा।

............इसीलिये कि वेदविद्यालयादि उत्तम कार्यों का प्रबन्ध हो जाये। श्रीमान् महाराजाधिराज जी जो उचित समझें इस बात पर श्रीमान् आर्य्यकुल दिवाकर महाशयों को लिखें। जिससें पूर्वोक्त कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो"॥

महर्षि दयानन्द के हृदय में संस्कृत भाषा के प्रचार की लालसा उपदेशमञ्जरी के तीसरे व्याख्यान से निम्न प्रकार प्रकट होती है-

...........इसलिए ऐसा हो कि स्थान-स्थान पर वेदशालायें हों, उनमें वेदाध्ययन कराया जावे परीक्षायें लिवायी जावें अर्थात् वेदाध्ययन को हर प्रकार से उत्तेजना मिले, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये''॥

इसी उपदेशमञ्जरी के पांचवें व्याख्यान में महर्षि दयानन्द के संस्कृतभाषाविषयक निम्न उद्गार अत्यन्त प्रेरणादायक हैं-

''संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है। अंग्रेजी सदृश भाषायें उसमें परम्परा से उत्पन्न हुई हैं।.........ईश्वर में जैसा अनन्द आनन्त है उसी तरह संस्कृत भाषा में भी अनन्त आनन्द है। इस भाषा के सदृश मृदु, मधुर और व्यापक, सर्वभाषाओं की माता, ऐसी दूसरी कौन सी भाषा है? अर्थात् कोई भी दूसरी नहीं।.............सर्वभाषाओं का मूल संस्कृत में है''॥

एवं ज्ञात होता है कि महर्षि दयानन्द ने संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार हेतु विभिन्न पाठशालायें खुलवायी, पाठशालाओं की स्थापना हेतु अनेकानेक पत्र लिखें। मौखिक प्रेरणायें कितनों को दी होगीं इसकी तो मात्र कल्पना ही की जा सकती है। स्वयं की मातृभाषा गुजराती भाषा के होने पर भी अपने ग्रन्थों की रचना में हिन्दी भाषा के साथ साथ संस्कृत भाषा का आधिक्य रखा। इसीलिए संस्कृत भाषा के प्रचार हेतु महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, समग्र यजुर्वेद का भाष्य तथा ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के बासठवें सूक्त के द्वितीय मन्त्र तक का भाष्य इत्यादि ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा को आधार बनाकर की।

आज भारतवर्ष के आर्यसमाजों में तथा आर्य समाजियों द्वारा अन्यत्र भी सैकड़ों विद्यालय स्थापित किये गये हैं, किन्तु उनमें संस्कृत भाषा की शिक्षा का क्या स्थान है यह सर्वविदित ही है। महर्षि दयानन्द ने फर्रुखाबाद में स्थापित पाठशाला के विषय में लाला कालीचरण रामचरण जी को 25,4,1883 में पत्र लिखकर विदेशी भाषा के पठन-पाठन को अकर्त्तव्य मानते हुए लिखा था-

''तुम्हारी पाठशाला में अलिफ बे और कैट, बैट का भरमार है, जो कि आर्य समाजों को विशेष कर्त्तव्य नहीं है।''

क्या उस महर्षि के संस्कृतभाषा प्रेम की भावना हमें जागृत कर सकेगी?

प्रमाण तथा टिप्पणियाँ-

1. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।- आर्य समाज का तृतीय नियम॥
2. यह पत्र पं0 विदुरदत्त तान्त्रिक छत्ता बाजार मथुरा निवासी जो पं0 गङ्गादत्त के पौत्र हैं उनके पास सुरक्षित है। महाशय मामराज जी खतौली निवासी उसकी हस्तप्रतिलिपि लाये थे।
3. पत्र की ये अन्तिम पंक्तियाँ के पीछे लिखी थी, जो न जाने कैसे म0 मामराजजी से छूट गयी

किन्तु पं0 युधिष्ठिर मीमांसक जब 1959 को मथुरा गये और उन्होंने उस पत्र के दर्शन किये तो ये पंक्तियां भी प्राप्त कर ली।

4. म0 मामराज ने यह पत्र मार्च 1927 को आर्यसमाज फर्रुखाबाद के पुराने पत्रों से प्राप्त किया था। जो अजमेर से 12 मई 1881 को महर्षि ने लिखा था।
5. यह पत्र फर्रुखाबाद आर्यसमाज के पुराने पत्रों में से 1927 में महाशय मामराज जी ने खोजा था जिसे महर्षि ने सेठ निर्भयराम जी को 23 मई 1881 ई0 में लिखा था।
6. यह पत्र महर्षि ने राजा दुर्गाप्रसाद जी को 10 जून 1881 में अजमेर से लिखा था, जिस पर उनके हस्ताक्षर नहीं हैं। इस पत्र को 1927 में म0 मामराज जी खोजकर लाये थे।
7. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन 1,34-35
8. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन 1, 250
9. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन 1, 260, यह पत्र 14 अप्रैल 1879 को देहरादून से लिखा गया है।
10. उपनियम 35
11. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन 1,40-41, सित0 1874
12. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन 1,152
13. राजा जयकृष्णदास जी ने सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण मुद्रित कराया था। यद्यपि महर्षि जी ने 14 समुल्लास ही लिखवाये थे, पुनरपि उस समय मात्र 12 समुल्लास दी छपे थे। महर्षि का यह लेख हस्तलिखित प्रति के चौदहवें समुल्लास के अन्त में पृ0 485 पर है। ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन में यह 1,36 पर छापा गया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में पूर्वरङ्ग और नान्दी : एक टिप्पणी

डॉ० ब्रजेन्द्र कुमार सिंहदेव
संस्कृत विभाग
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

नाटक के प्रारम्भ में देव, द्विज, नृप, कुशीलव, तथा पारिषदवर्गों की मङ्गल-कामना को अभिवर्द्धन कराने के लिए मृदङ्ग, दुन्दुभि, भेरी, मुरली, शङ्ख., शहनाई प्रभृति वाद्यों के माध्यम से जो देवस्तुतिमूलक मङ्गलारोपविधि का आयोजन होता है उसी को ही नाट्यशास्त्रप्रवर्त्तक स्वयं भरतमुनि **"पूर्वरङ्ग"** कहते हैं। इस पूर्वरङ्ग में बाईस अङ्ग सन्निवेश हैं। उसमें से नान्दी या आशीर्वचन संयुक्त श्लोक मुख्यतम अङ्ग है। सागरनन्दी के विरचित "नाटक लक्षणरत्नकोश" में वर्णन है कि -

"नान्दी पूर्वरङ्गस्याङ्गंशे मुख्यतमम्।" प्रत्याहार-मार्जना-गीतविधि-ब्रह्मयोगचारी-प्रोचना-नान्दी-जर्जरस्तुति (जर्जर = शक्रध्वज, नाट्यदेवता) - दिग्वन्दना : आदिनी द्वाविंशतिः अङ्.ानि वाद्यगीतः नृत्यपूर्वक देवस्तुतिशरीरस्य पूर्वङ्.स्येति। पुनश्च -

यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दीविघ्नोपशान्तये॥

[भाव प्रकाशन]

इससे प्रतीत होता है कि नाटकानुष्ठान के प्रारम्भ में गीतवाद्यादि के साथ-साथ देवस्तुति आदि आनन्दकर एवं मंगलमय विधानमान ही पूर्वरङ्ग तथा आशीर्वाद परायण नान्दी की उक्ति ही उसका मुख्यतम अङ्ग है। यह विघ्नोपशान्त के लिए अवश्य करना चाहिए। नान्दी का लक्षण -

"आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः।
नान्दीति कथ्यते" इति आदिभरते।

नन्दनं नन्दः - आनन्दः। नन्द्+भावे घञ्। नन्देन क्रियते पठ्यते इति नन्द्+अण शैषिकः+डीप् स्त्रियाम्। टिताणञ् .... द्वारा) = नान्दी। अर्थ = मंगल।

नन्दिः = आनन्दः। तस्या इयं नान्दी (नन्द्+अण+डीप्-स्त्रियाम्)।

साहित्यदर्पण में कहा गया है कि -

देवद्विजनृपादीनां आशीर्वादपरायणा।
नन्दन्ति देवता यस्मात् तस्मान्नान्दीतिसंज्ञिता॥

तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये॥

और भी -

आशीर्वचन-संयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

नाट्यप्रदीप में कहा गया है कि -

नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः।
कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी
तस्मादियं सा कथितेह नान्दी॥

इस रूप में विचार करने पर प्रतीत होता है कि आनन्दवर्द्धक, विघ्नोपशान्तकारी, शुभाशीर्वचनसंयुक्त नाटक का आद्य श्लोक ही नान्दी है।

पुनश्च वैजयन्ती कोष में कहा गया है -

"हिन्दभिस्त्वानको भेरी रम्भानादश्च नान्द्यपि।"

अर्थात् दुन्दुभि भेरी आदि नाद भी नान्दी है। कथन का सार यह है कि वाद्यादि सहित तालमानानुसारी आद्यश्लोक को ही नान्दी के रूप में स्वीकार किया जाता है।

इस नान्दी श्लोक को फिर सूत्रधार के द्वारा ही पाठ करने की विधि है, यह नाट्यशास्त्र में इस प्रकार वर्णन है -

सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यस्वरमाश्रितः।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलं कृतम्॥

विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में कहा है -

माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्ज कोककैरवचिंसिनी।
पदैरुक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥

इससे स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि नान्दी श्लोक द्वादशपदी या अष्टपदी होना चाहिए। अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का नान्दी श्लोक अष्टपदी है। इसलिए कि यह आठ पद या वाक्य की समष्टि है। यद्यपि पद एवं वाक्य के मध्य में पार्थक्य है तथापि श्लोकमध्यस्थ वाक्य को पद कहा जाता है। इस कथन का प्रमाण "नाट्य-प्रदीप" में वर्णित है -

श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे।
परेऽवान्तरवाकेकैस्वरुपं पदमुचिरे।।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का नान्दी श्लोक "या सृष्टिः ...." "पत्रावली" संज्ञक नान्दी है। नाट्यदर्पण के अनुसार नान्दी चार प्रकार का है। यथा -

नमस्कृतिर्माङ्गलिका आशीः पत्रावली तथा।
नान्दी चतुर्धा निर्दिष्टा नाटकादिषु धीमता।।

नमस्कृति, माङ्गलिकी, आशीः तथा पत्रवली नाम के चार नान्दी हैं। उसमें से पत्रावली नान्दी का लक्षण इस प्रकार है -

यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः।
शेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा।।

(साहित्यदर्पण)

उक्त नान्दी श्लोक में नाटकीय कथा का बीज न्यास होने के कारण यह पत्रावली श्रेणीय-नान्दी है।

नान्दी में कथा-बीज का विन्यस्त

कथा बीज नान्दी श्लोक में "अर्थतः पद्धतो बापि मनाक् काव्यार्थसूचनम्" (साहित्य दर्पण) अर्थ या शब्द के माध्यम से काव्यार्थ सूचक होता है। "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या" की उक्ति से शकुन्तला का अर्थ निकलता हैं, इसलिए कि शकुन्तला ही एकमात्र गुणवती सुन्दरी सृष्टि में प्रथम ही है। "या विधिना" अर्थात् जो सूरतरूपी विधि से "हुतं" अर्थात् निषिक्ता थी। "हविः = रेत। "वहति" = गर्भधारण करती है। 'होत्री' यहाँ पर कण्वऋषि है। 'ये द्वे' = अनसूया, प्रियम्बदा सखीद्वय। 'कालं' = शापान्त समय। विधत्तः = दोनों के दोनों अतिवाहित किये हुए हैं। पातिव्रत्यादि गुणों के साथ (गुणैः) समग्र विश्व में प्रचारित विश्वव्याप्य) वार्त्ता द्वारा (श्रुत्या) देश में (विषये) जो थे (स्थिता) - अर्थात् शार्ङ्ग शारद्वत गौतमी लोगों का स्वाध्वीपन दुष्यन्त के देश में प्रचलित हुआ है। (गर्भवती अवस्था में दुष्यन्त के द्वार देश में पहुँचने का ध्वनित) सबके बीज रूप (सर्वेषां बीजं) अर्थात् मूलभूतचक्रवर्ती भरत की मूलप्रकृति (जन्मदात्री) जो, (अर्थात् शकुन्तला) जिसके द्वारा समस्त प्राणी प्राणवन्त हुए, अर्थात् शकुन्तला राजपुरी में अन्त में लौट आती हैं और राजा दुष्यन्त प्रकृतिस्थ होकर प्रजानुरञ्जन में आत्मनियोग करते हैं। यह नाटक के अन्त में भरत वाक्य में सूचित है - "प्रवर्त्ततां प्रकृति हिताय पार्थिवः" इस उक्ति में निहित है।

नान्दी श्लोक में अपरापर वैशिष्ट्य

(1) महाकवि दण्डी ने कहा है कि नान्दी श्लोक के पद में 'चन्द्र' नाम के अंकित होने की विधि है। जैसा कि -

नन्दी पदे अविधातव्यं चन्दनामेति शासनात्।

इस लक्षण के अनुसार "ये द्वे कालं विधत्त:" की उक्ति में चन्द्र का सूचित होने से यह चन्द्राङ्कित नान्दी है।

(2) **या हवि: या च होत्री -**

इस उक्ति में 'हवि:' यह वहन करने वाला और यजमान दोनों को परमेश्वर के एक-एक तनु के रूप में स्वीकार किया गया है। "अविद्यो या सविद्यो वा ब्राह्मणो मानकी तनु:" के अनुसार ब्रह्मवित् यजमान ही ईश्वर के तनु रूप में प्रख्यात हैं। एतत् व्यतीत यज्ञ विधि के महापृष्ठपोषक महाकवि कालिदास पाठकों को अविहित कराते हैं कि यज्ञ निन्दुक न होकर यज्ञकारी 'होतृ' को तथा यज्ञ-सामग्री 'हवि:' को ईश्वर के अङ्गविशेष के रूप में जानो। वेद के पुरुषसूक्त में पुरुष को ही 'हवि:' के रूप में माना गया है। यथा -

"यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।"

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है -

भूमिरापोनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

इस दृष्टि से क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम - यह पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार को लेकर प्रकृति आठ प्रकार की है। अष्टप्रकृति निर्गुण परमब्रह्म का सगुण अष्टतनु या अष्टमूर्त्ति है।

उक्त नान्दी श्लोक में जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथिवी और वायु को 'अष्टतनु' कहा गया है। इन में से पृथिवी जल, तेज (अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र) वायु और आकाश पञ्चमहाभूत के रूप में गहीत हैं। अवशिष्ट मन, बुद्धि तथा अहंकार को किस प्रकार दर्शाया गया है? (ये द्वे कालं विधत्त:) भक्ति में केवल सूर्य और चन्द्र को तेज के स्थान पर लिया गया है। पार्थिव अग्नि जो कि "बहति विधिहुतं" अर्थात् यज्ञ में शास्त्रीय मतानुसार हुत द्रव्य देवताओं के समीप पहुँच जाता है यह कहा गया है कि वह एक मानसी सिद्धि होने के कारण यह मन का प्रतीक है। 'हवि:' ही बुद्धि का प्रतीक है और 'होता' ही अहंकार के प्रतीक रूप में गृहीत है, इसलिए कि वृत्ति द्वारा परिचालित होकर "हविर्दान'' किया जाता है तथा मैं हवन करता हूँ, इस प्रकार अहंकार भाव ''होताओं'' का रहता है।

(3) **या सृष्टिस्रष्टुराद्या**

मनुस्मृति में "अप एव ससमादौ" कहा गया है। और की शतपथब्राह्मणादि वैदिक ग्रन्थों में भी 'अप' या जल जो कि आद्य सृष्टि, इस प्रकार व्यञ्जना उक्त ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर पायी जाती है, जैसा कि -

'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास"

(शतपथब्राह्मण)

और भी -

'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्।'

(तैत्तीरीय - ब्राह्मण)

"मनु अप एव ससजादौ" यद्यपि यह सर्वप्रथम कहा है फिर भी 75-79 संख्या श्लोकों में वेदोक्ति के अनुसार आकाश के बाद वायु, वायु के अनन्तर अग्नि, अग्नि के उपरान्त अप्, अप् के पश्चात् पृथिवी की सृष्टि यह भी दर्शाते हैं। अतएव मनु या कालिदास वेद विराधी नहीं है। आवश्यकता को ग्रहण करते हुए उक्ति-परिवेषण किये हैं। पार्थिव विश्लेषण का लक्ष्य होने के कारण पृथिवी के सटीक पूर्व सृष्टि में 'जल' को ही 'आद्य सृष्टि' कहा गया है।

(4) **श्रुतिविषयगुणा**

श्रुति = कर्ण या श्रवणेन्द्रिय। पञ्चेन्द्रिय के पांच विषय अथवा पांच अर्थ हैं। श्रवणेन्द्रिय का विषय शब्द है। 'शुब्दगुणमाकाशम्'। यहाँ पर आकाश न कह कर कवि 'श्रुतिविषयगुणा: कह कर अर्थ प्रतीति के विलम्ब होने से क्लिष्टता दोष परिलक्षित होता है।

(5) **प्राणिनः प्राणवन्तः**

प्राणी और प्राणवन्त ये दोनों ही शब्द आपततः एकार्थ वाचक है। अतः पुनरुक्तिदोष अपेक्षित है। किन्तु "प्राणी तु चेतना जन्मी जन्तुजन्यशरीरिण: (अमरकोष) अनुसार प्राणिन: शरीरिण:। प्राणवन्तः = बलवन्तः, हन्मारुतवन्तो वा - इस रूप में भिन्नार्थ है। अतः "पुनरुक्तिवदभास" अलंकार वरं यहाँ अनुसन्धेय है।

(6) इस नान्दी श्लोक में वैदिक तथा आस्तिक बुद्धि सम्पन्न महाकवि कालिदास ने नास्तिक शून्यवादी बौद्धों को दर्शाते हुए कहा है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, "वह जो हमारे चारों ओर विद्यमान है" इस तथ्य की कवि ने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रारम्भ में दृढ़स्वर के साथ उद्घोषणा की है।

वेदविरोधी यज्ञनिन्दुक लोगों को भी हविः होता आदि जो ईश्वर का तनु है, यह भी दर्शाया है।

"मुक्तिमिच्छेज्जनार्दनात्" इस उक्ति के अनुसार यहाँ पर कवि स्वाभीष्ट देवता 'ईज्ञ' का महत्त्व प्रारम्भ से प्रख्यापन पूर्वक अपनी मुक्ति की अभिलाषा का प्रकाश करते हुए नाटक के अन्त में स्पष्ट रूप से कहते हैं -

ममापि क्षपयतु नीललोहितः।

पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभू ॥

(भरतवाक्य, सप्तम अंक)

कवि ने नाटक के प्रारम्भ में नान्दी श्लोक में तथा भरतवाक्यस्थ "परिगतशक्तिरात्मभूः" इस उक्ति की पर्यालोचना की है, और अन्त में भरतवाक्य में "ममापि पुनर्भवं क्षपयतु" अर्थात् -

मेरा पुनर्जन्मच्छेद कीजिए या मुक्ति दीजिए, इस प्रकार अपने भावों को कवि ने मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है।

"आज के सन्दर्भ में गाँधी के सिद्धान्तों की प्रासंगिकता"

डॉ० मृदुला जोशी
प्रवक्ता हिन्दी

विश्व में कभी-कभी ऐसे महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता है जो अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से नये युग का सूत्रपात तथा नवीन इतिहास का सृजन करते हैं और उनके पदचिह्नों का अनुसारण करने वाली संतति धन्य हो जाती है। हमारे देश में समाज का विभिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व करने वाले महापुरुषों की एक अत्यन्त श्रेष्ठ परम्परा है। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना के स्वर गुंजायमान करने वाले अनेकानेक महापुरुष हम सभी देशवासियों के प्रेरणा-स्रोत हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी ऐसे ही महामानव थे जिनके नेतृत्व में भारतवर्ष ने सत्याग्रह एवं अहिंसात्मक आन्दोलन के द्वारा गुलामी की जंजीरों को काट डाला। जिस ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता था उसे अपने आत्मबल से परस्त कर डाला। इस पूरे घटनाक्रम की पृष्ठभूमि को देखा जाये तो महात्मा गाँधी की त्याग, तपस्या, एवं बलिदान भाव का उजास झिलमिला उठता है। महात्मा गाँधी का समूचा जीवन उच्च - आदर्शो पर आधारित था, सत्य, अहिंसा, परोपकार-भावना श्रेष्ठ दैवीय गुण हैं, जिनका अपने व्यवहार में आचरण किसी भी मानव को महामानव के पद पर अभिषिक्त कर सकता है। महात्मा गांधी का सारा जीवन ही सादगी से परिपूर्ण, स्वार्थ रहित एवं परोपकार से सम्पृक्त था। उनकी शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा सविनय अवज्ञा की अवधारणा ने, अहिंसा एवं सत्य-निष्ठा ने सम्पूर्ण देश को प्रभावित किया। उनके चमत्कारी व्यक्तित्व से आकर्षित देश का युवा-वर्ग जाग्रत हो उठा तथा स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़ा था।

आपकी आत्मिक चेतना से प्रभावित होकर लाखों व्यक्तियों ने आपके सिद्धान्तों को अपना जीवन-दर्शन बना लिया था। बापू का प्रभाव ही कुछ ऐसा था कि उनके एक संकेत मात्र पर लक्ष-लक्ष लोग अपने उद्देश्य प्राप्ति हेतु सद्ध हो उठते थे। उनकी नेतृत्व-क्षमता की विलक्षणता से अभिभूत होकर ही कवि कह उठा -

चल पड़े जिधर दो डग मग में,
चल पड़े कोटि पग उसी ओर।
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि,
गड़ गये कोटि दृग उसी ओर।।

गाँधी जी शाश्वत मूल्यों के वाहक हैं। वे मूल्य जो काल के सतत प्रवाह में बहकर विलुप्त नहीं हो पाते, अपितु-सार्वकालिक, सार्वदेशिक व सर्वमान्य होते हैं। गाँधी एक ऐसी शख्सियत का नाम

है, जो ईसा और सुकरात के समान अपने प्राणों को उत्सर्ग करते हुए भी आने वाली पीढ़ी को चिन्तन की एक सही दिशा, एक सार्थक सोच प्रदान करती है।

आज भारत में ही नही अपितु समूचे विश्व में जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर युद्ध लड़े जा रहे है, नफ़रत की आँधियाँ चल रही है, आतंक का सन्नाटा है, विघटन का भयावह ताण्डव-नर्तन है। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान, चेचेन्या, ताज़िकिस्तान, दागिस्तान, युगोस्लाविया, बोस्निया, सोमालिया, इज़राइल, फ़िलिस्तीन, ऐसे न जाने कितने राष्ट्र इसकी आग में जल रहे हैं।

धर्म और जाति के नाम पर एक-दूसरे से नफ़रत के भाव जहाँ एक युगोस्लाविया को क्रोट, सर्व और मुसलमान इन तीन अलग-अलग धर्मो की तर्ज़ पर अलग-अलग राज्यों में बाँटते हैं, तो इण्डोनेशिया में ईस्ट-वेस्ट तिमोर के टुकड़े कर देते है। वास्तव में, धर्मान्धता भीषण जन और जाति-संहार का कारण बनती है। इससे प्रेरित होकर लड़े या रहे युद्ध विकलांग जातियों के जनक बन जाते हैं। धर्म और जेहाद के नाम पर भारत को विखण्डित करने की चेष्टा की जाती है। और पाकिस्तान धर्म और जाति के नाम पर पुन: दो भागों में बँट जाता है। ऐसे समय में गाँधी जैसी शख्सियत और उनके सिद्धान्त नफ़रत का रास्ता बन्द करके धर्मो की एक समता और उनकी एकात्मकता की राह तलाशता है। उनकी नज़रों में सच्चा धार्मिक वही है जो जन-जन की पीड़ा को आत्मसात कर सके।

यानि जो संसार में कही भी किसी भी इन्सान पर घटने वाले दु:ख को अपना समझ सके, अपना कष्ट मान सके। उनको तो मात्र इतना मानना था -

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे।

सब धर्मों में सामरस्य स्थापित करते हुए वह सदा गुनगुनाते थे -

"ईश्वर अल्लाह तेरो नाम, सबको सन्मति दे भगवान"

आज भले ही लोग कहें कि देश में फैला उग्रवाद हो या आतंकवाद - एच के0 47 राइफलों, मोर्टार, और मिसाइल का मुकाबला बापू की अहिंसा कतई नही कर सकती। यह नितान्त भ्रामक और मूर्खतापूर्ण अवधारणा है।

कश्मीर दिशा-भ्रमित, बरगलाये मुज़ाहिदीनों का कॉरवां हो या असम में बोडो उग्रवादियों का जरूरत है इन दिग्भ्रमित भटके नौजवानों में एक सुलझी, सकारात्मक सोच से भरी मनुजता की राह दिखाने की। गाँधी जी की शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की अवधारणा रही हो, या सविनय अवज्ञा की मैत्री की सूझ भरी पहल भटकी सोच को एक अलग स्वस्थ दिशा दे सकती है। यह अकाट्य सिद्धान्त है कि घृणा के द्वारा घृणा को कभी दबाया नही जा सकता।

बापू कहते थे - **'पाप से घृणा करो, पापी से नही।'**

इसके मूल में आत्म-शोधन का बीज मंत्र था। एक स्वच्छ ज्ञान से आलोकित चिनगारी समूचे समाज से एक स्वस्थ परम्परा की प्रचण्ड ज्वाला दहका सकती है। बापू के सिद्धान्त वे सिद्धान्त हैं जो मनुष्य को मनुष्य रहने देते हैं। उसे पशुत्व की ओर नही धकेलते। ये वे सिद्धान्त है जिनमें जीवन का उपजास झिलमिलाता है, मृत्यु का करुण क्रन्दन नही।

आज के युग में तो गाँधी और गाँधी के सिद्धान्त और प्रासंगिक हो उठे हैं। देश को आज एक स्वस्थ नेतृत्व की तलाश है। वह ऐसा नेता चाहता है जिसकी कथनी-करनी में अन्तर न हो। जो दलगत, व्यक्तिगत, स्तागत स्वार्थो से परे, सर्वजन हिताय, सर्वजान सुखाय सोच सके। आज देश की सामाजिक-राजनैतिक स्थिति चिन्तनीय है। देश में मानवीय-सांस्कृतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हो रहा है। आज देश भाई-भतीजावाद भ्रष्टाचार, अत्याचार, सत्ता लोलुपता के दंश से पीड़ित है।

यही नहीं ये तो बापू के नाम को भुनाकर अपनी झोली भरते हैं।

आज धर्म को वोट की राजनीति की भेंट चढाया जाता है और तुष्टिकरण के तहत अपना उल्लू सीधा किया जाता है। देश चालाक और स्वार्थी हाथों की कठपुतली बना बार-बार ठगा जाता है। आज के नेताओं में न तो सत्य का बल है और न सत्य का आग्रह। आज देश को जरूरत है सर्वत्यागी, सत्याग्रही, अहिंसक **'नंगे फ़कीर'** की, जो अपने अकाट्य मानवीय सिद्धान्तों के माध्यम से बेईमानी, भ्रष्टाचार, असत्य भाषण और गर्हित मूल्यों की चूल-चूल हिला दे और इनके खण्डहरों पर राम-राम की आधारशिला रख सके।

गंगा को निगलता प्रदूषण का महादानवः खो गया वह प्राचीन स्वरूप

कुल भूषण शर्मा
पुस्तकालय विभाग
गु0का0वि0वि0, हरिद्वार

तीर्थ नगरी हरिद्वार की पहचान पवित्र नदी गंगा से है। गंगा यहाँ से निकलकर पर्वतीय क्षेत्रों को छोड़ मैदानी भागों में प्रवेश करती है। तथा यहाँ से चलकर गंगासागर में जाकर मिल जाती है। गंगोत्री से गंगा सागर तक के सफर में गंगा जहाँ जहाँ से होकर गुजरती है वहाँ की भूमि स्वर्ग समान हो तीर्थ के रूप में पूजी जाती हैं। अनादिकाल से ही गंगा अन्यों के लिए जीती आ रही है। चाहे वह राजा भगीरथ के पुरखो की मुक्ति का कारण हो या महाभारत काल में शान्तनु पुत्र देवव्रत (भीष्म) को राजवंश की रक्षा करने हेतु समर्पण की भावना, गंगा ने हर युग में इस पृथ्वी पर लोक कल्याण हेतु कार्य किये हैं तथा लोगों का मार्ग प्रशस्त किया है। परन्तु आज यह गंगा अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है। लोगों का कल्याण करते-करते यह इतनी दूषित हो गई है कि गंगोत्री से लेकर गंगा सागर तक जाते जाते इसमें इसकी निर्मल धारा कम विषैला जहर ज्यादा रह जाता है, जिसके कारण इसके वास्तविक निर्मल जल का स्वरूप ही बदल जाता है। हरिद्वार में गंगा के बढते प्रदूषण को रोकने के लिए वर्ष 1986 में तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व0 राजीव गांधी ने गंगा प्रदूषण नियंत्रण इकाई का शुभारम्भ किया था। तब से लेकर अब तक लगभग 19 वर्षो में करोड़ो रुपया खर्च होने के बाद भी आज गंगा मैदानी क्षेत्र में प्रवेश करते ही दूषित हो जाती हैं तथा जैसे जैसे यह मैदानी क्षेत्रों की ओर भी बढ़ती है वैसे वैसे इसका अस्तित्व ओर दूषित होता चला जाता है। हरिद्वार से इलाहाबाद संगम तक पहुँचते-पहुँचते गंगा का जल इतना दूषित हो जाता है कि वह किसी रसायनिक अम्ल से कम नही रह जाता है। मन्दिर, मस्जिद, चर्च व गुरुद्वारों के नाम पर राजनीति करने वाले सभी धर्मों के ठेकेदारों व राजनेताओं को समान प्यार देंने वाली इस गंगा की ओर उनका ध्यान कभी नहीं जाता। वह गंगा से अपनी मुक्ति तो चाहते हैं, गंगा के नाम पर चमचमाती राजनीति तो चाहते हैं, सारा जीवन उसका पवित्र जल पीकर तो जीना चाहते हैं बस नही चाहते तो इच्छा शक्ति से दूषित हो रही गंगा को बचाना। यदि अब भी समय रहते अपने स्वार्थो को भूल गंगा के जल को दूषित होने से बचाने के प्रयास नही किये तो वह दिन दूर नही जब हम अपनी भौतिकतावादी प्रगति की होड़ के चलते अपने जीवन के मूल तत्व स्वच्छ जल से हाथ धो बैठेंगे जब जीवन की मूल आवश्यकता ही नही होगी तो जीवन कैसा होगा?

सरकारों द्वारा आर्थिक संसाधन तो उपलब्ध कराये जा सकते हैं परन्तु लोगों में इच्छा शक्ति पैदा नहीं की जा सकती वह तो लोगों को स्वयं ही पैदा करनी होगी। आज लोगों में इच्छा शक्ति की कमी नही हैं परन्तु दुर्भाग्य से वह आपसी स्वार्थो को पूरा करने में ज्यादा लग रही है।

गंगा किसी एक मजहब व किसी एक संगठन की नही है गंगा सभी की है इसकी रक्षा करना सभी का धर्म व कर्त्तव्य है। मानवीय विकास तो क्षणिक है, उसके मूल में जल का महत्वपूर्ण योगदान है। जल ही जीवन है व जीवन ही जल और जल का आधार है गंगा। जब गंगा ही सुरक्षित नहीं होगी तो हमारा जीवन कैसे सुरक्षित हो सकता है। इसके लिए आज आवश्यकता है सभी को एक साथ मिलकर गंगा में तेजी से बढ़ रहे प्रदूषण को रोकने के उपायों पर कार्य करने की। इसके लिए समाज के सभी वर्गो के लोगों को आगे बढकर अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए गंगा को बचाने की क्योंकि स्वच्छ गंगा ही स्वच्छ जीवन का मूल आधार है।

महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक न्याय व्यवस्था

डॉ० महावीर डी.लिट्, व्याकरणाचार्य
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
अधिष्ठाता, प्राच्यविद्यासंकाय,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

किसी भी समाज को सुव्यवस्थित सुमर्यादित रखने के लिए न्याय-व्यवस्था अपरिहार्य है। न्याय उन्नतिशील सभ्यता का आवश्यक अंग है। इस न्याय-व्यवस्था का सम्बन्ध मानव के समस्त क्रिया कलापों से होता है। न्याय मानवीय आवश्यकता पर आधारित संकल्पना है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की सुचारुता की कसौटी उत्तम न्याय-व्यवस्था ही होती है। "न्याय" ही राज्य का वह तत्त्व है, जो उसे "डकैतों के दल" से भिन्न करता है।[1] क्योंकि निष्पक्ष स्वतन्त्र और विधि सम्मत न्याय प्रणाली के अभाव में सर्वत्र अशांति एवं अराजकता व्याप्त हो जाती है। वास्तव में न्याय के अभाव में सभ्य राज्य या मानव समाज की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती है।

वैदिक साहित्य में न्याय-व्यवस्था के समस्त आयामों - विधि की संकल्पना, न्यायिक प्रक्रिया एवं दण्ड विधान आदि की कहीं विस्तार से तो कहीं संक्षेप से रूप-रेखा उपलब्ध होती है, क्योंकि ईश्वर का न्यायकारी विशेषण तभी चरितार्थ होगा, जब उसकी न्याय-व्यवस्था सर्वथा पक्षपात रहित, युक्तियुक्त एवं परिपूर्ण हो।

१) विधि की संकल्पना

समाज की शांति, राष्ट्र की सुरक्षा और प्रगति तथा मानव-कल्याण के लिए विधि की अनिवार्यता को न केवल भारतीय चिन्तकों ने अपितु पाश्चात्य विचारकों ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकृति अवश्य प्रदान की है। राजनीति-शास्त्र में विधि या कानून का सम्बन्ध राज्य के उन नियमों से है, जो मानव के आचरणों को नियन्त्रित एवं निर्धारित करते हैं।

आधुनिक युग के वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द के अनुसार विधि, मनुष्यों के समस्त बाह्य क्रिया-कलापों को नियन्त्रित तथा निर्देशित करने वाला सूत्र मात्र नहीं है, जिससे राज्य के प्रशासन का संचालन होता है, अपितु विधि का सम्बन्ध वेदोक्त नैतिकता से है। वह मानव के लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के साथ ही पारलौकिक लक्ष्य से भी सम्बद्ध है। स्वामी दयानन्द विधि को प्राकृतिक विधि से उपमित करते हुए ऋग्वेद भाष्य में लिखते हैं -

"जैसे ईश्वर के नियमों में सूर्य की किरणें आदि पदार्थ यथावत् वर्तमान हैं, वैसे ही तुम

(राजा) प्रजा पुरुषों को भी राजनीति के नियमों में वर्त्तना चाहिए।"[2]

इससे स्पष्ट होता है कि राज्य के सफल संचालन हेतु विधि उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे सृष्टि के संचालन के लिए प्राकृतिक या ईश्वरीय विधि की आवश्यकता होती है। स्वामी दयानन्द ने वैदिक मान्यतानुकूल विधि को धर्म की संज्ञा प्रदान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि - **... ऐसा वह कानून हो, जिससे यह लोक और परलोक दोनों शुद्ध होवें। वह कानून धर्म से कुछ भी विरुद्ध न होवे, क्योंकि धर्म नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का छोड़ना।**[3] महर्षि ने धर्म को संकुचित अर्थों में प्रयुक्त न कर न्याय, सत्य-सद्गुण एवं ऋतु (प्राकृतिक विधान) के रूप में प्रयुक्त किया है। इस प्रकार विधि की अवधारणा में राजसत्ता (राज्य) और धर्मसत्ता (ईश्वर) दोनों का सन्तुलन रहता है। इस विधि का उद्देश्य मात्र लौकिक कल्याण नहीं, अपितु पारलौकिक हित भी है। वह मानव के बाह्य आचरण का नियन्त्रण भी करता है साथ ही साथ नैतिकता, अध्यात्म एवं जीवन के उच्चतर मूल्यों का संरक्षण और संवर्द्धन भी करता है। इसे हम इस प्रकार व्याख्यायित कर सकते हैं- **"विधि का सर्वोपरि उद्देश्य धर्म (न्याय) की स्थापना, सामाजिक कुरीतियों का निवारण, स्वास्थ्य-संवर्धन, मानव कल्याण तथा व्यक्तित्व विकास, शांति तथा सुव्यवस्था की स्थापना, स्वतन्त्रता और समानता की रक्षा भय एवं आतंक की समाप्ति के साथ ही साथ पारलौकिक हितों का संरक्षण भी है।**

स्वामी दयानन्द ने वेदोक्त रीति से विधि का निर्माण करने का निर्देश दिया है। सत्यार्थ प्रकाश में विधायन के क्षेत्र में तीनों सभाओं की सक्रिय भूमिका को स्वीकार करते हुए लिखा है कि **"तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग बर्तें।**[4] महर्षि ने आजकल की भांति बहुमत (संख्या) पर बल न देकर गुणवत्ता पर बल दिया है। उनका अभिमत है कि 'यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस (विधि) की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों का सहस्त्रों, लाखों और करोड़ों मिलकर जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए।[5] अन्यत्र भी महर्षि ने विधि निर्माण में वेदविदों को महत्त्व देते हुए लिखा है कि "राजसभा के सभासद भी वेदज्ञ विद्वानों की आज्ञा का उल्लंघन न करें।[6]

वेद विधि के निर्माण के साथ ही साथ विधि-प्रयुक्ति, विधि-अधिनिर्णय तथा विधि-अनुपालन पर भी बल देता है। 'परमेश्वर का विद्वान् जिन कर्मों के करने की आज्ञा देवें उनको करो और जिनका निषेध करें उनको छोड़ दो।[7] परन्तु यह भी कटु सत्य है कि भय के बिना विधि का अनुपालन सम्भव नहीं है, दुष्टजनों द्वारा विधि का पालन कराने के लिए दण्ड की आवश्यकता पड़ती है। सदा से ही न्यूनाधिक रूप में समाज में ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं, जो अपने कुकृत्य से समाज की शान्ति भंग करते

हैं। उनको दण्ड देना आवश्यक हो जाता है, दण्ड का वास्तविक लक्ष्य सुधार है। विधि भंग करने वालों को इस प्रकार दण्डित किया जाना चाहिये कि उनके चरित्र का सुधार हो और कोई अन्य प्राणी उनको दिये जाने वाले दण्ड से भयभीत होकर पुनः नियम तोड़ने का दुःसाहस न कर सके। वेद के आधार पर महर्षि दयानन्द ने 'विधि की सर्वोच्चता' और 'विधि के शासन' जैसे अत्याधुनिक विधि-शास्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि विधि के समक्ष राजा-प्रजा, स्त्री-पुरुष आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद भाव नहीं किया जाना चाहिए।

२) न्याय की संकल्पना

विधि और न्याय एक दूसरे के पूरक हैं। न्याय साध्य है और कानून उसका साधन। प्रसिद्ध राजनीतिक चिन्तक वार्कर का मत है कि 'राजसत्ता विधि को वैधता प्रदान करती है और न्याय इसे मूल्य प्रदान करता है।[8]

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय को धर्म का प्रतीक माना गया है, तथा इसी के कारण न्यायाधीश को **"धर्माध्यक्ष"** या **"धर्माधिकारी"** और न्यायालय को **"धर्माधिकरण"** की संज्ञा प्रदान की गयी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "निष्पक्ष न्याय से वही फल प्राप्त होता है, जो पवित्र वैदिक यज्ञों से प्राप्त होता है।"[9] स्पष्ट है कि भारतीय हिन्दू चिन्तन न्याय को धर्म और यज्ञ की संज्ञा प्रदान कर उसकी महत्ता और उपयोगिता को सार्वभौमिक स्थिति प्रदान करता है।

वेदानुयायी स्वामी दयानन्द ने अपनी न्याय की अवधारणा को धर्माचरण से संयुक्त करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि 'धर्म नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का छोड़ना।[10] इसीलिए उन्होंने न्यायपूर्वक राज्य पालन को क्षत्रियों (राजाओं) का अश्वमेध यज्ञ[11] तथा मोक्ष का कारण भी स्वीकार किया है। उनका मत है कि 'वही राजा है, जो न्याय को बढ़ाने वाला हो[12], जैसे प्रातः बेला सबको चैतन्य करती है, वैसे न्याय से सम्पूर्ण प्रजाओं को चैतन्य करो[13], जैसे सूर्य और चन्द्रमा नियम से दिन-रात्रि चलाते है, वैसे न्याय-मार्ग को प्राप्त हूजिए।[14]

आर्याभिविनय नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में वेदमन्त्र की छाया में ईश्वर से प्रार्थना करते हुए वे लिखते हैं - "हे राजाधिराज! जैसा सत्य-न्याय-युक्त अखण्डित आपका राज्य है, वैसा न्याय-राज्य हम लोगों का भी आपकी कृपा से स्थिर हो .... हे न्यायप्रिय। हमको भी न्याय प्रिय यथावत् कर। हे धर्माधीश! हमको धर्म (न्याय) में स्थिर रख।"[15] महर्षि के इन विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में भी इस देश में न्याय को परम धर्म माना जाता था। इस अवधारणा की पुष्टि आधुनिक पाश्चात्य विधि शास्त्री जेम्स ब्राइस इस प्रकार करते हैं - "यदि न्याय का दीपक अन्धकार में विलीन हो जाये, तो वह

अन्धकार (अन्याय) कितना दुःखद और भयानक होगा।"[16]

स्वामी दयानन्द की वैदिक न्याय-व्यवस्था इसी संकल्पना पर केन्द्रित है। वेद में न्याय-व्यवस्था की रक्षा मानव सभ्यता की रक्षा तथा न्याय का विनाश, मानव-सभ्यता का विनाश कहा गया है।

स्वामी जी ने वैदिक साहित्य तथा राजनीति शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर न्याय-कार्य की प्राथमिक इकाई ग्राम-पंचायत को माना है। इसके बाद तहसील (सौ ग्रामों का समूह) और जिला (एक हजार ग्रामों का समूह) स्तर पर न्यायालय होगे। इसी प्रकार यह व्यवस्था दश सहस्र तथा लाख ग्रामों की राजसभाओं के स्तर पर उच्च न्यायालय के रूप में होगी। अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय के रूप में केन्द्रीय राजसभा होगी, जिसमें सभी सभासद, न्यायाधीश के रूप में राजा सभी अन्य न्यायाधीशों (सभासदों) की सहमति और स्वीकृति से निर्णय देगा।

३) न्यायाधीश

न्याय-कार्य राजा और सभासदों द्वारा सम्पादित किया जायेगा, अतः जो योग्यतायें एवं गुण राजा और सभासदों के हैं वे ही न्यायाधीश के लिए भी वाञ्छनीय हैं। वेदों के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य प्रियव्रत जी ने वैदिक देवता सोम को न्यायाधीश का प्रतिरूप माना है। वे इन्द्र और अग्नि को प्रधान रूप से सम्राट् वाचक मानते हैं। न्याय विभाग का कार्य करने के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में सम्राट्, जिस अधिकारी को नियुक्त करता है, उसका नाम वेद में सोम है। इस की पुष्टि में आचार्य श्री निम्न मन्त्र उद्धृत करते हैं -

(१) सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥[17]

(२) ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूष्यन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥[18]

यहाँ सोम का अर्थ है न्याय और इन्द्र का काम है शासन। सोम जो दण्ड निर्धारित करता है, इन्द्र उस को क्रियान्वित कराता है।

न्यायाधीश को सोम के गुणों से ओतप्रोत होना चाहिए। महर्षि दयानन्द ने न्यायाधीश के गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है- न्यायाधीश वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा यम की भांति पक्षपात रहित, सूर्यतुल्य न्याय, धर्म और विद्या का प्राकाशक तथा अन्धकार, अविद्या एवं अन्याय का निरोधक, अग्निवत् दुष्टों को भस्म करने वाला[19]। असत्य को छोड़ सत्य को

ग्रहण करने वाला, अन्यायकारी को नष्ट और न्यायकारी को बढाने वाला स्वात्मवत् सबका सुख चाहने वाला।[20] सत्यकारी, सत्यवादी, सत्यमानी[21] शुद्ध अन्तः करणवाला[22], सूर्य और चन्द्रमादि के गुणों से युक्त[23], अग्निवत् तेजस्वी और वेगवान्[24], मित्रगुणयुक्त[25] होना चाहिये।

इन योग्यताओं में शैक्षिक अर्हताओं के अतिरिक्त उच्चतम नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों को इसलिए आवश्यक बताया है कि दण्ड का धारण अविद्वान् और अधर्मीजन न कर सकें। उसे विद्वान, विश्ववित्, सुमेधा, ऋषिमना, वचोवित् तथा सुश्रुवा आदि गुण धारक व्यक्ति को ही धारण करना चाहिए।

वे न्याय, धर्म कार्य में पुरुषों के समान स्त्रियों को भी सर्वथा योग्य मानते हैं[26]। महर्षि द्वारा वेदमन्त्रों के उद्धरण देते हुए न्याय-प्रशासन जैसे राज्य कार्यों में स्त्रियों की सहभागिता का उद्घोष अभूतपूर्व क्रान्तिकारी विचारों का परिचायक था।

स्वामी जी ने राजा को न्याय-कार्य हेतु प्रतिक्षण उद्यत रहने का संकेत दिया है। उनका स्पष्ट मत है कि यदि राजा भोजन पर भी बैठा हो तो भी उसे न्याय के लिए भोजन छोड़कर चल देना चाहिए। अपने वेद-भाष्य में महर्षि कहते हैं कि - हे राजन् हम सब जब आपको पुकारें, उसी समय आपको आना चाहिए तथा हम लोगों के वचन सुनना और यथार्थ न्याय करना चाहिए।[27]

महर्षि ने न्याय-अन्याय के निश्चय के लिए वेद, मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का विचार, वेद-प्रतिपादित कर्म तथा जिसको आत्मा चाहे, को आधार बनाया है। महर्षि ने वैदिक प्रसंग में - "सत्य परीक्षण"[28] के लिए पाँच प्रकार की परीक्षाओं का निर्देश किया है, जिनका उपयोग न्यायिक निर्णय में भी किया जा सकता है। ये पाँच प्रकार की परीक्षायें हैं - ईश्वर उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेद विद्या, प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण सृष्टि-क्रम के अनुकूल, आप्तों का व्यवहार तथा अपने आत्मा की पवित्रता।

दण्ड विधान

न्याय-व्यवस्था में दण्ड-प्रक्रिया का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृत्यादि ग्रन्थों के आधार पर दण्ड को ही प्रजा का रक्षक माना है। इनकी दृष्टि में दण्ड न केवल राज्य का अपितु धर्म का भी मूलाधार है। दण्ड ही समस्त लौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्यों एवं कार्यो का निर्देशक एवं नियन्ता है। वे सत्यार्थ प्रकाश के षष्ठ समुल्लास में लिखते हैं - दण्ड ही वास्तविक राजा, वर्णाश्रम, धर्म का प्रतिभू, शासन कर्त्ता, प्रजा का रक्षक, धर्म, कृष्णवर्ण रक्त नेत्र वाला भयंकर पुरुष, धर्म अर्थ काम और मोक्ष का प्रदाता है।

महर्षि की दण्ड की अवधारणा सुस्पष्ट है, वे बिना अपराध के दण्ड देने को दुर्व्यसन कहते

हुए लिखते हैं कि जो जितना अपराध करें, उसको उतना दण्ड और, जो जितना अच्छा कार्य करे उसे उतना ही पारितोषिक दिया जाना चाहिए, न अधिक न न्यून।[29] दण्ड का प्रयोजन सभी प्रकार के प्रमाद तथा व्यतिक्रमों के विरुद्ध एक व्यापक मानसिक नियम की अभिपुष्टि करना है। दण्ड का उद्देश्य परिशोधन है, प्रतिशोध नहीं। महर्षि का मत है कि - जिस प्रकार शिष्य एवं पुत्र को क्रमशः गुरु और पिता दण्ड देते हैं, उसी भाव से राजा भी दण्ड दे।[30] दुष्टों को दण्ड द्वारा शिक्षा देकर श्रेष्ठ स्वभावयुक्त करें।[31] इस प्रकार दण्ड का उद्देश्य मानव की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था को सम्यक् सञ्चालित करना है।

वैदिक वाङ्मय में अनेक अपराधों तथा दण्ड विधानों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे यातुधान, रक्षस्, दस्यु, पिशाच, स्तेन, तस्कर आदि ये सभी नाम अपने सामान्य प्रयोग में प्रायः पर्यायवाची हैं। पर साथ ही इनके अर्थो में परस्पर अन्तर भी है। आचार्य प्रियव्रतजी ने अपने ग्रन्थ में 39 प्रकार के अपराध वेद-मन्त्रों के आधार पर परिगणित किये हैं। इन अपराधियों को दण्ड देना अनिवार्य है। महर्षि ने अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया है। यथा वाक्-दण्ड, धिक्-दण्ड, अर्थ-दण्ड, देश-निर्वासन[32], अग्नि से जलाना[33], कारागार दण्ड[34] इत्यादि।

स्वामी दयानन्द ने झूठी साक्षी देने वाले, चोर, डाकू, साहसिक, वेदशास्त्र विरोधी, अधर्मी, व्यभिचारी स्त्री-पुरुष, आर्थिक अपराधी, मद्यप, पशुहिंसक, जुआरी आदि के लिए पृथक्-पृथक् दण्ड विधान किया है। यही नहीं तो अपराधी राज-पुरुष तथा राजा-रानी के लिए भी उनके अपराध के अनुसार दण्ड निर्दिष्ट किया है। उनका निर्देश है कि जो राजा या रानी अथवा न्यायाधीश या उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे तो सभा उनको प्रजा पुरुषों से भी अधिक दण्ड दे।[35] उन्होने भिन्न-भिन्न अपराधों के लिए विभिन्न प्रकार की दण्ड-व्यवस्था के साथ ही साथ दण्ड प्रयोग के समय दोषसिद्ध अपराधी के सामाजिक, मानसिक एवं आर्थिक स्तर का भी ध्यान रखा है। इसके अतिरिक्त महर्षि का यह भी सुझाव है कि दण्ड सदैव देश, काल तथा परिस्थिति के अनुकूल देय होना चाहिए। यह दण्ड-विधान प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक एवं सुधारात्मक होने के साथ-साथ बुद्धि एवं तर्क सम्मत भी है।

महर्षि की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनकी न्याय की अवधारणा उनके राज-दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसमें विधि के शासन और विधि की उचित प्रक्रिया दोनों का सुखद संयोग है। इस व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण पक्ष है आध्यात्मिक एवं संवैधानिकता का अभूतपूर्व समन्वय। वर्तमान व्यवस्था में यदि महर्षि की वेद सम्मत न्याय-प्रणाली को क्रियान्वित किया जाये, तो न्याय पर से उठा हुआ प्रजा का विश्वास पुनः लौट सकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. एल.सी. मैक्डानल - वेस्टर्न पोलिटिकल थ्योरी, भाग-1, पृ0 120
2. ऋ0 पृ0 1.105.11
3. ऋ0द0स0 के प0 और वि0 भाग। पृ0 22
4. सत्यार्थ प्रकाश, पृ0 92
5. ऋ0द0स0 - के प0 और वि0 भाग - 2, पृ0 633
6. यजु0 भा0 7.35
7. ऋ0भा0-1-79-127
8. ज्ञानसिंह सन्धू - राजनीति सिद्धान्त पृ0 284
9. याज्ञवल्वय 1.359, 360
10. ऋ.द.स. के प. और वि0 - भाग 1 पृ0 42
11. ऋ. भू0-पृ0 - 254
12. यजु0भा0 17-15
13. ऋ0भा0 4.40.1
14. ऋ0भा0 - 5.52.5
15. आर्याभिविनय पृ0 91-92
16. जेम्स ब्राइम - माडर्न डिमोक्रेसीज़, भाग-2 पृ0-421
17. अथर्व0 - 8.4.12, ऋग्-7-104.12
18. अथर्व0 8.4.9, ऋग्0 7.104.9
19. स.प्र. - पृ0 - 93
20. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश - पृ0 406
21. ऋ.भ. 1.70.4
22. यजु0भा0 - 17.11
23. यजु0भा0 - 29.14
24. ऋ0भा0 5.50.4
25. आर्या0 - पृ0 30
26. ऋ0भा0 - 2.27.7 2.27.12 आदि
27. ऋ0भा0 - 3.40.8
28. मनु0 1.131
29. ऋ0द0स0 के प0 और वि0 - भाग 2 पृ0 756
30. सत्यार्थ प्रकाश - पृ0 24
31. ऋ0भा0 1.42
32. यजु0भा0 8.44
33. यजु0भा0 11.77
34. ऋ0भा0 7.252
35. सत्यार्थ प्रकाश पृ0 - 114

न्याय दर्शन में अनुमान

डा० सुमित्रा सुनवा
सिरमौर टी स्टे
किशन नगर लक्ष्मी विहा
कौलागढ़, देहरादू

'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्' तथा मान का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार, अनुमान का अर्थ है पश्चात्-ज्ञान। प्रत्यक्ष वस्तु के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान ही अनुमान है। दूसरे शब्दों में '**प्रत्यक्ष-ज्ञान**' ही अनुमान का मूल है, चूंकि अनुमान लक्षण से ही किया जाता है तथा लक्षण प्रत्यक्ष देखने में आता है। यही कारण है कि अनुमान को तत्वपूर्वकम्' (प्रत्यक्ष-मूलक) कहा गया है।

यहाँ एक बात महत्वपूर्ण यह है कि जब लक्षण (लिङ्ग) प्रत्यक्ष देखने में न आये लेकिन 'आगम' (शब्द) से उसका (लक्षण या लिङ्ग का) ज्ञान होता हो, तब भी अनुमान किया जा सकता है।:

"प्रत्यक्षागमाश्रितमेवानुमानम्"[२]

अनुमान से हम जिसको सिद्ध करना चाहते है, उसे 'साध्य' कहते है, जिस लक्षण के द्वारा सिद्ध करना चाहते है, उसे साधन (हेतु) कहते है। जिस स्थान पर 'साध्य' को सिद्ध करना है उसे 'पक्ष' कहते है। जैसे-

'पर्वत' वह्निमान है धूम्रवान होने से। इस उदाहरण में अग्नि (वह्नि) साध्य, धूम्र, (साधन) हेतु तथा पर्वत् 'पक्ष' है।

"यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः"

यहाँ धुआँ तथा आग में व्याप्ति सम्बन्ध है।

लेकिन अनुमान के लिये व्याप्ति-ज्ञान के साथ-साथ पक्षधर्मता ज्ञान भी आवश्यक है।

पक्ष-धर्मता का अर्थ है 'पक्ष' (स्थान विशेष) में हेतु (लिङ्ग) का पाया जाना। **"उस पर्वत पर धुआँ है"** यही 'पक्षधर्मता ज्ञान भी आवश्यक है।

पर्वत पर धुआँ उठ रहा है या पर्वत धूम्रवान है, यह साधारण ज्ञान अथवा प्रथम लिङ्ग-परामर्श कहलाता है।

पर्वत पर अग्नि सूचक धुआँ उठ रहा है या पर्वत अग्नि व्याप्य धूम्र वाला है: विशिष्ट ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार के 'विशिष्ट ज्ञान' को 'परामर्श' कहते है:

'व्याप्ति विशिष्ट पक्ष-धर्मता ज्ञानं परामर्शः'।

---

1. न्याय सूत्र
2. वास्त्स्यायन भाष्य।

अथवा

'व्याप्यस्तु पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते'।[2]

इस परामर्श से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे **'अनुमिति'** कहते है :

"परामर्शजन्यज्ञानमनुमितिः।"[3]

उल्लेखनीय है कि मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन के अुनसार **'व्याप्ति-ज्ञान'** तथा **'पक्ष- धर्मता-ज्ञान'** से ही अुनमिति हो जाती है। ये दर्शन **'परामर्श'** को आवश्यक नहीं मानते। लेकिन नैयायिक बताते है कि प्रत्येक प्रमाण में करण व्यापार तथा फल नामक तीन कोटियां आवश्यक होती है।

न्याय दर्शन में अनुमान के पाँच अवयव माने गये है:-

1-**प्रतिज्ञा** -

"साध्य निर्देशः प्रतिज्ञा"[1]

प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करना प्रतिज्ञा कहलाता है जैसे- पर्वत अग्नि युक्त है ऐसी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना होता है।

2-**हेतु** -

"साध्य साधनं हेतुः।"[2]

पक्ष में साध्य को प्रमाणित करने के लिये जो साधन प्रयुक्त होता है, वह हेतु कहलाता है।

3-**उदाहरण:**

"साध्य साधर्म्यत्तद्धर्म्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।"3

अपने प्रतिपाद्य विषय के समान कोई दृष्टान्त देना **'उदाहरण'** कहलाता है। तर्कसंग्रह दीपिका में **'उदाहरण'** की परिभाषा इस प्रकार की गई है:

"व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम्"

4- **उपनय :**

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युंपयंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।

हेतु और साध्य का सम्बन्ध उदाहरण के द्वांरा देने के बाद अपने पक्ष में खींचना **'उपनय'** कहलाता है।

5- **निगमन:**

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनवर्चनं निगमनम्।[1]

प्रतिज्ञा का **'प्रतिपादन-निष्कर्ष रूप'** ही निगमन है। जो प्रतिज्ञा थी वही निर्णय (निगमन) बन जाता है।

1- तर्क संग्रह (अन्नम भट्ट)
2- विश्वनाथ (कारिकावली)
3- तर्क संग्रह (अन्नम भट्ट)
1- गौतम सूत्र- 1-1-33
2- गौतम सूत्र- 1-1-34
3- गौतम सूत्र- 1-1-36

आचार्य पं० रामप्रसादवेदालङ्कार पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार का जन्म दिवस ७ जनवरी पर विशेष स्मरण

रचयिता-डॉ० सत्यदेवनिगमालङ्कार

धाराप्रवाहसरलोत्तमभाषणेन
मन्त्रस्मृतिप्रबलतार्किकभाषयाऽपि।
दिव्यप्रभावभरिताभिरसौ कथाभिः
रामप्रसादसुभगः प्रथितोऽस्ति लोके॥१॥

उद्दिश्य वेदविषयान् प्रचुरान् विचारान्
सेवागुणान् नियमसंयमधर्मसंघान्।
धैर्येण सौम्यवचनेन सदैव मञ्चे
भक्तानुवाच विहसन् विपुलान् व्रतीन्द्रः॥२॥

वाक्यं हिताय वदति स्म भवान् समेषां
दुःखे सहायकतमः सरलस्वभावः।
विद्यातपोविनयशीलगुणभियुक्ताः
स्वल्पा भवन्ति सुधियो भवतः समानाः॥३॥

उपकुलपतिभारं दीर्घकालं प्रगृह्य
कुलपतिरपि मध्ये मध्य एष प्रजातः।
परिषदि मृदुवाचा सत्यमेवाश्रितोभूद
निगमजनितभावान् वर्णयन् स्वैश्चरित्रैः॥४॥

तुष्टा जना वेदचोभिरद्भुतैः
रामप्रसादस्य विवेकबोधिनः।
देशे विदेशे नगरे गृहे गृहे
वीथ्यां समाजे वनिताश्रमे सदा॥५॥

प्रख्यापितोऽयं भुवने बुधेश्वरो
ग्रन्थैर्महारत्नभरैः सुभाषितैः।
स्वच्छैश्चरित्रैर्निजवेषभूषणै-
रगाधविद्याभिरमूल्यसद्गुणैः॥६॥

सेवानिवृतौ भुवि धर्मधारको
महोच्चशृङ्गे यशसो यदा स्थितः।
तदा समेषां हतभाग्यकारणा-
दस्तं ययौ वेददिवाकरो भवान्॥७॥

THE SPIRIT OF INDOMITABILITY IN ERNEST HEMINGWAY'S SANTIAGO

Dr. Manjusha Kaushik

Hemingway is considered one of the prominent writers of the twentieth century American literature. He is a master in the field of hunting, fishing, boxing and bull fighting. His heroes have highlighted the dissatisfaction of the modernman in "his struggle to come to terms with a world he cannot truly understand". (Das, P.5). The heroes of Hemingway pass through the way of life of horror, tension and violence but finally they succeding in finding out their path that path which they wanted to attain.

The spanish civil war was a great source of inspiration to Hemingway. It had strengthen his perception or the way of thinking in his writings. It has purged his feeling of self-centeredness, individuality and isolation. Santiago is the best example of it. aAlthough he wanted to achieve his mission but felt hesitation to kill the Marlin.

After the war we can find a great transformation in Hemningway's personality. The impression of this transformation is highlighted in his writings and in his heroes. By his power of expression he wants to change the outlook of the people. He writes specially to give the psychic relief and his heroes progress through five stages of love : from using love as "release of repressed aggressiveness" (Nick) to becoming capable of love (later nick and Henry) to adult morality (Jake) to narcissism and increasing capacity for love (Jordan) and the heroes of (Subsequent works)" (Dahiya, P.6).

There are the points on which we can threw a highlight on santiago's indomitability.

1. Hero should have certain moral values in life.
2. Individuality and humanistic approach in life.
3. Knowledge acquired by expression.
4. Need to strong determination.
5. Selfless devotion towards his profession.
6. Theory of action.
7. Mastery in his profession.

Hemingway has presented his own personality in the character of santiago. He considered him a man of courage and strength. He is one of the best heroes of Hemingway. He is called a

great individualist who has developed his personality by his own efforts. He is called great by his achievement. He suffered a lot in life but never submitted to the problems of life.

Although Santiago struggled a lot in life but never succeeded. So people considered him by the title of salao, which is the worst form of unlucky? We find a strong feeling of optimism in him. "Truly enough Hemingway is a writer of a lost generation, of an era of chaos and disillusionment, but his approach is neither defeatist nor negative in nature, instead, it is something vigorously optimistic and positive in spirit". (Sharma P.124) For a good happy life self determination is very helpful and santiago possessed it. His only motto in life is to catch the huge marlin. He is fully aware with the technique and tricks. He enjoyed the great struggle. He is the leader of his profession and is able to excel others in this field. He discovers a meaning in life by fulfilling his own task. He is a man who presents the value of wisdom, selfless love and action.

Everyday he went to the sea, but unluckily he could not get success. So people regards him an unfit man. But he is not ready to loose his confidence and courage. By hook or by crook he wants to kill the fish to prove his professional skill. During the course of his struggle there is a fight between individual man and the natural world.

We can find some impression of eastern philosophy in Hemingway. As his philosophy is called of action and same theory of Karma we can find in Gita. A man should do his duty first never to think of the results. Success and failure does not mean to him. There are two sides of the same coin. His heroic struggle for his mission shows his qualities like virtue, courage, self reliance etc. we can find some rase quality in him. It does not have love only for human beings but for animals and birds also. Although he is doing a violent act to catch the fish, but his mission is sacred. His mission is only to propogate the theory of non-violence through dedication, devotion and efforts.

Santiago is the post-spanish civil war protagonist. He has a strong feeling of resoluteness. He has faced critical situations in his life but never failed to achieve his goal, because he has a strong weapon of resoluteness. In such a old age he has tremendous resolution which is not find anywhere.

Love and violence are the two sides of the same thing. When santiago wanted to kill, it

was an act of violence but when he shows his love and affection, it is an act of kindness. He believes in the theory of optimism. A man should face difficulties in life courageously. Just as santiago must endure his struggle with sharks and Marlin and at last he succeeded. He was not interested in killing Marlin but it is the necessity of time. He says :-

> **"The fisth is my friend too, he said aloud, I have never seen or heard of such a fish But I must kill him. I am glad we do not have to try to kill the stars". (Hemingway P.79)".**

Through the character of santiago. Hemingway proves that age is never an obstacle in life. The most important in life, to have a strong feeling or resolution to act. And it cannot be attached to a particular age. We can clarify this statement by this fact that the boy Manolin always aspire the nearness to him. Because he knows it well that Santiago is the finest fisherman. Here the old man is not helpless without the company of the boy but the boy feels lonley and frustrated without him. The help of the boy is additional help to santiago. It gives him courage and support. Now here we can say that without his help he cannot set his mission. He is not affected by the term superiority complex. Although he is a learned fisherman but never tries to impose his tricks on others.

The relationship between the old man and the young boy is best example to coming generation. It is an exampleary between the teacher and the taught. Every time the boy is trying to cheer him. Because he knew that uptill now he could not catch any fish. So the boy is trying to change his mood. And he declares him a good fisherman. None can beat you.

The novel is a commentry between the two sets of values. It is a struggle of a man agaisnt nature and old age against youth. Here we try to compare Hemingway with Hardy. Hardy's hoxeroes believe in luck, it is all in all for them but for Hemingway luck is secondary. He believes in the theory of Karma. Although he could not catch húge fish since a long time but we should nor consider him as an unlucky man. Because he catches small fish everyday for his needs.

The God decides the luck of a man. A man is a puppet in the hands of God. A man can perform his duty with all sincerity. It is His wish whether he blesses or not. But a Successful

man is one who does not stop his sincere effort. Santiago is a man who fulfill his mission by his single handed sincere persuit.

He is a man who is receptive to the goodness. As Dimaggio and the dreams of lions is a source of inspiration to him. He is aware of the fact that to catch the manlin is a very difficult task for him so he tries to use every trick, and formula. He says :-

> **"But I must have confidence and I must be worthy of the great Dimaggio who does all things perfectly even with the pain of the bone spur in his heel". (P.73).**

The memory of the great baseball hero gives him strength and consolation. In a critical time moral support is very much necessary to a man. He is a finest fisherman who knows his art thoroughly. He keeps his lone straight while others let them drift with the current. Carlos Baker who is a very good critic of santrago gives a very good example of his power, stamina,

> **I wish the boy was here; he said aloud and settled himself against the rounded planks of the bow and felt the strength of the great fish through the line he held across his shoulders moving steadily towards whatever he had chosen".**

Again he replies the same word : "I wish I had the boy, To help me and to see this". (P.61)

Just as the memory of Dimaggio gives him courage and power similarly lions also inspired him. Whenever he saw the dream, he saw the image of lions.

> **He no longer dreamed of storms, nor of women, nor of great occurrences, nor of great fish, nor fights, nor contests of strength, nor of his wife. He only dreamed of places now and of the lions on the beach. (P.44).**

The novelist is very much interested to depict the reality of life. He believes honestly in actuality not imagination. So he always wants to create a realman, real thing, a real fish. He is a determined man. No problem can wave his confidence. He is fully satisfifed with his effort.

There is a great difference between early and late protgonists of Hemingway. In early

protagonists we can find the fear of death and that fear always disturbed their mind but later protagonist don't have only fear of anything. For the Success of their mission they can face any hurdle in life.

There is a Very interesting fight in the novel that is old verses young. Generally it is conception of the people that young are more confident, have stamina, power, perception and fitness to do a difficult task better than old. But all these conceptions have failed here. Santiago has tremendous qualities in him. His perception is young uptill now. As -

Everything about him was old except his eyes and they were the same colour as the sea and were cheerful and undefeated. (P.33).

Shakespeare was a great dramatist of English literature. He had described human life in seven stges. As, birth (Newly born baby school going boy, young age, middle age, old age which is the last stage of human life). In old age a man has lost his senses. He is not able to do something tangible. But santiago's case is different. In such a age he is fit for every type of work. In old age every man takes rest in his home but he is struggling very hard to gain the tough victory. He is called a dynamic man, inspite of the infirmity of old age he has hope and confidence. Another example we can find in shakespear's Antony and cleopatra. If we describe the beauty of cleopatro. If we describe the beauty of cleopatra, she is more beautiful in old age, Enobarbus describes his beauty in these words :-

Age can not wither her, nor custom state Her infinite variety :

(Shakespeare, P.69)

Age cannot lessson the beauty of cleopatra. In the same way santiago is more active and attentive in old age. Feeling of humility is also in the character of santiageo. His personality reveals his humility. He feels sympathy love and reverance for Marlin. He says :-

The fish is my friend too, he said aloud, I have never seen or heard of such a fish. But I must kill him. I am glad we do not have to try to kill the stars.

"Fish I love you and respect you very much but I will kill you dead. (P.79).

Santiago is a very good example of compassion and kindness. He has a single purpose in life to catch the fish but when he alttains this perfection and feels sorry for her fate. It is a necessity of time that old man is killing the fish but he says".

I love you and respect you very much, But I will kill you dead before this day ends". (P.63).

Killing of Marlin is not a urge of his heart but it is a duty of the fisherman. Both santiago and Marlin are exhausted. Suffered but indomitable.

Another important feature of santiago's personality is his lonliness. In this world no one can pass his life alone.

"No one should be alone in their old age. He thought. But it is unavoidable. I must remember to eat the tuna before he spoils in order to keep strong". (P.59).

A word three has a losts of significance to santiago. This word is able to transform his life. A three day journey teaches him what is right, wrong, good, bad, success or failure. In three days he has experienced his whole life. He struggles with the Marlin and with the sharks on the sea for three days. This three day journey teaches, the reality of life. It teaches that a man cannot be achieved anything without work. There is a need of hard work and struggle and it gives him satisfaction and confidence. There is a famous saying that after doing a great struggle, when a person will get success it gives him, lots of happiness and joy. Because this success can get only through struggle or hard work.

For a grand success the positive traits are very important for a man. Santiago is best example of it. Although the Marlin is the rival of him but he feels sympathy for him. And he says that -

The fish is my friend too, he said aloud. I have never seen or heard of such a fish. But I must kill him". (P.79)

Santiago's struggle with Marlin reflects the attitude of war. The word war has lots of meaning to him. War is not always for negative things but it has other sides too. It can teach human beings to throw away all their personal interest and think of the cause of the suffering

humanity. In the time of war personal interests lose their value. Here santiago is taking fight with Marlin because of a cause. He is killing it not for his enjoyment.

All Hemingway heroes are fight with unequal and corrupted world around. It is the quality of Hemingway heroes that they are always ready to search the moral values which could maintain the life of a man in critical circumstances. The Moral of his heroes are different from others. They completely reject the old established values and try to give the new. Although he wants to kill the fish but has a sympathy for her. Because a man has no right to take the life of others. How can one judge the character of others? We donot have any power. all the power is in the hands of God.

He is not happy to give pain to others. He thinks that just as I suffered due to exhaustion Marlin also suffered due to continuous attack of weapon. He realizes -

"I must hold his pain where it is mine does not matter" I can control mine but his pain could drive him mad (Singh, P.13).

It is the quality of Santiago's Character he does not tie himself any set pattern or formula of life. He has no fixed belief on religion. But many time in the novel he remembers the Christian God. He has his own particular institutional religion of heart which is completely personal and based on ethical values, He says :

"I am not religious, he said, But I will say ten our fathers and ten hail Marys that I should catch this fish, and I promise to make a piligrimage to the virgin de cobre if I catch him. That is a promise". (P.71).

Santiago is called a sainfly figure. Like christ he has capacity to bear intense suffering for the welfare of common man. If we say that he has taken the life of Marlin, it is true but is his need or profession. Because he is a famous fisherman, without killing her he could not get his livelihood. A man has Limitless strength and power in him. If he wants to do anything he can. These lines prove this fact clearly :-

"What a man can do and what a man endures". (72).

The battle of Santiago with the huge Marlin gives a message that while a man may

grow old and completely depend on his fate, he can still courage, power and strength to win his victory. He remains undefeated even in his failure. Just as gold can be make pure by the heat of fire in the same way santiago becomes great through trial and sufferings.

Hemingway was a great writer of his time. How one can forget Norman Mailer's tribute to him : "It may be that the final Judgement on his work may come to the notion that what he failed to do was tragic, but what he accomplished was heroic, for it is possible that he carried a weight of anxity with him which would have suffocated any man". (Mittapalli, P.50)

Dr. Manjusha Kaushik
Lecturer of English,
Kanya Gurukil Mahavidyalaya
Hardwar (Uttaranchal)

REFERENCES

1. Dahiya, Bhim S. **The Hero in Hemingway : A Study in Development** New Delhi : Bahri Publication, 1978.
2. Das, Dr. Satyabrata. **Ernest Hemingway The Turning Point.** New Delhi : Altantic Publishers And Distributors, 1996.
3. Hemingway, Ernest. **The Old Man and the sea.** New Delhi : Kalyani Publishers, 2001. (All the Subsequent references from this edition are indicated by Page No.).
4. Mittapalli, Rajeshwar. **Modern American Literature.** New Delhi : Atlantic Publishers and Distributors, 2001.
5. R.E.C. Houghton. **The New Clarendon Shakespeare Antony and Cleopatra.** Delhi: Oxford University Press, Bombay, Calcutta, Madras, 1962.
6. Singh, R.N. **The Old Man and the Sea.** New Delhi : Atlantic Publishers and Distributors, 1999.
7. Sharma, Ishteyaque, **"Symbolism in The Sun Also Rises" in studies in American Literature** ed. by Ray, Mohit, K.; New Delhi : Atlantic Publishers and Distributors, 2002.

AAKAASHA DEVTA

Dr. S.S. Gupta
Ph.D., D.Lit.
Former Vice-Chancellor,
Agra University

Vedic Rishis have said that there are five basic elements whose permutation and combination are responsible for the creation of all material things and also sustaining them. One of these basic elements is Aakaasha, yet Rishi of Rig-Veda have not offered even one full Sukta to Aakaash Devta. Why?

Most of the Mantras or even Suktas on Aakaasha Devta have been offered jointly to Prithvi and Aakaasha. It will be beneficial to know the reasons for doing so.

We find following Mantras in Rig-Veda Offered to Aakaash Devta along with others:

	Mantras	Rishi	Deity
1.	1.22.13.14	Medhaatithi Kaandava	Dhyaavva, Prithvi
2.	1.94.16	Kutsa Aangirasa	Dhyausa, Prithvi, Mitra, Varuna, Aditi, Sindhu, Agni
3.	1.112.1	Kutsa Aangirasa	Dhyaavaa, Prithvi
4.	1.159	Deerghatamaa Aauchathya	Dhyaavaa, Prithvi
5.	1.160	Deerghatamaa Aauchathya	Dhyaavaa, Prithvi
6.	1.185	Agastya	Dhyaavaa, Prithvi
7.	2.32.1	Agastya	Dhyaavaa, Prithvi
8.	2.41.19,20,21	Gratsamada	Dhyaavaa, Prithvi, Havidata
9.	4.38.1	Vaamdeva	Dhyaavaa, Prithvi
10.	6.48.22	Shanyurvaarhaspatya	Dhyaavaa, Prithvi, Maruta
11.	6.70	Bharadwaajo Vaarhaspatya	Dhyaavaa, Prithvi
12.	10,59.9,10	Viprabandhu Gopayana	Dhyaavaa, Prithvi

In addition to the above Mantras, two more, Mantras provide very useful information

1.	1.164.11,18,13	Deerghatamaa Auchathya	Vishvedeva
2.	10.68.11	Ayaasya Aangirasa	Vrahaspati

Only nine Rishis of Rig-Veda, out of 420, 2% have offered their Mantras to Aakaash

Devta jointly with others, mainly with Prithvi. It is worth knowing the reasons why only nine Rishis have made studies of Aakaasha Devta?

It appears that Vedic Rishis either could not know more about Aakaasha Devata or there was nothing more to know. The later seems to be more correct as the modern science is also not able to add any new to information about Aakaasha authentically.

Following ideas in Rig-Veda are found on Aakaasha Devta :

Rishi Deerghatamaa Auchathya reveals that Aakaasha and Prithvi were conceived in the same womb (1.159.4). The same Rishi also adds that the most divine Surya gave birth to the all-delighting Heaven (Aakaasha) and Earth (Privthvi) (.160.4). So, it can be inferred that both Aakaasha and Prithvi are children of Surya. That may be the reason why most of the Mantras have been offered jointly to Aakaasha and Prithvi.

Science revcals that part of young sun frok away from it, quite some time back which is our Prithvi now this scientifie information confirms the Rishi's view gives a few thousand years back.

Science does not seem to tell us how Aakaasha came into existence. So, it may be presumed that when wish Rishi were correct in case of Prithvi, he may also be correct about Aakaasha. Aakaasha should also be a part of Sun (Surya).

2. Rishi Shanyuvaarhaspatya says that "once was the Heaven (Aakasha) generated and once was the Earth (Prithvi) born" (6.8.22). Rishis refer to Heaven (Aakaasha) but do not elaborate (6.51.5, 6.72.3). Thus it appears that Aakaasha and Swarga (Heaven) are one and the same and are synonym and swarga (Heaven) was also born out of Surya.

3. Rishi Bhradwaajo Vaarhaspatya states the Heaven (Aakaasha) and Earth (Prithvi) are surrounded by water (6.70.4) but he did not explain or elaborate.

The science tells us that the Sun's core part, called Photo-sphere, has tremendous heat which is caused due to Nuclear Fussion going on there. It has gases also. The outer part, called chromo-sphere is also very hot and has lot of gases. Science all informs that long back, a aprt of Sun broke and today it is our Earth. Like Sun, it had also lot of gases. The mixture of a few gases long back, formed our oceans and water below the earth.

It appears Rishi is pointing out to this scientific fact when he says that the Prithvi (earth) and Aakaasha (heaven) are surrounded by water. If Heaven is also a part of Surya, then as per scientific knowledge, it should also have lot of water.

4. Rishis offer their Mantras jointly to Dhyaavaa (Aakaasha) and Prithvi. It appears they knew that both were born simultaneously and are the children of the mighty Surya, having same properties. This knowledge seems to be the cause of offering. mantras jointly to them.

5. Rishi Deerghatamaa Auchathya says that Aakaasha is wide spreading and vast (1.160.2). He adds that Antariksha is a part of Aakaasha (1.160.1). He further elaborates that Antariksha is the nabhih of earth, which is in between Heaven (Aakaasha) and Earth (Prithvi) (1.164.33). Rishi Gautamo Raahugaṇa confirms it (1.90.7).

Science tells us that above the Earth, towards Surya, there is air and gravitation pull of Prithvi upto 300 miles. Beyond it, is vacuum. It further tells that the distance between the Sun and Earth is 9.3 crore miles. It means that the radius of Aakaasha (beyond Antriksha) is 9.229,99,700 miles (9,30,00,000-300 miles). Certainly it makes Aakaasha wide and vast.

It appears, Rishis called Antariksha the area above the earth upto 300 miles, upto which air is found, and Aakaasha beyond it. What a scientific truth they are revealing a few thousand years back.

6. Rishi Medhaatithi Kaandava reveals that in between Aakaasha and Prithvi there is the region of **Gandharvas** (1.22.14). This implies that in Aakaasha (Heaven) there is another region of **Gandharva Loka** or both are synonym.

7. **Rishis tell that Aakaasha (Heaven or Dyuloka) is father and Prithvi (Earth) is the mother** (1.159.2, 1.60.2, 1.164.33). They compare Prithvi (Earth) with a milch cow and Aakaasha (Heaven) with a vigorous bull (1.160.3).

This means that Aakaasha is an actioe element and Prithvi is a passive element and all material things can be created only when the two meet. This is further certified by Rishi Agastya (1.185.5)

Science agrees with this view of the Rishis.

8. **Aakasha has been called the father of all deities.** Surya Deva is located in Aakaasha

(1.164.18). The twelve spoked wheel, of the Surya, revolves round the heaven (1.164.11)[1]. Further, Aakaasha (heaven) is decorated with constellations[2].

Science agrees with Rishis. This shows the knowledge of the Vedic Rishis.

A.A. Macdonell adds that Aakaasha has not only twelve Zodiac and nine constellations but also other deities or Aadityaas such as Marudagan, Parjanya, Agni, Usha, Ashivano, Apaam-Napaat etc.[1]

The studies of Vedic Rishis convinced them that the twleve signs of Zodiac and nine constellations influence atmosphere and every material thing on earth, including man. On the basis of their (probably empricial) studies of Astronomy, they developed the science of Horoscope. Today modern science is gradually and haltingly agreeing to the view of Rishis. Today, they have started accepting its influence on atmosphere.

The modern science is not able to find more facts about Sky or Aakaasha than what Rishis have said long back. They now only talk of a hypothetic matter, Eather.

Rishis, knowing the powers of Aakaasha and Prithvi pray them to give horse and son (4.38.1), remove all inequity, let no ill approach them (10.59.9,10) and let their Yagya be performed peaceful (2.41.19).

Obviously there should be a reason for making such requests. Probably, Rishis wanted to convey the idea that if a man will follow the natural laws, will not try to exploit nature and will work in cooperation with nature, he will be happy and contented. Nature will grant him all the useful and necessary things of life.

The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Swami Shraddhanand Ji
(1856-1926)

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334 - 245975

विषयानुक्रमणिका

पर्यावरण, प्रकृति-चित्रण

साहित्य

चरित्र चित्रण

शासन/न्याय/दण्ड व्यवस्था

अर्थव्यवस्था

विज्ञान/वास्तु/ज्योतिष

के.एल.कोचर
संयुक्त सचिव एवं उपराष्ट्रपति के प्रेस सलाहकार
दूरभाष : 23016344, 23016422
फैक्स :23018124

उप-राष्ट्रपति सचिवालय
नई दिल्ली-110011
VICE-PRESIDENT'S SECRETARIAT
NEW DELHI - 110011
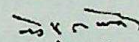
संदेश

महामहिम उपराष्ट्रपति श्री भैरोंसिंह शेखावत को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय. हरिद्वारम् के संस्कृत विभाग द्वारा त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन "वेद और वाल्मीकि रामायण"का आयोजन किया जा रहा है। इस अवसर पर स्मारिका का प्रकाशन एक सराहनीय प्रयास है। उन्हें आशा है कि स्मारिका में वेदों एवं मर्यादा पुरूषोत्तम भगवान राम के जीवन आदर्शो से संबंधित जानकारी का समावेश किया जायेगा जिससे नयी पीढ़ी को प्रेरणा मिलेगी।

उपराष्ट्रपतिजी आयोजन की सफलता, विश्वविद्यालय की निरंतर प्रगति तथा छात्रों के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए प्रकाशित स्मारिका के लिए अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करते हैं।

(के.एल.कोचर)

नई दिल्ली
30 जनवरी, 2006

सुदर्शन अग्रवाल
राज्यपाल, उत्तरांचल

राजभवन
देहरादून - 248 003
दिनांक 02 फरवरी, 2006

संदेश

यह प्रसन्नता की बात है कि गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वारम् के संस्कृत विभाग द्वारा 03 से 05 मार्च, 2006 तक एक त्रि–दिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। इस अवसर पर एक स्मारिका भी प्रकाशित की जायेगी।

यह बड़े हर्ष की बात है कि इस सम्मेलन के दौरान आयोजित होने वाली राष्ट्रीय संगोष्ठी का विषय–''वेद और वाल्मीकि रामायण'' रखा गया है। यह अपने आप में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है। इसके लिए इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के आयोजकों की जितनी भी प्रशंसा की जाये, कम है।

भारत वस्तुतः ऋषि–मुनियों और साधू–संतों का देश रहा है, जहां हर युग और हर काल में अनेक युग पुरूषों ने जन्म लेकर समस्त मानव जाति को प्रेम–एकता, सहयोग–सद्‌भाव, दया–उपकार, सहिष्णुता–सहअस्तित्व, वसुधैव कुटुम्बकम्, विश्व–शांति और मानवता का सदुपदेश दिया। इसके साथ ही समाज को ''आदर्श समाज'' और मानव को ''आदर्श मानव'' बनाने के सर्वोत्कृष्ट उद्‌देश्य को लेकर अनेक धर्म–ग्रन्थों की रचना की। इन धर्म–ग्रन्थों में वेद–पुराण, उपनिषद और वाल्मिकी रामायण आदि जैसे धर्म–ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

मैं पूर्णतया आशान्वित हूँ कि इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में वेद और वाल्मीकि रामायण के बारे में विस्तार से विचार विमर्श किया जायेगा। इसके निश्चय ही अच्छे परिणाम सामने आयेंगे।

इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के सफल आयोजन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

सुदर्शन अग्रवाल
(सुदर्शन अग्रवाल)

शीला दीक्षित
मुख्यमंत्री

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार
दिल्ली सचिवालय,आई. पी. एस्टेट
नई दिल्ली - 110002

अ.शा. पत्र संख्या: CMO/26422
दिनांक 17.01.2006

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय आगामी 3 से 5 मार्च 2006 को तीन दिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन का आयोजन कर रहा है। साथ ही इस अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन भी होना है। आशा है स्मारिका शीर्षस्थ विद्वानों के लेखों का अधिकाधिक लोगों तक पहुंचाने में सहायक सिद्ध होगी।

मैं सम्मेलन के सफल आयोजन तथा स्मारिका के लिये अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करती हूं।

(शीला दीक्षित)

फोन - आफिस - 23392020, 23392030 फैक्स : 23392111

एम. रामचन्द्रन
मुख्य सचिव
M.Ramachandran
Chief Secretary

उत्तरांचल सचिवालय
Uttaranchal Secretariat
4- सुभाष मार्ग, देहरादून
4- Subhash Marg, D.Dun
Ph. (Off)-0135-2712100
0135-2712200
(Fax)-0135-2712500

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में पतित पावनी गंगा के तट पर दिनांक 3 से 5 मार्च 2006 तक ''वेद और वाल्मीकि रामायण'' विषय पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है तथा इस अवसर पर एक स्मारिका का भी प्रकाशन किया जा रहा है।

वेद जहां भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म के संवाहक हैं वहीं वाल्मीकि रामाण मानवीय संवेदना की प्रथम अभिव्यक्ति। वेद देववाणी है तो रामायण आदि कवि की अप्रतिम रचना। अतः वेद और वाल्मीकि रामायण जैसे सर्वकालिक विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन निश्चय ही एक प्रशंसनीय उपक्रम है और मुझे विश्वास है कि संगोष्ठी में प्रतिभाग करने वाले विभिन्न विद्वानों, प्राध्यापकों एवं शोधकर्ताओं द्वारा इस विषय का गहन अनुशीलन-मंथन कर अभिनव स्थापनाओं का नवनीत विद्वत-समाज एवं जनसामान्य को उपलब्ध हो सकेगा।

मैं स्मारिका के सफल प्रकाशन तथा आयोजन की सफलता की कामना करता हूं।

17 फरवरी 2006

(एम.रामचन्द्रन)
मुख्य सचिव

प्रो0 महावीर अग्रवाल
अधिष्ठाता, प्राच्य विद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शुभाशंसा

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग **'वेद और वाल्मीकि रामायण'** पर राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी आयोजित कर रहा है और इस सम्मेलन में देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से उच्च-कोटि के वैदिक विद्वान् एवं रामायण के अध्येता पधार रहे हैं। हम आर्यों का यह दृढ़ विश्वास है कि वेद परमपिता परमात्मा की परम कल्याणी अमृतवाणी है। युगद्रष्टा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्र के उत्थान तथा मानवमात्र के कल्याण के लिए वेद के स्वाध्याय का सन्देश दिया था। महर्षि के शिष्य अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा संस्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, वैदिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातकों एवं उपाध्यायों ने वेद विद्या का प्रचार करने में अपने जीवन लगाये हैं। वैदिक ज्ञान को अपने जीवन में अक्षरशः उतारने वाले श्रीराम हम भारतीयों के आदर्श हैं, और रामकथा पर विरचित वाल्मीकि रामायण प्रत्येक घर में प्रतिष्ठित करने योग्य पावन महाकाव्य है। इस प्रकार वेद और वाल्मीकि रामायण पर वैदिक विद्वानों द्वारा गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन रूपी मन्थन के पश्चात् जो नवनीत निकलेगा वह सभी के लिए परमोपयोगी सिद्ध होगा।

मैं सम्मेलन की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रदान करता हूँ। सम्मेलन के आयोजकों आचार्य प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री, संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो. महावीर तथा इनके सहयोगी साथियों को बधाई देता हूँ।

सुदर्शन कुमार शर्मा
कुलाधिपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सुस्वागतम्

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा आयोजित राष्ट्रिय शोध संगोष्ठी में देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों से पधारने वाले वेद-मनीषियों का हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन करते हुए मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। ऋग्वेदादि चारों वैदिक संहिताओं में संसार का समस्त ज्ञान, विज्ञान कहीं सूक्ष्म रूप में और कहीं विस्तृत रूप में वर्णित है। हम भारतीयों की वेद पर अगाध आस्था और श्रद्धा है।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि प्राणिमात्र का कल्याण वैदिक ज्ञान से ही होगा, क्योंकि यह देश विशेष या काल विशेष के लिए नहीं अपितु समस्त संसार के लिए है। **'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** का सन्देश देने वाला वेद विश्व के सभी मानवों को परस्पर प्रेम ओर मित्रता से रहने का पाठ पढ़ाता है।

आदिकवि वाल्मीकि के अमर महाकाव्य रामायण पर वेदों का व्यापक प्रभाव रामायण के पात्र वेद की शिक्षाओं को अपने जीवन में जीते हुए दिखाई देते हैं। वाल्मीकि के श्रीराम हमारे आदर्श है। रामायणी कथा न केवल भारत में अपितु पृथिवी के बहुत बड़े भूभाग में श्रद्धापूर्वक पढ़ी जाती है।

इस प्रकार **'वेद और वाल्मीकि रामायण'** पर शोध संगोष्ठी का आयोजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रस्तुत किये जाने वाले शोधपत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने पर निश्चय ही सबको बहुत लाभ मिलेगा।

मैं संगोष्ठी की सफलता के लिए आयोजकों को शुभकामनाएं एवं हार्दिक बधाई प्रदान करता हूँ।

प्रो. स्वतन्त्रकुमार
कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उदीक्षणम्

हर्षप्रकर्षोद्भावकं वैदिकपरम्परोद्वाहकं राजस-तामस-भावजनितकिल्विषविषप्रसरप्रशामकं सुरभारतीसमाराधकसाधकसरसहृदयहरम्, वेदविद्यावारिधिवारिविहरणकलाकुशलविद्वज्जनचित्ताकर्षकम्, स्वामिश्रद्धानन्दसंस्थापितगुरुकुलाचार्यकुलपरम्परापद्मिनीविकासकम्, सत्यं वृत्तमिव वृत्तमिदं यद् गुरुकुल-काँगड़ी-वि श्वविद्यालये देवालय इव मार्चमासस्य तृतीये चतुर्थे प ञ्चमे चाहनि **'वेदो वाल्मीकिरामायणञ्च'** इत्यस्मिन् विषये राष्ट्रियविद्वद्द्गोष्ठी समायोज्यते। सत्यमिदं यदादिकाव्यमिदमार्षकाव्यमस्ति महर्षिवाल्मीकिरामायणम्। यदि लौकिकसंस्कृतकाव्ये वेदानामादेशाः सन्देशा उपदेशाश्च क्वचिदपि प्रतिबिम्बिता विभान्ति तर्हि तन्नाम निर्मलादर्शसमं वाल्मीकिरामायणमेव।

वेदादिसच्छास्त्रमधीत्य योऽध्येति वाल्मीकिरामायणं स सत्वरमेव वैदिकधिया वाल्मीकिरामायणे यज्ञानुष्ठानम्, अतिथिसत्कारपरम्पराम्, गुरुकुलीयामक्षुण्णां शिक्षणपद्धतिम्, मातृभावं पितृभावं गुरुशिष्ययोरविरलामनाविलां सम्बन्धपरम्पराम्, सत्यवचनानुपालननिपुणताम्, निर्व्याजां निर्बाधां निश्छलामकुटिलां प्रजाजनानुर ञ्जनरक्तां स्वसुखनिरभिलाषां परसुखप्रदानैकाभिलाषां राजव्यवस्थां च ध्यायं ध्यायं काव्यपाठप्रभूतममन्दमानन्दमनुभवति। वेदेषु सन्ति परमेष्ठिनः परब्रह्मणः परमात्मनो नन्वादेशाः। तांश्चादेशान् परिपालयन् पुमान् नितरामभ्येत्यभ्युदयम्।

जगदुन्नेतुमात्मान ञ्च समुन्नेतुं यदपि करणीयं तन्निर्देशनं सर्वाङ्गतया वेदेष्वेव विद्यते। वेदा अनुपाल्यन्ते मनुष्यैः, वेदानुपालनपराणां मनुष्याणां लिख्यत इतिहासस्तच्चेतिवृत्तं यदा पद्यमय्या पद्धत्या समुद्गीयते तन्नाम भवति काव्यम्। महर्षिणा तपःपूतेन नि श्चलचित्तेन योगस्य पराकाष्ठामुपगतेन पाणावामलककमिव बुद्धिस्थं रामचरितं समग्रमालोक्य रामायणमिति नामधेयमाद्यं काव्यं निरमायि। तत्र रामायणे रामाश्रितानि सर्वाण्यपि पात्राणि स्वस्वकर्त्तव्यक्षेत्रं वेदालोकेनालोकयन्ति।

वाल्मीकिरामायणस्य वेदनिष्ठतां प्रमाणयितुं पद्यद्वयमेवालम्-

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः।
सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः॥

वाल्मी. रामा. बाल. १८.२५-२६

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथाह्यात्मभुवं प्रभुम्।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम्।।

वाल्मी. रामा. अयो. १४.४१.

नूनमेव समायोज्यमाना विद्वद्गोष्ठीयं नितरमद्भुतयशोगीतगेया भवित्री। सुखकालेऽस्मिन् सर्वे विद्वांसः कुलभुवम्मागत्य विद्वज्जनचित्तामोदाय वैदिकविचारविभाभासमानानि वाल्मीकिरामायणाश्रितानि स्वानि स्वानि शोधपत्राणि पठिष्यन्ति।

अस्या राष्ट्रियविद्वद्गोष्ठ्या ये समायोजकाः डॉ. महावीर अग्रवालः, डॉ. रामप्रकाशः शर्मा, डॉ. सोमदेवः शतांशुः, डॉ. ब्रह्मदेवः, डॉ. ज्ञानप्रकाशः शास्त्री प्रभृतयः सन्ति सर्वेषामनामयतां दीर्घजीवितां च भूयो भूयः कामयेतरामिति।

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री
आचार्योपकुलपतिः

ओ३म्

राष्ट्रपति-सम्मानित
पूर्व उपकुलपति एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

☎ · ०१३३४–२५३८४५
आचार्य (डॉ०) रामनाथ वेदालंकार
विद्यामार्तण्ड
वेदमन्दिर, ज्वालापुर-२४९४०७
(हरिद्वार) उत्तराञ्चल

स्वामिश्रद्धानन्दसरस्वतीमहाभागेन संस्थापितस्य हरिद्वारीय-गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागः २००६ ई० संवत्सरे मार्चमासस्य ३,४,५ तारीकासु 'वेदः वाल्मीकि-रामायणञ्च' इति विषयमुपजीव्य राष्ट्रियसंस्कृतसम्मेलनम् आयोजयतीति वार्तां विज्ञाय हर्षप्रकर्षो मयानुभूयते। वाल्मीकिमहर्षिणा रामायणे वैदिकी संस्कृतिः प्राचुर्येण परिशीलिता। आदावेव बालकाण्डस्य प्रथमे सर्गे 'को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्' इत्यादि नारदेन पृष्टो वाल्मीकिर्दाशरथिं राममेव सर्वगुण-सम्पन्नं व्याहरन् 'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः' इति विशेषणेन तं स्मरति। वर्णाश्रमव्यवस्थानुसारतः स्वस्वकर्तव्यपालनं, प्रजानां पारस्परिकी प्रीतिः, सतां रक्षणं, रक्षसां दण्डनं, यज्ञानां रक्षणं, मुनीनां सत्कारः, शान्तेः स्थापनम् इत्येवास्ति वेदानां वाल्मीकिरामायणस्य चापि सन्देशः। साम्प्रतिके काले आतङ्कवादः सर्वत्र शिर उत्थापयति। आतङ्कक्रीडा-परायणा आततायिनः समूलमुन्मूलनीया इति वक्ति वैदिकी रामायणीया च शिक्षा। विभिन्नस्थलस्थानां प्रतिनिधिभूतैः विद्वद्भिः सम्मेलनेऽस्मिन् शोधपत्राणां वाचनं करिष्यते। ते सर्वेऽपि विद्वांसः, गुरुकुलविश्वविद्यालयस्याधिकारिणः, सम्मेलनस्य संयोजकाश्च मया हृदयेनाभिनन्द्यन्ते। मन्ये शोधपत्राणि प्रकाश्यं नेष्यन्ते।

जयति वेदसुधा सकला शिवा, जयति रामकथा सरसा रसा।
जयति ऋषिरियं यशसा सिता, जयति कोविदपङ्क्तिपरम्परा।।

शुभकामः
रामनाथवेदालङ्कारः

उत्तरांचल संस्कृत विश्वविद्यालयः

हरिद्वारम्-249401 (उत्तरांचल)

दूरभाष सं.- 01334-266590, 266591

(रानीपुर झाल, हरिद्वार-दिल्ली राष्ट्रीय राजमार्ग)

संख्या: 161/उ0 सं0 वि0वि0/2005-06 — दिनांक: 3 जनवरी 2006

शुभानुशंसनम्

महतः प्रमोदस्य प्रसंगोऽयं यद गुरुकुलकांगड़ी विश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागे वैदिकलौकिकोभयवाङ्मयमभिलक्ष्य दिवसत्रयसम्पादनार्हं विविधविद्यापारंगतविद्वज्जनसभाजनक्षमं नैकशास्त्रेष्वप्रतिहतगतिमद्भिर्मनीषिभिर्मण्डितं राष्ट्रियसंस्कृतसम्मेलनं समायोज्यते। सम्मेलनेऽस्मिनादिकवेर्वाल्मीकेः रामायणस्य अपौरुषेयवेदस्य च बहुविधाः विषयाः मनीषिभिर्मननीयाः, चिन्तकैर्चिन्तनीयाः, पाठकैर्पठनीयाः, श्रोतृभिर्श्रोतव्याश्च भविष्यन्तीति नूनमस्माभिरनुभवितुं शक्यते।

आदिकविना महर्षिणा स्वरचिते रामायणे भगवतः पुरुषोत्तमस्य श्रीरामचन्द्रस्य न केवलं चरित्रमात्रं चित्रितमपितु तत्र जीवनोपयोगिनं विपुलज्ञानवैभवमपि विवेचितम्। **रम्या रामायणी कथा** इति कथनं कथायाः वैशिष्ट्य प्रतिपादनमात्रपरम्, वस्तुतः सरसविधिना, सरलपद्धत्या कथामाध्यमेन विज्ञानस्याप्यनेके प्रसंगाः सूत्रशैल्या निगूहिताः। किं बहुना वेदविषये **वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम् , सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति, यतः सर्वाः प्रवृत्तयः** इत्यादिभिर्वचोभिर्भगवतो वेदस्य माहात्म्यमनुपदमुद्घोषितम्।

आशासे सम्मलनेऽमुस्मिन् देशस्य विविधेभ्यो विश्वविद्यालयेभ्यो महाविद्यालयेभ्यो विद्यापीठेभ्यश्च समायाताः शास्त्रेषुकृतभूरिपरिश्रमाः विद्याचरणचंचवः विद्वांसः वेदेषु रामायणे च निगूहितमनुद्घाटितं तत्वमुद्घाटयिष्यन्ति।

निश्चयप्रचं यदिदं कोविदसमवेतभूतं राष्ट्रियसंस्कृतसम्मेलनं नूनं सफलतामेष्यति। सफलतायै अमुस्य सम्मेलनस्य अहं भगवन्तं बदरीशं प्रणमन् शुभं कामयामि।

शुभाकांक्षी

(ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मचारी)
कुलपतिः
उत्तरांचल–संस्कृत–विश्वविद्यालयः,
हरिद्वारम्

प्रो. वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री
कुलपति
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानवसंसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन)

Prof. V. Kutumba Sastry
Vice-Chancellor
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
Deemed University
(Under MHRD, Govt. of India)

रा०सं०सं०/वीसी-3/04–05/506 18.1.2006

सन्देश

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि मार्च, 2006 में विश्वविद्यालय द्वारा 'वेद और बाल्मीकि रामायण' विषय पर राष्ट्रिय संगोष्ठी का आयोजन किया जा रहा है । भारतीय संस्कृति, धर्म और नैतिक मूल्यों के प्रचार–प्रसार की दिशा में यह प्रशंसनीय कदम है।

वेद और वाल्मीकि रामायण दोनों ही भारतीय संस्कृति के लोकप्रिय ग्रंथ हैं। इनके उपदेश अत्यंत व्यावहारिक हैं । इनसे जीवन की विभिन्न विकट परिस्थितियों में हमें मार्गदर्शन प्राप्त होता है । जीवन में इसकी प्रासंगिकता और उपयोगिता को देखते हुए इनके अधिकाधिक प्रचार–प्रसार की आवश्यकता है । इस उपलक्ष्य में आपने इन वैदूष्यपूर्ण वचनों को एक स्मारिका के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लेकर इसको चिरस्थाई बना दिया है । इस अवसर पर सम्मेलन के आयोजकों एवं इस दिशा में संलग्न समस्त विद्वानों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूं और आशा करता हूं कि यह स्मारिका जनमानस के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा ।

इसी शुभकामना के साथ ।

(वि० कुटुम्बशास्त्री)

प्रो० महावीर अग्रवाल
अधिष्ठाता, प्राच्य विद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उत्तरांचल)

56-57, Institutional Area, Janakpuri, New Delhi-110058 Ph. : (O) 28523949 (R) 25085238 Fax : 28521948
EPABX : 28524993, 28521994 Gram : SAMSTHAN E.Mail : rsks@nda.vsnl.net.in

प्रो. के. वि. रामकृष्णमाचार्यः
कुलपतिः
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य
राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालयः
जयपुरम्

दूरवाणी : 0141-2273807 (कार्यालय)
दूरवाणी एवं फैक्स : 0141-2723562 (निवास)
मोबाइल : 9829794947, 9414065613
ई-मेल : kvrkus@yahoo.com
ग्राम-मदाऊ, पो. भांकरोटा,
जयपुरम् - 302026, (राजस्थान)
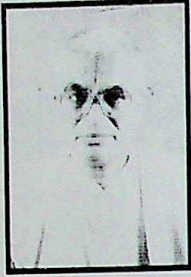
क्रमांक : दिनांक

शुभकामना :

भूयान् मे प्रमोदः वोभवीति गुरूकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयेन मार्चमासे " वेदः वाल्मीकिरामायणं च " इति विषयमवलम्ब्य एकम् राष्ट्रिय संस्कृतसम्मेलनम् भविष्यतीति विज्ञाय । समीचीनोऽयं संकल्पः विश्वविद्यालयस्य यदर्थम् विश्वविद्यालयकुलपतयः प्रो0 स्वतन्त्रकुमाराः, आचार्योपकुलपतयः महामहोपाध्यायाः प्रो0 वेदप्रकाशशस्त्रिणः, प्राच्यविद्या-संकायस्य अधिष्ठातारः अस्य सम्मेलनस्य संयोजकाः प्रो0 महावीराः अग्रवालकुलदीपकाः तथा अन्ये चैतत्सम्मेलनसम्बद्धाः अभिनन्दनीयाः । यतो हि " इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेदि " ति वचनमनु इतिहासयोः अन्यतरम् आदिकाव्यरूपं रामायणमुपजीव्य,तस्य वेदोपबृंहणम् आविष्कर्तुमयं प्रयासः विधीयते । प्रभुसम्मितवेदेभ्यः , मित्रसम्मितपुराणेभ्यः च भिन्नतया वेदार्थमेत धर्मार्थकाममोक्षरूपं चतुर्विधपुरुषार्थरूपम् उपदिशति काव्यम्। तत्रापि आदिकाव्यं रामायणं सरसया सरलया च शैल्या वेदोपबृंहणं करोतीति सर्वविद्वद्विदितमेव। सम्मेलनाय स्वीकृता विषयाश्च तस्मिन्नेक परिप्रेक्ष्ये चिताः रामायणस्य वेदस्य च अद्यतने समाजे सम्बन्धं स्थापयन्तः उभयोः गौरवं वर्धयिष्यन्ति इत्यत्र नास्ति सन्देह : ।

सम्मेलनेऽस्मिन् प्रस्तुतानां लेखनाम् प्रकाशनमपि भविष्यति येन सर्वोऽपि समाजः अनेन प्रक्रमेण उपकृतो भविष्यति । इदं च सम्मेलनं निर्विघ्नं प्रवर्तताम् , विश्वविद्यालयोपि एतादृक्कार्यविशेषैः समाजहितं विदधात्विति , तदर्थं सर्वशक्तः परात्परः अनुगृह्णातु इति च आशास्महे ।

विदुषां वशंवदः
(कं वें रामकृष्णमाचार्यः)

निवासः - 582, महावीर नगर, टोंक रोड, जयपुरम् - 302 018

हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर (गढ़वाल) –246174, उत्तरांचल

प्रो० एस० पी० सिंह एफएनए
कुलपति

फोन – 01346 - 252167
फैक्स – 01346 - 252174

पत्रांक: वीसी / 2006 / 1127
दिनांक: 2301.2006
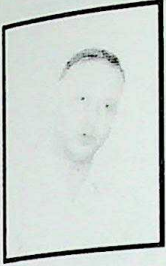
संदेश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के संस्कृत विभाग द्वारा आगामी 3,4,5 मार्च 2006 को तीन दिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन वेद और वाल्मिकी रामायण विषय पर आयोजित किया जा रहा है। इस हेतु समस्त विश्वविद्यालय परिवार को बधाई। इस प्रकार के आयोजन समाज एवं किसी भी शैक्षणिक संस्था के छात्र–छात्राओं की रचनात्मक क्षमता को सार्थक मंच प्रदान करते हैं। मुझे उम्मीद है कि विश्वविद्यालय के उक्त सम्मेलन में भी समाज एवं छात्र–छात्राओं की मौलिक प्रतिभा, उनके दृष्टिकोण, भावनाओं और विचारों से युक्त रचनाओं आदि का समावेश होगा।

मुझे विश्वास है कि "वेद और वाल्मिकी रामायण" में प्रकाशित पाठ्य सामग्री समग्र रूप से अत्यन्त रोचक, ज्ञानवर्धक तथा प्रेरणास्पर्द होगी।

मैं विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय संगोष्ठी "वेद और वाल्मिकी रामायण" की सफलता की कामना करता हूँ।

शुभकामनाओं के साथ,

भवनिष्ठ,

(एस०पी०सिंह)

प्रो० महावीर अग्रवाल
संयोजक
अध्यक्ष संस्कृत विभाग।
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

प्रो० आर० सी० पंत
कुलपति

कुमाऊँ विश्वविद्यालय
नैनीताल–263001
कार्या० : (05942) 235068
आवास : (05942) 236855
फैक्स : (05942) 235576
e-mail : kumauniversity@sancharnet.in

पत्रांकः वीसी/केयू/2006/419 दिनांक 19–1–2006

प्रिय प्रो0 अग्रवाल,

आपका पत्र दिनांक जनवरी 6, 2006 प्राप्त हुआ ।

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा दिनांक मार्च 3 –5, 2006 को "**बेद और वाल्मीकी रामायण**" विषय पर एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है तथा इस सम्मेलन में देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों/महाविद्यालयों से बहुत बड़ी संख्या में विद्वान भाग ले रहे हैं । मुझे विश्वास है कि इस अवसर पर प्रकाशित की जाने वाली स्मारिका में ऐसे महत्वपूर्ण शोध लेख प्रकाशित होंगे जो पाठकों के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे ।

मै संगोष्ठी के सफल आयोजन हेतु मंगल कामनायें प्रेषित करता हूँ ।

भवदीय,
[signature] 19.1.06
(आर0 सी0 पंत)

प्रो0 महावीर अग्रवाल,
अधिष्ठाता, प्राच्यविद्यासंकायस्य,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार ।

प्रोफेसर पंजाब सिंह
Prof. Panjab Singh
FNAAS, FIAS, FNIE, FBRSI, FSEE
(EX-SECRETARY, DARE, GOI & DG, ICAR)
कुलपति
VICE-CHANCELLOR
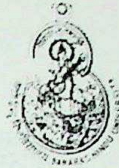
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005 (INDIA)
Phones : (0542) 2368938/230-7220 (O)
: (0542) 2368339/230-7209 (R)
Fax : (0542) 2369951
e-mail : vc_bhu@sify.com

वी०सी०/926
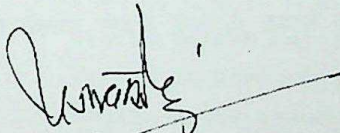
फरवरी 1, 2006

सन्देश

मुझे प्रसन्नता है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन के अंतर्गत **वेद और बाल्मीकि** विषय पर केन्द्रित आयोजन कर रहा है। मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि शीर्षस्थ विद्वानों के रामायण आधारित विद्वतापूर्ण शोध-पत्रों पर आधारित स्मारिका का भी प्रकाशन हो रहा है।

राष्ट्रीय संगोष्ठी की सफलता की मेरी कामना स्वीकार करें।

(पंजाब सिंह)
कुलपति

प्रो० सुरेन्द्र सिंह
एम.एस.डब्ल्यू.,एल-एल.बी.,पी-एच.डी.,डी.लिट्,एन.डी.एस-सी.
एम.डी. (आल्ट. मेडि.), डी.एस-सी. (मानद)
कुलपति
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी -२२१ ००२
निदेशक
जे.के. इन्स्टीट्यूट आफ सोशियोलोजी एण्ड ह्यूमन रिलेशन्स
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ - २२६ ००७

दिनांक ....

संख्या- कु०/2498/२००६ दिनांकः १६-०१-२००६
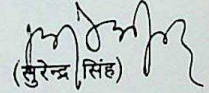
प्रिय प्रो० अग्रवाल,

मुझे जानकर अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि संस्कृत विभाग, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम् आगामी ३, ४, तथा ५ मार्च, २००६ त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन आयोजित कर रहा है जिसमें देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों/महाविद्यालयों की बड़ी संख्या में विद्वान पधार रहे हैं जिनके द्वारा **"वेद और बाल्मीकि रामायण"** शीर्षक विषय पर वैदूष्यपूर्ण लेख तथा शोध पत्र प्रस्तुत किए जायेगें। इस सुअवसर पर प्रकाशित की जा रही स्मारिका के सफल प्रकाशन एवं सम्मेलन के प्रभावपूर्ण हेतु आयोजन मैं परमूपिता परमेश्वर से प्रार्थना भी करता हूँ और हृदय से शुभकामनाएं देता हूँ।

मैं आपको तथा आपके विभाग के आयोजक मण्डल के सभी विद्वान सदस्यों को इस आयोजन के लिए बधाई भी देता हूँ।

शुभकामनाओं सहित,

भवन्निष्ठ,

(सुरेन्द्र सिंह)

प्रो० महावीर अग्रवाल,
संयोजक,
राष्ट्रिय संस्कृत सम्मेलन,
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः,
हरिद्वारम्।

दूरभाषः- कार्यालय-2225472, आवास-2221268 कैम्प कार्यालय-2223160
फैक्सः-कैम्प कार्यालय-2221268, कार्यालय-2225472
e-mail: mgkvp@sancharnet.in, surendrasinghdi@rediffmail.com, Website: mgkvp.ac.in

MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY
ROHTAK-124 001, HARYANA, INDIA

Off. : 01262-294327, 292431
Res. : 01262-213119
Fax : 01262-294133, 294640
E-Mail : rsdhankar_mdurvc@hotmail.com

Prof. Raj S. Dhankar
Ph.D., P.D.S., UCLA (U.S.A.)
VICE-CHANCELLOR

संदेश

यह जानकर परम् प्रसन्नता हुई कि आप 3 से 5 मार्च, 2006 तक 'वेद और वाल्मीकि रामायण' अनुप्रेरक विषय पर राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन कर रहे हैं ।

निश्चय ही वेद बीज रूप में सत्य विद्याओं की निधि है और समस्त ज्ञान–विज्ञान की धरोहर है । इसमें मनुष्य को बहुआयामी गतिशीलता प्रदान करने के लिए धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और कृषि आदि विषयों का सर्वविधि मार्ग–दर्शन किया गया है । वेद मन को नियंत्रित कर इंद्रियों में उपयोगी शक्ति का संचार करता है, तो अंतःचक्षु से ज्ञानार्जन कराकर मानव मूल्यों के संरक्षण और संवर्द्धन का अवसर प्रदान कराता है । परम शक्ति और जीवनाधार अग्नि, वायु, सूर्य और अंगिरस का पुण्य प्रकाश कमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से प्राप्त होता है । निश्चय ही वेद भारतीय संस्कृति का सर्वस्व है ।

महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण आदि काव्य है, जो सहज प्रेरणा से समाज को लोक कल्याण के पथ पर प्रशस्त करता है । अमर काव्य रामायण भारतीय संस्कृति की अक्षय धरोहर है और मानवता के आदर्शों की मनोरम मंजूषा है । इस कृति से परवर्ती साहित्यकारों को अपूर्व प्रेरणा और स्फुर्ति का वरदान मिला है । इसकी कथा सुकोमल और सुरम्य है । इसमें मानवता का आदर्श और जीवन–दर्शन का समन्वय प्रतिपादित किए गए हैं । मूर्तिमान धर्मस्वरूप श्री राम को प्रस्तुत कर लोक मंगल की मनभावन अभिव्यक्ति की गई है । माननीय संवेदना का जैसा रूप रामायण में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।

मेरा दृढ विश्वास है कि इस कार्यकम से वेद और महर्षि वाल्मीकि रामायण के जीवनोपयोगी संदेश के प्रेरक विश्लेषण के साथ जन–जन तक पहुँचाने का सुअवसर मिलेगा ।

इस श्रेष्ठ गरिमामय कार्यकम और स्मारिका प्रकाशन की आशातीत सफलता के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ ।

आर. एस. धनकर
कुलपति

Lt. Gen. (Retd.) G.S. Negi
PVSM, AVSM*, *VSM
CHAIRMAN

उत्तरांचल लोक सेवा आयोग
PUBLIC SERVICE COMMISSION UTTARANCHAL
P.O. Gurukul Kangri,
Haridwar - 249404
Ph. (01334)-244283 (O)
Fax : (01334)-244833

D.O. No. 273/PS/2005-06
Date : 10-01-2006

शुभकामना–संदेश

गुरुकुल कॉंगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के संस्कृत विभाग द्वारा दिनांक 3–5 मार्च, 2006 के मध्य **"वेद और वाल्मिकी रामायण"** विषय पर आयोजित होने वाले **राष्ट्रिय–संस्कृत–सम्मेलन** के लिए मेरी अनेकशः शुभकामनाएं।

मुझे आशा है कि इस संगोष्ठी में देश के विभिन्न क्षेत्रों से पधारने वाले विद्वत्‌जनों के सारगर्भित लेखों एवं शोध–पत्रों के माध्यम से वेद एवं वाल्मिकी रामायण का संदेश समाज के समस्त वर्गों को लाभान्वित करेगा।

मैं इस राष्ट्रिय संगोष्ठी की पूर्ण सफलता के लिए मंगलकामना व्यक्त करता हूँ।

शुभाकांक्षी
गम्भीर नेगी
(ले.जन.(अ.प्रा.) जी.एस. नेगी)
अध्यक्ष

डॉ0 महावीर अग्रवाल
अधिष्ठाता, प्राच्य विद्या संकाय,
एवं संयोजक, राष्ट्रिय संस्कृत सम्मेलन
गुरुकुल कॉंगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

सुशील कुमार गुप्ता
कार्यपालक निदेशक
S. K. GUPTA
EXECUTIVE DIRECTOR

भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड
रानीपुर, हरिद्वार - 249 403, (उत्तरांचल) भारत
Bharat Heavy Electricals Limited
RANIPUR, HARIDWAR - 249403, (UTTARANCHAL) INDIA
Tel. : 91-1334-226459, FAX : 91-1334-225096
e-mail : skgupta@bhelhwr.co.in

दिनांक:-11.02.06

माननीय प्रो० महावीर अग्रवाल
संयोजक - राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार - 249 404

मान्यवर,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, 3 से 5 मार्च 2006 तक 'वेद और वाल्मीकि रामायण' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन कर रहा है। संस्कृत भारत की प्राचीनतम भाषा है, इसके प्रोत्साहन तथा साहित्य के प्रसार में; आपका यह प्रयास प्रशंसनीय है।

मैं इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में, जिसमें देश के विभिन्न भागों से विद्वान भाग ले रहे है की सफलता के लिए हार्दिक शुभकामना व्यक्त करता हूँ।

सादर ...

भवदीय

सुशील कुमार गुप्ता
(सुशील कुमार गुप्ता)

पंजीकृत कार्यालय : बी.एच.ई.एल. हाउस, सीरी फोर्ट, नई दिल्ली - 110 049
REGISTERED OFFICE : BHEL HOUSE, SIRI FORT, NEW DELHI - 110 049

लोक सेवा आयोग उत्तरांचल

आयोग भवन
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

डॉ० सुधारानी पांडे डी. लिट्
सदस्य

डी०ओ० नं०..................
दिनांक 23-01-2006

प्रिय प्रो० महावीर,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार 3, 4, 5 मार्च, 2006 को त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन आयोजित कर रहा है । "वेद और वाल्मीकि रामायण" पर आयोजित यह राष्ट्रीय सम्मेलन दो महान युगों की अहर्निश चलने वाली ज्योति–शिखाओं का श्रेष्ठ सम्मेलन होगा ऐसी मेरी कामना है । "वेद और वाल्मीकि रामायण" दीर्घकालीन भारतीय साहित्य साधना का वह श्रेष्ठ मार्ग है जिसके माध्यम से परम्परागत् आर्षवाणी और कवि सुलभ कोमल भावनाओं की समवेत स्वर लहरी सुनायी पड़ती है ।

संगोष्ठी में पधारने वाले विद्वानों एवं संयोजकों के सारस्वत प्रयास से यह गोष्ठी निश्चय ही अत्यन्त सफल गोष्ठी होगी । आयोजन समिति के निदेशक एवं संयोजक को संगोष्ठी के इस सारस्वत समारोह की सफलता के लिए मेरी अनेक शुभकामनायें ।

(डॉ० सुधा पाण्डे)
सदस्य,
उत्तराँचल लोक सेवा आयोग,
हरिद्वार ।

प्रो० महावीर अग्रवाल,
अधिष्ठाता प्राच्यविद्यासंकायस्य,
संयोजकश्च,
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः,
हरिद्वारम्

Phone : (O) 01334 - 244143, 244566
(R) 01334 - ~~248099~~, ~~248451~~ 240605
Fax : 01334-244833
Moble : Mob. ~~9837033804~~, ~~9897092281~~

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शुभकामनाएं

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि संस्कृत विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ३,४,५ मार्च २००६ को त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन वेद और वाल्मीकि रामायण जैसे श्रेष्ठ विषय पर आयोजित कर रहा है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय वेद की ज्योति को सदैव सर्वोपरि रखते हुए समाज को दिशा प्रदान करता आया है। वाल्मीकि रामायण सहज प्रेरणा से समाज को लोक कल्याण के पथ पर प्रशस्त करती है। इस सम्मेलन से विश्वविद्यालय वेद और रामायण के समाजोपयोगी संदेश को विश्लेषण के साथ जन-जन तक पहुंचायेगा।

मैं इस राष्ट्रीय संगोष्ठी की पूर्ण सफलता के लिये मंगल कामना व्यक्त करता हूं।

शुभाकांक्षी

प्रो० ए.के.चोपड़ा

कुलसचिव

उत्तरांचल संस्कृत अकादमी

हरिद्वार-249 401 (उत्तरांचल)

फोन 01334– 275574, 250885
फैक्स सं0 01334–250885

शुभ कामना सन्देश

*मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, आगामी 03, 04, 05 मार्च, 2006 को त्रि–**दिवसीय राष्ट्रिय शोध सम्मेलन** का आयोजन कर रहा है जिसका विषय "वेद और वाल्मीकि रामायण" है।*

एक ओर जहाँ वेद, सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण तथा आध्यात्मिक उन्नति के स्रोत हैं, एवं अपौरुषेय होने के साथ–साथ जिनमें समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान निहित है, वहीं दूसरी ओर पौरुषेय आदिकाव्य रामायण, ईश्वर प्रदत्त मानव जीवन के नैतिक मूल्यों सहित अक्षय ज्ञान का प्रदाता है। जहाँ पर राम का चरित्र भी महर्षि बाल्मीकि ने ऋषिवत् चित्रित किया है।

'वेदः वाल्मीकिरामायणंच" विषय प्रासंगिक और समीचीन है इस विषय पर संगोष्ठी का आयोजन करके निश्चित रूप से आपके द्वारा अमरहुतात्मा स्वामी श्री श्रद्धानन्द जी द्वारा निर्देशित सत्यपथानुगमन में एक आहूति समर्पित होगी।

सम्मेलन में विद्वत्जनों के शोधपत्र–सार स्मारिका के रूप में प्रकाशित किए जायेंगे यह संस्कृत विभाग का प्रशंसनीय प्रस्ताव है।

सम्मेलन के सफल आयोजन के लिए मेरी हार्दिक शुभ–कामनाएं स्वीकार करें।

शुभ कामनाओं सहित!

दिनांकः 25 फरवरी, 2006

(डॉ0 सविता मोहन)
सचिव,
उत्तरांचल संस्कृत अकादमी,
हरिद्वार।

प्रतिष्ठा में,
प्रो0 महावीर अग्रवाल,
संयोजक,
राष्ट्रिय शोध संगोष्ठी,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

E-mail-uttranchalsa@yahoo.com, Savitamohan@Sancharnet.in

डॉ0 हर्षवन्ती बिष्ट
अर्जुन पुरुस्कार
कुलसचिव

उत्तरांचलसंस्कृतविश्वविद्यालयः
हरिद्वारम्, उत्तरांचल
'संस्कृत भवन' हरिद्वार-दिल्ली राष्ट्रीय राजमार्ग
दूरभाष-01334-250896, 275573

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार **"वेद और वाल्मिकी रामायण"** विषय पर 3,4,5, मार्च, 2006 को 'त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध सम्मेलन' आयोजित कर रहा है।

इसमें देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों / महाविद्यालयों से बड़ी संख्या में आने वाले विद्वानों के विचारों से विद्वजन, विद्यार्थी और समाज सभी लाभान्वित होंगे।

मैं राष्ट्रीय शोध सम्मेलन की सफलता की कामना करती हूँ।

(डॉ0 हर्षवन्ती बिष्ट)

वेदमञ्जरी
कूपपतितं माम् उद्धर

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाळ्ह ऋषिरह्वदूतये।
रथं न दुर्गाद् वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥

ऋषिः कुत्सः आङ्गिरसः। **देवता** विश्वेदेवाः। **छन्दः** जगती।

(**वृत्रहणं**) पापानं हन्तारं, (**शचीपतिं**) शच्याः वाण्याः प्रज्ञायाः कर्मण्यतायाश्च अधिपतिम् (**इन्द्रं**) परमेश्वरम् (**कुत्सः**) विद्यावज्रधरः (**ऋषिः**) द्रष्टा मनुष्यस्य आत्मा (**काटे निबाढः**) पापकूपे पतितः सन् (**ऊतये**) रक्षायै (**अह्वत्**) आह्वयति। हे (**सुदानवः वसवः**) शुभदानदातारः निवासकाः देवाः! (**नः**) अस्मान् (**वि श्वस्मात् अंहसः**) सर्वस्मात् पापात् (**निष्पिपर्तन**) उद्धरत, (**रथं न**) यथा यानं (**दुर्गात्**) दुर्गमस्थानात् केचिद् उद्धरन्ति तथा।

पश्यत! कुत्सम् ऋषिं शत्रवः कूपे अपातयन्। कोऽयं कुत्सः ऋषिः? अहं मनुष्यस्य आत्मा एव कुत्सः ऋषिरस्मि। कुत्स इति वज्रनाम। लक्षणया वज्रधरोऽपि कुत्स उच्यते। अहम् अविद्यायाः छेत्तारं विद्यारूपं वज्रं धारयामि, अतोऽहमेव कुत्सोऽस्मि। ऋषिर्द्रष्टा भवति। मनइन्द्रियादिभिः साधनैर्ज्ञानस्य द्रष्टृत्वाद् अहमेव ऋषिरप्यस्मि। एतादृशः शक्तिधरोऽप्यहम्। औदासीन्याद् असावधानतया च अद्य तमोवृत्तिरूपाणां रिपूणां जाले पतित्वा अविवेकदुराचारपापदुर्गतिरूपे कूपे पतितोऽस्मि, तस्मादुद्धारार्थं च देवान् आह्वयामि। अयि इन्द्र! हे, पराक्रमशालिन् परमेश्वर! त्वं 'वृत्रहा' वर्तसे, पापरिपूणां हन्ता विद्यसे। त्वं 'शचीपतिः' वर्तसे, शच्याः वाण्याः प्रज्ञायाः कर्मण्यतायाश्च अधिपतिर्विद्यसे। त्वं मम तमोवृत्तिरूपान् रिपून् हत्वा, स्वकीयदिव्यवाण्या सत्प्रेरणां प्रदाय, स्वकीयदिव्यप्रज्ञया प्रज्ञां वितीर्य, स्वकीयदिव्यकर्मण्यतया च कर्मपरायणं कृत्वा मां दुर्गतिकूपाद् उद्धर। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम् अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः (ऋ.1.106.7)। हे मित्रदेव! त्वं सद्गुणैः साधुजनैश्च मम मैत्रीं कारय। हे वरुण देव! त्वं तमोरूपान् शत्रून् स्वपाशैर्बधान। हे अग्निदेव! त्वं स्वकीयाभिर्दिव्यज्वालाभिर्मम मनसः कल्मषं दग्ध्वा मदीयमनोभूमौ प्रकाशं प्रसारय। हे मरुतः! हे प्राणाः! यूयं दिव्यझञ्झावातेन मम हृदयं संमार्ज्य निर्मलं कुरुत। अयि बृहस्पते! त्वं स्वकीयज्ञानतरङ्गैर्मां तरङ्गितं विधेहि। अयि नराशंस! त्वं मां जनानां प्रशंसाभाजनतां नय। हे सिन्धो! त्वं मदीयं हृदयम् अगाधं गम्भीरम् उदारं च कुरु। हे पृथिवि! त्वं मम संकुचितमनोवृत्तिं दूरीकृत्य मां विस्तीर्णं क्षेत्रं प्रापय। अयि द्यौः! त्वं मम निस्तेजस्कतां परिहृत्य मां सतेजसं कुरु। अयि जगज्जननि अदिते मातः! त्वं माम् अखण्डनीयताया अमरतायाश्च पयःपानं कारय। यथा गर्तादिदुर्गमस्थाने पतितं रथं बहवो जनाः संमिल्य तस्मान्निष्कासयन्ति तथैव इन्द्रसहचरिता यूयं सर्वे देवा मां विपत्तिकूपान्निष्कासयत। हे देवाः! अस्मात् पापकूपाद् उद्धरत, उद्धरत।

नान्दी - वाक्

'कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे
वाल्मीकि-कोकिलम्।।'

काव्य तरु पर आरूढ़ होकर जिस प्राचेतस् ब्रह्मविद् आदि कवि महर्षि वाल्मीकि-रूप कोकिल ने 'राम-राम' इन मधुराक्षरों के रटन् से साहित्य-जगत् को अनुगुंजित किया और विश्व के समक्ष श्रीराम के महनीय, अनुकरणीय, वैदिक-आदर्शों से परिपूर्ण मर्यादारूप को स्थापित किया, उस महाकवि की महिमा अपरिमेय है। वाल्मीकि शब्द स्वयं ही विवृत करता है कि महर्षि ने इतनी कठोर साधना की कि उनके ऊपर वाल्मीकि (बांबी) विनिर्मित हो गयी। महर्षि वाल्मीकि को ब्रह्मा ने 'आद्य: कविरसि' कहकर सम्बोधित किया था। आज भी विद्वद् वर्ग में वही परम्परा बद्धमूल है।

वाल्मीकि रामायण से पूर्व-कतिपय रचनाएं हुई होंगी, किन्तु उनका उद्देश्य देवस्तुति, देवार्चन, धर्मभावना अथवा उपासना मात्र रहा होगा। वाल्मीकि ही सर्वप्रथम ऐसे क्रान्तदर्शी कवि थे जिन्होंने कविता का सम्बन्ध साक्षात् जीवन से स्थापित किया।
रामायण में सर्वप्रथम लौकिक अथवा पौरुषेय छन्द का अभिराम अवतरण हुआ-

''आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतार:।'' उ.रा.च., अंक २

अत: रामायण भारतीय साहित्य की प्रथम सृष्टि है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने भी वाल्मीकि को कवियों में उसी प्रकार आदिकवि माना है, जिस प्रकार वर्णों में ओंकार का स्थान सर्वप्रथम होता है-

'स व: पुनातु वाल्मीके सूक्तामृतमहोदधि:।
ओंकार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनि।।'

क्षेमेन्द्र-रामायणमंजरी

कविवर भोज ने वाल्मीकि मुनि को मधुमय उक्तियों का मार्गदर्शी कहा है -

'मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षि:।।' भोज-रामायणचम्पू १/८

संस्कृत साहित्येतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. वाचस्पति गैरोला के अनुसार वाल्मीकि और व्यास भारतीय साहित्य के दो उज्ज्वल नक्षत्र, साहित्यसाधना के अनन्त राजमार्ग के दो अविश्रान्त पथिक, विभिन्न युगों की दो प्रकाशमान प्रतिमाएं और सृष्टि के साथ सदाशय रूप में रात और दिन की तरह चलने वाली दो अक्षय विभूतियाँ हैं।[1]

रामायण और महाभारत दोनों यद्यपि भारतीय साहित्य के विशाल महाप्रासाद हैं पुनरपि भारतीय जन-जीवन में राम कथा रूप अमृत प्रवाहित करने वाले महाकाव्य रामायण को अत्यधिक गौरव प्राप्त है। श्रद्धावान् अशिक्षित जन भी अपने घर में वेदों की तरह रामायण को रखना पुनीत कार्य समझते हैं।

वाल्मीकि भारतीय साहित्य के ऐसे महान् कवि हैं जिनका इस देश के साहित्य और संस्कृति की परम्परा पर गहरा प्रभाव पड़ा है और उनका महत्त्व सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। रामकथा इस देश की ऐसी साहित्यिक और सांस्कृतिक निधि है जो युगों से राष्ट्र को प्रकाश देती आयी है और युगों तक देती रहेगी।

'रामकथा का इस देश के वाङ्मय में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उसने भारतवर्ष के धार्मिक और ललित दोनों ही प्रकार के साहित्य को अत्यन्त गहराई के साथ और अत्यन्त व्यापक रूप में प्रभावित किया है। श्रीराम और श्रीकृष्ण इस देश के सर्वाधिक प्रिय और प्रभावशाली नायक सिद्ध हुए हैं तथा रामायण, महाभारत सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रभावशाली महाकाव्य। विगत ढाई हजार वर्षों में और उससे भी पूर्व, जितने धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आन्दोलन हुए हैं, उनपर इन दो लोक नायकों और इन दो महाकाव्यों का अत्यन्त गहरा और आश्चर्य जनक प्रभाव पड़ा है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इन दो चरित्रों और काव्यों को देखा और परखा है और धर्माचार्यों तथा कवियों ने अपने-अपने ढंग से उनकी व्याख्या, प्रचार और काव्य रचना की है।

रामायण को यदि समस्त भारतीयों की अक्षय निधि कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। विण्टर निट्ज ने ठीक ही कहा है -

'It has become the property of the whole Indian people and scarely any other poem in the entire literature of the world, has influenced the thought and poetry of the nation for centuries' -[1]

काव्य की सर्वप्रथम सच्ची अवधारणा महर्षि वाल्मीकि को प्राप्त हुई और उन्होंने इस सत्य को प्रतिपादित किया कि सच्चा काव्य विश्व के दु:ख और करुणा के द्वारा द्रवीभूत कवि हृदय से भावनाओं का होने वाला स्वत: प्रभाव है।

रामायण में वैदिक विचारों की विस्तृत व्याख्या है, किन्तु एक अपूर्व शैली में। प्राचीन आर्यों के साहसिक एवं गौरवशाली जीवन को एक अनूठी संगीतमय छन्दोबद्ध एवं संवेदनशील शैली में चित्रित कर वाल्मीकि ने साहित्य को कला का भव्य स्वरूप प्रदान कर दिया। सजीव घटनाओं और भावनाओं के अंकन से तथा कवि के मानवीय दृष्टिकोण एवं विवेचन से यह साहित्य सामान्य जन के लिए भी रस और आनन्द का स्रोत बन गया। वाल्मीकि को यदि हम साहित्य का उत्कर्ष, संस्कृति के रक्षक, चरित्र निर्माण के विश्वकर्मा, नीति के मनु तथा आनन्द के अक्षय स्रोत मानें तो ठीक ही है।

रामायण का अध्ययन न केवल साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक दृष्टि से अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी परम उपयोगी है। यह भारतीय जीवन मूल्यों की आधारशीला हैं। यह उन समस्त दार्शनिक तथ्यों एवं नैतिक आदर्शों का जाज्वल्यमान कोष है, जिन पर विविधता से युक्त भारतीयों का जीवन अवलम्बित है। जीवन के अरण्य में धंसे हुए व्यक्ति के लिए रामायण के श्लोक वेदवाक्य बनकर उसका मार्ग दर्शन करते हैं।

मानव धर्म के व्याख्याता महर्षि मनु ने **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** कहकर वेद की धर्ममूलकता प्रतिपादित की थी। महर्षि दयानन्द ने **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना आर्यों का परमधर्म है'** कहकर मानवमात्र को वेदाध्ययन की ओर प्रेरित किया। वेद के इस महनीय रूप को यदि सरस, सरल एवं हृदयावर्जक कान्तासम्मित शैली में हम देखना चाहते हैं तो उसे रामायण में प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। यह आर्यों का आचार शास्त्र है जो कि मानव जीवन का सर्वांगीण आदर्श स्वरूप प्रस्तुत करता है।

वैदिक संस्कृति के मूलभूत तत्त्व आध्यात्मिकता, धर्मपरायणता, कर्मफल, पुनर्जन्म, यम-नियमों का पालन, पंचमहायज्ञ, वर्ण-आश्रम व्यवस्था, विश्वबन्धुत्व की भावना, समन्वयवादिता, पुरुषार्थ चतुष्टय, पर्यावरण चेतना, राजधर्म, न्याय एवं दण्ड व्यवस्था आदि इस महाकाव्य में कूट-कूट कर भरे हुए हैं। रामायण की वैदिक आदर्शों से ओत-प्रोत मनोहारिणी सूक्तियां हमारे देश के सभी लोगों की रसना पर सदैव नर्तन करती रहती हैं। रामायण की लोकप्रियता के कारण ही वैदिक संस्कृति इस देश के कोने-कोने में व्याप्त हो गई, और रामकथा भारत की सीमाओं में बंधकर नहीं रह पायी, अपितु विश्व के बहुत बड़े भू-भाग को उसने व्यापक रूप में प्रभावित किया है।

महर्षि वाल्मीकि ने समाज, संस्कृति, जीवन और जगत् का दिव्य रूप रामकथा के माध्यम से प्रतिपादित किया और आधार बनाया विशाल वैदिक वाङ्मय को। रामायण में **वेदवेदांगतत्त्वज्ञः, वेदेषु परिनिष्ठितौ, वैदिकाध्ययनेरताः, ब्राह्मणाः नैगमास्तथा, कर्मकुर्वन्ति विधिवत् याजकाः वेदपारगाः, जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः, नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेद धारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्** आदि कविभाषित रामायण की वेदानुगामिता प्रमाणित करते हैं। एक उपमान के द्वारा वेद के प्रति अगाध श्रद्धा का स्फुरण इस प्रकार हो रहा है -

न शक्तस्त्वं बलाद् हर्त्तुं वैदेहीं मम पश्यतः।
हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव॥ २/५०/२२

सीता विरह में व्यथित श्रीराम के प्रति सुग्रीव का आश्वासन भी वाल्मीकि की वेदनिष्ठा को आभिव्यक्त करता है। सुग्रीव आश्वस्त करते हुए श्रीराम से कहते हैं -

अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव। वा.रा. ४.६.५

यही कारण है कि वैदिक सभ्यता, संस्कृति, समाज एवं धर्म का उच्चतम स्वरूप रामायण में देखा जा सकता है। वाल्मीकि रामायण के इस उदात्तरूप को देखकर हमने **'वेद और वाल्मीकिरामायण'** विषय पर राष्ट्रियशोध संगोष्ठी के आयोजन का संकल्प लेकर देश के मनीषी संस्कृत विद्वानों की सेवामें निमन्त्रण भेजा और यह लिखते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है कि वेद और संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों एवं शोधकार्यरत मेधावी छात्रों ने हमारे स्नेह भरे निमन्त्रण को सम्मान देते हुए अपने वैदूष्य पूर्ण शोधपत्र अथवा शोधपत्रसार भेजे और शोध संगोष्ठी में सम्मिलित होने की स्वीकृति प्रदान की।

मैंने देश के उन शारदापुत्रों की सेवामें शुभकामनाओं एवं आशीर्वचन हेतु प्रार्थना की जो भगवत् कृपा एवं अपनी योग्यता से उच्च पदों पर आसीन हैं, और मुझे उन सब विभूतियों के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता पूरित अन्तःकरण से नमन करते हुए हर्ष हो रहा है, कि इन महामहनीय महापुरुषों का आशीर्वाद हमें प्राप्त हुआ। इनमें भारतीय गणराज्य के महामहिम उपराष्ट्रपति परमश्रद्धेय **श्री भैरासिंह जी शेखावत**, दिल्ली राज्य की मुख्यमंत्री माननीया **श्रीमती शीला दीक्षित**, उत्तराञ्चल राज्य के राज्यपाल महामहीम **श्री सुदर्शन अग्रवाल**, उत्तराञ्चल राज्य के मुख्यसचिव **श्री एम. रामचन्द्रन्**, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति **श्री सुदर्शन शर्मा**, कुलपति **प्रो. स्वतन्त्र कुमार**, उपकुलपति **प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री**, वेदमनीषी **सामवेद भाष्यकार डॉ. रामनाथ वेदालंकार**, विश्वप्रसिद्ध भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड हरिद्वार के कार्यपालक निदेशक **श्री सुशील कुमार गुप्ता**, कुमायूं विश्वविद्यालय

के कुलपति **प्रो. आर.सी. पन्त**, श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो. एस. पी. सिंह**, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के कुलपति **प्रो. सुरेन्द्र सिंह**, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो. पंजाब सिंह**, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान देहली के कुलपति **प्रो. कुटुम्ब शास्त्री**, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक के **कुलपति प्रो. आर.एस. धनकर**, उत्तरांचल संस्कृत विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति **ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मचारीजी, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य**, राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय जयपुर के **कुलपति प्रो. के.वि. रामकृष्णमाचार्य**, लोक सेवा आयोग उत्तरांचल के अध्यक्ष **ले.जन. (अवकाश प्राप्त) श्री. जी.एस. नेगी** एवं आयोग की विदुषी सदस्या **डॉ. सुधा पाण्डे** बी.एच.ई.एल. हरिद्वार के कार्यपालक निदेशक माननीय **श्री एस. के गुप्ता** का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। अतिथि देवोभव हमारा ध्येय वाक्य है। शोध संगोष्ठी में पधारने वाले विद्वान् अतिथियों का मैं हृदय से स्वागत, अभिनन्दन एवं वन्दन करता हूँ। आतिथ्य सत्कार में यदि कुछ कमी रह जाये तो अपना भाई समझकर मुझे क्षमा करेंगे ऐसी मेरी प्रार्थना है।

समारोह को सफल बनाने में हमारे विश्वविद्यालय प्रशासन ने उन्मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान किया है, प्राच्य विद्या संकाय के उपाध्याय बन्धुओं ने उत्साह दिखाया है। मैं इन सबका आभार प्रदर्शित करना कर्त्तव्य समझता हूँ।

सम्मेलन की सफलता में उपाध्यक्ष, सचिव एवं कोषाध्यक्ष उत्तरांचल संस्कृत अकादमी, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरांचल के यशस्वी प्रधान श्री हजारीलाल आर्य, गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी के महा प्रबन्धक डॉ. राजकुमार रावत, श्री विक्रमजीत कपूर, नई दिल्ली, तथा हरिद्वार के सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठान फोरेस पौलीमर्स प्राइवेट लिमिटेड हरिद्वार के प्रबन्ध निदेशक **श्री विकास गर्ग**, सुप्रसिद्ध समाज सेवी **श्री अविनाशचन्द्र ओहरी, श्री गिरधारी लाल जी चन्दवानी** एवं **श्री सुभाष चन्दवानी** का उल्लेखनीय सहयोग मिला है, मैं इनकी रामभक्ति को नमन करता हूँ।

हमने इस स्मारिका में अधिक से अधिक विद्वानों के शोधपत्रसार प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है, हमारा यह भी प्रयत्न रहा है कि ये शुद्ध रूप में प्रकाशित हों, फिर भी कहीं मुद्रण समबन्धी अशुद्धियां रह गयी हों तो विद्वज्जन क्षमा करेंगे।

अन्त में पुन: वेद और आदिकवि के महाकाव्य रामायण के प्रति अगाध आस्था, श्रद्धा और भक्ति रखने वाले विविध विद्याविभूषित, मानवीयगुणगण मण्डित, सरस्वती पुत्रों का स्वागत करते हुए यह स्मारिका आप सबके कर कमलों में सादर सस्नेह समर्पित करता हूँ।

विदुषां चरणचञ्चरीकः
प्रो. महावीर
संयोजक
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डीन, प्राच्य विद्यासंकाय

वाल्मीकिरामायणे वेदादेशानां परिपालनम्

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मानवसृष्टेरादौ मानवजीवनमुन्नेतुं परमात्मना अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसपदाभिधेयानाम् ऋषीणां हृदि प्रकाशात्मकं वेदज्ञानं निहितम्। आदिकालादेव प्रकाशकारिण्या वेददृशा तपःपूतान्तःकरणैः सकलजगदभ्युदयाभिरतैरात्मतत्त्वविद्भिर्मनीषिभिः सकलं संसारं सावयवमालोक्य स्वस्य सर्वस्य च जीवनमुन्नीतम्। यो हि वेदमधीत्य तदनुसारमाचरति सः संशयं शमयन् भवति सार्वत्रिकाभ्युदयान्वितः मनुस्मृतौ महातेजा मनुर्वेदस्य सर्वोत्कृष्टं महत्त्वं पञ्चमस्वरेणोदगायन् सर्वान् विश्वस्थान् मनुष्यान् समुद्बोधयति।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।१
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।।२
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।३
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।।४
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।५

महाभारते वेदवाणीं परमात्मनो वाणीमेव मन्यमानो वेदव्यासो वदति यद्-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।६

आदिकविना महर्षिवाल्मीकिना वेदालोके प्राक्तनस्य इक्ष्वाकुवंशप्रसूतस्य रामस्याखिलं जीवनं समीक्ष्य वाल्मीकिरामायणं महाकाव्यं विनिर्मितम्। सम्पूर्णं वाल्मीकिरामायणमधीत्य यो विद्वान् वेदज्ञो भवति स सहजतयैवानुभवति यत् रामसम्बद्धानि सर्वाणि पात्राणि वेदानुसारमाचरन्ति। रामायणे सर्वा व्यवस्थाः सर्वा रीतयः सर्वाः प्रवृत्तयः सर्वा वृत्तयः समे संवादा वेदमेवानुवदन्ति। यथा वेदानुगो मनुरादिमो वेदमन्त्राश्रितमानवाचारसंहिताया मनुस्मृतेर्निर्माता तथैव काकुत्स्थो रामो वेदादेशानां वेदसंदेशानां वेदोपदेशानां वैदिकपरम्पराणां चानुपालकः, संवाहकः, उद्देशकः, सम्पोषकश्चास्ति अत एव सर्वजनोत्रासकः समभावोद्भावकः सात्त्विकजनचित्ताकर्षकः, सज्जनव्यथाविदारको दुर्जनमर्दविमर्दकश्चास्तीति रामायणे कृतमतिभिर्विद्वद्भिरनुदिनं परिपठ्यते।

वाल्मीकिरामायणे ब्रह्मबलक्षत्रबलयोः समन्वयः

राष्ट्राभ्युदये वेदानुसारिणी ब्रह्मक्षत्रयोः सम्मतिरादरास्पदा। उभयोरैक्यविषये विद्यते वेदमन्त्रः-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।

तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना॥७

अमुमेव मन्त्रमनुपालयता वाल्मीकिना बालकाण्डे क्षत्ररूपस्य राज्ञो दशरथस्य ब्रह्मरूपधारिणां मन्त्रिणां गुणसंकीर्तनम्-

तेषामविदितं किञ्चित् स्वेषु नास्ति परेषु च।

क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम्॥८

ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन्।

सुतीक्ष्णदण्डाः सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम्॥९

यथा प्रातरुत्थाय मनुष्यो वेदमन्त्रैर्देवानां स्तवनं करोति तथैव उद्बोधकाः प्रातःकाले राजानं मन्त्रपाठैरुद्बोधयन्ति। देव इव राजापि स्तवनीयः।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥१०

इत्यनुसारमेव सुमन्त्र इव सुमन्त्रः प्राभातिके काले राजानं दशरथं निर्निद्रयितुं स्तुतिक्रमं चक्रे। सुमन्त्रोद्बोधनवचांसि यान्युदीरितानि तानि वेदमहत्त्वोद्गाने न परिमितानि मतमिदं विदुषामपि नास्त्यविदितम्। यथा-

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम्।

ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम्॥११

राजा दशरथः प्रतिबुध्य सुमन्त्रं मन्त्रकोविदमिव विलोक्य यदुवाच तदपि पठनीयं स्मरणीयं मननीयमेव- यथा-

स्तुवन्तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम्।

प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत्॥१२

स्वपूर्वजानां पुण्यात्मनां तपोवाह्निविदग्धदुर्विचारमलानां ये वेदानुमता आदेशास्तेषामनुपालनमेव भवति तेषामर्चनम्। राज्ञा दशरथेन अयोध्यापुरी मनोरादेशाननुपालयतैव परिपालिता। यथा-

यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।

तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता॥१३

सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता।

यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता॥१४

मर्यादासप्तकस्यानुपालनम्

वेदानुगामिनो राज्ञः प्रजा अपि वेदानुपालननिरालसा भवन्ति। वेदे राष्ट्रं निरुपद्रवं कर्तुं सप्तमर्यादा निर्दिष्टाः। सप्तमर्यादानुबद्धे राजनि प्रजाजनाः स्वयमेव मर्यादानुपालनजन्यं सुखं भजन्ते। सप्तमर्यादा प्रबोधको मन्त्रः-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
अयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥१५

अमुमेव मन्त्रं पुरस्कृत्य वाल्मीकिना अयोध्यापुर्याः किमपि विलक्षणं चित्रणं कृतम्, यथा-

तस्या पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः॥१६
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥१७
नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधन्यधान्यवान्॥१८
कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥१९
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥२०
नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः॥२१
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन॥२२
दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे॥२३
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥२४
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा॥२५

पुत्रेष्टियज्ञपद्धतिः

वेदे पुत्रेष्टियज्ञस्य वर्णनमुपलभ्यते। अथर्ववेदीयपुत्रेष्टियज्ञपरम्परायाः प्रथितं रूपमेव वाल्मीकिरामायणे संप्राप्यते। अपुत्रो दशरथो यदा पुत्रेष्टियज्ञकर्मकरणाय ऋष्यशृङ्गं प्रार्थयते तदा स तपस्वी तत्प्रार्थनां स्वीकृत्य कथयति यदहं पुत्रीयामिष्टिं ते साधयिष्यामि। सेष्टि ऋत्विग्धुर्गणेन ब्रह्मपदमलङ्कुर्वाणेन तेजस्विना यज्ञात्मना अथर्ववेदानुसारं सम्पाद्यते। अथर्ववेदे पुत्रेष्टियज्ञवाचक एको मन्त्रः प्रस्तूयते-

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।

तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥ २६

अमुमेव मन्त्रं हृदि निधाय ऋष्यशृङ्गो दशरथं ब्रूते-

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किञ्चिदिदमुत्तरम्।

लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत्॥ २७

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।

अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥ २८

ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्।

जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा॥ २९

यज्ञीयदक्षिणा वेदानुगा

यज्ञानुष्ठानान्ते पुरोहितानां दक्षिणया सत्कारः क्रियते यज्ञसाफल्याय। वर्मरूपा दक्षिणा याजकरक्षणाय क्षमा। दक्षिणादातारं नरं सर्वा दिश उपदिशश्च वर्मरूपा भूत्वा रक्षन्ति। यथा-

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः।

स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः॥ ३०

दक्षिणा श्रद्धया दीयते श्रद्धां विना दक्षिणा तत्फलं च नश्यति। अत एव गुरुर्वसिष्ठो दशरथं दक्षिणाप्रसङ्गे वदति-

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः।

न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि॥ ३१

विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति।

तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते॥ ३२

अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलया वा।

अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः॥

संस्कारपरम्परा

मानवजीवनं सम्कर्तुं संस्कारा क्रियन्ते। संस्कारं विना जना असंस्कृताः सन्तः संसारे कष्टं स्वयमनुभवन्ति परांश्चापि व्यथयन्ति। अत एव रामादिकं सुसंस्कृतं कर्तुं संस्कारप्रक्रिया परिपाल्यते रामायणे। रामादीनां चतुर्णां पुत्राणां यथाविधि नामकरणसंस्कारः प्रतिपाद्यते कुलपुरोहितेन महर्षिणा वसिष्ठेन। यथा-

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत्।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकेयीसुतम्॥ ३३
सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा॥ ३४
तेषां जन्म क्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्।
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः॥ ३५

संस्कारवत्तया ते रामादयश्चत्वारः पुत्राः कियन्तो गुणवन्तो विद्यावन्त मातृपितृरतिकराश्च जाता इत्यपि द्रष्टुं शक्यते पद्यैरेतैः-

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः।
सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः॥ ३६
ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः॥ ३७
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः।
पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः॥ ३८

पञ्चमहायज्ञपरम्परा

वाल्मीकिरामायणे पञ्चमहायज्ञानां वर्णनं सम्यक् समुपलभ्यते। वेदानामादेशो ह्ययं विद्यते यत् प्रातःकाले मध्याह्नकाले सायंकाले च ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञश्च विधेयः। मन्त्रो विद्यते—

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥ ३९
नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ ४०

एवमेव मनुस्मृतावपि—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।

स शूद्रवद् वहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥४॥४१

देवयज्ञविषये त्रैकालिकमग्निहोत्रमुपादिशति वेदः। प्रातःकाले मध्याह्नकाले सायंकाले चाग्नौ श्रद्धया हविर्हूयते। यथा-

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।

श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥४२

रामायणे ब्रह्मयज्ञकर्मरतायाः कौसल्याया अतीव चारु वर्णनं विद्यते। स्वपुत्रस्य रामस्य सर्वतो भद्रं कामयमाना सा विष्णोर्भगवतः स्तवनं करोति-

कौसल्या तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।

प्रभाते चाकरोत् प्रजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥४३

सीताया विषये तदन्वेषणं प्रकुर्वाणस्य हनुमतो मनसि भावः समुद्भूतो यत् शिवजलां नदीमुपेत्य दृष्टव्यं कदाचित् सीता सन्ध्यार्थं तत्तीरमुपाविष्टा स्यात् यथा-

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।

नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥४४

राजर्षिणा विश्वामित्रेण निर्दिष्टाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां यज्ञविध्वंसकानां निशाचराणां संहननं कृतम्। शत्रुवधं विलोक्य आनन्दवारिवाहिन्या सुरस्या रामलक्ष्मणौ दृष्ट्वा ताभ्यां सह ब्रह्मस्तुतिं चकार। यथा-

सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीरमहायशाः।

स हि रामं प्रशस्यैवं ताभ्यां सन्ध्यामुपागमत्॥४५

देवयज्ञं तन्महत्त्वं न विज्ञाय यजकर्माणि रामायणस्थपात्राणि स्वकीयां रुचिं वितन्वन्ति। राममाता कौसल्या यज्ञकर्मकालोचितपरिधानं परिधार्य प्रत्यहं यथाविधि यज्ञाग्नौ हव्यं जुहोति स्म। यथा-

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।

अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥४६

विश्वामित्रो रामलक्ष्मणौ राजकुमारावादाय यदा गच्छति तदोभौ यज्ञप्रधानं दैनिकं हव्यं कर्तुं प्रेरयति। सरयूनदीतटवर्तिना तेषां वर्णनं श्रोत्रश्रव्यम्। यथा-

गुरुकर्माणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे।

ऊषुस्तां रजनीं तीरे सरय्वां ससुखं त्रयः॥४७

रजनीकालमतीत्य विश्वामित्रो मुनिवरस्तौ प्रबोधयन्नाह-

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते।

उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥४८

अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम्।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम॥ ४९
प्रशुचौ परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमविन्दताम्॥ ५०

मिथिला गमनात्प्राक् गङ्गातटमुपविश्य निर्वाह्य च निशां प्रातरुत्थाय स्नानादिकं कृत्यं सम्पाद्य देवयज्ञं कृतवन्त। यथा-

तस्यास्तीरे तदा सर्वे चक्रुर्वासपरिग्रहम्।
ततः स्नात्वा यथा न्यायं संतर्प्य पितृदेवताः॥ ५१

अतिथियज्ञः

अतिथिसत्कारं श्रेष्ठं मत्वा अभ्यागतानामर्चनमनालसतया क्रियते। वेदे मानवाः सदिष्टा यत् अतिथिसत्कारानन्तरमेवाशनीयं भवति ततः प्राग् न। यथा-

अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥ ५२
एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्॥ ५३
इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ ५४

वाल्मीकिरामायणे राजा दशरथः श्रद्धया गृहागतान् सर्वानतिथिवर्यान् ब्रह्मवर्चसा तेजसा तपसा प्रदीप्तान् ब्राह्मणान् अर्घ्यादिकया सपर्यया समर्चयितुं ते चार्चितास्तुष्टा अतिथयस्तदनामयं धर्म्यं यशस्यं चेच्छन्ति। यथा-

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम्।
प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्॥ ५५
स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम्॥ ५६

यदा सीतया सह रामलक्ष्मणौ तापसाश्रममण्डलमभिवशतस्तदा सर्वे तपस्विनो सीतारामयोर्लक्ष्मणस्य च सत्कृति प्रकल्प्य परां प्रफुल्लतां प्रापुः। यथा-

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः।
अभिजग्मुस्तदा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम्॥ ५७
लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम्।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन् दृढव्रताः॥ ५८
वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव।
आश्चर्यभूतान् ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥ ५९

अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रताः।
अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन्॥६०
ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः।
आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः॥६१
मङ्गलानि प्रयुञ्जाना मुदा परमया युताः।
मूलं पुष्पं फलं सर्वमाश्रमं च महात्मनः॥६२

वलिवैश्वदेवयज्ञः

वलिवैश्वदेवयज्ञव्यवस्था या प्रदत्ता वेदेषु वर्तते सा सम्यगनुपालिता दृश्यते रामायणे। मुनीनामाश्रमपदे दिने दिने वेदाध्ययनं भूतेभ्यो वलिहोमो प्रतन्यते च। तत्राश्रमपदस्य यद्वर्णनं विद्यते तद्वर्णनमेव सर्वं संवदति। यथा-

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम्।
यथा प्रदीप्तं दुदर्श गगने सूर्यमण्डलम्॥६३
शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्मृष्टाजिरं सदा।
मृगैर्वहुभिराकीर्णं पक्षिसंघैः समावृतम्॥६४
पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः।
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः॥६५
समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम्।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्वृतम्॥६६
वलिहोमार्चितं पुण्यं व्रह्मघोषनिनादितम्।
पुण्यैश्चान्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया॥६७
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्वरैः।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिभिर्युतम्॥६८
पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
तद् व्रह्मभवनप्रख्यं व्रह्मघोषनिनादितम्॥६९

मातृपितृयज्ञः

मातृपितृसमाः ये सन्ति तेषां समेषां समभिनन्दनं कदापि न हेयम्। श्रीरामवृत्तं मातृपितृकल्पजगज्जनाभिवादनपरम्परानुपालनेन परमं पवित्रं दृश्यते। रामविषये निगद्यते-

इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः।

गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः॥
धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः॥७०

महर्षेर्गौतमस्याश्रमपदमुपेत्य तत्र तपश्चर्यारतां तपस्विनीमहिल्यामालोक्य विश्वामित्रादिष्टो रामः परमया श्रद्धया भक्त्या च तच्चरणयोर्नतिं कृत्वा भृशं तुतोष। यथा-

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह॥
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव।
धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥७१
राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ॥
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहितौ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा॥७२

योगविद्याभ्यासः

अद्भुतशक्तिमत्तां विपुलां प्राणवत्तां चाधिगन्तुं क्रियते योगाभ्यासः। योगेनागतानागतकष्टानि त्रिविधदुःखानि चापाकर्तुं प्रभवति योगस्थः पुरुषः। योगसाधनसम्पन्नः साधकः सर्वबलयुतं देवकोशमवाप्नोति-

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥७३
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥७४

वाल्मीकिरामायणे योगविद्यापारङ्गतेन विश्वामित्रेण योगविद्याप्रदानेन रामलक्ष्मणयोरुभयोर्जीवनमुन्नीतम्। योगविद्या विलक्षणमात्मतेजः संवर्धयति, तेन तेजसा योगी प्रत्यर्थिनां बलं शमयति। अत एव विश्वामित्रो बलातिबलयोर्विद्ययोर्विषये रामलक्ष्मणौ निर्दिशति-

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः॥

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः॥
न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन॥
त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत् सदृशस्तव।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव॥७५
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्ये ते नरोत्तम।
बलामतिबलां चैव पठतः पार्थ राघव॥७६

स्वयंवरप्रथा

गुणकर्मसंस्कारसाम्येन कन्या स्वेच्छया आत्मानुरूपं युवानं सहर्षं स्वीकरोति। यथा-

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥७७

युवायुवतीविवाहप्रसङ्गे स्पष्टं विहितं वेदादेशः-

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु॥७८

वाल्मीकिरामायणे वैदिकपरम्परया रामादीनां चतुर्णामपि राजपुत्राणां पाणिग्रहणसंस्कारः सम्पन्नः। यथा-

अग्निमाधाय तं वेद्यां विधिमन्त्रपुरस्कृतम्।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः॥
ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम्।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा॥
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम्।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥७९

ब्रह्मविद्यया स्वेच्छया देहत्यागः

ब्रह्मविदस्तपस्विन आत्मसाधनामभिवर्ध्य स्वेच्छया शरीरं परित्यज्य स्वर्गमुपयान्ति। यथा वेदमन्त्रोऽयममुं भावं प्रकटयति-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥८०

वाल्मीकिरामायणे शरभङ्गो महाप्राज्ञो रामस्य पश्यत एव शरीरं तत्याज। रामेण सह या वार्ता तेन तपस्विना कृता सा मधुवती वाक् तस्याक्षय्यं तप एव कथयति। यदाग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गं तपस्विनं रामः पश्यति तदा आश्रमपदमुपागतं राममालोक्य स कथयति-

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः।
ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम्॥
त्वयाहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना।
समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चावरं परम्॥
अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः।
ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान्॥८१
एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्।
यावज्जुहोमि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः॥
ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत्।
शरभङ्गो महातेजा प्रविवेश हुताशनम्॥८२

वेदानुगाः पारिवारिकादर्शाः

वेदेषु परिवारमुद्दिश्य परिवारं निर्व्यवधानं कर्तुं ये संदेशा लभन्ते ते सार्वत्रिकाः सार्वभौमाः नियतसुखकराश्च। सर्वेषां पारिवारिकजनानामन्योऽन्यं सौमनस्यमहर्निशमभिवर्धतां द्वेषभावस्याङ्कुरमपि नोद्भवेत्।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥८३
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्॥८४
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥८५

वाल्मीकिरामायणे पुत्राणां मनसि कदापि नासीद् दुर्गुणोऽयं यत्ते पितुरवज्ञां कुर्युः। भगवता रामेण पितुरादेशः प्राणार्पणेनापि सदैव पालितः। पितृभावं हृदि निधाय कैकयीं वदति रामः।

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रति जाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥८६

यदा वनगमनान्निवारयितुं रामं जना कामयन्ते तदा यदपि प्रार्थनामयं पद्यं तैर्निगदितं तदपि हृदि निहितं गुणमौक्तिकमिव भासते। तेषां नगरवासिनां भावनां विज्ञाय पितुरादेशमक्षरशून्यमनुपालयन् तान् सर्वान् ब्रूते सानुनयम्। भरतो राम ब्रूते–

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षका:॥ ८७

रामः भरतं प्रत्युत्तरयन्–

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न तु प्रतिज्ञामहं पितु:॥ ८८

पितुराज्ञा अविचारणीयेति मनसि निधाय राम उवाच–

अहं हि वचनाद् राज्ञ: पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥ ८९
स राम: पितरं कृत्वा कैकयीं च प्रदक्षिणम्।
निष्क्रम्यान्त:पुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम्॥ ९०

रामस्य स्वमातरि कियानासीत् समभावस्तत्र द्वे पद्ये प्रवाच्ये-

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघव:॥ ९१

वेदे पारिवारिकादर्शविषये सन्त्यनेके मन्त्राः, ये पारिवारिकजनजीवनलतां कर्त्तव्योपदेशजलसेकेन संवर्धयन्ति। पत्नी पतिं पतिः पत्नी मधुरया कष्टहारिण्या समुल्लासप्रदया प्रहर्षिण्या सोमकल्पया च वाचा प्रमोदयेत्। पत्नी पतिमनुसरन्ती सुखानुभूतिं प्रकटयेत् सौमनस्यभावं विवर्धयेत्।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥ ९२

वनागमनकाले सीतया रामेण सह वनगमने दृढीयसी निजेच्छा प्रकटिता। रामेण वनवासोद्भूतानि यानि यानि दुःखानि भवन्ति तानि सर्वाणि निगदितानि परं दृढसंकल्पया सीतया यदुक्तं तदद्भुतमेव। यथा-

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥ ९३
ईर्ष्यां रोषं वहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते॥ ९४
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।

नाना मृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम्॥ ९५
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितु:।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकाश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥ ९६
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु॥ ९७
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशय:।
न ते दु:खं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा॥ ९८

वाल्मीकिरामायणे सर्वत्र समेषां जनानां जीवनं वेदालोकेनालोकितं विद्यते। रामराज्ये सर्वे जनाः ससुखा आसन्, परं प्रसन्नाः सन्तो जीवनं धारयन्ति स्म। सर्वे जना नित्यानन्दयुक्ता धर्मपरायणा निर्भया निरन्तराया हिंसाभाववैरग्यग्रहृदयाः पूर्णपुरुषायुषधारिणः पुत्रपौत्रवन्तः, शोकसन्तापवह्निना अदग्धाः, स्वस्वकर्मरतास्तुष्टाः पुष्टा अनामया अनृतविनाशरहिता वेदाध्ययनरताश्चासन्। यथा-

सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वे धर्मपरोऽभवत्।
रामेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्॥ ९९
आसन् वर्षसहस्त्राणि तथा पुत्रसहस्त्रिण:।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति॥ १००
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिता:।
काले वर्षति पर्जन्य: सुखस्पर्शाश्च मारुत:॥ १०१
ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्रा लोभविवर्जिता:॥
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टा: स्वैरेव कर्मभि:॥ १०२
आसन् प्रजा धर्मरता रामे शासति नानृता:।
सर्वे लक्षणसम्पन्ना: सर्वे धर्मपरायणा:॥ १०३
न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥ १०४
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥ १०५

आर्षविद्याध्ययने ये जना रुचिं तन्वन्ति, तेषामभ्युदयो भवति विष्वक् योगक्षेमावहः। चतुर्दशविद्या आर्षपद्धत्या मानवानुन्नेतुं क्षमन्ते। साहित्य आनन्दमयं प्रकुरुते। वाल्मीकिरामायणं काव्यमार्षं विद्यते, तदध्ययनं तथा अध्यापनं च जीवनोन्नयनाय यद् यदपेक्षितं तत्तत् प्रयच्छति। अत एव फलश्रुतिप्रसङ्गे प्राकृतजनोल्लासाय वैदिकपरम्पराविकासाय च

लौकिकच्छन्दसः प्रथमावतारवानकस्य वाल्मीकिरामायणस्य आर्षस्यादिकाव्यस्य महत्त्वं प्रगीयते भगवता वाल्मीकिना-

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्॥ १०६

शृण्वन्ति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
ते प्रार्थितान् वरान् सर्वान् प्राप्नुवन्तीह राघवात्॥ १०७

रामायणमिदं कृत्स्नं शृण्वतः पठतः सदा।
प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः॥ १०८

एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम्॥ १०९

कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम्॥ ११०

आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिराख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः॥ १११

वेदविद्यापारङ्गतानां विद्याविशारदानां शारदातनयानां स्वाध्यायतपश्चर्यारतानां वैदिकादर्शैरात्मानं पवित्रयितुमुद्यतानां प्राकृताप्राकृतजनानां मतमिदं विद्यते यद्यदि कस्यचित् मातरि पितरि भ्रातरि सतीर्थे मित्रे भगिन्यां भ्रातृजायां तपस्विनि नेतरि राजनि पार्श्ववर्तिनि, स्वामिनि, सेवके, गुरौ, योद्धरि, प्रवाचके, पुरोहिते, न्यायकर्त्तरि, दण्डप्रदातरि च प्रकाशमानां वैदिकपरम्परां दृष्टुं बलवतीच्छा वर्तते तर्हि नूनमेव तेन वाल्मीकिरामायणमध्येतव्यं श्रोतव्यं च। वाक्यमिदं सत्यं विद्यते-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥ ११२

राम रामो राम इति प्रजानामभवत् कथाः॥
रामभूतं ज़गदभूद् रामे राज्यं प्रशासति॥ ११३

१. मनु० २.७.
२. मनु० १.२१.
३. मनु० २.१०.
४. मनु० २.१३.
५. मनु० १२.९७.
६. महा० शा० २३२.२४.
७. यजु० २०.२५.
८. वा० रा० बाल० ७.९.
९. वा० रा० बाल० ७.१३.
१०. मनु० ७.८.
११. वा० रा० अयो० १४.४९.
१२. वा० रा० अयो० १५.२८.
१३. वा० रा० बाल० ६.४.
१४. वा० रा० बाल० ६.२०.
१५. ऋ० १०.५.६.
१६. वा० रा० बा० ६.२.
१७. वा० रा० बा० ६.२.
१८. वा० रा० बा० ६.७.
१९. वा० रा० बा० ६.८.
२०. वा० रा० बा० ६.९.
२१. वा० रा० बा० ६.१२.

२२. वा०ग०बा०६.१५.
२३. वा०रा०बा०६.१८.
२४. वा०ग०बा०५.६.
२५. वा०ग०बा०५.७.
२६. अथर्व०६.११.१.
२७. वा०ग०बा०१५.१.
२८. वा०ग०बा०१५.२.
२९. वा०रां०बा०१५.३.
३०. ऋ०१.३१.१५.
३१. वा०ग०बा०१.३.१४.
३२. वा०रा०बा०८.१८.
३३. वा०ग०बा०१८.२१.
३४. वा०ग०बा०१८.२२.
३५. वा०रा०बा०१.२४.
३६. वाल्मीकि रामा० बाल०१८.२५-२६.
३७. वा०ग०बा०१८.३४.
३८. वा०रा०बा०१८.३६.
३९. अथर्व०११.२.१५.
४०. अथर्व०११.२.१६.
४१. मनु०२.१०३.
४२. ऋ०१०.१५१.५.
४३. वा०ग०अयो०२०.१४.
४४ वा०रा०सुन्दर १४.४९.
४५. वा०रा०बा०३०.२६.
४६. वा०ग०अयो०२०.१५.
४७. वा०रा०बा०२२.२३-२४.
४८. वा०रा०बा०२३.२.
४९. वा०ग०बा०२३.१७.
५०. वा०रा०बा०२९.३२.
५१. वा०रा०बा०३५.९.
५२. अथर्व०९.६(३).८.
५३. अथर्व०९.६(३).७.
५४. अथर्व०९.६(३).१.
५५. वा०रा०बा०१८.४३.
५६. वा०रा०बा०१८.४४.
५७. वा०रा०अर०१.१०.
५८. वा०ग०अर०१.१२.
५९. वा०रा०अर०१.१४.
६०. वा०रा०अर०१.१५.
६१. वा०ग०अर०१.१६.
६२. वा०रा०अर०१.१७.
६३. वा०रा०अर०१.२.
६४. वा०ग०अर०१.३.
६५. वा०रा०अर०१.४.
६६. वा०रा०अर०१.५.
६७. वा०ग०अर० .
६८. वा०रा०अर०१.७.
६९. वा०रा०अर०१.८.
७०. वा०ग०बा०१८.२७-२८.
७१. वा०रा०बा०४९.१२-१५.
७२. वा०ग०बा०४९.१७-१८.
७३. अथर्व०१०.२.२६.
७४. अथर्व०१०.२.२७.
७५. वा०ग०बा०२२.१२-१५.
७६. वा०ग०बा०२२.१८.
७७. अथर्व०११.५.१८.
७८. ऋ०२.३५.४.
७९. वा०ग०बा०७३.२४-२७.
८०. यजु०३.६०.
८१. वा०रा०अर०५.२९-३१.
८२. वा०रा०अर०५.३८-३९.
८३. अथर्व०३.३०.१.
८४. अथर्व०३.३०.२.
८५. अथर्व०३.३०.३.
८६. वा०रा०अयो०१८.३०.
८७. वा०रा०अयो०११.२.१२.
८८. वा०ग०अयो०११.२.१८.
८९. वा०रा०अयो०१८.२८.
९०. वा०रा०अयो०१९.२९.
९१. वा०ग०अयो०२०.३.
९२. अथर्व०१४.१.४२.
९३. वा०रा०अयो०२८.५.
९४. वा०रा०अयो०२८.८.
९५. वा०रा०अयो०२८.११.
९६. वा०रा०अयो०२८.१२.
९७. वा०रा०अयो०२८.१३.
९८. वा०रा०अयो०२८.१६.
९९. वा०रा०युद्ध०१२८.१००.
१००. वा०रा०युद्ध०१२८.१०१.
१०१. वा०रा०युद्ध०१२८.१०३.
१०२. वा०रा०युद्ध०१२८.१०४.
१०३. वा०रा०युद्ध०१२८.१०५.
१०४. वा०रा०युद्ध०१२८.९८.
१०५. वा०रा०युद्ध०१२८.९९.
१०६. वा०रा०युद्ध०१२८.१०७.
१०७. वा०रा०युद्ध०१२८.११४.
१०८. वा०रा०युद्ध०१२८.११९.
१०९. वा०रा०युद्ध०१२८.१२१.
११०. वा०रा०युद्ध०१२८.१२४.
१११. वा०रा०युद्ध०१२८.१२५.
११२. वा०रा०बा०२.३६.
११३. वा०रा०युद्ध०१२८.१०२.

यज्ञ

रामायणीययज्ञानां वैदिकत्वम्

डॉ. सोमदेवशतांशुः
प्रवाचकः संस्कृते
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वारम्

वाल्मीकिरामायणे बहुविधाः यज्ञाः वर्णिताः, तेषां वेदानुकूलत्वमत्र संक्षिप्य विविच्यते। अत्र अश्वमेधअग्निष्टोमराजसूय उक्थ्य ज्योतिष्टोम-आयुष्टोम-अतिरात्र अभिजित् विश्वजित् आप्तोर्याम-गोमेध -वैष्णवमाहेश्वर पुत्रेष्टियज्ञाः वर्ण्यतां गताः। तत्र च अश्वमेधराजसूयपुत्रेष्टियज्ञाः विशेषतो विवृताः। रामायणे यज्ञ शब्दः देवपूजा संगतिकरणदानाद्यर्थं द्योतयन् द्रव्ययज्ञव्यतिरिक्तं जपयज्ञं विराट्यज्ञञ्चापि लक्षयति- तद्यथा लोकत्रयं द्योतयन्नादित्योऽग्निहोत्रत्वेन वर्णितः - **एष चैवाग्निहोत्रञ्च फलं चैवाग्निहोत्रिणाम् यु.का. १०५/२३।** यज्ञीयदेशत्वेन नदीटर पर्वतीयोपत्यकाञ्च प्रशस्ताः मताः। विशिष्टयज्ञाः कल्पसूत्राणि अनुसरन्तः वसन्तर्तौ शुभनक्षत्रान्विते दिवसेऽनुष्ठीयन्ते। अश्वमेधयज्ञप्रसंगे। कल्पसूत्रानुसारम्सर्वकर्मानाष्ठानसंकेतः प्राप्यते- **शान्तयश्चापि वर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधिः** बाल. **५/१६।** प्रवर्ग्य उपसदः प्रातः माध्यन्दिन सायंतन सवनत्रयम् सोमाभिषवनम् वैदिकत्वं द्योतयन्ति। बा. का. 14/1-6। सर्वशास्त्रतत्वविद् ऋत्विजस्तत्र शक्रादीन् देवान् मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः आह्वयाञ्चक्रिरे। यूपपशुबन्धनादिप्रसंगोऽपि तत्रोपदिष्टः। अश्वमेधप्रसंगे हयाङ्गानामग्नौ हवनादिप्रसंगाः वेदविरुद्धाः प्रतिभान्ति। अश्वमेधेन सर्वपापनिवृत्तिकथनं तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते मा.21.13.3.11 इति ब्राह्मण वाक्यम् अनुपुष्णाति स्वर्गादिप्राप्तिरपि ब्राह्मणानुमता एवं यज्ञवर्णनानि बहुत्र वेदसम्मतानि क्वचिच्च वेदानुकूल्ये संशयं जनयन्ति।

वाल्मीकिरामायणे पंचमहायज्ञाः

डा० धीरजकुमार आर्य
रमाला बागपत उ०प्र०

वाल्मीकिरामायणे वैदिक संस्कृतेः समुज्जवलं गौरवान्वितं रूपं दृष्टिगोचरं भवति। यथा पूर्व-मुक्त वैदिकसंस्कृतिरेका याज्ञिकी संस्कृतिरिक्त। अतः तत्र पचंमहायज्ञानां सम्यक् वर्णनमुपलभ्यते। कामाश्रमवासकाले विश्वामित्रः पर्णशय्यायां सुप्तं रामचन्द्रमुवाच-हे कौशल्या सुप्रजा राम! पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते। अतः हे नरशार्दूल! उत्तिष्ठ, देवाह्निकं कर्म कर्त्तव्यम्। तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नृपात्मजौ वीरौ स्नात्वा, आचम्य परं जपं जेपतुः। तस्मिन्नेव सर्गे सन्ध्यां कुर्वता ऋषीणां वर्णनं लभ्यते। सुसमाहितौ कुमारावपि तत्र रात्रिमुषित्वा प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपासितवन्तौ अयोध्याकाण्डेऽपि सन्ध्योपासनस्य वर्णनं प्राप्यते।

अयोध्यायां कोऽपि जनो नानाहिताग्निः आसीत्। विश्वामित्रं पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह यदा जनकस्य यज्ञशालां प्रविशति। तदा रामः लक्ष्मणेन सह विश्वामित्रमुवाच - महात्मनः जनकस्य यज्ञसमृद्धिर्हि साध्वी। जनकेन प्रेपिता दूताः जनकस्य कृते 'अग्निहोत्र पुरस्कृतः' इति शब्दप्रयोगं कृतवन्तः। यस्यार्थोऽस्ति-नित्यमग्निहोत्रकर्ता। वैदिक धर्मे षोडशसंस्काराणां विधानमस्ति। तत्र अग्निहोत्रपूर्वकं विधिः क्रियते। दशरथपुत्राणामुद्वाहप्रसंगे विवाह संस्कारस्य विस्तृतं वर्णनं प्राप्यते। तत्र उत्तमा यज्ञवेदिरचना कृता। तां वेदिं समन्ततः अलंचकार महर्षिः वसिष्ठः। समैर्दर्भैः विधिवन्मन्त्रपूर्वकं समास्तीर्य वेद्यां विधि मन्त्रपुरस्कृतमग्न्याधानं कृत्वा ऋषिः वसिष्ठोऽग्नौ जुहाव। भगवान् रामः वनगमनकाले कौशल्यामातरं द्रष्टुमुपगच्छति तदा कौशल्या क्षौमवसना मन्त्रवत्कृतमंगला अग्निं जुहोति स्म। तत्र यज्ञद्रव्यानपि रामो ददर्श। यदा भरतो रामकामाद भरद्वाजं जगाम। तदा भरद्वाजोऽग्निहोत्रं करोति स्म। रामभरतसमागम नाम सर्गे महर्षि-बाल्मीकिना येन वर्णितम् - तेन ज्ञायते रामो नित्याग्निहोत्रकर्ता आसीत्। एकस्मिन् स्थाने भरतादीनां बान्धवानां मन्दाकिन्यां स्नात्वा, अग्निहोत्रं कृत्वा जप्यं च रामसमीपं गमनस्य वर्णनं लभ्यते।

वाल्मीकि-रामायणे मर्यादापुरुषोत्तमरामो देविं सीतां पितृयज्ञस्य महत्त्वं वर्णनयति। अन्यत्र रामचन्द्रोलक्ष्मणेनागस्त्यं कौशिकं च रत्नैरर्चयति। नवसस्येष्टियज्ञेन देवान् पितृन् चाभ्यर्च्य गृहस्थिनोविगतकलमषा भवन्ति। रामायणकालीन समाजे बलिवैश्व- देव यज्ञोऽयं प्रवृत्त आसीत्। तत्रेदमपि ध्वन्यते यत् बलिकर्म अकृत्वा भोजनं भुंजानः पापी मन्यते स्म तत्कालीन समाजे। बाल्मीकि रामायणे अतिथियज्ञविषयकं सुतरां वर्णनं प्राप्यते। अयोध्यायां यत्र तत्र अतिथिशालाः स्थापिता आसन्। यासु अतिथयस्तिष्ठन्ति स्म।

उपर्युक्तविवेचनेनदं सम्यक् स्पष्ट्यतं यत् रामायणकालीन समाजो वैदिकधर्मी समाज आसीत्।यत्र वैदिक विधिना यज्ञाः प्रवृत्ता आसन्। यज्ञेषु पंचमहायज्ञाः एव मुख्याः सन्ति।

वाल्मीकि रामायण में नैमित्तिक यज्ञ

डॉ० वेदपाल,
रीडर-संस्कृत जनता वैदिक कॉलेज,
बडौत (बागपत)

वैदिक संस्कृति का यदि कोई सदृशतम पर्याप्य कहना हो तो वह 'यज्ञ' कहा जा सकता है। प्राचीन मनीषियों ने मानव-जीवन को समृद्धतम स्वरूप प्रदान करने के विचार से जन्म (जीव के शरीर से संयुक्त होने) से पूर्व गर्भाधान संस्कार तथा मृत्यु (जीव के शरीर से वियुक्त होने) के अनन्तर और्ध्व दैहिक कार्य-अन्त्येष्टि संस्कार के रूप में समग्र जीवन को यज्ञमय बनाने का विधान किया है। ऋषि की दृष्टि में- 'अजातो वै पुरुषः, स वै यज्ञेनैव जायते' -मै०सं० 3.6.7-यज्ञ व्यक्तिकरण (अव्यक्त से व्यक्त, अप्रकाशित से प्रकाशित होने) का माध्यम है।

निष्काम भाव से सम्पाद्य नित्य यज्ञों के साथ-साथ नैमित्तिक यज्ञों का विधि-विधान भी उपलब्ध होता है। सभी संस्कारों के अवसर पर तथा किसी निमित्त-प्रयोजन विशिष्ट को दृष्टिगत कर किए जाने वाले यज्ञ नैमित्तिक यज्ञ की श्रेणी में आते हैं। कामना विशिष्ट के पूर्त्यर्थ होने वाले यज्ञों को काम्य कहा गया है। वस्तुतः काम्य व नैमित्तिक एक ही सिक्के के दो पहलू जैसे हैं।

रामायण में महाकवि ने यथावसर अनेक यज्ञों का वर्णन किया है। बालकाण्ड के प्रथम सात सर्गों में नारद द्वारा वाल्मीकि को रामचरित्र श्रावण, क्रौञ्चवधप्रसङ्ग आदि का वर्णन कर अयोध्या के उत्कर्ष के वर्णनानन्तर दशरथ द्वारा पुत्रप्राप्त्यर्थ अश्वमेघ यज्ञ का प्रस्ताव वर्णित है। सन्तान प्राप्त्यर्थ शास्त्रीय दृष्टि से विहित पुत्रेष्टि किए जाने का भी उल्लेख वहाँ उपलब्ध है। पुत्रेष्टि के अङ्गभूत अश्वमेध का विस्तृत वर्णन हुआ है। इसमें श्रौतसूत्रीय विधान के साथ यूपों की अवस्थिति का प्रसङ्ग विशेषेण द्रष्टव्य है। अश्वमेघ के अनन्तर सम्पाद्य महाक्रतुज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, दो बार अतिरात्र, अभिजित् विश्वजित् तथा दो आप्तोर्याम (कुल आठ) का भी नामोल्लेख हुआ है।

संस्कारों के निमित्त सम्पाद्यमान यज्ञों में से-प्रथम गर्भाधान का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, किन्तु पुत्रेष्टि के समय प्राप्त पायस-खीर को संस्कार तो नहीं, तदङ्गत्वेन स्वीकार किया जा सकता है। जातकर्म, नामकरण एवं विवाह संस्कार वर्णित हैं।

और्ध्वदैहिक कर्म के रूप में दशरथ, जटायु, कबन्ध, वाली एवं रावण के दाह का वर्णन है, किन्तु इनमें भी रावण का अन्त्येष्टि विवरण विस्तरेण वर्णित है।

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने रामचरित वर्णन के ब्याज से प्रसङ्ग प्राप्त यज्ञ एवं संस्कारों का भी उल्लेख किया है। तत्कालीन समाज में पूर्णतः महत्त्वप्राप्त यज्ञ संस्था अविवेक पूर्ण दुराग्रहों की सिद्ध (त्रिशङ्कु यज्ञ आदि) के माध्यम के रूप में भी व्यवहृत हो रही थी। साथ ही उक्त अध्ययन से यह भी ज्ञापित होता है कि रावण जैसा व्यक्ति भी आहिताग्नि था।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित यज्ञ

डॉ० डॉली जैन
व्याख्याता, संस्कृत, दर्शन व वैदिक अध्ययन विभाग
वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान)

भारतीय धर्मप्राण जनमानस में कर्म, आदर्श और धर्म की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित कर देने वाली 'रामायण' सम्पूर्ण लौकिक संस्कृत साहित्य की आदिकाव्य कही जाती है और उसके रचयिता वाल्मीकि आदिकवि के रुप में समादृत है। वेद जिस परमतत्त्व का वर्णन करते हैं, वही श्रीमन्नारायणतत्त्व श्रीमद्रामायण में श्रीराम रुप में निरुपित है। इसलिए श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की वेदतुल्य ही प्रतिष्ठा है। इसमें कला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि अनेक विषयों की चर्चा है, जिसमें धर्म प्रमुख है। धर्म का मेरूदण्ड यज्ञ है। इसमें विविध स्थलों पर विभिन्न प्रकार के वेदसम्मत यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है।

वाल्मीकि रामायण कालीन समाज में यज्ञ का प्राधान्य था। चाहे राजनीतिक क्रियाकलाप हो या गृहस्थ धर्म के कार्य या वानप्रस्थ जीवन की गतिविधियाँ, सर्वत्र यज्ञ की महत्ता रही है। तात्कालिक समाज में इन यज्ञों व उनसे प्राप्त फलों पर अत्यधिक विश्वास था। इच्छाओं की पूर्ति के लिए किए जाने वाले इन यज्ञों को सम्पादित करने के लिए अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता थी क्योंकि उस समय यह विश्वास था कि विधिहीन यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला यजमान अधोगति को प्रापत होता है।

विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्त्ता विनश्यति।
तद्यथा विधिपूर्व मे क्रतुरेष समाप्यते।।

वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, ८/१८

इसीलिए यज्ञकर्मा, यज्ञानुष्ठान के ज्ञाता के द्वारा ही करवाया जाता था।

कर्म कुर्वन्ति विधिवद् याजका वेदपारगाः।
यथाविधि यथान्यायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः।।

वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, १४/३

रामायणकालीन समाज में यज्ञ करना और करवाना ब्राह्मणों के षड्कार्यों में से एक था।

ततोऽब्रवीन्नृपो वाक्यं ब्राह्मणान् वेदपारगान्।
सुमन्त्रवाह्य क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः।।

वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, १२/५

रामायण में दो प्रकार के यज्ञों का वर्णन है, श्रौत यज्ञ व स्मार्त यज्ञ। श्रौत यज्ञों का आयोजन वृहत् रुप से किया जाता है जिनके सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं का वर्णन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। अश्वमेध यज्ञ, राजसूय आदि यज्ञ इसी श्रेणी में हैं स्मार्त यज्ञों में ग्रह्य यज्ञों का विवेचन है।

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण में वेद सम्मत अनेक यज्ञों की विधि की विधि का उल्लेख प्राप्त होता है जो कि तात्कालिक सामाजिक व धार्मिक जीवन में वैदिक यज्ञों की महत्ता व वाल्मीकि रामायण की वेदानुगामिता को सिद्ध करते है।

वाल्मीकि रामायण में पञ्चमहायज्ञ

मीनू तलवाड़
छात्रा, हिन्दी विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

सम्पूर्ण विश्व के व्यक्ति जब अपने इतिहास को जानना चाहते हैं तो उन्हें वेदों की ओर लौटना ही पड़ता है क्योंकि विश्व के इस प्राचीनतम ग्रन्थ में मानव मात्र के कल्याण की चर्चा की गई है और मनुष्य के प्रति प्राप्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का जो उपदेश इसमें दिया गया है वो अन्यत्र दुर्लभ है। इस सम्पूर्ण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का आधार ऋषियों ने 'यज्ञ' को बनाया। 'यज्ञ' ही वह बिराट् स्तम्भ है जिस पर सम्पूर्ण मानव और देव संस्कृति आधारित है। 'यज्ञ' के जो विभिन्न अर्थ शास्त्रकारों ने किए है उनके अतिरिक्त भी अनेक किए जा सकते हैं। इन यज्ञों के विभिन्न वर्ग किये गए जैसे श्रौत, स्मार्त, नैमित्तिक आदि। यह श्रौत, स्मार्त, नैमित्तिक सदा सर्वदा प्रत्येक के द्वारा नहीं किए जाते परन्तु यज्ञ संस्कृति को मानव के मूल में स्थापित करने की दृष्टि से समाज को सुव्यवस्थित गति प्रदान करने के लिए इन यज्ञों को मानव के नित्य कर्मों में सम्मिलित किया गया है और यह 'यज्ञ' पुन: पाँच भागों में विभक्त हुआ जिन्हें ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ के नाम से माना जाता है।

दर्शन

वाल्मीकिरामायणे जीवनदर्शनम्

डॉ. गणेशदत्त शर्मा
पूर्व प्राचार्य,
लाजपतराय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
साहिबाबाद (गाजियाबाद)

वाल्मीकिरामायणं खलु कवितायाः प्रथमा आविष्कृतिः। अतिघोरया तपश्चर्यया नितान्तनिर्मलस्वान्तेन आदिकविना महर्षिणा वाल्मीकिना जीवनस्य सार्वभौमसिद्धान्तानां यद्दर्शनं विहितं तदेव वस्तुतो वाल्मीकिरामायणम्। वाल्मीकिरामायणे पतितपावनीं रामकथामाश्रित्य कविना या काव्यसृष्टिः या च शाश्वती जीवनदृष्टिः मानवदेहधारिणाम् कृते समुपायनीकृता सा सत्पथदीपिकेव सदा सन्मार्गं प्रथयति।

वाल्मीकिरामायणे 'यज्जवीनदर्शनमुपलभ्यते तन्नूनं नैतिकमूल्यैरार्यमर्यादाभिश्च परिपूर्णं विद्यते। मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिर्वाल्मीकिः सीतारामलक्ष्मणहनुमान्सुग्रीवादीनाम् चरित्रचित्रणव्याजेन यानि नैतिकमूल्यानि वर्णयामास तान्यनुसृत्यैव मानवः सुखं शान्तिं सम्पन्नतां च प्राप्तुं शक्नोति।

आदिकवेर्जीवनदृष्टिः जीवनस्य सर्वानपि पक्षान् प्रमुखतश्च परिवार-समाज-राजनीत्यादिविषयान् विशेषतया विद्योतयामास। परिवारे पारस्परिकं सौहार्दम्, पित्रोराज्ञापालनम्, भव्यो भ्रातृभावः प्रगाढं च दाम्पत्यम् सुखस्य मूलम्-इत्यस्ति ऋषेर्वाल्मीकेः दिव्यदृष्टिः। अत एव वाल्मीकिरामायणस्य नायको रामः पितुराज्ञाया परिपालनाय शक्यमशक्यं वा सर्वमपि कर्तुं तत्परः। तस्य गर्वोक्तिरियम् -

अहं कि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे॥

वा.रा. २-१५-१५

नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च।
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्॥

वा.रा. २-१५-१६

करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

वा.रा. २-१५-१७

अत्र रामस्य पितृभक्तिसमकालमेव- **''प्राणा गच्छेयुर्न पुनर्वचनम्''** इति रघुकुलरीतिरपि सुस्पष्टं प्रख्यापिता कविना।

वाल्मीकिदृशा रामभरतलक्ष्मणसदृशं भ्रातृत्वमेव परिवारे समाजे च नितान्तं सुखावहम्। रामस्य भ्रातृस्नेहस्तु विश्वस्मिन् आदर्शभूतः। कैकेयीवचनाद् आत्मनः स्थाने भरतकृते राज्यसिंहासनप्रसंगे सम्प्राप्ते भरतं प्राणेभ्योऽप्यधिकतरं मन्यमानः आदर्शचरितनायको रामः स्वभावमित्थमभिव्यनक्ति-

नोटः- इस लेख में सन्दर्भ संख्यायें स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा सम्पादित वाल्मीकि रामायण के आधार पर दी गई है।

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥

वा.रा. २-१६-५

एवमेव लक्ष्मणोऽपि रामस्य प्राणस्वरूपः। यथाह श्रीरामो वनगमनकाले -

स्निग्धो धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो भ्राता चापि सखा च मे।

वा.रा. २-२६-८

लक्ष्मणेन विना रामस्य कृते सर्वं व्यर्थम्। समरभुवि मृतवत्पतितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा विलपतो रामस्य मनोभावमवलोकयन्तु -

न हि युद्धेन मे कार्यं नैव प्राणैर्न सीतया।
भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा लक्ष्मणं रणपांसुषु॥

वा.रा. ६-५६-२

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

वा.रा. ६-५६-३

अत्र रामस्य भ्रातृस्नेहः पराकाष्ठां गतः। किन्तु रामं प्रति भरतलक्ष्मणयोर्भक्तिरपि न्यूनतां न धारयति। लक्ष्मणो रामेण बिना त्रैलोक्यस्य राज्यं, स्वर्गं, मोक्षं वाऽपि न कामयते। रामेण भूयो भूयः वनगमनान्निवारितोऽपि दृढमतिर्यतिवरो लक्ष्मणः कथयति-

अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः।
न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।

वा.रा. २-२६-३

ऐश्वर्यम् वाऽपिलोकानां कामये न त्वया विना।

वा.रा. २-२६-४

एवमेव भरतस्य रामभक्तिरपि नूनं प्रशंसनीया। दशरथस्य परलोकगमनानन्तरं प्रवासात्प्रति - निवृत्तो भरतः रामदर्शनं प्रति अत्यन्तं समुत्सुकः सन् वदति -

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥

वा.रा. २-५५-१९

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ गृहीष्यामि स हीदानीम् गतिर्मम॥

वा.रा. २-५५-२०

भ्रातृणामेतादृशं परस्परमाकर्षणं परिवारस्य समाजस्य चाधारभूतम्।

पितृभ्रातृभक्तिपरायणो भरतस्ताभ्यां विहीनं राज्यं नेच्छति मनागपि। राज्यं तृणवत्तिरस्कुर्वाणः स इत्थं व्यावहरति -

किन्नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च॥

वा.रा. २-५६-२

रामं वनात् विनिवर्तयितुं भृशं प्रयत्नपरोऽपि भरतो यदा न तत्र साफल्यमवाप तदा स रामस्य चरणपादुके शिरसि धारयित्वा चतुर्दशवर्षतर्यन्तं तपश्चरणप्रतिज्ञां जग्राह -

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥

वा.रा. २-१८-१८

तवागमनमाकांक्षन् वसन्वै नगराद् बहिः।
तव पादुकयोर्न्यस्य राजतन्त्रं परन्तप॥

वा.रा. २-१८-११

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षऽहनि रघूत्तम।
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।

वा.रा. २-१८-२०

विश्वसाहित्ये तदितिहासे वा नान्यदस्ति एतादृशमुदाहरणम्।

वाल्मीकिमते धर्मस्य आचरणम्, संस्कृते सरंक्षणम्, मर्यादायाः पालनं चेत्यादयो मानवीयगुणा एव सृष्टेराधारभूताः। अत एव रामायणस्य पात्राणां चरित्रचित्रणे कविना तेषामेव गुणानां विकासः स्वतूलिकाया विषयीकृतः। मर्यादापालको रामः -अयोध्याया राज्यं स्वीकर्तुं भरतेन साग्रहमनुनीतोऽपि वसिष्ठादिभिश्च सुस्पष्टतयाऽऽदिष्टोऽपि स्वव्रतपालने हिमवतोऽप्यधिकमचलः। आत्मीयां दृढतां च इत्थं घोषयति -

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

वा.रा. २-७८-१३

कस्यापि वस्तुनः प्रलोभनं सत्यसन्धं रामं मर्यादापालनात् रोद्धुं नालम्। सर्वथा अक्षुण्ण खलु रामस्य मर्यादा -

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः॥

वा.रा. २-७६-२३

रामः सततं सत्यपरः। तत्कृते सत्यमेव परमेश्वरः, सत्यमेव लक्ष्मी, सत्यमेव सर्वेषामैश्वर्याणां - मूलम्, सत्यमेव च परमं पदम् -

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्माश्रिता सदा।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

वा.रा. २-७६-२१

रघुवंशीयानां जीवने अर्थस्य राज्यस्य वा नास्ति किंचिदपि महत्त्वम्। वस्तुतस्तु धर्म एव तेषां ध्येयम्। निन्दनीयामर्थपरायणतां निराकुर्वन् धर्मं प्रति स्वकीयामास्थां च विज्ञापयन् रामो वदति -

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम्॥

वा.रा. २-१६-१३

"धर्मरक्षार्थ वसुन्धरायास्त्यागोऽपि वरम्" इत्यस्ति रामायणस्य समुज्जवला जीवनदृष्टि। मर्यादापालनार्थं वनं गन्तुकामस्य रामस्य मुखे चित्ते वा न लक्ष्यते काचिद् विकृतिः -

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षपा॥

वा.रा. २-१६-२४

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥

वा.रा. २-१६-२५

वाल्मीकिरामायणस्य इयं संस्कृतिः अनाचारसंकुले अस्मिन् युगे राज्यलोभाय अर्थलाभाय वा स्वबन्धुवधतत्पराणां सर्वसिद्धान्तित्यागिनां च जनानां कृते नितान्तमुपयोगिनी, प्रेरणादायिनी कल्याणकारिणी च भवितुमर्हति।

वाल्मीकिः वैदिकीमाश्रमव्यवस्थामंगीकरोति। तदनुसारं चतुर्ष्वपि आश्रमेषु गृहस्थ एव श्रेयान्। रामं वनान्निर्वर्तयितुं प्रार्थयन् भरतो ब्रूते -

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम्।
प्राहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्त्वं कथं त्यक्तुमर्हसि॥

वा.रा. २-७८-६

वैवाहिकजीवनमेव व्यक्तित्वस्य परिपूर्णतायाः परिचायकमित्यस्ति स्वस्थो दृष्टिकोणः वाल्मीकेर्जीवनं प्रति। नारी पुरुषस्य आत्मा एव, यया विना स अपूर्णः। इदं जीवन हस्यं वसिष्ठमुखादित्थमुद्घाटयति कविः -

आत्मा हि दारा सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्॥

वा.रा. २-३७-२४ (गी.प्रे.गो)

प्रगाढं दाम्पत्यमेव गृहस्थजीवनस्य साफल्यम्। तच्च पूर्वाचरितपुण्यैरेव प्राप्यते। राममनुगछन्त्याः सीतायाः सौभाग्यं अयोध्याया नार्यः एवं प्रशंसन्ति -

तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत्तपः।
रोहिणीव शशांकेन रामसंयोगमाप सा॥

वा.रा. २-१६-४१,४२ (गी.प्रे.गो.)

रावणं भर्त्स्यन्ती रामं प्रति स्वकीयं तादात्म्यं च अभिव्यंजयन्ती सीता स्वयमाह -

शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।।

वा.रा. ५-१२-१०

सीतां प्रति रामस्य प्रणयोऽपि परां कोटिम् प्राप्तः। सीताहराणानन्तरं विरहव्याकुलो रामः सीतां प्रति स्वभावमित्थं व्यनक्ति -

मयि भावस्तु वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः।।

वा.रा. ४-१-१३

गृहणिीं सीतां विना रामो जीवितुमपि न शक्तः। स लक्ष्मणं वदति -

गच्छ लक्ष्मण पश्य भरतं भ्रातृवत्सलम्।
न ह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम्।।

वा.रा. ४-१-१७

स्त्रीपुंसोरेतादृशं दाम्पत्यप्रेम एवं जीवनस्य रसायनम्। यस्मिन् परिवारे समाजे वा सीतारामवत् पावनप्रणयसूत्रबद्धाः शुद्धाःपूताश्च दम्पती समूहाः स्वं व्रतं पालयन्ति तत्रैव सुखम्, तत्रैव शान्तिः, तत्रैव च कल्याणम्-इत्यस्ति रामायणस्य अमृतमयः संदेशः।

जीवनस्य विविधक्षेत्रेपु समन्वयमपेक्षते रामायणकविः। तद्यथा जीवने कदाचित् एतादृशा अपि क्षणाः समायान्ति यदा विवशतया भाग्यस्य आधीनतां स्वीकरोति जनः। किन्तु नायमादर्शः। आदर्शस्तु पुरुषार्थ एव। दैवपुरुषार्थयोरेष समन्वयः रामलक्ष्मणयोः संवादे ऋषिणा रमणीयतया प्रदर्शितः। वनवासवृत्तेन खिन्नं रोषावेपसंयुतं लक्ष्मणं सान्त्वयन् भाग्यमेव च स्वप्रवासकारणं प्रतिपादयन् रामो ब्रवीति -

कृतान्तस्त्वेव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने।।

वा.रा. २-२०-४

कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।

वा.रा. २-२०-६

''सुखदुःखादीनां प्राप्तिरपि दैवाधीना'' - इत्यस्ति रामस्यानुभूतिः -

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभावौ।
यच्च किं च तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्।।

वा.रा. २-२०-७

एषा यथाथता जीवने साक्षात्क्रियते जनैः। अतो भाग्यस्य प्राधान्यमेव प्रतिभाति आपाततः। किन्तु **''आदर्शरूपेण नैवांगीकरणीय एष राद्धान्तः''** - इति सुस्पष्टं प्रमाणीकरोति कविः लक्ष्मणमुखेन। रामस्य शौर्यम् स्मारयन् दैवं च निन्दन् लक्ष्मणो भणति -

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते।।

वा.रा. २-२०-१३

दैवं पुरुषाकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुष सोऽवसीदति॥

वा.रा. २-२०-१४

इत्थं मानवजीवने दैवपुरुषकारयोरादर्शयथार्थयोश्च सुन्दरः समन्वयः एव रामायणस्य जीवन-दर्शनम्।

वाल्मीकिरामायणं खलु सर्वेषां मानवोपयोगिनां विषयाणां रत्नाकर एवास्ति। रामायणकविर्महर्षिवाल्मीकिः न कमपि विषयमुपेक्षते। स स्वीकीयया विमलया आर्षदृशा सर्वमालोदयति तच्च सम्यक् प्रकाशयति। तद्यथा लोकमनुशासितुं राष्ट्रं च रक्षितुं राज्ञः राजधर्मस्य च अनिवार्यत्वं स्वतः सिद्धम्। **''अराजकं राष्ट्रं सर्वथा विनश्यति''** -इत्यस्ति सार्थवती स्वस्था चावधारणा वाल्मीकिमुनेः। दशरथे दिवंगते सति अयोध्याराज्यं प्रति चिन्तितानां ब्राह्मणानां मुखेन वर्णयति ऋषिकविः -

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं न विनाशमनाप्नुयात्॥

वा.रा. २-५१-६

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते।
न चाप्याराजके सेना शत्रुन् विषहते युधि॥

वा.रा. २-५१-२२

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥

वा.रा. २-५१-२५

अराजकस्य राष्ट्रस्य दुर्दशां प्रदर्शयन्, राज्ञां महत्त्वं तेषां च कर्त्तव्यमपि निर्धारयति कविर्मनीषिः। तन्मते सत्यधर्मयोः सरंक्षकः प्रजानां च हितकरः राजा एव प्रशंसनीयः -

यथादृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः॥

वा.रा. २-५१-२७

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥

वा.रा. २-५१-२८

वाल्मीकिरामायणस्य प्रणेता - **''यथा राजा तथा प्रजा''** इत्यस्य सिद्धान्तस्य प्रबलः समर्थकोऽस्ति। यतो हि धर्मपरायणस्य राज्ञो रामस्य प्रजा अपि धर्मपरायणा असीत्। रामराज्यं वर्णयन् व्याहरति रामायणकविः -

आसन् प्रजा धर्मरता रामे शासति नानृताः।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः॥

वा.रा. ६-७४-३१

रामस्य राज्यव्यवस्थायास्तच्चरित्रस्य च प्रभावेणैव तद्राज्ये चौराणां, दस्यूनां-बालमृत्योश्च भयं नासीत्। तत्रत्याश्च सर्वे वर्णाः स्व-स्वकर्मप्रवृत्ता आसन् -

निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।।

वा.रा. ६-७४-२६

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।।

एतादृशं सर्वजनहितकारकं सर्वथास्वस्थं राज्यमेवं सर्वेषां चिन्तकानां समाजशास्त्रिणां राजनयनिर्णायकानां च प्रधानमुद्देश्यम्। रामराज्यमेव लक्ष्यीकृत्य तिलक-गाँधी-सुभाषादिभिः स्वराज्यार्थं बलिदानं कृतम्।

लोकाराधनं रामराज्यस्य परमं वैशिष्ट्यम्। लोकाराधनाय रामो लक्ष्मणभरतादीन् बन्धून, स्वप्राणान्, किमधिकम् - लोकर्थं स सीतामपि परित्युक्तुं सन्नद्धः। वाल्मीकेरियम् राजदृष्टिः देशनेतृभिः सततमनुकरणीया, यया विना अद्य राजनेतारः अधार्मिकाः सदाचारहीनाश्च सन्तः स्वार्थसाधनाय राष्ट्रं खण्डयितुं प्रवृत्ताः।

वाल्मीकिरामायणे चरित्रचिणस्य सर्वांगीणता समवलोक्यते। वाल्मीकिः प्रमुखतो मानवतायाः, मर्यादायाः, सादाचारस्य, धर्मस्य, सत्यस्य च कविरस्ति। एते सर्वेऽति गुणाः रामचरिते साकारतां गताः। रामायणे न केवलं रामभरतादीनामेवोदात्तचरितं जनमानसमुद्बोधयति, अपितु तत्र श्रीमतः हनुमतः स्वाभिभक्तिः, जटायु-सुग्रीव-जामवन्त-अंगद-विभीषणादीनां च रामानुरक्तिरपि वाल्मीकेर्जीवनदर्शनस्य अंगभूता।

रामायणे राक्षसानां वधप्रसंगेषु रामलक्ष्मणयोर्वीर्यमपि प्रदर्शितम्। तत्र रामरावणयोर्युद्धं तु सर्वथा अनुपमेयमेव। यथाह स्वयमेव कविः -

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपामः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।।

वा.रा. ६-५९-१४

अत्र रामरावणयोरुभयोरपि शौर्यं प्रख्यापितम्। किन्तु अन्ततः रामेण कृते रावणवधे-''**सत्यमेव जयते**'' इत्यस्य सार्वभौमिकसत्यस्यैव सार्थकता प्रमाणीकृतावाल्मीकिना। किन्तु वाल्मीकिः क्वचिदपि मानवता न विस्मरति। रावणवधानन्तरं रामो न तं निन्दति, अपितु तस्य पराक्रमं प्रशंसति। रामस्य शत्रुमपि भ्रातृवत् विभीषणं तस्य शरीरसंस्काराय प्रचोदयन् कथयति -

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथातव।।

वा.रा. ६-६१-२८

इत्थं ''मानवता सर्वथा संरक्षणीया, मर्यादा सततं पालनीया, धर्मः-सत्यं-व्रतं च प्रत्येकस्यां परिस्थितौ परिस्क्षणीयमेव'' -इत्येवास्ति वाल्मीकिरामायणस्य जीवनदर्शनम्। अस्यानुकरणमेव विश्वशान्तेः सुखस्य च मूलम्।

वाल्मीकि रामायणे वैदिक कर्मकाण्डः

डाँ भगवत् शरण शुक्ल
प्राचार्यः
सौदामिनी संस्कृत महाविद्यालयः
149 विवेकानन्द मार्गः इलाहाबादः

वाल्मीकि रामायणमिति ग्रन्थः प्रथमः काव्यग्रन्थो विद्यते। इतः पूर्वमार्षग्रन्थोपनिषदादिनामेव स्थितिरासीत्। अतोऽत्र सर्वेऽपि सिद्धान्ता वैदिका एव सन्ति। वैदिक साहित्ये तावत् मन्त्राणामुभयगतिरस्तिः। तत्र केचन् मंत्राः उपासनापरकाः केचन् चाध्यात्मपराः। तामेव जनाः उपासनाकाण्डः ज्ञान काण्डश्चेत्याभिध या जानन्ति। यद्यपि एतद् व्यतिरिक्तमप्यखिलं ज्ञानं वेदेषु विद्यते। तथापि सामान्यतया वैदिकं विषय वस्तु पूर्वोक्ताभिधयाभिधीयते।

यद्यपि कर्मेति पदं बहूनार्थानादाय तिष्ठति तथापि वैदिक साहित्ये सामान्यतया कर्मेति पदेन यज्ञ कर्मणः ग्रहणं भवति। अतएव शतपथब्राह्मणे ''यज्ञो वै कर्म'' [1,1,2,12] ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' (1.7.1.5) इति, तैत्तरीये ''यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म'' इति (3.2.1.4), यजुर्वेदे- ''श्रेष्ठतमाय कर्मणे'' इति सर्वमुक्तं वर्त्तते।

कनीदीप्तिकान्तिगतिषु धातोः ड प्रत्यये सति कन्यते दीप्यते प्रकाश्यते गम्यते (प्राप्यते) कर्मयेनासौ कर्मकाण्डः इति व्युत्पत्यनुसारेण यया (प्रक्रियया) वेदविहितं यज्ञरूपं कर्मणो दीपनं प्रकाशनं स्वर्गादिलोक प्राप्तिभर्वति सः कर्मकाण्ड इति पदेनोच्यते।

यज्ञादि विषये तावत् गोपथब्राह्मणस्य पूर्वभागे इत्थं लिखितं विद्यते-

''अथातो यज्ञ क्रमाः अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेराग्निहोत्रमग्नि होत्राद्दर्शपूर्ण मासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणमाग्रयणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः पशुबन्ध ादग्निष्टोमोऽग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद् वाजपेयो वाजपेयादश्वमेधोऽश्वमेधात् पुरुषमेधः पुरुषमेधात्सर्वमेधः सर्वमेधाद् दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते वा एते यज्ञ क्रमाः (गोपथपूर्व भागः 5.7)

गीतायाम् तावदेतदतिरिक्तानि यज्ञकर्माण्यपि कथितानि-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशित व्रताः॥

सामान्यतया यज्ञानां चतुर्धास्थितिरस्ति। श्रौत यज्ञाः दर्शपूर्णमासाग्निष्टोमप्रभृतयः, स्मार्त हविर्यज्ञाः, विष्णु-रुद्रचण्डीयागप्रभृतयः, पाकयज्ञाः गर्भाधानादि संस्काराः, अध्यात्म यज्ञाः- ब्रह्मयज्ञ जपयज्ञ प्रभृतयः।

बाल्मीकि रामायणे तावत् दशाश्व मेधयज्ञस्य 1.12.14, 7.91-93 इत्यत्र पुत्रेष्टियागस्य 1. 15-16 इत्यत्र, विश्वामित्रकृत यागस्य 1.30 इत्यत्र मेघनाद कृत निकुम्भलायज्ञस्य 6.82 इत्यत्र, वैष्णव यागस्य 7.30 इत्यत्र चर्चा समागतास्ति। तथैव संस्काराणां चर्चा बालकाण्डे अन्त्येष्टि संस्कारस्य चर्चा अयोध्याकाण्डे 2.76-77 इत्यत्र, युद्धकाण्डे 6.109 इत्यत्र च समागता। अन्येषां ब्रह्म यज्ञस्याध्याय यज्ञ तपो यज्ञादीनां चर्चा बहुत्र वर्त्तते।

एते सर्वे चार्षयज्ञाः वेद विहिताः सन्ति। तान् वाल्मीकि रामायणे आदिकविः वाल्मीकिः महत्वपुरस्सरं वर्णितवान्। एते च यज्ञाः सर्वथा लोक कल्याण कारकाः आधुनिक युगेऽपि एतेषां प्रासङ्गिकता विद्यते। अतएव गीतायां भगवान् कृष्णः कथितवान्-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टवा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

(गीता-३.१०)

वाल्मीकि रामायणे वैदिक संस्काराः

डॉ. (श्रीमती) कृष्णा आचार्य
संस्कृत-प्रवक्ता
म0द0 विश्वविद्यालय,रोहतक (हरियाणा)

संस्करणं सम्यक् करणं वा संस्कारः। अस्मिन् सन्दर्भे संस्कारशब्दस्य अर्थो वस्तुनः व्यक्तेर्वा परिष्कारो भवति। प्रकरणवशात् संस्कार-शब्दो बहुस्वर्थेषु प्रयुज्यते। अस्मिन् शोधलेखे संस्कार शब्देन आत्मनः परिष्काराय क्रियमाणानि कृत्यानि गृहीतानि।

जैमनीय सूत्र भाष्ये शबरस्वामिना लिखितम् ''संस्कारोनाम् स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'' **जैमनीय सूत्र - ३.२.३**
मनुस्मृतौ उल्लेखो वर्तते यद् ''संस्कारैः शरीरः पावनो भवति''-

गार्भैहोमैर्जातकर्मचौलमौञ्जी निबन्धनैः।
कार्य शरीर संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

मनु०= २.२६

वैदिक संस्काराणामुल्लेखो गृह्यसूत्रेषु धर्मसूत्रेषु च विस्तृतरूपेणोपलभ्यते। संस्कारणां संख्या विषये नैकमतं विदुषाम्। तेषां समेषां मतं संगृह्यः महर्षिणा दयानन्देन संस्कारविधौ बोधगम्या व्याख्या विहिता। रामायणे वाल्मीकिना प्रसङ्गवशादेव कतिपयानां संस्काराणामुल्लेखः कृतः। एकस्मिन् सन्दर्भे उल्लेखो वर्तते यत् महर्षि वसिष्ठो रामलक्ष्मणभरतशत्रूघ्नानां जातकर्मादयः संस्काराः अकारयत्।

तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्।
तेषां केतुखि ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः॥

रामायण, १.१८.२४

प्रत्यक्षरूपेण रामायणे निम्नलिखितानां संस्काराणामुल्लेखो वर्तते।
1. गर्भाधान संस्कारः, 2. जातकर्म संस्कारः, 3. नामकरण संस्कारः, 4. विवाह संस्कारः, 5. अन्त्येष्टि संस्कारः

अप्रत्यक्षरूपेण च ''पुंस वन संस्कारः सीमन्तोनयन संस्कारः, निष्क्रमण संस्कारः अन्नप्राशन संस्कारः, चूड़ाकर्म संस्कारः उपनयन संस्कारः, आदीनामपि प्रसङ्गमायाति।

रामायणे मानवजीवनमूल्यानि

डॉ. कम्भम्पाटि साम्बशिवमूर्ति
राष्ट्रिसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः), श्रीसदाशिव परिसरः,
पुरी, ओडिशा

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।।

इति स्कान्धपुराणवचनमनुसृत्य वेदप्रतिपाद्यः, परमपुरुषः, दशरथपुत्रः साक्षात् श्रीमत्तविष्णुः एव। वेद एव वाल्मीकिमहामुनेः मुखतः रामायणरूपेण अविर्बभूव। अतः सकलधर्ममूलो वेदसदृशः रामायणग्रन्थः इति प्रसिद्धिः। अस्मिन् काव्ये चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकाः सन्ति। गायत्रीमन्त्रेऽपि चतुर्विंशत्यक्षराणि। अतः अयं ग्रन्थः गायत्रीमन्त्राक्षरसंबद्धः। गायत्रीमन्त्र इव अयमपि परमपावनो ग्रन्थः इति विदुषां विचारः।। अत एवोच्यते-

हर्त्तुं तमस्सदसती च विवेको मीशो
मानं प्रदीपमिव कारुणिको ददाति।।

अपि च-

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी।
पुनाति भुवनं पुण्या रामायणमहानदी।।

अस्मिन् शोधपत्रे महाकविवाल्मीकिविरचिते रामायणे विद्यमानानां मानवमूल्यानां परिशीलय आधुनिक समाजे रामायणस्य उपयोगितां प्रतिपादपितुमहं ईहे। रामायणे प्रतिपदं मानवः उत्तमगुण भूपिष्ठः सन् कथं सत्त्वगुणप्रधानो जायेत? कथं देवसदृशः भवेत्? कथं दानवः न भवेत् इति विषये एव प्रतिपादनमधिकतया, प्रधानतया च जातम्। तादृशानामंशानां प्रस्तावः मम शोधपत्रे दिङ्मात्रं स्थलीपुलाकन्यायेन क्रियते।

१. **प्रजानां स्वभावः -**

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयुताः।
उदिताश्शीलवृत्ताभ्यां महर्षयः इवामलाः।।

बा.का. ६-९

अयोध्यानगरे पुरुषाः, स्त्रियश्च, धार्मिकाः, इन्द्रियनिग्रहाः, सहजसिद्धतया साधुस्वभावाः, सत्प्रवर्तकाः सन्तः महर्षय इव निर्मलहृदयाः आसन्।

२. **दैवशक्तिः बलीया -**

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्।
दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः।।

(५८-२२)

३. उत्तम प्रभुः -

तुष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम्।
तस्य नन्दंति मित्राणि लब्ध्वाऽमृतमिवामराः॥ (३-४५)

४. सत्यमहिमा -

सत्यमेकपद ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवात्तया वेदास्सत्येनैवाप्यते परम्॥ (१४-७)

५. सुरापानम् - व्यसनम् -

मद्यपानेन अर्थः, धर्मः, कामः च, एतत्त्रयमपि नश्यति। उपकृतिनः प्रत्युपकारः अवश्यं करणीयः। अन्यथा गुणवतः मित्रस्य मित्रता नश्यति। तेन अर्थनाशः च भवति। (33-46)

६. आत्महत्या - अनर्थदायिनी -

विनाशे बहवो दोषाः जीवन् भद्राणि पश्यति।
तस्मात् प्राणान् धरिष्यामि, ध्रुवो जीवितसङ्गमः॥

मरणेन बहवः दोषाः सम्भवन्ति। जीवन् बहुभद्राणि पश्यति। जीवने सति नूनं श्रेयः भविष्यति। (13-47)

(सीतामदृष्टवा, अप्राप्य च भविष्यति अनार्थान् तर्कयित्वा प्राणत्याग एव वरमिति चिन्तयति मिजियिद्रभति पूर्वम्। ततः मानसिकस्थैर्यं प्राप्य हनुमान् इदं वाक्यं वदित।)

एवं प्रकारेण बहूनिमूल्यानि जीवनोपयुक्तानि रामायणे उपलभ्यन्ते। एतेषां ज्ञानार्थं सुखमय जीवनयापनार्थं च रामायणमेव दिव्यं, महत् च औषधम्॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः। रामभूतं जगदभूत्॥

वाल्मीकिरामायणे वैदिकधर्मः

आशुतोष गुप्तः

शोधछात्र, लखनऊ विश्वविद्यालयः,
लखनऊ

वेदोऽखिलो धर्म मूलम् इति वाक्येन धर्मस्य सनातनत्वं प्रतिभाति। वाल्मीकिरामायणं भारतीयसंस्कृतेः दर्पणम् अस्ति। केन कीदृशः धर्मः आचरणीयः इति रामायणं सम्यक्तया शिक्षयति। रामः सर्वदा धर्ममयकार्यं करोति स्म। रामायणस्य एकैकं पात्रं साक्षात् धर्मस्य अवतारः एव। ते सर्वदा वैदिकधर्मे संलग्ना आसन्। 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' एतस्य वाक्यस्य पृष्ठे धर्ममहत्त्वमेव। एतस्मिन् शोध पत्रे रामायणगत पात्राणां वैदिकधर्मे कियतासक्तिः आसीत् तस्य सोदाहरणं व्याख्यानं भविष्यति।

वाल्मीकि रामायणे वैदिक संस्कृतिः

डा. जयदत्त उप्रेती
भू.पू. संस्कृतविभागाध्यक्षः,
कुमाऊँ विश्वविद्यालयस्य
अल्मोड़ास्थं परिसरे
तल्ला थपलिया, अल्मोड़ा

संस्कृतसाहित्यकानने वाल्मीकिरामायणस्य महाकाव्यस्य मूर्धन्यं स्थानं वर्त्तते। मर्यादापुरुषोत्तमो दशरथी रामस्तस्य महाकाव्यस्य श्रेष्ठोदात्तगुणशीलसम्पन्नो महानायको विद्यते। तस्यैव महापुरुषस्य नाम्ना महाकविना महर्षिणा वाल्मीकिना महाकाव्यस्यास्याभिधानं रामायणम् इत्यकारि। रामायणे हि रामस्य चरितचित्रणं प्रामुख्येन कृतः कविना, अन्येषां च तत्सम्बन्धिनां मातापितृभातृभार्याबन्धुगुरुसुहृन्मित्रादीनाम् अनुषंगतया। महाकविररसौ लोके विशेषतः संस्कृत साहित्ये आदिकविनाम्नापि सुप्रसिद्धः।

तदस्मिन् आदिकविना वाल्मीकिना विरचिते रामायणमहाकाव्ये वैदिक संस्कतेर्दर्शनं पदे पदे बोभवीति। चतुर्षु वेदेषु मानवानां कृते ये ये श्रेष्ठा उपदेशा आचारविचाराश्च वर्णिताः सन्ति, यानि कर्त्तव्यानि कर्माणि विहितानि सन्ति, यानि च गर्हितानि कर्माणि प्रतिषिद्धानि सन्ति, तेषामेव कर्त्तव्याकर्तव्यरूपेण यथास्थानं सन्निवेशः उच्चावचपात्राणां प्रसंगे दरीदृश्यतेऽस्मिन् महाकाव्ये। आर्याणां वर्णाश्रमधर्माश्च वेदानुसारेणैव अत्रापि द्रष्टुं शक्यन्ते। संक्षेपतो वैदिकी संस्कृतिर्वक्ष्यमाणविषयेषु वाल्मीकिरामायणे चित्रिता व्यावहारिकतयाअनुसृता च विद्यते :-

1. पुत्रेष्ट्यादिविधिना सन्तानोत्पादनम्।
2. सन्तानानां शिक्षा, ब्रह्मचर्यपूर्वकं विद्याध्ययनं, तदर्थं गुरुकुलवासश्च।
3. कृतसमावर्तनानां गृहाश्रमप्रवेशः, स्वयम्वरादिविधिना विवाहसंस्कारश्च।
4. गृहे निवसतां पतिपत्नीत्यादीनां मातापितृश्वश्र्श्वशुरादिपूज्यगुरुणाम् आज्ञापरिपालनं सेवाशुश्रूषा च।
5. गृहाश्रमिणां पंचमहायज्ञानुष्ठानम्।
6. एकस्मिन् कुटुम्बे भ्रातृस्वसृसुहन्मित्रबन्धुजनानां पतिपत्न्योश्च मिथः स्नहप्रेमयौहार्दभावः।
7. राज्ञो धर्मः प्रजानां न्यायेन परिपालनम्, प्रजानां च राजाज्ञानां श्रद्धया परिपालनम्।
8. कृषि-धनधान्यगवाद्युपकारकपशूनां संरक्षणं संवर्धनं च।
9. कला-वाणिज्य-कोष-यन्त्रोद्योग-क्षात्र (सैन्य) बलवृद्धिः।
10. युद्धे शत्रुबलमर्दनं, राज्ये चापराधानां कृते यथायोग्यं दण्डविधानम्।

इत्येवमादमयो विषया एतादृशाः सन्ति, येषां वेदेषु वेदानुसारिषु धर्मशास्त्रादि-ग्रन्थेषु वाल्मीकिरामायणे च समानतया वर्णनानि समुपलभ्यन्ते। एतेन विज्ञायते यद् वाल्मीकिरामायणे वैदिक्याः संस्कृतेरेव आश्रय आधारश्च संगृहीतो नान्यस्याः कस्याश्चिदिति। प्रस्तोष्यमाणे शोधपत्रे एतत् सर्वं विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते।

वाल्मीकि रामायणे मानवीय चेतना-विमर्श:

डॉ० मिताली देव
प्रवक्ता संस्कृत
महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी

संस्कृतसाहित्यस्यारुणोदये एष आदिमहाकवि: महर्षिवाल्मिकि: कमनीयकाव्यकलालङ्कृतं रामायणाख्यमतिमहनीयं महाकाव्यं जुगुम्फ। भारतीयसाहित्येतिहासे नूनं तद्दिवसं स्वर्णाक्षरैरङ्कितं भविष्यति, यदा पुण्य-सलिलाया भगवत्यास्तमसाया: पुनीते पुलिने युग्मचारिणो: क्रौञ्चयोरेकं वध्यमानं दृष्ट्वा महाकवेरस्य कण्ठत: सा कापि हृदयाह्लादिनी सुवर्णसुवृत्तरसोज्ज्वला करुणाद्रा छन्दोमयी वाग्धारा परिपुस्फोट किल निखिलं व्योमण्डलं प्रतिध्वनयन्ती, अधोऽङ्कितं पद्यं द्वारीकृत्य-

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:।
यत्क्रोञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम्॥

तदेतावतेदं सूपन्नम् यत् संस्कृतसाहित्यप्रपञ्चे कवीनां प्रथम: कवि: तत्रभवान् वाल्मीकिरेव। स एव च रामायणं नाम विश्वविख्यातं महाकाव्यं सर्वकाव्यानामादिभूतं प्रणिनाय। तथा च बुद्धचरितं महाकविना अश्वघोषेणोद्घोषितम्-

वाल्मीकिनादश्च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षि:।

अमुमेवार्थं कविकुलशिरोमणि: कालिदासोऽपि समर्थयन् 'प्राचेतसोपज्ञं रामायण' मिति स्वीचकार। करुणरसविभूतिर्भवभूतिरपि - एष एव महर्षि लौकिकछन्दसामादिम: प्रणेतेति मुक्तकण्ठत: प्रत्यपादयत् 'अथ स ब्रह्मर्षिरेकदा माध्यन्दिनसवनाय नदीं तमसामनुप्रपन्न:। तत्र युग्मचारिणो क्रौञ्चयोरेकं वध्यमानं ददर्श। आकस्मिकप्रत्यवभासां देववाचमानुष्टुभेनच्छन्दसा परिणतामभ्युदैरयत् - 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्व' मिति, यामाकर्ण्य वनदेवता अपि परमाश्चर्यमापेदिरे - अहो एष कोऽपि आम्नायादन्यत्र नूतनच्छन्दसामवतार:। तेन खलु समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतं शब्दब्रह्मप्रकाशकं ऋषिमुपगम्य भगवान् भूतनाथ: पद्मयोनिरवोचत्' ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्माणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते प्रातिभं चक्षु:। आद्य: कविरसि इत्युक्त्वा तत्रैवान्तर्हित:'

मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती।
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम॥

धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमत:।
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति॥

एवं लौकिकसाहित्यस्यारम्भ: महामहिमशालिनो भगवतो महर्षिवाल्मीकित एव। समस्ता अपि सुरभारतीभक्ता, भारतीया: सुगृहीतनामधेयममुमादिकविं वाल्मीकि प्रति अतीव बद्धादरा:। सर्वेऽपि कवयस्तं कविकुलादिगुरुत्वेन समाद्रियन्ते। महाकवि: त्रिविक्रमभट्ट: महाकाव्य तस्मै नमस्कारं वितन्वान: प्राह:-

सदूषणाऽपि निर्दोषा सखराऽपि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामयणी कथा॥

शाङ्गर्धरश्च संग्रहे :-

कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं, यस्य रामायणीं कथाम्।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः॥ इति

वाल्मीकेः प्रकृति-वर्णनमतीव मर्मस्पृक्। जलधरसमयं वर्णयन्नसौ कीदृशीं काव्यकलाचातुरी व्यक्तीरोति प्रयुङ्क्ते च कियल्ललितानि पदानि। भावमाधुरीं ध्वनयति - 'वत्स लक्ष्मण, सम्प्राप्त इदानीं वर्षासमयः। निचितं नभो नवनीरदैः। प्रशान्तो रजः प्रसरः। वायुः सहिमो वाति। अयं पर्जन्यो वर्षति। मन्ये द्यौरियं दिनकरस्य किरणैः समुद्राणां रसं पीत्वा कार्तिकादीन् नवमासान् धृतं गर्भमिव छलं प्रसूते। निखिलानां जीवानां जीवातुभूतोऽयं रसः साक्षाद्रसायनमिति मे भाति। शोकसन्तप्ता सीतेव धर्मपरिक्लिष्टेयं मही नववारिणा परिप्लुतत्वाद् वाष्पं विमुञ्चति। अस्मिन् शैलेऽमी अर्जुनवृक्षाः फुल्ला दृश्यन्ते। केतकैरभिवासितोऽयं गिरिः। प्रशान्तोऽत्रदावाग्निः।................एवं शान्तरिपोः सुग्रीवस्यैवायमनुकुरुत इति कलये। येऽत्र इमे पर्वतास्तिष्ठन्ति ते प्रक्रान्ताध्ययना वटव इवाभान्ति। मेघरूपाणि हि कृष्णाजिनानि धारयन्तीमे। गुहा एव मारुतापूरिततया शब्दवन्ति मुखानि। हैमीभिः कशाभिरिव विद्युद्भिरभिताडितमम्बरम्, तथा चास्य स्तनितरूपो निर्घोषः श्रूयते। इयमग्रतः स्फुरन्ती नीलमेघाश्रिता विद्युल्लता रावणस्याङ्कस्फुरन्ती वैदेहीव मे प्रतिभाति।

तथा च :-

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति,
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति॥
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः,
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥ (रामायंणे)

रामयणं भारतीयाचारव्यवहारस्य, परम्पराया, गृह-समाजव्यवस्थायाश्च यथार्थस्वरूपं चित्रयति। राज्ञां सत्यप्रतिज्ञत्वं, दण्डेन च धर्मरक्षणम्, आश्रितजनसंरक्षणं, पत्न्याः सतीत्वं, पातिव्रत्यञ्च, पत्युः प्रेमादिकञ्च सम्यक्त्वेन अतीव परिष्कृतया गिरा पुरस्करोति।

तत्वतो विमृश्यमाने सुतरां स्फुटीभवति यद्रामायणेऽखिलानि महाकाव्यलक्षणानि दृग्गोचरीभवन्ति। वाचामुदात्तता, घटनाविन्यासचातुरी, रमणीयदृश्यानां विलक्षणं चित्रणम्, रमणीयं प्रकृतिवर्णनम्, काव्यकला-पूर्णता, विविधछन्दसां प्रसरः ओजः कान्तिमती च शैली। तदेवंविधा कापि अनितरसाधारणी काव्यसुषमा एवास्य सर्वातिशयलोकप्रियत्वे हेतुः।

रामायणस्य मधुस्यन्दिनि काव्यधाराप्रवाहे विनिमज्य न कस्य सहृदयस्य परिस्पन्दते हृदयम्। भारतीया महाकवयो भूयसा वाल्मीकेः काव्यकलया प्रभाविताः प्रतीयन्ते। रामायणत एव काव्यप्रणयनसस्फूर्तिरुपलब्धेति। समवधारणेऽपि नास्ति काप्यत्युक्तिः। 'उपमा कालिदास्यंति' तत्प्रसिद्धेः बीजं रामायणीयोपमामालामेवानुसन्दधाति। अशोकवाटिकायां निवसन्त्याः सीतायाः वर्णनमेकोनत्रिंशदुपमामालया

रमणीयरूपेण प्रपञ्चितम्।

'अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव॥'

कीदृशीयमद्भुतोपमाकाव्यमहासरित् आदिकवेर्हृदयात्प्रावर्त्तत। काव्यसंसारे वाल्मीकेः वाचां परस्तात्पुरस्ताद् वा न किञ्चित् तादृशं प्रादुर्बभूव काव्यम्। ''अनुवाल्मीकिं खलु कवयो वाचि भावे च'' ति लोकोक्तिः सर्वथा यथार्था। स्वभाव-वर्णने, चरित्रचित्रणे, मानव-मनोगत-भाव- विलास-प्रदर्शने, वन-पर्वतसरिदाश्रमादिरूपनिरूपणेऽपि आदिकविरयं सर्वान् अतिशेते। नूनं सहजा सरला समलङ्कृता वाल्मीकेर्भारती। आदिकविरेष नूनमासीद् वागर्थशिल्पिनां गुरुरित्यत्र तु को नाम संदिह्येत। वस्तुतस्तु काव्यमपीदं रामायणमितिवृत्तायते, भारतीय संस्कृतेरादर्शरूपञ्चेति अलमति पल्लवितेन। रामराज्ये सर्वे जनाः प्रमुदिता आसन्।

सर्वं प्रमुदितञ्चासीत् सर्वो धर्मपरो जनः।
दृष्ट्वा धर्मपरं रामं न चाहिंसत्परस्परम्॥

राज्येन कीदृशेन भवितव्यमिति रामराज्योपवर्णनेन कविनाऽतिचारुतया निर्दिष्टम् नूनं धन्यः स कविश्रेष्ठः, जननी च तस्य धन्या, संस्कृतसाहित्यारुणोदये यस्य वाणी आदिकाव्ये छन्दोऽलङ्कृता विश्वनभःप्राङ्गणे उदयमाससाद इति।

उपसंहार :-

विहगावलोकनेनाऽवगम्यते, यदखिल महाकाव्यलक्षणान्वितं रामायणाभिधं महाकाव्यमिदं संस्कृतसाहित्यमन्दिरस्य स्वर्णकलशायमानं निखिलातिशायिकाव्यगुणगणगरिणा सर्वाभिनन्द्येत्वेन राराजते। स्थान एव खलूक्तमेतत् :-

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

अस्य महाकाव्यस्य भाषा प्राञ्जला, ओजस्वी, ललितमधुरा प्रसादगुणगुम्फिता च भावानां भव्यता, छन्दसामौचित्यं, रसानां सरसपरिपाकः, अलङ्काराणामाभरणं नूनं परिपूर्णतामवगाहते। मानवीयान्तः प्रकृतेः सालङ्कारं निरूपणं, नैसर्गिकं विश्लेषणं बाह्यप्राकृतिकदृश्यानां सजीवचित्रणं, गिरिनिर्झरसरितावन्यलताद्रुमकुसुमषड्ऋतुप्रभृतिवर्णनञ्च यादृशमत्र समपद्यत न तादृशमन्यत्र सुलभम्।

रामायणं हि नाम भारतीय परम्परायाः संस्कृतेश्च आमूलचूडमव्यभिचरितं चित्रम् अनिर्वचनीयमतीव चारुतया ग्रथ्नाति। अतएव काव्यमिदमतिमात्रं सर्वलोकप्रियतां गतम्। प्रायशः सर्वेऽपि संस्कृतमहाकवयो रामायणादेव तां कामपि कमनीयां कवित्वस्फूर्तिमविन्दन्त। रामायणगतोपाख्यानान्येवावलम्ब्य भूम्ना स्वीयानि रूपककाव्यानि तैर्निरमायिषत। सा किल कालिदासस्य कापि कमनीया कृतिः रघुवंशभिधं महाकाव्यं नामं रामायणीयैरेवोपमालङ्काररसोपवर्णनैरनुप्राणितमवलोक्यते। अतएव स्थान एव, केनाऽयुदङ्कितम् 'मधुमयभणितीना मार्गदर्शी महर्षि।'

वेदः वाल्मीकिरामायणञ्च

ब्र० सुदर्शनदेवार्य व्रती
प्रधानशिक्षकः
गुरुकुल आश्रम आमसेना (उड़ीसा)

वेदरामायणयोः वेदस्य गरीयस्त्वम्।

"गतानुगतिको लोकः" इति सूक्त्यनुसरणचरणाधानपरस्परया भरते विदेशे च वेदस्य नित्यत्वं स्वतःप्रमाणत्वं सर्वज्ञानमयत्वम् अजरामरकाव्यत्वं सर्वारसालंकारछन्दसां मूलत्वं सर्वविद्यामूलत्वं स्वीकुर्वद्भिरपि मानवीं प्रतिभां प्रोत्सिसाहयिषया प्राक्तनैर्विद्वद्भिः तपस्विना प्राचेतसादिनामविश्रुतेन महर्षिणा वाल्मीकिना यः काव्योन्मेषो लेभे सः ऐदम्प्राथम्येन परमोत्कृष्टः प्रोचे। वेदसम्मतत्वाच्च सुसत्यमिदं तथ्यम् किन्तु अधुनातनजनगणमनो विभेदं काव्यद्वयतुलनाप्रसंगे प्रायेण विद्वांसः प्रेक्षमाणाः अपि रामस्येश्वरत्वं स्वीकृत्य वेद प्रतिपाद्य ईश्वरः विस्मृतः एव। काकदन्तपरीक्षणधिया प्रयत्नोऽयं प्रष्टव्यः। महर्षि दयानन्दोट्टंकित सत्यार्थप्रकाशग्रन्थप्रमाणेन निरुक्तादिप्रमाणेन च वेदोक्तेश्वरस्य पुरुषोत्तमात् रामात् भिन्नत्वं साध्यते। वेदे रामायणोल्लिखित पुरुषस्त्रीनगरनदीपर्वतादिनामनि दृश्यन्ते चेदपि वेदे लौकिकेतिहासाभावः, तेषां वेदार्थप्रक्रियया वेदप्रतिपाद्यत्वम् ऊरीकर्त्तुमशक्यम् इति सारतया शोध पत्रांशतात्पर्यमवगन्तव्यम्।

रामायणे औपनिषदिकशिक्षा

रामरतन खण्डेलवाल
शोधछात्र-गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

आदिकविवाल्मीकिरच्चितं रामायणं नाम महाकाव्यं संस्कृतसाहित्यस्यादिकाव्यरूपेण अधिकांशानां च परवर्तीनां काव्यानामुपजीव्यकाव्यत्वेन विराजते इति कविभिर्बहुधोरिंकृतम्। मन्ये शिक्षायाः यथा चरितार्थता महाकाव्येऽस्मिन् प्रत्यक्षीभवति न तथान्यत्र। वस्तुतस्तु भौतिक तथाध्यात्मिकजीवनस्य निर्माणाय विभिन्नोत्तरदायित्वानो्ञ्च पूर्त्तये शिक्षायाः महत्यावशियकता भवत्येव।

वैदिकवाङ्मये शिक्षायाः स्वरूपमत्यन्तज्ञानपरकं, सुव्यवस्थितं सुनियोजितञ्चासीत्। तत्रवैदिकवाङ्मयेऽपि उपनिशत्साहित्यं वाङ्शिक्षया सर्वाधिकसन्निकटतामावहति। यतोहि उपनिशद् नाम गुरोः समीपे उपविश्याधिगतम् ज्ञानमेव। यदि उपनिषदः शिक्षायाः पर्यायवचिनः इति ब्रूमः चेन्नास्त्यत्रतिशयोक्तिरित मन्ये। एवमुपनिषद्रामायणौ शिक्षायाः आदर्शभूतौ स्तः। अतः षोधापत्रेऽस्मिन्मया रामायणे औपानिषदिकी शिक्षा इति विषयः स्वीकृतः।

रामायणे शिक्षाया: प्रक्रिया न तथा विस्तरेण दृग्गोचरि भवति यथा तस्या: व्यावहारिकोपयोग:। तत्र प्रतिपदमौपचारिकशिक्षैव परिलक्षिता भवति। तैत्तिरीयोपनिषदि वर्णितं शिक्षावल्लेरूपदेशमत्र पात्राणां जीवने सजीवमभूत्। ''मातृ देवो भव पितृ देवो भव'' इत्यादि वाक्यानामुपदेशं रामलक्ष्मणादिभि: समग्रजीवने विहितम्। आचार्याणां सम्मानं तावदासीद्यत् दशरथेन जनकेन वा वामदेव:, वसिष्ठादय: ऋषय: स्वराजसभायां स्वपरामर्शदातृरूपेण सभाजिता:। रामायणे जनकेन दशरथेन च सह सदैव उपाधयाया: अतिष्ठन्। ''आचार्यदेवो भव'' इति भावनयैव दशरथेन नयनाभिराम: कुमार रामोऽपि विश्वामित्रय दत्त:। तत्र विश्वामित्रेणाऽपि आचार्यकर्त्तव्यं पालयन् रामाय विविधाशस्त्रस्त्रणि दत्तानि।

शिक्षणविषयान् पश्यामश्चेत् मुण्डकोपनिशदि परापरेति द्वे विद्ये प्रतिपादिते। तत्र परा नाम यया तदक्षरमधिगम्यतं, अपरा च वेदवेदांगज्ञानरूपास्ति। रामायणे चत्वारोऽपि दशरथपुत्रा: वेदज्ञा: वर्णिता:-

''सर्वे वेदविद: शूरा सर्वे लोकहिते रता:।
सर्वे ज्ञानोपसम्पन्ना: सर्वे समुदिता: गुणै:।। (रामायण १.९.१५)

हनुमत: वैदुष्यं प्रशंसन् रामोऽब्रवीत्-

'' नानृग्वेदविनीतस्य ना यजुर्वेदधारिण:।
न सामवेदविदुष: शक्यमेवं प्रभाषितुम्।। (किष्कि.का. २.२८)

न केवलं रामादय: अपितु राक्षसा: अपि शिक्षिता: आसन। सीतान्वेशिंशणक्रमें शिंशपारूढ़ेन हनुमानेन ब्रह्मराक्षसां वेदध्वनि: श्रुता-

''षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजीनाम्।
शुश्राव ब्रह्मनिर्घोषां विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्।।

तैतिरीयोपनिषदि शिक्षाविषयें निगदितं यत्-

''अथ शीक्षां व्याख्यास्याम वर्ण:, स्वर:, मात्रा, बलं, साम, सन्तान, इत्युक्त: शीक्षाधयाय:। '' (२.२)

रामायणे हनुमत: वाण्यामेते गुणा: परिलक्ष्यन्ते। यथा ज्ञायते रामस्य वचनै: -

'' अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमद्रुतम्।
उर:स्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमे स्वरे।।
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्।।
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।

एवं रामयणे नैकस्थलेषु औपनिषदिकशिक्षाया: प्रभाव: परिलक्ष्यते। भवतु नाम रामादयो भ्रातर: गुरुकुलं गत्वा नाधीता: परं वशिष्ठविश्वामित्रादिगुरुणां समीपे उपविश्य तै: सकलशास्त्रणां ज्ञानमवाप्तम्। अत: वक्तुं पारयामो यत्ते औपनिषदिकशिक्षयैव शिक्षिता:।

अष्टांगयोगान्तर्गत यम-नियमों की अवधारणा (वाल्मीकि रामायण के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानवचेतना एवं योगविज्ञान-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय काव्यजगत् में महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत रामायण महाकाव्य को आदिकाव्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। तात्कालिक राज्य-व्यवस्था को आज आदर्श व्यवस्था मानकर 'रामराज्य' का उदाहरण दिया जाता है। ऐसी सुव्यवस्था जिस समाज में हो, वहाँ-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान आदि नियमों का वर्णन तो मुख्य रूप से होना ही चाहिए। उक्त यम-नियमों के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने पर मुझे नैतिक मूल्यों के आधार ग्रन्थ के रूप में वाल्मीकि रामायण प्रतीत हुई। अयोध्या राज्य को अग्निहोत्री, शम-दम आदि गुणों से सम्पन्न तथा छहों अंगों सहित वेदों के पारंगत विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण घेरे रहते थे। दानी और सत्याचरण करने वाले महात्माओं से अयोध्यापुरी भरी हुई थी-

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः।
सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभिर्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः॥

बाल. ५/२३

बालकाण्ड षष्ठ सर्ग में तो अयोध्या की उत्तमस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है-

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टाधनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥

बाल. ६/६

कि सभी मनुष्य प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभी, सत्यवादी तथा अपने धन से संतुष्ट रहने वाले थे। दूसरों के धन पर दृष्टि नहीं थी।

राजा दशरथ जितेन्द्रिय, सत्यवादी, दानी, बलवान आदि गुणों से युक्त थे (बाल. 6/3, 6/5)। प्रजा भी उनका अनुसरण करती थी। वहाँ अपवित्र अन्न खाने वाला, दान न देने वाला, मन को वश में न रखने वाला कोई नहीं था (बाल. 6/11)।

राज्याभिषेक से पूर्व राम ने स्नान करके पत्नी के साथ संध्या-वंदन किया (अयो0-6/1)। विमाता कैकेयी राम की प्रशंसा करते हुए कहती हैं कि राम धर्मज्ञ, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और शुचि हैं। अतः वही युवराज होने के योग्य हैं (अयो0 - 8/14)। इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

ऋषि की लेखनी में प्रस्तुत यह महाकाव्य समस्त दैवी-गुणों की सम्पत्ति से संजोकर मानवता के उद्धार के लिए कृतसंकल्प है। ऋषि ने वनवासियों तथा पुरवासियों के माध्यम से ऐसे रत्नों को प्रस्तुत किया है। इस शोध पत्र में उक्त नियमों के संदभों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

रामायण में प्रतिपादित जीवनमूल्यों का वैदिक आधार

डॉ. भीम सिंह
प्रोफेसर संस्कृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

वाल्मीकि रामायण की दृष्टि में वेदों का सबसे अधिक धार्मिक महत्त्व है। रामायण का प्रत्येक कार्य वैदिक भावना से अनुप्राणित दृष्टिगोचर होता है। रामायण का उद्देश्य ही वैदिक संस्कृति को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है अथवा वैदिक विचारों का उपबृंहण ही रामायण है। रामायण में 'यथाविधि' तथा 'यथाशास्त्रम्' जैसे शब्दों के बार-बार प्रयोग से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। वाल्मीकि के अनुसार अयोध्या में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो आहिताग्नि न हो, स्वाध्यायशील न हो तथा धर्मात्मा एवं सत्यवादी न हो। 'मनुर्भव' इस वैदिक शिक्षा पर रामायण में पर्याप्त बल दिया गया है। जैसे वेद नैतिकता या जीवनमूल्यों के आदर्श ग्रंथ है वैसे ही रामायण में भी इन शाश्वत जीवनमूल्यों को बड़ा महत्त्व दिया गया है। वास्तव में रामायण के अनुसार इस सारे संसार का सार सत्यापरपर्याय धर्म है और वह धर्म, मनुस्मृति के अनुसार, साक्षात् या स्वयं वेद है तथा राम साक्षात् विग्रहवान् धर्म हैं। क्योंकि वेद जिस प्रकार के आदर्श समाज की रचना करने का संकेत देते हैं, आज की भाषा में वह 'रामराज्य' ही है जहाँ बाघ और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं। इस 'रामराज्य' के लिए ही राम धर्माचरण में तत्पर थे, किसी अन्य प्रलोभन वश नहीं।

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्॥

ऐसे ही राज्य को पाणिनि ने 'राजन्वान्' कहा है। वास्तव में रामायण तो उस वैदिक सांस्कृतिक एकात्मता की वाहिका है जहाँ नानाधर्म वाले और विभिन्न भाषा भाषी वाले लोगों के भी इस धरती पर समान भाव से रहने की कामना की गई है। क्योंकि रामायण की दृष्टि खण्डदृष्टि न होकर अखण्डदृष्टि है। वेदोक्त आत्मभाव का विस्तार रामायण में यहां तक हुआ है कि यहां तो पशु-पक्षियों में भी आत्म-भाव को अनुभव किया गया है। वेदों में प्रतिपादित 'पुनर्मघ' शब्द की ही ध्वनि "**रामो द्विर्नाभिभाषते**" में देखी जाती है। वास्तव में रामायणकालिक समाज '**ब्रह्मघोषनिनादित** था।'

वाल्मीकीय रामायण में वैदिक आख्यान

डॉ. ज्वलन्त कुमार शास्त्री
अध्यक्ष - संस्कृत-विभाग
रणवीर रणञ्जय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमेठी

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में अधोलिखित वैदिक आख्यान उपलब्ध होते हैं- (1) शुनः शेप आख्यान (2) पुरुरवा-उर्वशी आख्यान (3) अगस्त्य-लोपामुद्रा आख्यान (4) इन्द्र-अहल्या-गौतम आख्यान (5) बलि-वामन आख्यान।। वाल्मीकीय रामायण में इसके अतिरिक्त अन्य आख्यान भी हैं जो वैदिक नहीं हैं, यथा- (1) समुद्र-मन्थन आख्यान (2) भगीरथ-गङ्ग आख्यान (3) परशुराम-(जामदग्न्य) आख्यान (4) त्रिशङ्कु-आख्यान (5) श्रवण कुमार-आख्यान।

वेद-मन्त्रों में संकेतित आख्यान को कथा का रूप देते हुए ऐतिहासिक पुट देकर विशद रीति से विवृत करने का कार्य वेदोत्तर साहित्य करते हैं। वाल्मीकीय रामायण में भी वैदिक-आख्यानों का यही स्वरूप दिया गया है। कहा गया है-''**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति-आख्यान-संयुक्ता**'' (निरूक्त)। दूसी मान्यता को महाभारत-पुराणकार, अपनी शैली में- **'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** कहकर परिपुष्ट करते हैं। ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण से भिन्न वाल्मीकीय रामायण में **'शनुः शेप आख्यान'** में इतनी मौलिक भिन्नता है कि प्रतीत होता है जैसे उसका स्रोत ही भिन्न है। वाल्मीकीय रामायण में पुरुरवा-उर्वशी आख्यान विस्तृत रूप में नहीं मिलता। तथापि, एक स्थल पर इसका सङ्केत अवश्य प्राप्त होता है- ''रावण सीता से कहता है कि ''यदि तुम मुझे पति रूप में स्वीकार नहीं करोगी तो बाद में उसी प्रकार पछताओगी, जिस प्रकार पुरुरवा को ठुकराकर उर्वशी पछताई थी। इसके अतिरिक्त ''**मित्रावरूण की कथा**'' भी मिलती है, जिसमें पुरुरवा और उर्वशी का पति-पत्नी के रूप में चित्रण मिलता है। रामायण में अगस्त्य कुल के कई अगस्त्यों का वर्णन है, किन्तु लोपामुद्रा का वर्णन नहीं मिलता। वेदों में वर्णित इन्द्र-अहल्या का प्राकृतिक स्वरूप (इन्द्र =सूर्य, अहल्या=रात्रि, गौतम=चन्द्रमा) वाल्मीकीय रामायण तक आते-आते इन्द्र-अहल्या की जार-कथा के रूप में परिवर्त्तित हो गया। यह कथा रामायण में दो स्थलों (बाल काण्ड तथा उत्तर काण्ड) पर आई है। किन्तु दोनों में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। 'वामन-बलि आख्यान' वेद-पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में सर्वत्र दृग्गोचर होता है, किन्तु कथा का विस्तृत रूप सर्वप्रथम वाल्मीकीय रामायण में ही प्राप्त होता है।

रामायण में वैदिक संस्कृति की परम्परा

आचार्य देवांशु कुमार सिंह ''शास्त्री''
शोध-छात्र, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (भोजपुर)

महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य माना जाता है। इसमें वैदिक संस्कृति की परम्परा पर्याप्त रूप में वर्णित हुई है तभी तो रामायण के प्रधान पात्र मर्यादापुरुष श्री राम ने अपने जीवन में वैदिक मर्यादाओं की रक्षा की है। उनके द्वारा ब्रह्म यज्ञ, देवयज्ञ एवं अश्वमेध यज्ञ आदि बहुवृहद् यज्ञ किये गए हैं। रामायण सात काण्डों में विभाजित है जिनमें लगभग सभी काण्ड

वैदिक भावनाओं एवं परम्पराओं से उत्प्रेरित हैं। वैदिक परम्परा में राजा, प्रजा, पुत्र, माता, पत्नी-पति, सेवक आदि सम्बन्धों का एक आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। स्वयं श्रीराम का चरित्र एक आदर्श महापुरुष के रूप में है जो सत्यवादी, दृढ़संकल्पी, परोपकारी, चरित्रवान्, विद्वान्, शक्तिशाली, सुन्दर, प्रजापालक तथा धीर पुरुष हैं। वेदों का भ्रातृत्व प्रेम रामायण के श्रीराम में कूट-कूट कर भरा है। तभी तो वहाँ वर्णित-देशे-देशे कलत्राणि देशे च बान्धवा:। तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर:॥ निश्चितरूपेण वेद का मंत्र **''मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्''** अर्थात्- **''भाई से भाई द्वेष न करे''** की शिक्षा रामायण में शत-प्रतिशत घटित हुई है।

इस प्रकार रामायण हमारी वैदिक संस्कृति का पोषक ग्रन्थ है। एतदर्थ संक्षेप में शोध-निबन्ध का सारांश प्रस्तुत है।

वाल्मीकि रामायण में मूल्यबोध

डॉ. मनुदेव बन्धु
प्रोफेसर, वेदविभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

लौकिक साहित्य का प्रथम महाकाव्य वाल्मीकि रामायण वेदों की तरह मूल्यों से ओतप्रोत है। वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को रामायण का नायक बनाकर वेदों में वर्णित सम्पूर्ण मूल्यों की स्थापना की है। परमतपस्वी वाल्मीकि ने तप: स्वाध्याय निरत वेदार्थज्ञ शिरोमणि, मुनिपुङ्गव नारद से वेदान्त प्रतिपादित परमतत्त्व के निर्धारण की इच्छा से अनेक प्रश्न पूछे कि कौन इन दिनों गुणवान् वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ, चरित्रवान्, सर्वभूतहितैषी, विद्वान्, समर्थ, नित्यप्रियदर्शन, आत्मवान्, जितक्रोध, धृतिमान्, अनसूयक है; जिससे युद्ध में देवता लोग भी भय खाते हैं।

रामायण के प्रथम श्लोक में वाल्मीकि ने नारद के सम्बन्ध में जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, वे इस बात के द्योतक हैं कि नारद बहुज्ञ हैं यथार्थदर्शी हैं, यथार्थवादी हैं और परम आप्त हैं। ऐसे नारद ने सुविचार कर इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राम को इन दुर्लभ षोडश गुणों से सम्पन्न बतलाया।

वाल्मीकि के राम परममूल्य हैं और यही है मूल्यबोध के प्रसङ्ग में उनका अमूल्य अवदान। समग्र रामायण वाल्मीकि की षडङ्ग समृद्धि की मणिमञ्जुषा हैं, जहाँ विविध अमूल्यमूल्य संजोये गये हैं। तप और स्वाध्याय का अमित महत्त्व बालकाण्ड का विषय है। सत्य ही ईश्वर है-यह अयोध्या काण्ड में प्रतिपादित है। इसी सत्य के अनुशीलता से मानव-राम देवत्व को उपलब्ध हैं। श्रम और शक्ति से सत्पात्रता की प्राप्ति होती है-यह अरण्यकाण्ड का निष्कर्ष है। अनुराग और मैत्री लक्ष्यसिद्धि में सहायक हैं-यह तथ्य किष्किन्धा काण्ड का प्रतिपाद्य है। गवेषणा और परिमार्गण सत्य की उपलब्धि के लिए अपरिहार्य है, यह बात सुन्दरकाण्ड हमें बतलाता है। राम-रावण युद्ध के व्यास से शुभ और अशुभ, सत् एवम् असत् आदि द्वन्द्वों का सतत संघर्ष और अन्तत: शुभ और सत् की विजय का ज्ञान हमें युद्धकाण्ड कराता है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित आख्यानों का मूल स्रोत एवं उनके वैदिक व व्यावहारिक प्रतीक

महोपाध्याय डॉ. रूपजी शास्त्री
अध्यक्ष- वेद-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

यदि तात्विक दृष्टि से विश्लेषण करें तो पायेंगे कि वस्तुतः वैदिक सिद्धान्तों के मूल तत्वों का सजीव चित्रण रामायण परम्परा करती दिखाई देती है, ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक मनीषा के तानों पर रामायण परम्परा झङ्कृत होकर मानवीय मूल्यों के सर्वोत्कृष्ट एवं उदात्ततम प्रतिमानों की मधुर स्वरलहरियाँ सुकोमल भावाभिव्यक्ति कर रहीं हैं। यह ऐतिहासिक रामायण महाकाव्य मात्र एक साहित्यिक व ऐतिहासिक धरोहर ही नहीं है, अपितु वेदों के गूढ़ एवं पराविद्यात्मक रहस्यों तथा आर्षज्ञान की सुन्दर प्रस्तुति का अनुपम शास्त्र है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि यह शास्त्रमात्र तत्कालीन ऐतिह्य वृत्तों को अतिमनोहर दृश्यावली तथा परिदृश्य में प्रस्तुत करता है, ऐसा समझना रामायण एवं रामायण परम्परा के साथ सर्वथा अन्याय होगा। वस्तुतः यह तो वैदिक सिद्धान्त, ज्ञान-विज्ञान, आध्यात्मिक व मानवीय मूल्यों का संवाहक तथा अक्षय सागर है, जिसका आलोडन विलोडन, मन्थन एवं निमज्जन करके मानवीय मूलतत्वात्मक अमृत को प्राप्त किया जा सकता है। आदिकाल से जस्त्र प्रवाहित वैदिक परम्परा का पर्याप्त कालान्तराल में चित्रणात्मक विकसित स्वरूप निश्चय ही रामायण परम्परा है। यही रामायण परम्परा किसी न किसी रूप में वैदिक परम्परा का प्रगाढ़ प्रतिनिधित्व कर रही है। यह रामायण परम्परा मानों वैदिक ऋचाओं का सचित्र भाष्य या व्याख्या करती दिखायी देती है।

वेदों की व्याख्या शैली में आख्यानों का अप्रतिम योगदान माना गया है, जिनका प्रचुर प्रयोग ऐतरेय, कौषीतकि, शतपथ, तैत्तिरीय, जैमिनीय, जैमिनीयोपनिषद्, जैमिनीयार्षेय, आर्षेय, वंश, संहितोपनिषद्, देवताध्याय, ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, छन्दोग्य एवं गोपथ इत्यादि ब्राह्मणों एवं पुराणों में पदे पदे दृष्टव्य है। इस परम्परा एवं आख्यानों के समुचित सन्दर्भ रामायण परम्परा में यथावत् अथवा कहीं-कहीं किञ्चित् परिवर्तित स्वरूप में अवलोकित हैं। उक्त ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी कतिपय प्रचलित ऐतिहासिक पदों का प्रयोग होता है, उनके उल्लेख में प्रत्यक्षः संबन्ध नाराशंस्य से जोड़ जाता है, इन्हें ही आख्यान, च्यवन-सुकन्या आख्यान, बलि-वामनावतार आख्यान, इन्द्र-दधीचि आख्यान, पुरुरवा-उर्वशी आख्यान, सरमा-परवा आख्यान, अगस्त्य-लोपामुद्रा आख्यान यम-यमी आख्यान, इन्द्र-अहल्या आख्यान, मनु-मत्स्य आख्यानन, सूर्य-चन्द्र और राहु-केतु आदि आख्यान। इन सभी आख्यानों एवं पदों का उल्लेख यथा प्रसङ्ग समान रूप से प्राप्त होता है। इन आख्यानों का मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं में व्यवहार्य एवं औचित्य निहित है, यद्यपि आख्यानों का मनभावन व ऐतिहासिक स्वरूप अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु उनमें आध्यात्मिक तथा दार्शनिक रहस्यों की गुत्थियाँ ग्रथित रहती हैं। उनके प्रतीकों की व्याख्याएं जब वैदिक और व्याकरणगत यौगिक पद्धति की निकष पर कसी जाती हैं तो उन रहस्यों की निगूढ गुत्थियाँ उद्घाटित होकर मानव कल्याणकर वन जाती है।

वाल्मीकीय रामायणः दो दार्शनिक दृष्टिकोणों के मध्य संघर्ष पर आधारित महाकाव्य

डा० सोहनपाल सिंह आर्य
दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत भाषा 'देव वाणी' के आदिकवि हैं। उनके द्वारा सृजित रामायण नामक महाकाव्य इति वृत्तएवं कविकल्पना का ऐसा अद्‌भुत सामंजस्य है जिसके पठन-पाठन, एवं श्रवण से दिव्य रसानन्द की सद्य प्राप्ति होती है। इस महाकाव्य ने विश्व के प्रमुख मत-पन्थों एवं भाषाओं पर ऐसा गहरा, अमिट तथा व्यापक प्रभाव छोड़ा है कि रामायण आर्य जाति के साथ-साथ मानवता की भी महान् धरोधर हो गयी है। और इस महाकाव्य के नायक श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में जग विख्यात हो चुके हैं। उनके द्वारा स्थापित मर्यादा एवं जीवन मूल्य जन-जन में प्रेम, प्रेरणा सम्मान एवं आस्था जागृत करने का प्रबल प्रवाह तथा स्रोत वन गये हैं। वस्तुतः आर्यों के लिए तो श्रीराम का जीवन धर्म की साक्षात् परिभाषा है।

महाकवि इस कालजयी रचना के माध्यम से उसी भूमा-सुख की अनुभूति कराने में समर्थ है, जिसके लिये योगी, तपस्वी साधक अहर्निश योग-साधना में निमग्न पाये जाते हैं। इस आदिकाव्य से निःसृत रसधाराओं में एक बार स्नान करने से व्यक्ति के समस्त तमस् कलुष आदि धुल जाते हैं। बस केवल एक बार इसका रसपान करने वाला साहित्य-रसिक राम एवं रामायण ही होकर रह जाता है।

परन्तु इस महाकाव्य का प्राण तो दर्शन है। और सनातन वैदिक दर्शन-जिसकी नाना भित्तियों के ऊपर आदि-कवि अपने अमर महाकाव्य का विशाल प्रासाद निर्मित करते हैं। रामायण के समस्त अस्थि-पंजर एवं नस नाड़ियों में वैदिक दर्शन का प्राण स्पन्दित होता है। इसी वैदिक दर्शन के जीवन्त, साक्षात् रूप मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम है। जो जीवन के प्रत्येक कठिन से कठिन परिस्थिति में भी सामने उपस्थित चुनौतियों को न केवल तत्काल स्वीकार कर लेते हैं अपितु उनका वैदिकादर्शोचित समाधान भी अपने अनूठे तप, त्याग एवं साधन के जरिये प्रस्तुत कर देते हैं। और कोई भी प्रवृत्ति विरोधी दृष्टि एवं शक्ति मर्यादा पुरुषोत्तम के प्रभामण्डल के सम्मुख निस्तेज प्रतीत होती है।

यह सुविदित वास्तविकता भी है कि जब-जब वैदिक आदर्शों से कोई विरोधी दार्शनिक प्रवृत्ति एवं शाब्दी टकराई तब-तब वैदिक आदर्श एवं जीवन दर्शन के विकास एवं संघर्ष की एक नयी जीवन गाथा ही मानव जाति के सम्मुख प्रस्तुत हो गयी नये सुरताल एवं भाव भंगिमा के साथ परन्तु वैदिक संस्कृति के प्राण और अधिक प्रबलता के साथ स्पन्दित हो गये। आदि कवि का यह अमर महाकाव्य इसी दार्शनिक संघर्ष की पृष्ठ भूमि को विस्तृत काव्य योजना के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है जिसके महानायक श्रीराम न केवल वैदिक आदर्शो को स्व जीवन में चरितार्थ करने वाले सच्चे कर्म योगी हैं- आर्यवर हैं अपितु वृहत्तर समाज एवं राष्ट्र में भी उन आदर्शों को चुनौती

देने वाली तत्कालीन आसुरी शाब्दियों के प्रबल नियामक, अग्रगन्ता महानायक भी हैं। फिर चाहे ऋषि विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करने वाले वह आसुरी गठ बन्धन हों अथवा पर पुरुष पर अपने काम बाणों की वर्षा करने वाली सूर्पनखा और उसके रक्षक भ्राता खर व दूषण हों। अथवा कपि नेरश सुग्रीव को पद एवं पत्नी से वंचित कर देने वाला उसका अनुज वाली ही क्यों न हो या फिर स्व पत्नी सीता का हरण करने वाला मुख्य दोषी, राक्षस राज, आसुरी प्रवृत्ति एवं संस्कृति का पोषक एवं संवाहक रावण और उनके सभी सहायक-सगे सम्बन्धी, सेनापति आदि क्यों न हो-उन सभी को न्यायोचित दण्ड देकर वैदिक आदर्शों की स्थापना करने वाले श्री राम का जीवन हर कोण से प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय एवं विवेचनीय है तभी वाल्मीकीय रामायण में वर्णित दार्शनिक चितन के संघर्ष एवं मूल्य को भलीभांति समझा जा सकेगा। किन्तु के साथ-साथ उनके प्रमुख विरोधी पात्रों के कार्य कलापों एवं विचारों का उल्लेख एवं मूल्यांकन करना भी प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रासंगिक है।

श्री वाल्मीकीय रामायण में नीतितत्त्व

डा. बबीता शर्मा
दर्शन विभाग
प्रवाचिका-कन्या महाविद्यालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

संस्कृत वाङ्मय के आदिकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीय रामायण महाकाव्य को यदि विश्व का प्रथम नीतिग्रन्थ कहा जाये तो यह इसका सार्थक मूल्यांकन होगा। इसमें प्रतिपादित नीतिवचन तथा आचारतत्त्व सार्वभौम सार्वकालिक तथा सर्वजनसेवनीय हैं। इनके सेवन से समाज का प्रत्येक वर्ग पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति करके निज जीवन को कृतकृत्य बना सकता है। वाल्मीकीय रामायण के पात्र राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथ, विश्वामित्र, जनक, हनुमान्, रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण, मेघनाथ, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवन्त, मन्थरा, शूर्पणखा, निषादराज केवट आदि का चरित्र समाज के प्राय: प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से अपने लिए समुचित नीति और आचरण का चयन करके जीवन को सफल बना सकता है। स्वामी हो या सेवक, राजा हो या प्रजा, पुत्र और पिता, पति-पत्नी, शत्रु-मित्र, विद्वान् और साधारण सभी प्रकार के मनुष्यों के लिए इसमें उचित सन्देश और कल्याणकारी नीतिवचन निहित हैं। केवल सामाजिक सदाचार ही नहीं अपितु आध्यात्मिक नीति, दार्शनिक नीति, धार्मिक नीति तथा राजनीति के भी ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं जिनसे इस ग्रन्थ की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती हैं। कतिपय नीतिवचनों की सारगर्भिता द्रष्टव्य है।

वैदिक मूल्यों के व्याख्याता: आदि महाकाव्य

महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

भारत-भूमि को गर्व है कि उसके यहाँ ऐसे-ऐसे महापुरुषों, महात्माओं, ऋषियों, मुनियों, प्रजावत्सल व प्रजापालक राजाओं, भक्तों व वीरवरों ने जन्म लेकर उसे अलंकृत किया तथा अपने असीम, भव्य व दिव्य गुणों से व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र को दिशा-निर्देश दिए। जिनका वर्चस्व आज भी सारा विश्व मानता है और उनके दिव्य चरित के आगे नतमस्तक होता है। कम्बोडिया के अंकोरवाट व अंकोरथोम नाम के मन्दिरों के ध्वंसावशेष आज भी रामायण और महाभारत की कथा कह रहे हैं।

हमारा यह मानना है कि इस भारत-भूमि ने जहाँ अनेकों सात्विक या धार्मिक वृत्ति के लोगों को जन्म दिया वहीं तामसी वृत्ति से सारे दिव्य-शासन को या दिव्य भावनाओं या सत्यसनातन मान्यताओं को हिला देने वाले रजोगुणी व तामसीवृत्ति के तप-सिद्ध व्यक्तियों को भी आश्रय दिया।

किन्तु भारतीय विचारधारा ने कभी भी बुराई का, असत्य का या कायरता का साथ न देकर सदा-सर्वदा सच्चाई, अच्छाई और वीरता का ही साथ दिया है। उसी के गुण गाये हैं और इन्हीं जीवन को अमृत बनाने वाले वैदिक मूल्यों की व्याख्याता रही है आदि कवि महर्षि वाल्मीकि की रामायण तथा वेदान्तवेत्ता वेदव्यास की 'महाभारत कथा'।

इस माटी के तीन महान् चरित नायक हैं। जो इस राष्ट्र के जीवन में रचे-बसे हैं तथा इसके संस्कारों में, इसके त्यौहारों में एवं इसके मूल में खड़े होकर प्रेरणा दे रहे हैं। वे तीन महान् चरित नायक या महापुरुष है- महादेव शिव, योगिराज श्रीकृष्ण चन्द्र व मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र। ये तीनों ही तपस्वी, योगी, विद्वान्, वेदवेत्ता, अन्याय विध्वंसक, धर्मरक्षक तथा महान् प्रजानुरागी व प्रजावत्सल हैं।

आखिर आदि कवि के इस अमर काव्य की परम विशेषता क्या है? जो यह इतने झंझावात सहकर भी अमर है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है, इसका वेद सम्मित होना। वेद में कहा गया है- 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' बालकाण्ड के ९८ वे श्लोक में आदिकवि लिखते हैं-

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
यःपठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

रामायण के माहात्म्य में कहा है कि **'रामायणमादि काव्यं सर्ववेदार्थ सम्मतम्**।।6।। अन्यत्र भी कहा - **रामायण महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम्।।**

इस रामायण की प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित करते हुए बालकाण्ड में अन्यत्र कहा है कि जो दोष दृष्टि का परित्याग कर इस रामायण का श्रवण व पठन करता है उसे चारों पुरुषार्थों की अर्थात् धर्मअर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि प्राप्त होती है, यथा-

धर्मकामार्थ सहितं श्रोतव्यमनसूयता।। बा.का.१/४।

वाल्मीकि रामायण ही नहीं अपितु जब हम वेदव्यास जी के महाभारत रूपी विशाल काव्य' पर दृष्टि डालते हैं तो वहाँ भी हमें (प्रक्षेप को छोड़कर) यही मिलता है कि-

"इदं हि वेद सम्मितं पवित्रमपि चोत्तमम्॥"

आदिपर्व 62।16।स्वर्गा. 5।67

इस प्रकार जहाँ वाल्मीकि जी को वेद विरुद्ध बात अभिप्रेत नहीं है वहीं वेदान्तवेत्ता वेद व्यास जी को भी वेद विरुद्ध बात मान्य नहीं है। वैसे प्रक्षेपों और अण्ड-बण्ड-पाखण्डों की भरमार होने पर भी हमारे पुराणादि ग्रन्थ भी वेदों की मान्यता या महिमा को कभी नकार नहीं सके हैं। अतः जिन महान् वंशों का वर्णन (दशरथ व जनक) महर्षि वाल्मीकि ने किया है उस वंश के राजा एक से एक बढ़कर वेदानुगामी, परमतपस्वी, धर्मात्मा, विद्वान्, इन्द्रिय विजयी, प्रजावत्सल तथा प्रजापालक थे। अथर्ववेद के भूमिसूक्त के प्रथम मन्त्र में राष्ट्रोन्नति के जिन मूल सात तत्वों का वर्णन हुआ है। यथा-

'सत्यं बृहत् ऋतं उग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।'

अर्थात् सत्य, महान्, ऋत उग्रता (क्षत्रशक्ति), दीक्षा, तप, ब्रह्मशक्ति और यज्ञ इन सातों तत्वों का महर्षि वाल्मीकि ने अपने काव्य में यथास्थान व यथोचित वर्णन किया है। इसे हम पग-पग पर देख सकते हैं।

आइये, अब हम महाराज दशरथ-जिस विख्यात पुरी अर्थात् अयोध्या नगरी का शासन करते थे, वह कैसी थी? वहाँ के भवन, व वहाँ के निवासी कैसे थे, किस आचार-विचार-व्यवहार के थे। इस पर भी दृष्टिपात कर लें।

महाराज दशरथ की अयोध्या नाम की जो पुरी थी, वह तो स्वयं मनु महाराज ने बनवाई थी और वह साक्षात् अमरावती के समान थी। वहाँ उस उत्तम नगरी में निवास करने वाले सभी मनुष्य प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभी, सत्यवादी तथा अपने-अपने धन से सन्तुष्ट रहने वाले थे। उस नगरी में कोई भी कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक मनुष्य देखने को नहीं मिलता था। वाल्मीकि की वाणी में पढिए....................

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मनो बहुश्रुताः।
नरास्तु धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥

बा.का.६/६

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषक्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥

६/८

तामग्निभद्धिर्गुणवद्धिरावृतां द्विजोत्तमैवेदषडङ्गपारगैः।
सहस्रदैः सत्यरतैः महात्मभिर्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्चकेवलैः॥

बा.का.५/२३

नाषडंगविदत्रास्ति नाव्रतो ना सहस्त्रदः॥

६/१५

इस प्रकार उस पुरी में रहने वाले पुरजनों का चरित्र महान् था। वेदानुमोदित था। यही नहीं उस पुरी को-अग्निहोत्री, शम-दम आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न तथा छहों अंगों सहित सम्पूर्ण वेदों में पारंगत विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण घेरे रहते थे। वे सहस्रों का दान करने वाले और सत्य में तत्पर रहने वाले थे। ऐसे महर्षि महात्माओं तथा ऋषियों से अयोध्यानगरी सुशोभित थी तथा राजा दशरथ उसकी रक्षा करते थे।

अब देखें कि-ऐसी विख्यात पुरी का शासन करने वाला राजा कैसा था? उसके क्रिया-कलाप कैसे थे? आदि कवि की वाणी में पढ़िए....................

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।।

बा.का. ६/१

इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरोवशी।
महर्षि कल्पोराजर्षिस्त्रिषु लोकेषुविश्रुतः।।

बा.का. ६/२

बलवान् निहितामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः।।

बा.रा. ६/३

यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथोराजा लोकस्य परिरक्षिता।।

बा.रा. ६/४

अर्थात् उस अयोध्या पुरी में रहकर राजा दशरथ प्रजावर्ग का पालन करते थे। वे वेदों के विद्वान् तथा सभी उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करने वाले थे। दूरदर्शी और महान् तेजस्वी थे। नगर और जनपद की प्रजा उनसे बहुत प्रेम करती थी। वे इक्ष्वाकु वंश के अतिरथी (हजारों से युद्ध करने में अकेला जो समर्थ है), यज्ञ करने वाले, धर्म परायण और जितेन्द्रिय थे। महर्षियों के समान दिव्यगुण सम्पन्न राजर्षि थे। उनकी तीनों लोकों में ख्याति थी।

इस प्रकार राजा दशरथ जहाँ वेदोक्त धर्म का पालन कर प्रजापालन व प्रजानुरञ्जन करते थे वहाँ उनके मन्त्रिमण्डल के मन्त्री भी, वेदादि शास्त्रों में बताये गए गुणों से विभूषित आठमन्त्री थे। यथा-

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोः सुमहान्मनः।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः।।

बा.का. ७/१

अष्टौ वभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः।।

बा.का. ७/२

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्।।

बा.का. ७/३

यह है आदि कवि के कथन की बानगी। **'काव्यबीजं सनातनम्'** समस्त काव्यों के बीज इस रामायण का आद्योपान्त अध्ययन करने से यही तथ्य उजागर होता है कि जिस राष्ट्र के राष्ट्राध्यक्ष वेदानुमोदित जीवन-यापन करने वाले, धर्मात्मा, प्रजापालक, ईश्वर भक्त, क्षत्रिय होगे तथा जिस राष्ट्र में माता-पिता-आचार्य और अतिथि तथा त्यागी-तपस्वी-विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार (ब्रह्मचक्षत्रं च) होगा। जहाँ त्याग-दान व तप की त्रिवेणी अजस्र रूप में बहेगी और जहाँ नित्य प्रभु का स्मरण होकर

सन्ध्या व हवन द्वारा पवित्र व सुगन्धित हवा फैलेगी वहाँ विषैले भाव और प्रदूषण व सूनामी जैसी आपदायें दूर होकर एक महान् और स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण होगा।

अन्त में हम निबन्ध के हृदय को संकुचित करते हुए यही कह सकते हैं कि-

रामायण महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम्।। बा.का. १९

तथा ब्रह्मा जी के इस आशीर्वचन को हम इस कामना के साथ उद्धृत करते हैं कि-

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।

अर्थात्

जब तक संसार में सभी पर्वत और नदियाँ विद्यमान रहेंगी तब तक तुम्हारी राम कथा का प्रचार होगा।

वेद और रामायण

डा० कुञ्जदेव मनीषी
उपाचार्य
गुरुकुल आश्रम आमसेना (उड़ीसा)

विश्व के ग्रान्थिक इतिहास में वेदों का सर्वप्रथमत्व सर्वलोक विदित है। वेद मानव जीवन को सार्वत्रिक विकास का अनुदान देता है। मानव मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्ति वेदों की प्रखर-आभा से सक्रिय होती है। वैदिक ज्ञानधारा से विश्व मन स्नात है। वेदों की अनुपम वाणी मानव की वाणी के सर्वथा अनुकूल है।

सर्वज्ञ परमात्मा ही वेदों का वक्ता हैं। इसलिए बृहदारण्यकोपनिषद् में- **अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं वेदाः** यह वचन स्मर्तव्य है। और पुरुष सूक्त में- **तत्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे...............**। यह मन्त्र वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से हुई इस बात का साधक है।

वेद ईश्वरीय हैं, अपौरुषेय हैं, नित्य हैं, स्वतः प्रमाण हैं। लौकिकेतिहास रहित हैं।

महर्षि वाल्मीकि के शोकसम्भूत श्लोकसृष्ट रामायण रघुवंश का बृहदितिहास भी है और सर्वलोकवन्दनीय मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सर्वांगीण जीवन चरित भी है। वस्तुतः रामायण में प्रयुक्त वचन ही सूत्रसंकेत हैं।

रामकथा के इच्छुक आस्थावान् भारत में बहुत हैं। तो विदेशों में भी कम नहीं हैं। लाखों वर्षों से श्रूयमाण, पठ्यमान, चिन्त्यमान, प्रोच्यमान, समृध्यमान रामायण और वेद आपस में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं? और उनकी यथार्थता क्या है? इस विषय पर आगे हम कुछ सप्रमाण शोध -पत्र में लिखेगे। परन्तु यह सत्य है कि वेद सिद्धान्त है और रामायण में उसके रक्षा और व्यवहार का चित्रण है। राम को वेदों ने, वेदोक्त ज्ञान ने, वेदों के सिद्धान्त ने, मर्यादापुरुषोत्तम बनाया।

रामायण में ध्वनि-तत्त्व

डॉ० अर्चना कुमारी दुबे
प्रवक्ता-संस्कृत
रवीन्द्र निवास, 8 वनस्थली विद्यापीठ
राजस्थान-304022

रामायण भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यह सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में ग्रथित करने, समग्र सृष्टि के प्रति सौहार्द्र की प्रेरणा देने तथा जनमानस में समाहित पारलौकिक एवं लोक-व्यवहार को समुचित बनाने में सहायक है। यह उदात्त काव्यशिल्प में ग्रथित आदि महाकाव्य है। रामायण के प्रसङ्ग एवं वर्णन हमारी चेतना में बस गये हैं इसका मुख्य कारण वाल्मीकि के शब्दों की ध्वन्यात्मकता है। रामायण में पग-पग पर ध्वनि-तत्त्व की प्रधानता देखने को मिलती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या करते हुए कहा है कि जहाँ अर्थ अपने आपको तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि काव्य कहा है।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥[१]

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥[२]

निःश्वास से अन्धे बने दर्पण के समान (इस हेमन्त ऋतु में) चन्द्रमा चमक नहीं पाता। आनन्दवर्धन के अनुसार यहाँ अंध शब्द में अर्थान्तर-संक्रमित-अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। दर्पण अन्धा नहीं हो सकता, अतः अन्ध-शब्द दर्पण के अर्थ में बाधित होकर अतिशय धूमिल या धुंधलेपन की अधिकता को व्यंजित करता है। इस पद्य की ध्वन्यात्मकता और भी गूढ़ एवं चमत्कारजनक है। सूर्य में अपना सौभाग्य संक्रान्त कर चुके तुषार से घिरे चन्द्रमा का यहाँ चित्रोपन वर्णन है, पर यह विरही राम की उक्ति है, और पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए यहाँ सौभाग्य का संक्रमण, चन्द्रमण्डल का तुषार से घिर जाना, निःश्वास से अन्धा हो चुका दर्पण ये सब वक्ता का संशय तथा मोह से आच्छन्न मनोदशा को व्यंजित करते हैं। आदर्श शब्द का दर्पण अर्थ में प्रयोग अपने आप में साभिप्राय है। निःश्वासों से अंधे हो चुके दर्पण में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब साफ़-साफ दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही दुःख के अतिरेक, सौभाग्य के संक्रमण तथा इतिकर्त्तव्यता का निर्धारण न कर पाने के कारण जीवन का आदर्श वरेण्य मार्ग धुंला हो गया है। राम सीता की स्थिति तथा उसके अन्वेषण के उपाय के विषय में एकदम अन्धकार में हैं, अतः कवि ने उनकी बिखरी हुई मन स्थिति को प्रकट करने के लिए उसी के अनुरूप व्यङ्ग्यगर्भ पदावली का सटीक प्रयोग किया है।

कविता में ध्वनितत्त्व की असीम सामर्थ्य तथा उसके प्रसार की गहराई को अनन्त सम्भावनाओं के साथ वाल्मीकि दिखला सके हैं। रामायण में पग-पग पर ध्वनि-तत्त्व दृष्टिगोचर होता

है। शब्दों की ध्वन्यात्मकता से ही मानो रामायण के सभी प्रसङ्ग एवं घटनाएँ हमारे समक्ष मूर्त्त रूप धारण कर अन्त:मन का स्पर्श करती हुई आज भी भारतीय संस्कृति का आकाश-दीप एवं गौरवशिखर बना हुआ है। अत: मानवता के आदर्शों की मनोरम मञ्जुषा रामायण की कथा आज भी जगत् प्रसिद्ध है। अत: महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में सत्य ही कहा है-

यावद् स्थास्यन्ति गिरय: सरतिश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।[3]

---

1. ध्वन्यालोक 1/13
2. रामायण-अरण्यकाण्ड, 1-13
3. रामायण-बालकाण्ड, 2-36

रामायण में वैदिक ऋषि

डॉ० किरन कुमारी
27/8 इण्डस्ट्रीयल कालोनी
सी0वी0 गंज, बरेली

वेदों को भारतीय संस्कृति-सभ्यता, धर्म, दर्शन एवं जीवन-शैली का मूलाधार कहा जा सकता है। सम्भवत: यही कारण है कि हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन और धर्म-कर्म पर वेदों का अमिट प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतीय धर्म में वेदों की इतनी प्रतिष्ठा है तो भारतीय धर्मग्रन्थ वेदों के प्रभाव के कैसे अछूते रह सकते हैं। रामायण, महाभारत आदि धर्मग्रन्थों का परिशीलन करने पर उन पर वेदों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

आदि काव्य की संज्ञा से अभिहित वाल्मीकि कृत रामायण हिन्दुओं का पवित्र धार्मिक ग्रंथ है। रामायण में, वेदों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त संहिताओं के मन्त्रद्रष्टा अथवा स्तुतियों के प्रयोक्ता ऋषियों की उपस्थिति हिन्दू धर्म में वेदों के माहात्म्य को इंगित करती है। वेदों में मन्त्रों से पूर्व उनके ऋषि, देवता तथा छन्द का उल्लेख मिलता है। इन मन्त्रों का इनके ऋषियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि इन मन्त्रों का सम्यक् ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि उनके ऋषियों का ज्ञान न हो।

'ऋषि' मन्त्रों के वक्ता हैं, अर्थात् जिन्होंने अपनी कामनाओं की सिद्धि हेतु जिन मन्त्रों से देवताओं की स्तुति की, वे उन्हीं मन्त्रों के ऋषि कहलाने लगे। जिन ऋषियों ने समाधि की अवस्था

में मन्त्रों का साक्षात्कार किया, वे मन्त्रद्रष्टा कहलाये। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋषि ऋत्विक् व कथाओं के वक्ता के रूप में दृष्टिगत होते हैं। रामायण में भी यही प्रवृत्ति दिखायी देती है। ये ऋषि राजाओं तथा राजवंश से सम्बन्धित होते थे। ये राजाओं के मन्त्री के रूप में उचित परामर्श देते थे। रामायण में वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम आदि ऋषि कुल परम्परा में दशरथ के मंत्री थे, जो अश्वमेध यज्ञ, दशरथ की मिथिला यात्रा, राम के राज्याभिषेक आदि समारोह में उपस्थित थे। ये ऋषिगण राम के वनवास तथा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् राजा की नियुक्ति के विषय में परस्पर विचार-विमर्श भी करते हैं।

वैदिक ग्रन्थों की भांति रामायण में भी गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप एवं अत्रि ऋषि की रामायण में क्या भूमिका थी, इसी का अध्ययन मेरे इस शोध-पत्र का विषय है।

वाल्मीकि रामायण में दार्शनिक तत्त्व

डॉ० (श्रीमती) गीता परिहार
रीडर संस्कृत विभागा
जी.डी.एच.जी. कॉलेज, मुरादाबाद

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि- कृत **'रामायण'** भारतीय संस्कृत साहित्य और संस्कृति की अमूल्य निधि है। वाल्मीकि-रामायण एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी तुलना में किसी भी भाषा के साहित्यिक ग्रन्थ का नाम नहीं लिया जा सकता है। भारतीय आस्तिकों की धारणा में वाल्मीकि-रामायण का उतना ही महत्त्व है, जितना वेदों का। रामायण के माहात्म्य के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है-

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना।।

काव्यात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ वाल्मीकि-रामायण दर्शन एवं विचार-सम्पत्ति की दृष्टि से भी एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार **'दर्शन'** शब्द प्रेक्षणार्थक **'दृश्'** धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ **'दृष्टि' या देखना'** है। दार्शनिक दृष्टि से देखने का अभिप्राय जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन करके उनका ज्ञान प्राप्त करना है। वाल्मीकि-रामायण

जो हमारे संस्कृत साहित्य का आदि महाकाव्य होने के साथ सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य महाकाव्य है तथा जिसकी रचना स्वयं परमपिता ब्रह्माजी के आदेशानुसार वाल्मीकि जी ने की है, उसमें हमें भारतीय दर्शन की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। वाल्मीकि-रामायण में प्रत्येक दार्शनिक तत्त्व जैसे आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, माया, मोक्ष आदि प्राप्त होते हैं।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार **'आत्मा'** स्वतन्त्र, अजर, अमर व स्थाई है। **'ब्रह्म'** को निर्गुण एवं निरूपाधि रूप तथा सृष्टि से सम्बन्धित स्वरूप अर्थात् सर्वकारणात्मक रूप, माना है तथा **'ईश्वर'** को सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, समस्त अज्ञानों से रहित चैतन्य स्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी तथा समस्त चराचर विश्व का विवर्त रूप में अधिष्ठान होने के कारण जगत् का कारणभूत तथा संसार की समस्त गतिविधियों का एकमात्र निमित्त माना है।

वाल्मीकि-रामायण मानता है कि इस संसार में **'माया'** का साम्राज्य व्याप्त है, जिसके वशीभूत होकर विवेकशील मनुष्य भी अज्ञानतापूर्ण कर्म कर लेता है। **'जन्म मरण'** को वाल्मीकि रामायण में इस संसार का ऐसा वास्तविक व अटल सत्य माना है, जिसे विशेष परिस्थितियों में कभी बदला नहीं जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित **'सृष्टि प्रक्रिया'** वेदान्त दर्शन के अनुसार ही प्रतिपादित है, उसमें सर्वप्रथम जल, फिर पृथ्वी तत्पश्चात् सत्रह अवयवों वाले जीव जन्तुओं की सृष्टि परिलक्षित होती है, साथ ही सृष्टि का निमित्त ब्रह्मा और विष्णु को मानकर सांख्य दर्शन के **'कार्य-कारण सिद्धान्त'** को भी प्रतिपादित किया है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में समस्त दुःखों को पूर्वजन्मकृत कर्मों के परिणाम स्वरूप ही प्राप्त करता है। इसके साथ ही **'मोक्ष'** प्राप्ति हेतु मनुष्य को धर्मादिविशेष कर्म जैसे जप, तप, व्रत और स्वाध्याय करने के अतिरिक्त जितेन्द्रिय होने पर भी बल दिया है।

इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण के **'आत्मा'** सम्बन्धी दार्शनिक विचार कठोपनिषद् श्रीमदभगवद्गीता से, **ब्रह्म** तथा **ईश्वर** सम्बन्धी विचार वेदान्त दर्शन तथा सृष्टि प्रक्रिया वेदान्त और सांख्य दोनों के ही समान है। अतः कहा जा सकता है कि वाल्मीकि-रामायण में समस्त दार्शनिक तत्त्वों का समावेश है। रामायण-काल में मनुष्य लौकिक सुखों का भोग करते हुए भी पारलौकिक भय के कारण ही निरन्तर सत्य, दान, तप, व्रत-यज्ञ आदि शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान किया करता था, इसलिए मनुष्य की दृष्टि सामान्य प्रतीत होते हुए भी दार्शनिकता को अपने में संजोये हुये दृष्टिगोचर होती है।

वाल्मीकीय 'राम+अयन'-ऋग्वेदीय वाक्सूक्त का ब्रह्ममय पुष्पल्लवन ही

डॉ० श्वेता शर्मा
फतेहचन्द महिला महाविद्यालय, हिसार

ब्रह्मात्म-नि:श्वसित, ज्ञान-विज्ञानात्मक तथा शाश्वतसनातनभूत वेदों में कोई नियतकालीन इतिहास तो सम्भव नहीं, अलबत्ता सदा-सर्वदा कालीन इतिहास (इति+ह+आस=जो सदा सर्वदा होता रहता है।) अवश्य है। वेदों का पूर्ण उपबृहंण करने के कारण, वाल्मीकि-रामायण आमूल-चूल वेदसम्मित है क्योंकि रामायण में, राम ने, वेदनिर्दिष्ट आज्ञाओं को ही अपने आचार-चरित द्वारा अमली जामा पहनाया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेदीय वाक्सूक्त (10-125) की निम्नांकित अर्थगर्भित तथा आध्यात्मिकी ऋचा को देखिये जो एक ही साथ, जीवन के सर्वोत्तम-लक्ष्य स्वस्वरूप ज्ञान एवं रम्या रामायणी कथा को बख़ूबी अभिव्यंजित कर रही है।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश''॥

ऋग्वेद 10-125-6

1. मैं (राम) शिव-धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाता हूँ अर्थात्

पश्यतां नृपसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः।
आरोपयत् स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः॥

वाल्मीकि रा० 1-67-16

तत्पश्चात् सीता के साथ विवाह होता है और राम-कथा आगे बढ़ जाती है।

2. मैं (राम) ब्रह्मविद्वेषियों (राक्षसों आदि) के वध के लिये, उन्हें अपने तीर का निशाना बनाता हूँ (और विजयी भी होता ही हूँ।)
3. मैं (राम) अपने सुहृद्-जनों (सुग्रीव, सीता आदि) की भलाई के लिए उनके शत्रुओं (वाली, खर, दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकरण और रावण आदि) के साथ निर्णायक युद्ध करता हूँ।
4. मैं (ब्रह्मात्म ज्ञानी राम) परिणामत: सर्वाधार ब्रह्मात्मा से तादात्म्य प्राप्त कर लेने के कारण, स्वात्मरूप से, पृथ्वी से लेकर द्युलोक तक सर्वत्र व्याप्त हूँ क्योंकि ब्रह्मज्ञानी की आत्मा ब्रह्माधिष्ठान से भी भिन्न नहीं होती है। दाशरथि राम जैसे लोकप्रिय राजा की ही ख्याति सर्वत्र फैलती है और रामराज्य को कभी भूला नहीं जा सकता।

''स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।''

ऋग्वेद 10-90-1

अपनी इसी निर्वैयक्तिकता के कारण मानव-राम भगवान् के रूप में श्रुत-मत-निदिध्यासित हो रहा है।

रामायण में उक्त घटनाओं के अतिरिक्त शेष सभी कुछ आदिकवि का काव्यकलाप है। ब्रह्मात्मज्ञान की दृष्टि से भी, शंकराचार्य के शब्दों में सारी रामकहानी मात्र इतनी ही है :-

तीर्त्वा मोहार्णवं, हत्वा कामक्रोधादि राक्षसम्।
शान्तिसीतां समाश्लिष्य आत्मारामो विराजते॥

यदि चाहें, तो आज भी, जिज्ञासुजन, वेदाज्ञा एवं रामचरित पर अमल करके, भौतिकतावादी लोगों के लिए अति सुदुर्लभ, ब्राह्मी सुख-शान्ति को प्राप्त करके यर्थाथतः कृत्-कृत्य हो सकते हैं।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक जीवनमूल्य

डा० रीना अस्थाना
प्राचार्या सुभाष चन्द्र बोस महाविद्यालय
हरदोई

वैदिक साहित्य के अवसान-काल में लौकिक संस्कृत के उपक्रम के समय भारतीय साहित्य तथा जन-जीवन को प्रभावित करने वाले ग्रन्थों में आदिकाव्य रामायण का उदय हुआ यद्यपि वाल्मीकि रामायण वैदिक साहित्य के अवसान काल में उदय हुआ है इसलिए इस ग्रन्थ पर वैदिक वाङ्मय का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। वेदों में विकसित नैतिकता के आधार पर मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक आचार व्यवहारों का निर्धारण हुआ है। ऋग्वेद से उपनिषद् काल पर्यन्त धर्म का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति तथा निःश्रेयस की प्राप्ति रहा है। मानव जिस समाज, जिस परिवेश जिस धर्म तथा संस्कृति में बालक जन्म लेता है उन सभी से उसका जीवन प्रभावित होता रहता है। प्रत्येक युग एवं प्रत्येक समाज में कतिपय धारणाएं मनुष्य को स्वीकार करनी ही होती है ऐसी ही आधारभूत धारणाएं तद्युगीन जीवनदर्शन का निर्माण करती हैं। वाल्मीकि रामायण में वर्णित विभिन्न आधार व्यवहारों विचारों मान्यताओं और परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में जीवन-दर्शन के अनेक आधारभूत तत्त्व प्रस्फुटित हुए हैं। इन जीवन मूल्यों का आधार वेद से ही प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में ही राजा दशरथ के द्वारा पालित उस अयोध्या नगरी का वर्णन है जिस श्रेष्ठ नगरी में सभी नागरिक धर्मात्मा थे- तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः' वेद को धर्म का मूल कहा गया है 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' को आधार मानकर रामायण में धर्म का भण्डार भरे पड़े है। राम का परिचय शूर्पणखा के द्वारा पूछे जाने पर वे कहते है- 'धर्माश धर्मकांक्षी च वने वस्तुमिहागतः।, रामायणकालीन जीवन दर्शन में दयाभाव अर्थात् आनृशस्यं प्रतिदिन के जीवन में अनुस्यूत था। ऋग्वेद का सिद्धान्त ही 'अहिंसा परमोधर्मः' है। मानव प्रेम एवं विश्वबन्धुत्व की पावन उदात्त भावना का मूल ऋग्वेदीय मन्त्रों में अनेकशः उपलब्ध होता है। वाल्मीकि रामायण में धर्म, सत्य, दया, दान, मैत्री, अनिर्वेद, प्रतिज्ञापालन शरणागतरक्षा भाग्यवाद पुरुषार्थपालन जीवनदर्शन सन्निहित जीवन मूल्यों का एक स्पष्ट उपस्थित होता है। तत्कालीन भारतीय संस्कृति ने यथार्थपरक भूमि पर उत्कृष्ट मानवीय गुणों का आधार किया था। वाल्मीकि रामायण वैदिक काल के अवसान-काल में लिखा गया है इसलिए इसमें वर्णित जीवन मूल्य वैदिक जीवन मूल्यों पर ही पूर्णतया प्रभावित हैं। समस्त उदात्तगुणों, जीवनमूल्यों का निर्वाह करने वाले राम इसीलिए देवकोटि में परिगणित हुए।

रामायण में वेदमूलक - मनुजता के तत्त्व

डा० इन्द्रमोहन सिंह
आचार्य, पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

वेद मनुष्य को मनुष्य बनकर इस धरती पर जीने का पथ प्रदर्शन करते हैं। 'मनुर्भव' जैसी अनेक वैदिक पंक्तियाँ इस दृष्टि से उद्‌धृत की जा सकती हैं। वाल्मीकि रामायण में भी विविध पक्षों से लोकाचरण को चरितार्थ करते हुए वाल्मीकि की दृष्टि को 'मनुर्भव' के रूप में अभिव्यक्त हुई वैदिक अवधारणा के विकसित रूप में देखा जा सकता है। रामायण का जन्म ही मनुष्य को मनुष्य बनाने के भाव से हुआ था। जब व्याध ने जघन्य रूप दिखाते हुए क्रौंच युगल में से एक को मारकर वाल्मीकि का मन दुखाया, तो वाल्मीकि ने उसे शाप देते हुए यह भी सोचा कि 'यह मनुष्य का आचरण नहीं हैं! यह मनुष्य मनुष्य नहीं है'! अत: उनकी अन्तर्दृष्टि मनुष्य को मनुष्य बनाने की सत् प्रेरणा की ओर उन्मुख हुई। इस धरती पर रहते हुए मनुष्य क्या करे? क्या न करे? आदि तत्त्वों का प्रचारित होना उन्हें अति अनिवार्य लगा। एक भ्रष्ट चरित्र को देखकर वे एक उत्तम चरित्र की अन्वेषणा में लग गए। रामायण का समग्र प्रदेय इसी उत्तत्व का दिशा निर्देश है। लोक में रहते हुए मनुष्य बनकर रहे इसी वैदिक उक्ति का विविध दृष्टियों से महाघोष रामायण का प्राण तत्त्व है। इसी दृष्टि को प्रतिपादित करना प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रतिपाद्य है।

वाल्मीकि रामायण में सृष्टि और उसका मूलकारण (वेदादि के विशेष परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. (श्रीमती) विजया रानी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र वि.वि., कुरुक्षेत्र

यह दृश्यमान सृष्टि एक विचित्र पहेली के रूप में हमारे सम्मुख है, इसमें कहीं सुख है तो कहीं दु:ख, कहीं जन्म है तो कहीं मृत्यु, कही हास्य है तो कहीं रोदन। एक ही पुष्प के अनेक वर्ण और आकार दिखाई देते हैं, एक ही तितली कहीं श्वेत है तो कहीं कृष्ण, एक ही गाय कहीं गौरवर्ण है तो कहीं श्यामल, कहीं शाबलेय तो कहीं बाहुलेय। तात्पर्य यह है कि यह सृष्टि असंख्य और अकल्पनीय विचित्रताओं से परिपूर्ण है। आरम्भिक काल से ही यह जिज्ञासा मानव मन में रही हैं कि इस चित्रात्मक सृष्टि का मूल कारण क्या है? क्या यह किसी दिव्य शक्ति का परिणाम है या यह बिना किसी कारण के स्वत: उत्पन्न हो जाती है? इस प्रकार की शंकाओं उपशंकाओं की निवृत्ति के लिए वैदिक काल से आज तक ऋषियों, मुनियों, मनीषियों और आधुनिक वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के मन्तव्य प्रस्तुत किये है। कुछ ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं तो कुछ काल को, कुछ नियति को प्रश्रय देते हैं तो कुछ स्वभाववाद को, कुछ ने इसकी संरचना जल तत्त्व से मानी है तो कुछ ने आकाश तत्त्व से। वैशेषिक और आधुनिक वैज्ञानिक परमाणुवाद का सहारा लेते हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य उन मुख्य बिन्दुओं को प्रकाश में लाना हैं जो सृष्टि और इसके मूल कारण के विषय में वाल्मीकि रामायण के अध्ययन से हमारे सामने आते हैं।

रामायणोक्त ऋषिसंस्कृति

वीरेन्द्र कुमार अलंकार
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

वाल्मीकीय रामायण में वैदिक ऋषियों, उनके आश्रमों, यज्ञों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। रामायण का आरम्भ ही दो ऋषियों के संवाद से होता है। वाल्मीकि मुनि परम तपस्वी स्वाध्यायनिरत नारद को पूछते हैं कि इस लोक में सम्प्रति कौन ऐसा व्यक्ति है जो गुणवान्, वीर्यवान् धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, दृढव्रत, चरित्रवान्, विद्वान्, आत्मवान्, जितक्रोध, द्युतिमान्, अनसूयक तथा प्रियदर्शन है। त्रिलोकज्ञ महर्षि वाल्मीकि और देवर्षि नारद का यह संवाद पूरे काव्य की पृष्ठभूमिरूप है। नारद बताते हैं कि दाशरथि राम वश्य, शुचि, समाधिमान्, धर्मरक्षक तथा वेदवेदांग के रहस्य को जानने वाले हैं[1]। रामायण में देवों और असुरों तथा ऋषियों और राक्षसों के शाश्वत अन्तर्द्वन्द्वों का गायन है। राम के जन्म से लेकर लंकाविजय और उत्तरकाल तक पूरी कथा में कवि ने ऋषिसंस्कृति का बड़ा बारीकी से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यहाँ निम्न बिन्दुओं पर चर्चा ही करनी अभीष्ट है-

यज्ञसंस्कृति- 'यज्ञ' 'ऋषिसंस्कृति' का अभिन्न अंग है। राम और लक्ष्मण जब विश्वामित्र के साथ वन में विचरण करते हैं तो प्रात: उठकर अग्निहोत्र करना कभी नहीं भूलते[2](1.35.20)। अरण्य में ऋषि-आश्रमों में यज्ञ के भव्य दृश्य कवि ने उपस्थापित किए हैं। इक्ष्वाकु वंश के राजाओं में यज्ञ के प्रति विशेष उत्साह दिखाई देता है। त्रिशंकु, अम्बरीष, दिलीप आदि सभी राजा यथाविधि यज्ञ करते दीखते हैं। अनेक स्त्रियों द्वारा अग्निहोत्र किए जाने के प्रसंग रामायण में हैं। कौसल्या प्रभात में अग्निहोत्र करती है- सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमंगला।।[3]

दशरथ अश्वमेध की चर्चा अपने अमात्यों में करते हैं, पर वे उसे तब तक नहीं करते, जब तक वसिष्ठादि ऋषियों की अनुमति प्राप्त नहीं हो जाती। सरयू के उत्तर तीर में यज्ञभूमि का विधान किया जाता है। यथाविधि वाजिमेध की समाप्ति पर राजा को ऋष्यश्रृंग द्वारा चार पुत्रों की वरदान प्राप्ति होती है। इस प्रसंग में पुत्रेष्टि याग का विवरण उपलब्ध होता है। दशरथ के पास विश्वामित्र का आगमन होता है। यह बड़े महत्त्व की बात है कि ऋषि के समक्ष सम्राट् भी केवल याचना ही करता है, राजा की याचना अस्वीकृत होने पर विश्वामित्र राम लक्ष्मण को जब वन में ले जाते हैं, तो वे विविध अरण्यों में घूमते हुए प्राय: आश्रमों और ऋषियों के स्थान ही दिखाते हैं। शिवाश्रम, भार्गवदर्शन, गौतम का आश्रम, धर्मभृत् का आश्रम, अगस्त्य दर्शन, चित्रकूट, पञ्चवटी, चूलि ऋषि, अत्रि ऋषि, कण्डु ऋषि आदि के प्रसंग उपस्थापित करके कवि ने वैदिक वातावरण पाठकों के समक्ष रख दिया है।

कर्मविपाक- कवि ने शाप और वरदान शैली का आश्रय लेकर वैदिक कर्मविपाक की स्थापना की है। रावण को तपस्या करने पर देवों से अमरत्व का वरदान[5] तथा वेदवती के प्रति रावण की कामुकता के कारण रावण को वध[6] का शाप वैदिक कर्मवाद की काव्यशैली में की गई व्याख्या ही है।

करुणापूर्ण दशरथ का वह विलापप्रसंग कर्मविपाक का एक बेजोड़ उदाहरण है, जब कौसल्या दशरथ के प्रति क्रुद्ध होती है और कौसल्या के कठोर कथनों से काँपता हुआ दशरथ उसके सामने हाथ जोड़कर नीचे गिरकर गिड़गिड़ाता है। दशरथ की यह दीन अवस्था देखकर कौसल्या को भी दया आती है और कहती है कि स्वामी, पुत्रप्रेम के कारण मैंने जो कुछ आपको कह डाला, उसके लिए क्षमा माँगती हूँ, तब दशरथ अपने पूर्व आचरित वृत्त का स्मरण करके कहता है कि यह सब मेरे कर्मों का ही फल है-

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्त्ता कर्मजमात्मनः।।

गुरु लाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम्।
दोषं वा यो न जानाति स बाल इहोच्यते।।

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे।।

अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति।
स शोचेत् फलवेलायां यथा किंशुकसेवकः।।

सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम्।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः।।

लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम्।।

तदिदं मेऽनुसंप्राप्तं देवि दुःख स्वयंकृतम्।
संमोहादिह बालेन यथा स्याद् भक्षितं विषम्।।

यथान्यः पुरुषः कश्चित् पलाशैर्मोहितो भवेत्।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम्।।[7]

इस प्रसंग में कवि ने कर्मसिद्धान्त का निचोड़ प्रस्तुत कर दिया है। विकर्म यदि अनजाने में भी हो, उसका दुःखद फल अवश्यंभावी है। विष भले ही अनजाने में खाया जाए, वह रोगकारी ही है। शाप और वरदान के प्रसंगों में इस कर्मवाद की दार्शनिक और वैदिक पृष्ठभूमि देखी जा सकती है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक जीवन मूल्य

श्रीमती हिमाचल कुमारी
शोध-छात्रा, संस्कृत-विभाग
चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

वेद समस्त विद्याओं का मूल उत्स है। शिक्षा कल्प व्याकरण दर्शन, ज्योतिष, संगीत आदि सभी विद्याओं का उद्गम वेद से ही माना जाता है क्योंकि वेद का प्रत्येक वाक्य उस सर्वज्ञ ईश्वर का वचन है तथा बुद्धि पूर्वक उक्त है। वेद में मानव जीवन के समग्र मूल्य आदर्श, संस्कार और चरित्र निर्माण के सूत्र पदे-पदे प्राप्त होते है। वेद में उदात्त मानवीय भावनाओं व महान् नैतिक मूल्यों पर आधृत जीवन का सन्देश प्राप्त होता है। वेद भारतीय संस्कृति की शाश्वत निधि है और मानव जाति के लिए सार्वभौम तथा सार्वकालिक सन्देशों के वाहक है। अत: ऋत और सत्य, श्रद्धा आशा, उत्साह, वीरता, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, तप एवं व्रत की महिमा से ओतप्रोत मानव का निर्माण वेद की मान्यताओं पर चलकर ही संभव है। एक ऐसे जीवन का आदर्श वेद में है जिसमें जीवन मूल्य या नैतिक मूल्य सभी के लिए प्रेरणाप्रद है।

वेद में मानवीय भावना पर सर्वाधिक बल दिया गया -

''पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत:'' जैसे आदर्श सामने रखे गये। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' कहकर सारे संसार को श्रेष्ठ बनाने का संकल्प वेद कराता है। विश्व के सभी प्राणियों के प्रति मित्र दृष्टि का विस्तार ब्रह्माण्ड के सभी लोकों तक शान्ति स्थापित करने की प्रार्थना केवल वेद में प्राप्त होता है।

इन्हीं आदर्शों का संवाहक लौकिक साहित्य का आदि ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण है। रामायण का अध्ययन करने पर जीवन के आदर्शों की पराकाष्ठा दृष्टिगत होती है।

अयोध्या के विषय में महर्षि वाल्मीकि ने कहा कि वहाँ के लोग - बहुश्रुत, विद्वान्, दानशील, अध्ययनशील, यजनशील, संयत, जितेन्द्रिय, आस्तिक और धर्म परायण थे। महाराज दशरथ के यज्ञ में आये हुए सभी लोग चार वेद व छ: वेदाङ्गों के ज्ञाता थे। इस प्रकरण से अवगत होता है कि जीवन मूल्यों के रूप में विद्वत्ता, दान की भावना, संयत जीवन एवं जितेन्द्रियता पर विशेष बल दिया जाता था। न केवल सामान्य जन-हेतु ये आदर्श थे अपितु उनके मंत्री, इङ्गितज्ञ, मन्त्रज्ञ, विद्याविनीत, कुशल संयतेन्द्रिय, शास्त्रज्ञ, कीर्तिमान्, प्राणिमात्र का हितचिन्तन करने वाले थे। जिस प्रकार वेद प्रतिपादित मानवीय भावना का विस्तार रामायण में प्राप्त होता है वह अनुकरणीय है जिस समय विभीषण राम के शिविर में आता है उस समय उसके साथ मानवीय सद्व्यवहार केवल नीति का हिस्सा न होकर मानवीय मूल्यों का परिचायक है। सुग्रीव द्वारा दुर्वचन बोलने पर श्रीराम द्वारा उसे रोकना और यहाँ तक कहना कि ''जिसने शास्त्र नहीं पढ़े, वृद्धजनों की परिचर्या नहीं की, वही ऐसे असामयिक वचन बोल सकता है।'' श्रीराम की यह उक्ति जीवन मूल्यों का ही परिणाम है। ऐसे अनेक स्थान है जहाँ पर वेद प्रतिपादित उच्च आदर्श रामायण में उपलब्ध होते हैं। श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम उन्हीं आदर्शों ने बनाया है। विस्तार से इस विषय पर शोधपत्र में विचार किया गया है।

रामायण में प्रतिबिम्बित वैदिक जीवन-मूल्य - एक परिशीलन

डॉ. कमला अग्रवाल
रीडर, संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कॉलिज
बड़ौत (बागपत) उ.प्र.

ईश्वर कृत सृष्टि सुविस्तृत, दीर्घ अपार।
अगणित जीवों की योनि में 'मानव' सार।।
बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान, कला सब इसकी थाती।
प्रेम, समर्पण, श्रद्धा, सेवा इसको भाती।।

मानव ने समाज को जन्मा, उसे बनाया।
बन समाज का प्राणी, फिर उसको अपनाया।।
भव्य समाज का सफल सुचालन करने के हित।
मानवीय मूल्यों को अपनाना होगा नित।।

क्या थे ये जीवन-मूल्य और क्यों आवश्यक थे?
हित समाज के प्रश्न उभर सम्मुख आया ये।
जीवन-मूल्यों ही मानव की सोच बदलते।

कर दिव्यता प्रदान, तमस अन्तस का हरते।
ईश्वर दत्त 'वेद' आदिकाव्य 'रामायण'।
मानव-मूल्यों के साकार खुले वातायन।।

वातायन में झांक ढूंढ कर 'मूल्य-मोती'।
सहस्राब्दियों से प्रखर प्रदीप्त है 'जीवन-ज्योति'।
'वेद' युगों से करते दानवता को खण्डित।
'रामायण' भी 'आदिकाव्य' गरिमा से मण्डित।।

इन दोनों की जान 'दिव्यता मन से सादर'।
शोध-पत्र के रूप, समर्पित इनको आदर।।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में भाव प्रबन्धन

डॉ. सुनीता शर्मा
पी.एच.डी. (संस्कृत)
डॉ. दशरथ कुमार पाण्डेय
रीडर, वाणिज्य
डॉ. बी.आर. अम्बेडकर कॉलेज, दिल्ली

परब्रह्म परमात्मा का दर्शन पर ब्रह्मानन्द की अनुभूति ब्रह्म से पृथक होकर ही संभव है। ब्रह्म में लीन होकर जीव ब्रह्ममय हो सकता है ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त कर सकता। इसके लिए जीव को ब्रह्म के सम्मुख होना होगा, जो कि ब्रह्म से पृथक होने के उपरान्त ही सम्भव है ब्रह्ममय होने पर नहीं। एतदर्थ जीवों की उत्पत्ति हेतु ईश्वर ने सर्वप्रथम अहं भाव को सक्रिय किया ताकि जीव को ईश्वर से पृथक स्व-अस्तित्व का मान हो और ईशमय न होकर ईशांश (जीव) के रुप में गति करे। ईश एवम् ईशांश की यह द्वैत अवस्था अहं के कारण ही संभव है। अहं भाव के कारण ही राग-द्वेष, प्रेम, आसक्ति व ईर्ष्या आदि भाव उत्पन्न होते हैं, इन्हीं भावों के कारण क्रोध, मोह, वैराग्य व लिप्सा आदि उद्वेग उत्पन्न होते है। सरल ढंग से बोधगम्य बनाने के लिए भावों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है सकारात्मक भाव (प्रेम, स्नेह, ममत्व, वात्सल्य, करुणा, दया व उदारता आदि) नकारात्मक भाव (ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लिप्सा, शोक व पराह आदि) तटस्थ भाव (शान्त, उदासीन व विरागी आदि)।

ये सभी भाव शरीर की विभिन्न ग्रथियों को प्रभावित करके अपेक्षित ऊर्जा प्रदान करते हैं तथा जीव द्वारा उपरोक्त सभी भाव रूपी उपकरणों का विवेकपूर्ण तथा संतुलित प्रयोग उसे दिव्यता तथा आनन्द प्रदान करता हैं तथा असन्तुलित प्रयोग दुःख, क्षोभ व हीनता। सन्तुलित भाव प्रबन्ध दैवीय गुण प्रदान करते हैं जबकि असन्तुलित भाव प्रबन्ध दानवीय गुण। भाव प्रबन्धन की विभिन्न अवस्थाओं का अवलोकन रामायण महाकाव्यों में पर्याप्त रूप से किया जा सकता है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण काव्य के पात्रों में सकारात्मक तथा नकारात्मक भावों के अन्तर्गत सन्तुलित तथा असन्तुलित अवस्थाएं है।

ये सभी भावतत्व जीवात्मा की सेवा के निमित्त होने के कारण जीव को परम तत्व की दिशा में तभी उर्ध्वगति प्रदान करते हैं जबकि उनकी सकारात्मक तथा नकारात्मक शक्तियों में सन्तुलन स्थापित हो। द्वेष आत्मविरोधी तत्वों से आत्मा का बचाव करता है। इसके लिए उचित क्रोध के द्वारा जीव अतिरिक्त ऊर्जा का सृजन करके आत्मरक्षा के उपाय करता है। युद्धकाल में श्रीराम ने उचित क्रोध द्वारा ही प्रतिद्वन्दी जीवों (ताड़का, बालि, खरदूषण व रावणदि) के अति अहंकार को नष्ट करके द्वैत से अद्वैत (मुक्ति) अवस्था प्रदान की यानि उन्हें आत्मसात किया और आत्म से परमात्मा का मिलन सम्भव हुआ। इसके अतिरिक्त श्रीराम द्वारा सूर्पनखा तथा सागर आदि के अहंकार को नियन्त्रित भी किया गया। इसी प्रकार शबरी भी समुचित भक्ति प्रेम व स्नेह भाव के कारण ही ईशोन्मुख होकर परमानन्द अवस्था को प्राप्त हुई। श्री दशरथ भी सन्तुलित पुत्र प्रेम के उर्ध्वगामी परमभाव को प्राप्त कर राममय स्थिति को प्राप्त हुए। मंथरा व कैकेयी के असन्तुलित पुत्र मोह तथा ईर्ष्याभाव की सांसारिक व अधोगामी (स्वार्थपरक) अवस्था के कारण ही वे पुत्र वियोग तथा उपेक्षा जैसी दुःखद अवस्था को प्राप्त हुई।

इस प्रकार नकारात्मक भाव हों या सकारात्मक भाव उनके सन्तुलित व उर्ध्वगामी होने पर ही वे परमानन्द प्रदान करते हैं और असन्तुलित व अधोगामी होने पर दुःख व क्लेश उत्पन्न करते है।

THE CONTEST BETWEEN VASISTHA AND VISVAMITRA : A VIEW OF DHARMIC VALOUR IN VALMIKI'S RAMAYANA

Dr. K.Neelakantham
Department of Sanskrit
O.U. College for women, Koti, Hyderabad.

In our ancient Indian society there were visions of an ideal society. In krutayuga the individuals were so pure and perfect that they never acted in self-interest, but always in the interests of the community.Then there was no need for a regulating state mechanism. नैव राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ Br. up. 1-4-2. It was a stateless state.

But in the present society, the glorification of the individuals has become a hindrance to the growth of the society. Individual glorification has become globalised. Infact there is nothing wrong in the glorification of the individual. For, the individual is indeed the basis of any sound social structure.

The individual merits, personal talents, valour and all the virtues do count enormously in social stability, for the society is nothing but its members, and the strength of the individual does make for the strength of the society. The famous hymn of Rg. Veda - संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् conveys the same idea.

But when the individual employes his talents, his merits, his advantages for personal advancement instead of using them for the common good they become not merits but demerits. The highest act of valour is a virtu only if it if not mearly an expression of personal heroism.

And it is proposed in this paper to study Valmiki's concept of Dharma from the angle of valour. Valour is an important and pervasive aspect of the epic's theme. Its study in conjunction with Dharma is essential in understanding the theme of Valmiki's work. Dharma and Virya are mutual energisers. Dharma is needed to stregthen Virya and Virya is needed to protect one's Dharma. A study of valour as it is revealed in the contest between Vasistha and Visvamitra is the subject matter of this paper. The contest between these two does not involve Rama. But it highlights an important facet of Dharmic valour. It is a contest between the secular and the spiritual Brahmarshitva. And this episode has three important functions.

1. It disapproves the charge that ancient Indian society represented a rigid, inviolable caste compartments, allowing no movement from one compartment to another, thus ensuring brahmanical hegemony.

2. Visvamitra symbolises the blending of secular and spiritual powers.
3. Visvamitra decides to shed all his secular powers and thereby finally assumed analloyed spiritual role.

And my paper aims at highlighting these three important functions in the brief but enormously important character of Vaisvamitra. This brings out the theme that peronal valour is always to benefit the society not oneself. And Valmiki's portrayal of any valour is but the Dharmic valour, which does not benefit the individual self, but the society. And the present need of such selfless Dharmic valourous persons in our society.

THE CONCEPT OF VEDIC CULTURE IN RAMAYANA

Dr. Amar Singh
Prof. of Sanskrit,
Kurukshetra University

The Ramayana is a mirror that truly reflects the consistent growth of the Vedic culture. Indubitably, the cultural scenario (scene) of every age betrays a vast influence of this particular culture of the vedic era. It is against the backdrop of Vedic culture that the ancient poet explored all the aspects of Indian way of life be it religious, political, economic, social or geographical. Culture draws its sustenance and growth from the society. The vedic sage, with a view to building up a sound and viable social edifice, divided the society into four varnas.........

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
अरू तस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋ.१०.९०.१२

Similarly, even in the Ramayana era, such a division of the society was upheld and further fortified and Rama was held to be the protector of the four varnas.........

रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता॥ बा.रा., ५.३५॥

There was, therefore mutual good will among the members of all the four varnas. Even the lowest christened as 'Shudra' enjoyed a place of honour in the society........

जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्॥ बा.रा. १.१.१००

In conformity with the system prevailing in the Vedic era, human life in the age was also classified into four stages. The sermon (discourse) delivered

by the Upnishda to a Brahmachari having accomplished his education at a Gurukul is the rarest and incomparable in the world and provides the essence of the Vedas and the Upnishdas........... सत्यं वद। धर्मं, चर।

स्वाध्यायान्मा प्रमदःमातृदेवो भव। पितृदेवो भव। अतिथिदेवोभव।
एष आदेशः एष उपदेशः। एतदनुशासनम्। तै.उ. वल्ली१, अनु.॥

The society in the Vedic era determinedly subscribed to the belief in the transmigration of souls, rebirth and an acute sense of good and evil. The joys and sorrows of the present life were looked upon as the direct consequence of our Karmas in the previous life (birth)........

दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद् गतम्।
यच्च ते सुकृतं कर्म तस्येह फलमाप्नुहि॥ बा.रा. ३.५५.२७.२४

Any Joyous celebrations were regarded unthinkable in the wake of a death of a near and dear one. The worship to gods (deities) used to take place either by performance of Yajana or by the installation of an idol of a god/goddess or both. Aspiring for the welfare of her son, we find Kaushalya worshipping Vishnu...

कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥ बा.रा. २.२०.१४

An emphasis was laid on the socially acceptable conduct. The younger ones were obedient and respectful to their elders and, in return, secured their blessings. Curiously enough, the present-day practice of shaking hands was prevalent during Ramayana period also........

गृह्यतां पाणिना पाणिर्मयादा बद्ध्यतां ध्रुवा॥ बा. रा., ४.५.१२.
सप्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना॥ बा. रा., ४.५.१३

The people in the Ramayana era were cultured and refined. The essence of Indian culture lies in seeking welfare of the world community. The sage wishes for peace and tranquility not only on the earth and in space, but everywhere in the cosmos.........

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति.....यरिह पापं तच्दान्तं...सर्वमेव शमस्तु नः॥ अथर्व, १९.९.१४.

The Ramayana caters to the same exalted Vedic culture which is so gloriously reflected in the Vedic literature. That is the reason why the classical poets have, through the ages, gleaned the themes of their writings from the Ramayana. Not only the Indian Culture, but also the cultures of Thailand, Combodia, Viet-nam, Malaysia, Indonesia etc. bear an unmistakable stamp of the culture depicted in the Ramayana. The dictum from the Veda is literally true of the Ramayana.....

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अथर्व, १०.१८.३२

PHILOSOPHICAL APPLICATIONS OF KARMA IN THE VALMIKI RAMAYANA

Dr.K.B. Archak
Reader and Chairman
Department of Sanskrit
Karnatak University, Dharwad

It has been universally accepted fact that all Indian Schools of Philosophy have given primary Importance to the theory of Karma to build up one's human career and to acquire spiritual wisdom. At the outset, it is however necessary to understand the very meaning of the term 'Karma'.It means - 'duty', 'past deed good or bad', and destiny'; and factually these meanings with illustrative **reinforcement,** profess different aspects of the theory of Karma.

With a view to restoring full-fledged significant role of the theory of Karma in the journey of one's life, it should be noted as an introduction that life on the earth is a warfare from the first dawn of intelligence till the last sigh of the death. Reflection awakens man to his loneliness. He feels lost in life. He becomes infirm of faith and irresolute in his resolve. Perishable attractions of mundane existence erect false beacons, and draw the person away from the right course. Then starts an internal war in man between his reason and passion. With these two faculties, man cannot be without strife, and becomes unable to be at peace.

To overcome all such impediments in the journey of life, man has to cultivate himself to be dutiful at his dealings. Addressing to a depressed person, the Ishavasya Upanishad exhilarates with awakening words that one should desire to live by performing his duties कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा: (Mantra II). In this light the Ramayana adverts that to acquire amiability and to imbibe charity, one needs to cultivate Karmayoga. The concept of Karma in the Ramayana focuses its light in different directions, so as to bring out its multi-dimensional significance. Hence, the present paper attempts to synthesize different facets of Karma, which are well illustrated by respective episodes in the Ramayana.

ETHICO- PHILOSOPHICAL ASPECTS IN THE RĀMĀYANA

Dr. R. Laxmi
H.O.D.Dept. of Sanskrit,
Smt. K.S.J. Arts & Dr. S.M.S.
Commerce College for Women
Dharwad.

As Known to everyone V̄alimiki's R̄amayana is one of the most famous epics of the world. In Sanskrit literature, it is called Adikavaya, Composed by M̄aharshi Valmiki is also k̄nown as Adikavi. It consists of 24,000 verses divided ĭn to six kandas or sections. The ēnt̄ire Mahakavya is based on ethico - philosophical aspects. In this paper an attempt is made to highlight these asp̄ec̄ts of the Ramayana.

King Dasaratha sends his two sons Rāma and Laksmana to Gurukula on the advice of Deva Guru Vasista, Rāma and Laksmana showing implicit obedience to their parents proceeds with sage Visvamitra. Incidentally before Sitakalyana, the two brothers killed Tataki, according to Visvamitra's command in orders to potect the Dharmic background of the sacrifice and its successful termination

Subsequently, Rama consoles his father when queen Kaikeyee asked king Dasaratha to give the two boons viz, Rama to retire to the forest for 14 years and her son Bharata to be incarnated on the throne as the prince may be queen Kaikeyee acted on the ill advice of Manthare, but she should have had the prudence to listen to Dasaratha's decision to make Rama the prince. However, Rama who had equal respect to Kaikeyee along with his mother Kousalya consented to go the forest. This exhibits the great sacrifice made by Rama to console his father.

सामाजिक व्यवस्था

वाल्मीकि रामायणे वैदिक वर्णव्यवस्था

डॉ० कामदेव झा
संस्कृत विभागाध्यक्षः
डी.ए.वी. कॉलेज
नन्योला, हरियाणा

वैदिकवर्ण व्यवस्थायाः स्वरूपं वाल्मीकिरामायणे सर्वथा सम्पूर्णभावेन परिलक्ष्यत इति। यथा वेदेषु वर्णव्यस्थायाः चतुर्विधं रूपमवलोक्यते तथैवात्र रामायणेऽपि चतुर्विधं रूपं वर्णितमस्तीति। तत्र किल वाल्मीकि रामायणे चतुर्णां वर्णानां पृथक्-पृथक् कर्मापि निर्दिष्टमस्ति। तत्र खलु भगवतः रामस्योद्घोषोऽयं विद्यते यत् सर्वे वर्णाः स्व-स्व धर्मे संलग्नाः भवन्तु इति। अथ च न क्वापि विवादो भवेत्। यथोक्तं तत्र-

चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मेनियोक्ष्यति।

(वा.रा. १.१.९५)

रामायणे मुनिना वाल्मीकिना सर्वेषां वर्णानां कर्माण्यपि निर्दिष्टानि। तद्यथा-

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्म निरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः।।

(वा.रा., बालकाण्डम्, ६.१९)

तत्र खलु रामायणे चत्वारो वर्णाःशूरवीराश्चासन्। वैदिक समाजे यथा सर्वे वर्णाः सशक्ताः सक्षमाः खल्वासन् तथैव रामायणेऽप्यत्र निगदितमस्ति। यद्यथा-

वर्णेष्वग्र्य चतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः।।

(वा.रा., बालकाण्डम्, ६.१७)

रामायणे एतदप्यत्र निगदितं यत् तस्मिन् काले सर्वेषां वर्णानां यज्ञकर्मणि योगदानं भवतिस्म। यथोक्तं तत्र-

ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्।
निमन्त्रस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्त्रशः।।

(वा.रा., बालकाण्डम्, १३.१९-२०)

रामायणकाले सर्वेषां वर्णाणां समादरो समानपूर्वकत्वेनासीदीति। अस्योद्धरणं स्फुटं तत्र रामायणे दृश्यते। यथा तत्र प्रोक्तमस्ति-

सर्वेवर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः।
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि।।

(वा.रा. १.१३.१४)

इत्थमेव तत्र किल वाल्मीकि रामायणे वैदिकवर्णव्यवस्थायाः स्वरूपं सर्वथाऽवलोकनीयमस्तीति।

वाल्मीकिरामायणे वैदिकशिक्षाव्यवस्था

डॉ० (श्रीमती) प्रीति सिन्हा
रीडर-संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

महर्षिव्यासेन महाभारतविषये यदुक्तम् यत्- 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' तदादिकाव्ये रामायणेऽपि सर्वथा समीचीनं प्रतिभाति। शिक्षाव्यवस्थासम्बधे रामायणकाले वैदिकशिक्षास्वरूपं सम्यक् दरीदृश्यते। वस्तुतस्तु शिक्षायाः चत्वारः विषयाः विवेचनीयास्सन्ति यथाः गुरुः, विद्यालयः, शिष्यः, शिक्षाविषयश्च। सर्वप्रथमं वाल्मीकिरामायणे वर्णितौ गुरुस्वरूपं गुरुशिष्यसम्बन्धश्च विवेचनीयौ। ऋग्वेदे वसिष्ठविश्वामित्रदृष्टानि सूक्तानि उपलभ्यन्त एव, रामायणेऽपि तयोः गुरुत्वं सर्वत्र विद्यत। तदाश्रमवर्णनप्रसङ्गे गुरुशिष्याणां सम्बन्धोऽपि सुष्ठु प्रतिभाति। वसिष्ठाश्रमस्य शान्तसुरम्यवातावरणेन सह विद्यार्थिनां स्वरूपमपि सम्यक् लक्ष्यते। वसिष्ठाश्रमवर्णनप्रसङ्गे महर्षिवाल्मीकिना आश्रमस्य तस्य शब्दचित्रमित्वं चित्रितमस्ति।

वसिष्ठस्याश्रमपदं नानापुष्पलताद्रुमम्।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम्॥

देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभितम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम्॥

ब्रह्मर्षिगणसंकीर्णं देवर्षिगणसेवितम्।
तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः॥

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा।
फलमूलाशनदन्तैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः॥

ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः।
अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम्॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम्।
ददर्श जयतां श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः॥

वा० रा० १.५१.२३-२८

एवमेव सिद्धाश्रमे गुरोः विश्वामित्रस्य तपोमयं रूपं तत्कालीनां गुरोः जीवनचर्यां सम्यक् प्रदर्शयति।

तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः।
उत्पत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन्॥

यथार्हं चक्रिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते।
तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम्॥

मुहूर्तमथ विश्रान्तौ राजपुत्रावरिंदमौ।
प्राञ्जली मुनिशार्दूलमूचतू रघुनन्दनौ॥

अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुंगव।
सिद्धाश्रमोऽयंसिद्धः स्यात्सत्यमस्तु वचस्तव॥

एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महानृषिः।
प्रविवेश तदा दीक्षां नियतो नियतेन्द्रियः॥

कुमाराविव तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ।
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां संध्यामुपास्य च॥

प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम्॥

वही १.२९.२६-३२

नृपेभ्यः नृपकुमारेभ्यः धनुर्वेदस्य ज्ञानं परमावश्यकं मन्यते स्म। यदा वि श्वामित्रः दशरथं रामलक्ष्मणावयाचत, तदा दशरथेनोक्तं यत् रामः बालक एव। तेन धनुर्विद्यायाः शिक्षा न प्राप्ता, न तु बलाबलेऽपि ज्ञाते, न तु अस्त्रविद्यापि सञ्चिता, अपि च युद्ध विद्यापि न लब्धा।

बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम्।
न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः॥
न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि राक्षसाः॥

वही १.२०.७, ८

रामायणे विविधानां पाठ्यविषयाणामपि सम्यग् विवेचनं प्राप्यते। ते विषयास्सन्ति वेदाः, धनुर्वेदः, नीतिशास्त्रम्, वाहनविज्ञानम् चित्रकला, शारीरिकं विज्ञानम्, प्लवनम्, गान्धर्वशास्त्रम्, न्यायः, भूगोलविज्ञानम्, निर्माणशास्त्रम्, वनस्पतिविज्ञानम्, ज्योतिषशास्त्रम्, आयुर्वेदः, गणितं, पशुविज्ञानं, समाजशास्त्रम्, नक्षत्रविज्ञानमिति।

रामायणे धनुर्वेदविद्यायाः व्यापकोऽल्लेखस्य कारणमिदस्ति यतो हिं रामायणे युद्धस्य प्राधान्यं वर्तते तथा च महाकाव्यमिदं क्षत्रियकुलसम्बद्धमस्ति। पदे पदे अन्येषामपि शास्त्राणामुल्लेखः दरीदृश्यते।

एवमेव शोधपत्रेऽस्मिन् रामायणे विविधा शिक्षाव्यवस्था विशेषतस्तु वैदिकशिक्षाव्यवस्था सुष्टु प्रतिपादयिष्यते।

वेद-स्मृति के परिप्रेक्ष्य में वाल्मीकि रामायण के कतिपय आलोच्य प्रसङ्ग

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री
श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

संस्कृत रूप में भारतीय साहित्य और समाज पर वाल्मीकि रामायण का एक ऐसा प्रभाव है, जो वेदेतर किसी भी अन्य साहित्य का नहीं है। इस दृष्टि से यह एक विलक्षण कृति है। आज हम जिस पारिवारिक आदर्श की कल्पना करते हैं, उसके लिए हमारे पास रामचरित्र से भिन्न कोई दूसरा उससे अच्छा उदाहरण नहीं है। वाल्मीकि की इस अकेली कृति के न जाने कितने परिवारों में सौहार्द्र की वह भूमिका प्रदान की है, जिसके लिए मानव तो क्या देवता भी लालायित रहते हैं। जीवन में मर्यादा और अनुशासन को वह स्थान दिया है, जिसके कारण स्वार्थ की काली छाया में जीने वाले मानव को उसका उल्लंघन करने में साहस बटोरना पड़ता है। अत: साहित्य की अपेक्षा वाल्मीकि रामायण संस्कृतिपक्ष का कहीं अधिक प्रतिनिधित्व करती है।

वाल्मीकि ने राम के रूप में समाज को जो आदर्श प्रदान किया है, उसकी प्रेरणा का स्रोत वेद रहा है। वेद कहता है कि जिस प्रकार गौ अपने बछड़े को चाहती है, उसी प्रकार हम भी परस्पर सहृदय, रागद्वेष से रहित होकर मन से एक-दूसरे को प्यार करें। यह तो रहा मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम का संदेश। लेकिन वेद परिवार की ऐसी संकल्पना प्रस्तुत करता है जिसमें पुत्र पर पिता के व्रतों (परम्पराओं) के निर्वहण तथा माता के मन को समझने का गुरुतम दायित्व है। वहाँ दाम्पत्य जीवन की ऐसी प्रगाढ़ता देखने को मिलती है, उसमें भाई-भाई के साथ तथा बहिन-बहिन के साथ प्रेम के ऐसे धागे से बँधे हैं, जहाँ विषाद और कटुता का कोई स्थान नहीं है। कहने का तात्पर्य है कि परिवार की सीमा में दुराव और कृत्रिमता के लिए कोई स्थान नहीं है। जो कुछ भी है वह स्पष्ट है और उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे रहस्य के आवरण से आच्छादित किया जाए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में जो परिवार का आदर्श चित्र प्रस्तुत किया गया है, मानो उसकी जीवन्त प्रस्तुति वाल्मीकि रामायण है। लेकिन रामायण में सब मीठा ही मीठा हो ऐसा नहीं है, वहाँ सब कुछ आदर्श ही हो ऐसा भी नहीं है। रामायण के माध्यम से वाल्मीकि ने जो समाज को दिया है, वह सब ग्राह्य नहीं है। निश्चित रूप से रामचरित्र के कुछ ऐसे पक्ष हैं,

जिन पर समय-समय पर अंगुली उठती रही है। उदाहरण के लिए राम के राज्याभिषेक प्रकरण को लिया जा सकता है। जब राम छोटी सी भी प्रसन्नता अपने भाईयों के विना स्वीकार नहीं करते तो फिर उन्होंने भरत और शत्रुघ्न दो-दो भाइयों की अनुपस्थिति में राज्याभिषेक कराना क्यों स्वीकार किया?

एक अन्य आलोच्य प्रसङ्ग के रूप में वालिवध को लिया जा सकता है, जिसमें वध करने के लिए राम सामने नहीं आते और छिपकर बालि का वध करते हैं। क्षत्रिय मर्यादा के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के कृत्य से राम का पौरुष कलंकित हुआ है।[5] इसी प्रकार के अन्य प्रसङ्ग सीतापरित्याग, शम्बूकवधादि हैं, जिन पर प्रस्तुत लेख में विवेचन किया जाना है।

---

1. अथर्व0 3.30.1. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
2. अथर्व0 3.30.2. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥
3. अथर्व0 3.30.3. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारं उत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वां वाचं वदत भद्रतया॥
4. वाल्मीकिरामायण - बालकाण्ड-18.31. मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना।
5. वाल्मीकिरामायण - किष्किन्धाकाण्ड - 17.32. नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि। राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः।

वाल्मीकि रामायण में शिक्षा

डॉ० आशा रानी राय
प्राचार्य-कानपुर विद्यामन्दिर महिला
(पी0जी0) महाविद्यालय
स्वरूपनगर (कानपुर)

भारतीय संस्कृति के पोषक, अग्रदूत, काल की अजस्र धारा से प्रभावित न होने वाले विश्व साहित्य में अप्रतिम स्थान रखने वाले वाल्मीकि रचित आदि काव्य ''वाल्मीकि रामायण'' की यशः गाथा, त्रेता, द्वापर व कलियुग के प्रथम चरण में भी जन-जन को रीति, नीति, संस्कृत सभ्यता, शिक्षा एवं जीवन जीने की कला सिखाने में सक्षम व समर्थ है।

विण्टरनिट्ज कहते हैं ''यह समस्त भारतीय लोगों की सम्पत्ति बन गई है और कदाचित् समस्त विश्व साहित्य में किसी अन्य काव्य ने शताब्दियों तक राष्ट्र के काव्य और विचारों को इससे अधिक प्रभावित नहीं किया है''(1)

वाल्मीकि रामायण में स्थान-स्थान पर शिक्षा-सूत्र बिखरे पड़े हैं।

१. **सर्वव्यापी शिक्षा व्यवस्था**- रामायण काल में कोई अशिक्षित नहीं था, सर्वसाधारण भी शिक्षा से सुभूषित था। पूरी प्रजा में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो नास्तिक हो, असत्यवादी हो, शास्त्रज्ञान से रहित हो, दूसरों के दोष ढूंढ़ने वाला, साधनों में असमर्थ एवं विद्याहीन हो।[2] सभी वेद तथा वैदिक साहित्य का ज्ञान रखने वाले, दानी, व्रती तथा सुखी थे।[3]

२. **उपनयन संस्कार की अनिवार्यता**- षोडश संस्कारों में जातक की शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता है, इसमें यज्ञोपवीत धारण कराके जातक को व्रतों की दीक्षा दी जाती थी। किष्किन्धाकाण्ड में श्री राम द्वारा वर्षा ऋतु के वर्णन में रूपक अलंकार के माध्यम से बताया है कि मानों मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षा की धारा रूप यज्ञोपवीत धारण किए वायु से पूरित हृदय रूपी गुफा वाले पर्वत ब्रह्मचारियों की भांति वेदाध्ययन प्रारम्भ कर रहें हैं।[4]

३. **व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास**- रामायण काल में बालक के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास पर बल दिया जाता था। डॉ0 नानूराम व्यास[5] लिखते है कि रामायण युग की शिक्षा में एक तारतम्य था, इसमें आदर्शो का समान और सन्तुलित विभाजन था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना, उसके शारीरिक और मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, धार्मिक और व्यावहारिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को समुन्नत करना उसका मूलभूत आदर्श था। उस समय के आदर्श राजा, सुसंस्कृत प्रजा, कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारीगण और संघर्ष रहित समाज इसी सांस्कृतिक शिक्षा की देन थे।

४. **संस्कृत भाषा वाग्व्यवहार की भाषा थी**- उस काल में द्विज व साधारण अर्थात् विद्वानों व साधारण लोगों के बोलने में कुछ अन्तर था, लेकिन मानव, राक्षस व वन में रहने वाले नर अर्थात् वानर सभी संस्कृत का प्रयोग करते थे[6]।

५. **वानर वेदज्ञ तथा व्याकरणज्ञ थे**- हनुमान् का परिचय प्राप्त करके श्रीराम लक्ष्मण से उसकी विशेषताओं व गुणों से प्रसन्न हो कहते हैं कि हनुमान् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, व्याकरण का ज्ञाता व पंडित, वाणी के रहस्य को जानने वाला, सभ्यता व संस्कृति से भिज्ञ है।[7]

६. **स्त्री शिक्षा का चरमोत्कर्ष**- जिस समय श्रीराम कौसल्या से वन गमन की आज्ञा प्राप्त करने उनके महल में गए तब वह रेशमी वस्त्र पहिन कर मन्त्रोच्चारण के साथ अग्निहोत्र कर रही थीं।[8] कौसल्या द्वारा रामवनगमन हेतु विदाई देते हुए आचमन करके स्वरित-गान किया गया।[9] पुरोहितों से यज्ञ करवाकर देवयज्ञ के साथ बलिवैश्यदेव यज्ञ सम्पन्न कराया।[10] हनुमान् द्वारा सीता को लंका में खोजने जाते हुए अशोक बन में विचरण करते हुए वह चिन्तन करते हैं कि सीता वेदों की पण्डिता व साध्वी आध्यात्मिक वृत्ति वाली है, यदि वह जीवित है तो सन्ध्या काल होने पर सरिता के तट पर अवश्य पधारेगी[11] क्योंकि शास्त्र में निश्चित है कि सन्ध्या व ईश्वरोपासना पर्वतों की गुफाओं में अथवा नदी के किनारे होनी चाहिए। इसी तरह अयोध्याकाण्ड में कैकेयी राम से बताती है कि देवासुर संग्राम में जब दशरथ शत्रुओं से विंध गए थे, तब उन्होंने इनकी रक्षा की थी।[12] इससे स्पष्ट है कि उस काल में स्त्रियाँ भी सैन्य विद्या में निपुण, शिक्षित व वेदानुकूल

जीवन जीने वाली आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थी। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन स्त्री शिक्षा चरमोत्कर्ष पर थी।

इस प्रकार शिक्षा से युक्त राजा, ऋग्विज, मन्त्री व प्रजा भी सदाचारी, शिष्ट व सद्गुणों से सम्पन्न वेदानुकूल जीवन जीने वाली थी।

---

1. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर-वाल्यूम-1 पृष्ठ 476
2. नास्तिको नानृती वापि न कश्चित् बहुश्रुत:।
   नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्।। वा0रा0-1/6/14
3. नाषडङ्गवित्रास्ति नाव्रतो नासहस्रद:।
   न दीन: क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन। वा0रा0- 1/6/15
4. मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिन:।
   मारुतापूरितगुहा: प्राधीता इव पर्वता:।। वा0रा0-4/28/10
5. रामायण कालीन संस्कृति - पृ0-158
6. अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषत:।
   वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। वा0रा0- 5/30/17
   यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
   रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।। वा0रा0- 5/30/18
7. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिण:।
   नासामवेदविदुष: शक्यमेवं विभाषितुम्।
   नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
   बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्।
   न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
   अन्येष्वपि च सर्वेषु दोष: संविदित: क्वचित्।
   अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
   उर:स्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्।
   संस्कार क्रम सम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
   उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्।। 4/3/28-32
8. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
   अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला।
   प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्त:पुरं शुभम्।
   ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्। वा0रा0-2/20/15-16
9. सा विनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि।
   चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी। वा0रा0-2/25/1
10. ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना।

हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात्।। वा0रा0-2/25/27
हुतहव्यावशेषेण ब्राह्मं बलिमकल्पयत्। वा0रा0-5/14/49

11. सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी। वा0रा0-5/14/49
यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना।
आगमिष्यति सावश्यमिमां शीतजलां नदीम्।।

12. पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे।। वा0रा0- 2/18/32

वाल्मीकि रामायण में वैदिक वर्ण-व्यवस्था

डॉ०संगीता विद्यालंकार
प्राचार्या
कन्या गु0 महाविद्यालय हरिद्वार

वेदों ने सुगठित सामाजिक संरचना हेतु वर्णाश्रम-व्यवस्था की अनिवार्यता स्वीकारी है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद- इन तीनों के पुरुष सूक्तों में इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

(ऋग्वेद 10.10.12, यजुर्वेद 31.11, अर्थववेद 19.6.6)

मनुष्य शरीर में सर्वोपरि मुख और उससे उपलक्षित मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों का संचालक व ज्ञान का अजस्र स्रोत है। इसी ज्ञान के माध्यम से वह शरीर की गतिविधियों को नियंत्रित, संचालित व प्रेरित करता है। भुजाएँ शरीर-रक्षण के कार्य में संलग्न रहती हैं। उदर अन्न ग्रहण कर, उसे भली-भाँति पचाकर तथा रस-रक्त में परिवर्तित कर समस्त ऊर्जा को सम्पूर्ण अंगों में वितरित करता हुआ उसका भरण-पोषण करता है तथा पैर समूचे शरीर का बोझ उठाते हुए उसकी सेवा में संलग्न रहते हैं। यदि सम्पूर्ण समाज को एक शरीर मानें तो ज्ञान और अनुभव द्वारा पूरे समाज को एक दिशा, एक चेतना या प्रेरणा देने वाला ब्राह्मण; अत्याचार और अन्याय से रक्षा करने में समर्थ साहस और भुज-बल का धनी क्षत्रिय; वाणिज्यिक गतिविधियों के माध्यम से उपार्जित धन और अन्न के माध्यम से भरण-पोषण में समर्थ वैश्य है। ज्ञान एवं बल की न्यूनता वाला किन्तु समाज-सेवा की सद्भावना रखने वाला व्यक्ति शुद्र है।

वेदों में वर्णित यह समूची व्यवस्था जन्मना न होकर कर्म पर आधारित है। ऋग्वेद के अनेक सूक्त इस बात के स्पष्ट संकेत देते हैं। ऋग्वेद के नवम और दशम मण्डल के कतिपय सूक्तों में

वर्णन है कि गुण और मात्रा में बुद्धि और ज्ञान की पृथक्-पृथक् सामर्थ्य रखने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्यों से जीविका-निर्वाह करते हुए मिल-जुलकर रहते है। इस तरह व्यक्ति में ज्ञान, शक्ति, कर्त्तव्य और सेवा-भावना की न्यूनाधिकता देखकर इन गुणों के ही आधार पर समूचा समाज चार भागों में विभाजित है।

वेदों में इन चारों वर्णों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य की भी विवेचना हुई है। इन चारों ही वर्णों में प्रकृत्या किन-किन गुणों का समावेश अनिवार्य है- इसका भी विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। ब्राह्मण को संयमी, तपस्वी, ब्रह्मज्ञ, वेदज्ञ, अहिंसक, सदाचारी, यज्ञ-यागादि कर्मों में संलग्न, अध्ययन-अध्यापन में अभिरुचि रखने वाला, सरल, नीतिज्ञ, प्रशंसनीय गुणों से युक्त, आदर्श चरित्र वाला होना चाहिए। वेदों में क्षत्रिय हेतु वांछित गुणों का भी निर्णय है। राष्ट्र व समाज रक्षण में तत्पर, बलवान, ज्ञानी, निर्भय, शूरवीर, नीति संचालक, यज्ञ-यागादि में निरत, प्रजानुरञ्जक व न्यायनिष्ठ व्यक्ति को ही क्षत्रिय की संज्ञा दी जा सकती है। अथर्ववेद के अनेक सूक्तों (वणिक् सूक्त, पशुपालन सूक्त, कृषि सूक्त) में वैश्य के गुणों व कार्य-व्यापार पर प्रकाश डाला गया है। सेवा-भाव में आनन्दानुभूति करने वाला व्यक्ति शूद्र माना गया है।

यह समूची व्यवस्था अत्यन्त लचीली है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में विभिन्न जातियों का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में नाई, बढ़ई, लोहार और चमार; अथर्ववेद में सूत, लोहार या कर्मार तथा तैत्तिरीय संहिता में बढ़ई, कुम्हार, कर्मार और निषाद आदि जातियों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद में कुलाल (कुम्हार), लोहार, निषाद, यजुर्वेद में बहुसंख्यक जातियों की सूची मिलती है।

इन चारों प्रमुख वर्णों तथा उपवर्णों में ताल-मे बैठाने हेतु संगठन सूक्तों व सामनस्य सूक्तों की उपस्थिति भी है। कुल मिलाकर वैदिक वर्ण-व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था है। लौकिक संस्कृत का अविस्मरणीय व अप्रतिम ग्रंथ वाल्मीकि रामायण है। इसमें पूर्वोत्तर साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ा है। इस काल में भी वर्ण-व्यवस्था **'नयोनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संतति;'** का ही अनुमोदन करती प्रतीत होती है। वाल्मीकि तथा विश्वामित्र आदि चरित्र शूद्र व क्षत्रिय होते हुए भी ब्रह्म तेज को प्राप्त करते दिखाये गये हैं। वसिष्ठ द्वारा पराभूत विश्वामित्र

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे

(वा०रा० 1/56/23)

कहते हुए समस्त राजपाट छोड़कर तपस्या में लीन हो गये थे और ब्रह्मऋषि पद के अधिकारी बने। अपने उत्तम आचरण के कारण ही ब्राह्मण आदर्श पात्र थे। इसीलिए समादरणीय थे। वाल्मीकि रामायण में वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, परशुराम सदृश ऋषि-वर्ग के पात्र ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं। दशरथ, जनक, राम सहित चारों भ्राता क्षत्रिय वर्ग में व शबरी, भील इत्यादि शूद्रों के प्रतिनिधि बने हैं। वस्तुतः व्यक्ति के गुण, धर्म, स्वभाव, आचार, विचार, आहार,

विहार, व्यवहार ज्ञान, अनुसंधान मानव-कल्याण हेतु किया गया कर्म ही उसके वर्ण का निर्धारण करता रहा होगा।

वैदिक प्रभाव के आलोक में समूची वर्ण व्यवस्था को निखरते हुए वाल्मीकि रामायण में इसका क्या स्वरूप उभर कर सामने आया? यह व्यवस्था पूर्ववत् ही चलती रही या उसमें समय के साथ बदलाव दृष्टिगत हुआ? चारों वर्णों के निर्धारित अन्तर्बाह्य गुणों का ही निदर्शन वाल्मीकि ने अपने पात्रों द्वारा कराया है अथवा उनमें कुछ परिवर्तन हैं इन सब बिन्दुओं को अवलोकित-विश्लेषित करने का प्रयास इस शोध पत्र में किया गया है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक पारिवारिक स्वरुप

डॉ० ईश्वरी देवी
रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृतविभाग
उपाधि (स्नात0) महाविद्यालय, पीलीभीत

पारिवारिक जीवन ही सामाजिक जीवन की आधारशिला है। ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार प्रथा पर आधारित था। परिवार में एक गृहपति होता था, जिसके निर्देशानुसार तथा संरक्षण में पारिवारिक सदस्य अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। पिता ही घर का गृहपति होता था। ऋग्वेद में 'जायेदस्तं' शब्दों द्वारा ज्ञात होता है पत्नी ही गृहस्वामिनी होती थी तथा यज्ञानुष्ठान में पति के साथ भाग लेती थी। स्मृतिसाहित्य में भी पारिवारिक जीवन का वर्णन करते हुए माता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है- 'पितुः शतगुणं माता गौरवेणतिरिच्यते'।

वैदिक एवं स्मृतिसाहित्य की यह पारिवारिक परम्परा वाल्मीकि रामायण में भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है महर्षि ने पारिवारिक जीवन के प्राचीन आदर्शों को भावी पीढ़ियों के लिए अपनी रामायण में सुरक्षित कर दिया है। परिवार का स्वरूप निःसन्देह पैतृक था। उसमें पिता कुटुम्ब का मुखिया था जिसका आदेश सर्वोपरि था। माता कौसल्या से वन जाने के लिए अनुमति मांगते हुए श्रीराम ने यही तर्क दिया था कि आज्ञा मानकर मैं पूर्वकाल में धर्मात्मा पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग पर चल रहा हूँ- पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो- मार्गोऽनुगम्यते"। (2/21/36) परिवार ही एक ऐसा शिक्षणालय है, जिसमें व्यक्ति स्नेह और सौहार्द्र का, गुरुजनों के प्रति आदर और भक्तिभाव का तथा सामूहिक कल्याण के लिए वैयक्तिक प्रवृत्तियों और महत्त्वाकाक्षाओं को दबाने का पाठ सीखता है। अपने जीवन में राम ने जिन गुणों का परिचय दिया है। उनकी जड़ें उनके अपने परिवार में जमी थी।

वस्तुतः राम का समग्र जीवन परिवार के सामाजिक सत्प्रभाव का उज्ज्वल दृष्टान्त है। रामायण की कथा में कौटुम्बिक संश्लेष के तत्त्वों का बाहुल्य है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित वैदिक शिक्षा का स्वरूप

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता
डॉ० दीपा गुप्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

प्राचीन काल से ही शिक्षा मनुष्य के बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम रही है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य का जीवन समृद्ध और उन्नत होता है तथा उसकी बुद्धि और प्रज्ञा सुदृढ़ तथा प्रांजल होती है। कोई भी मनुष्य किसी अन्य मनुष्य से उसी स्थिति में श्रेष्ठ माना जाता है जब उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा के द्वारा अधिक प्रखर और पूर्ण होते हैं, इसलिए विद्याहीन मनुष्य को पशुवत् कहा गया है। विद्या से ही मनुष्य अपना जीवन सार्थक करता है और इसके बिना उसका जीवन निरर्थक और सारहीन रहता है। शास्त्रों की यह उक्ति विद्या के महत्त्व को पूर्णरूपेण स्पष्ट करती है-

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

रामायण में शिक्षा के स्वरूप का बड़ा ही मनोरम वर्णन मिलता है। इस समय शिक्षा के प्रमुख केन्द्र गुरुकुल थे। रामायण के अनुसार वसिष्ठ, वाल्मीकि तथा अगस्त्य ऋषि के आश्रम उच्च कोटि के गुरुकुल थे जहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी और जहाँ बहुसंख्यक छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। साधारणत: गुरुकुल गाँवों तथा शहरों के कोलाहल से दूर वनों में होते थे जहाँ के शान्त एवं पवित्र वातावरण में विद्यार्थी पूर्ण एकाग्रता और लगन के साथ विद्याध्ययन करते थे। गुरुकुलों में गुरु तथा शिष्य के परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त मधुर, स्नेहिल तथा सौहार्दपूर्ण होते थे। जहाँ विद्यार्थी अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे वहाँ आचार्य भी उनके साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे। गुरुजनों में शिक्षा प्राप्त करते समय विद्यार्थियों में आपस में ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं होता था। गुरु भी उनके साथ समानता का व्यवहार करते थे। छात्र चाहे धनी हो या निर्धन, उच्च कुल का हो या निम्न कुल का, राजा हो या रंक, बुद्धिमान हो या जड़मति, आचार्य सबके प्रति समानता का व्यवहार करते थे। गुरुकुलों में गुरु शिष्यों को केवल सैद्धान्तिक ज्ञान की ओर ही उन्मुख नहीं करते थे वरन् ज्ञान और कर्म के सामंजस्य का महत्त्व समझाते हुए उन्हें मध्यममार्गी जीवन जीने का संदेश देते थे। गुरु विद्यार्थियों को कुशल, व्यावहारिक, सक्षम, कार्यकुशल, सजग, ज्ञानी एवं उत्तरदायी नागरिक बनाकर सब प्रकार से योग्य बनाते थे। शिष्यों में नवजीवन का संचार करने वाले गुरु नि:सन्देह पिता तुल्य आदर के पात्र होते थे। चूँकि इस समय मौखिक शिक्षा का ही प्रचलन था और ग्रन्थों के लिपिबद्ध न होने के कारण स्वरों के शुद्ध उच्चारण पर अत्यधिक बल दिया जाता था, इसलिए ज्ञान-प्राप्ति के लिए योग्य गुरु के चुनाव पर अत्यधिक बल दिया जाता था।

रामायण के अनुसार इस समय स्त्रियों की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। राम के युवराज पद पर अभिषेक के समय कौसल्या के यज्ञ करने का और वाली के युद्ध में प्रस्थान करने

से पूर्व उनकी पत्नी तारा के द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है, जिसमें पता चलता है कि ये दोनों नारियाँ मंत्रविद् (वैदिक साहित्य की ज्ञाता) थी। सीता प्रतिदिन वैदिक सूक्तों द्वारा सन्ध्या-पूजन करती थी। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त स्त्रियों को इतिहास एवं पुराण आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। क्षत्रिय स्त्रियों को सैनिक विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी ताकि आवश्यकता पड़ने पर युद्ध-क्षेत्र में वे अपने पति का साथ दे सकें। कैकेयी इसका उदाहरण है।

रामायण में चित्रित नारी ''वैदिक आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में''

डॉ० निधि सिन्हा
रीडर, हिन्दी विभाग
डी.ए.वी.(पी.जी.)कॉलेज
देहरादून, उत्तरांचल

वेद और रामायण कालीन समाज पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो तत्कालीन समाज में नारी बहुत सम्मान के स्थान पर दिखाई देती है। वैदिक काल में नारी के माता, भगिनी, दुहिता, प्रणयिनी नववधू, गृहिणी, ननद, सपत्नी आदि अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेदीय ऋचाओं में वर्णित है कि कभी-कभी स्त्रियाँ अपने वीर पतियों के साथ समरस्थल में भी जाया करती थी।

ऋ0 10-112-10 तथा 10-30-8

एक नाम है मुदगलानी का जिसने डाकुओं का पीछा करके उनसे अपहृत गाएँ छीन ली थीं। 10-102-2

वहीं ऋग्वेद में अन्य वीराँगनाओं का भी चित्रण किया गया है। वेदकालीन यह परम्परा रामायण में भी चित्रित है। रामायण में वीराँगना के रूप में कैकेयी का उल्लेख है जो युद्ध क्षेत्र में जाकर अपने पति के प्राणों की रक्षा करती है। (रामा0 2-9-11-16)

ऋग्वेद कालीन नारियाँ बुद्धिमती और दार्शनिक प्रतिभा सम्पन्न थीं। ज्ञान, तप और साधना में अद्वितीय थीं। जिनमें इन्द्राणी, शची, अपाला, आदि का नाम आता है। रामायण में भी अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। वानर जाति की रमणी तारा को मन्त्रवित् कहा गया है-

(रामा0 4-16-12 (2-20-15))

अयोध्या की नारियाँ मन्त्रपूर्वक हवन करती दिखाई देती हैं। निश्चय ही वे वेद-वेदाँग तत्वज्ञ थीं।

यजुर्वेद में अनेक प्रशिक्षित नारियों का उल्लेख है जो वस्त्र बनाने, कढ़ाई करने या रंगाई आदि कार्यों में निपुण थीं। यजुर्वेद में आर्या और शूद्रा रूप की भी गणना की गई है। यजुर्वेद (23-30)

अथर्ववेद में कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में सीता की वन्दना कृषकों द्वारा की गई है। रामायण की नायिका सीता का जन्म ही राजर्षि जनक द्वारा खेत में हल चलाते समय होता है।

(1-66-13, 14)

रामायण और वेद दोनों में नारी अवध्या मानी गई है। रामा0 (2-78-21)

वैदिक काल में कहीं-कहीं इस बात का भी उल्लेख है कि यदि पति अपनी पत्नी को छोड़ दें तो वह अपने पिता या बन्धु के पास जाती हैं। अथर्व (10-1-3)

नारी का अपहरण दोनों ग्रन्थों में मिलता है। वेद और रामायण दोनों में दासियों का भी उल्लेख है। जहाँ वेद में दासी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था वहीं रामायण की दासी मन्थरा का व्यक्तित्व विकट रूप में प्रस्फुटित होता है।

जिसे आज दहेज कहते हैं वह रूप वैदिक काल में उपलब्ध नहीं था। रामायण में भी दहेज प्रथा न थी।

वैदिक और रामायण कालीन समाज में नारियाँ अतिथि सत्कार परायण थी। वैदिक अनुष्ठानों में उनकी उपस्थिति श्रेयस्कर समझी जाती थी। वैदिक कालीन नारियों में दया, प्रेम और सहिष्णुता की भावना सहज रूप से भरी मिलती है। अथर्ववेद (6-118-3)

रामायण में भी नारी के यही आदर्श हैं- दया, प्रेम और सहिष्णुता। रामायण में नारी के व्यक्तित्व के शुक्ल पक्ष के साथ कृष्ण पक्ष का भी विषद वर्णन है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वेद और रामायण में नारी अनेक रूपों में चित्रित है। कहीं वह व्यभिचारिणी है, दुष्टा भगिनी है तो कहीं पति की सहचरी, प्रेरणादायिका, सहायिका आदि अनेक मंगलमयी भूमिकाओं के साथ विराजमान है जो आज टूटते परिवारों के लिए प्रेरणास्त्रोत है। अत: रामायण और वेदों में अधिकांशत: नारी का आदर्श रूप ही चित्रित है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक शिक्षा व्यवस्था

जितेन्द्र सिंह
दर्शन-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वाल्मीकि रामायण में वर्णित वैदिक शिक्षा व्यवस्था अत्यन्त उच्च स्तरीय थी। वेदों में शिक्षा का जो स्वरूप बतलाया गया है, वाल्मीकि रामायण में वह पूर्ण रूप से सन्निहित है। शास्त्र के साथ शस्त्र का भी ज्ञान, व्यवहार कुशलता ज्योतिष, व्याकरण, कर्मकाण्ड, ब्रह्माण्ड ज्ञान आदि अनेक विद्याओं का ज्ञान दिया जाता था। बालक का सर्वांगीण विकास ही वैदिक शिक्षा का लक्ष्य रहा हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रामायण काल में वैदिक शिक्षण व्यवस्था अपने वास्तविक स्वरूप में प्रचलित रही है। महर्षि वाल्मीकि ने वैदिक शिक्षा व्यवस्था का जो स्वरूप अपने महाकाव्य में चित्रित किया है, वह न केवल वैदिक आदर्शों के अनुरूप हैं, अपितु वर्तमान सन्दर्भ में भी यदि उन आदर्शों का पालन किया जाए, तो शिक्षण व्यवस्था में आयी शिथिलता, दिशा-भ्रम, अनुशासनहीनता एवं अराजकता को दूर किया जा सकता है।

रामायण में चित्रित दाम्पत्य मर्यादा
(वैदिक आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ० सविता भट्ट
रीडर एवं अध्यक्षा संस्कृत विभाग
डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज,
देहरादून, उत्तरांचल

ऊँ बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं ते

(सा0 वेद 1-3-8)

दाम्पत्य जीवन के मूलाधार स्त्री और पुरुष हैं। सृष्टि में सृजन इनके सम्बन्ध पर ही निर्भर करता है। दाम्पत्य जीवन प्रेम से वंचित नहीं रह सकता। जो आकर्षण के फलस्वरूप उद्भूत होता है। यदि आकर्षण न हो, प्रेम की स्थिति न हो तो दाम्पत्य जीवन सुख शान्ति से दूर अशान्ति का केन्द्र बन जाए। पुरुष और नारी जीवन में पूर्व अनुभूत भावात्मक प्रकरणों को भी नहीं भूल पाते हैं। कहीं-कहीं इसे मानसिक नैतिकता की दृढ़ता के अनुकूल प्रकट किया गया है-

आओ बैठो क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
अपनी जानी एक-एक रेखा पहचानू।
चेहरे की, आँखों की-अन्तर्मन की और-हमारी साझे की अनगिनत स्मृतियों की।

(अज्ञेय- ''हरी घास पर क्षण भर'')

आज अर्थ संकट के युग में मध्यवर्गीय जीवन पीड़ा और अभाव से क्लान्त है। वेदों, पुराणों द्वारा प्रशंसित दाम्पत्य जीवन, देववृक्ष संज्ञा से अभिहित किया जाने वाला जीवन आज घोर कटुता, नैराश्य और कुण्ठा से जर्जरित हो रहा है। पति और पत्नी आज दोनों ही क्षोभ से उद्वेलित दीख रहे हैं। सामाजिक शिष्टाचार और मर्यादा की रक्षा में उन्हें अपने को प्रताड़ित करना पड़ता है। वेद और रामायण कालीन समाज में दाम्पत्य मर्यादा के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। दम्पति शब्द ऋग्वेद में गृहस्वामी और द्विवाची गृहस्वामी और गृहिणी के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में भी गृहस्वामी-गृहिणी अर्थों में ही दम्पति शब्द अभिव्यञ्जित हुआ है। ऋग्वेदीय ऋचाओं में दाम्पत्य सम्बन्धी स्नेहमयी आर्य सभ्यता की झांकी मिलती है। उसके समक्ष आज हमारी अत्याधुनिकता तो कुब्जा-सी ठगी खड़ी रह जाती है। गृह सूत्रकार ने कहा-

''वह घर-घर नहीं जहाँ गृहिणी न हो।''
''न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते''

वैदिक दाम्पत्य, घूँघट तैल या प्राचीरों में कुढ़ा नहीं, सड़ा नहीं। मुक्त भाव से उत्तरीय लहराती हुई जाती थी। वैदिक कालीन पत्नियाँ, युवतियाँ और स्त्रियाँ। ब्रह्मवादिनी गार्गी, घोषा और

लोपामुद्रा का दाम्पत्य हमारे सामने प्रमाण है। लोपामुद्रा ने कितनी सच्चाई से अपने मन की बात कहीं थी- वृद्ध ज्ञानी पति अगस्त्य से-

''हे अगस्त्य, लगातार रात दिन बुढ़ापा लाने वाली उषाओं में तुम्हारी सेवा करके मैं श्रान्त क्लान्त हुई हूँ। देह से वार्धक्य प्राप्त करने पर भी लोग वृद्धावस्था में पत्नी के पास जाते हैं। तुम मेरी उपेक्षा क्यों करते हो।''

(ऋग्वेद-1-176-1-2)

लोपामुद्रा की यह साफगोई क्या अकुण्ठित कण्ठेन नहीं लगती।

वेदों में अनेक स्थलों पर दाम्पत्य की दृढ़ता दृष्टव्य है। सोमपायी वैदिक दम्पति अपने कर्त्तव्यों के प्रति सदैव जागरूक थे। वेद में शुद्ध पवित्र और पूजनीय स्त्रियों को ज्ञानियों के हाथों में सौंपने की बात कहीं गई है।

रामायण का प्रमुख स्वर भी दाम्पत्य को दायित्व का जीवन सिद्ध करता है। रामायण की नायिका सीता दाम्पत्य सम्बन्ध का पूर्ण निर्वाह करती दिखाई देती है। राम के सुख और दु:ख सब में वह उसके साथ रहीं। राम के लिए भी सीता प्राण स्वरूप थी। माण्डवी, उर्मिला, श्रुतकीर्ति आदि भी आदर्श चरित्र से समन्वित थी। स्वयं राजा दशरथ के दाम्पत्य की भी तीन धाराएं थी-एक कौसल्या धारा, दूसरी सुमित्रा, तीसरी कैकेयी रूपी धारा। तीनों अपने-अपने अद्भुद् गुणों से सम्पन्न हैं। इनमें कैकेयी को कूटनीतिक दृष्टि से युक्त मान सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने ढाँचें से अपने कों पृथक् कर स्वतन्त्र चिन्तन के साथ जीवन निर्वाह करने की पक्षधर है।

यद्यपि रामायण काल तक आते-आते दाम्पत्य सम्बन्धों में यत्र तत्र परिवर्तन परिलक्षित होने लगे थे। फिर भी इस समय तक ''पति दैवतम्'' एवं ''पतिः गतिरेको'' की कल्पना बड़ी ही दृढ़ हो गई थी। यही कारण हैं कि पति की सेवा, आदर तथा अनुगमन न करने वाली स्त्री पथभ्रष्टा कहलाती थीं और समाज में निन्द्य समझी जाती थी।

लोक और वेद, श्रुति स्मृति आदि सभी में स्त्रियों का यही नित्य धर्म बतलाया गया है।

दाम्पत्य मर्यादा के अनेक सूत्र वेदों और रामायण में यत्र-तत्र बिखरे हैं। उनसे प्रेरणा ग्रहण कर आधुनिक दाम्पत्य जीवन सुखमय बनाया जा सकता है और वे सारी दुर्भावनाएं जो जीवन में भेद और विराग को जन्म देती हैं-समाप्त की जा सकती हैं।

वास्तव में भारतीय समाज में पति और पत्नी का आपस में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे की शोभा नहीं हो सकती। पति के बिना पत्नी का और पत्नी के बिना पति का अस्तित्व उसी प्रकार सुखदायी नहीं है जिस प्रकार प्राणों के बिना शरीर का अथवा जलराशि के बिना नदी का।

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक समाज-व्यवस्था

डॉ० विनोद कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्राध्यापक एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
नई टिहरी

वेद जो कि भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं, के पठन-पाठन की परम्परा का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है, क्योंकि वेदों के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन हेतु प्रचुर समय एवं प्रखर बुद्धि का होना आवश्यक है। जबकि वर्तमान युग में दोनों की ही न्यूनता दृष्टिगोचर हो रही है। शायद इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमारे त्रिकालदर्शी, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सरल एवं सुबोध भाषा में वैदिक ज्ञान को जनसाधरण के समझ प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही पुराणों एवं इतिहास-ग्रंथों की रचना की थी। इतिहास-ग्रन्थों में वाल्मीकि रामायण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय वाङ्मय का वह मुकुटमणि है जो तत्कालीन भारतीय समाज की गौरवमयी गाथा को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

रामायणकालीन समाज वर्णाश्रम की भित्ति पर अवलम्बित था। वर्ण चार थे-ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र। चारों वर्णों में जरा सा भी वर्ण-विद्वेष नहीं था, इनके सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण थे। सभी वर्ण स्वकर्मनिरत थे। वर्ण-व्यवस्था के साथ ही साथ आश्रम व्यवस्था का सिद्धान्त भी प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में सहायता प्रदान करता था। वैदिक काल की भाँति रामायण काल में भी संयुक्त परिवार की प्रथा थी। पारिवारिक सदस्यों के आपसी सम्बन्ध स्नेहपूर्ण होते थे। गृहस्थ जीवन में पत्नियों का स्थान सशान था, वे अर्धाङ्गिनी थी एवं पातिव्रत्य धर्म का उच्चतम आदर्श प्रतिष्ठित करती थी। बहुपत्नी एवं एकपत्नी दोनों प्रथाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं। वैवाहिक सम्बन्ध बड़ों की आज्ञानुसार ही होते थे। वैदिक काल की भाँति विचार स्वातन्त्र्य का अधिकार स्त्रियों को प्राप्त था। यद्यपि पर्दा का भी उल्लेख रामायण में मिलता है।

रहन-सहन की दृष्टि से यह काल सादा जीवन और उच्च विचार वाला था। सरलता, शिष्टता, मधुर संवाद, विनम्र व्यवहार एवं बड़ों का सम्मान इस युग की विशेषतायें थी। रामायण काल में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था। गुरुकुल में गुरु के सानिध्य में रहकर ही शिष्य समस्त प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते थे। स्त्रियाँ पूर्णत: सुशिक्षित होती थी। क्षत्रिय राजकुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललित कला तथा विभिन्न भाषाओं से सुपरिचित थीं।

वेद जहाँ सत्यं वद, धर्मं चर, आचारान्मा प्रमद: आदि वाक्यों द्वारा गुरु की भाँति उपदेश देते हैं वहीं रामायण में राम के चरित्र द्वारा हमें इसका अनुपालन करने की सीख मिलती है। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव आदि वेद वाक्यों का हम पर उतना असर नहीं होता है, जितना भगवान् राम की मातृ एवं पितृ भक्ति के काव्यमय वर्णन का। मनुष्य को कैसी स्थिति में क्या बर्ताव करना चाहिए एवं किस प्रकार समाज की उन्नति एवं चतुर्दिक् विकास में सहयोग करना चाहिए यह शिक्षा हमें रामायण से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार रामायणकालिक वैदिक सामाजिक-व्यवस्था पर प्रस्तुत शोध पत्र में प्रकाश डाला गया है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक पारिवारिक स्वरूप

कुलदीपसिंह आर्य
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डी.ए.वी. कॉलेज, अमृतसर

महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण भारतीय वैदिक संस्कृति की गौरव गाथा है। जो संस्कृति, सभ्यता, समाज, वेदों में प्रतिपादित है वह महर्षि ने अपने आदि काव्य में वर्णित किया है श्रीमद् भगवत्गीता में कहा है 'यदा यदा चरति श्रेष्ठस्.........................। जब जब कोई श्रेष्ठ पुरुष सदाचरग करता है तो शेष लोग उसे प्रमाण मानकर उसका अनुकरण करते हैं ठीक इसी प्रकार वेदों और वैदिक साहित्य में जो जो श्रेष्ठ और मंगलकारी आविष्कृत एवं आचरित हुआ उसे प्रमाण मानकर तद्कालीन तत्त्वेत्ताओं ने उस का अनुसरण किया है।

वैदिक समाज, वर्ण, आश्रम, शिक्षा, दण्ड, राज्य व्यवस्था एवं संस्कृति का महाकवि महर्षि ने रामायण में प्राय: अनुकरण किया है और जहाँ जहाँ भी कवि ने वैदिक संस्कृति को गौण मानकर कोई बात कही है वहाँ वहाँ वे पक्षपाती प्रतीत हुए हैं। परिवार का जो आदर्श स्वरूप वैदिक साहित्य में प्रतिपादित था महर्षि ने उसे प्रमाण मानकर प्रतिपादित किया था, वाल्मीकि रामायण में परिवार का स्वरूप अत्यन्त आदर्श है। परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है इससे ही समाज बनता है और समाज से राष्ट्र और फिर विश्व। परिवार का प्रारम्भ गृहस्थ आश्रम से होता है। जिसका उद्देश्य सभी को सन्तुष्ट करते हुए राष्ट्र को सबल बनाना होता है। ऋग्वेद में कहा गया है -

''पिता माता मधुवचाः सुहस्ताः................।''
सुरेतसा पितरा.............अमृतं वरीमभिः ॥

ऋ0 5.43.2/1.59.2

माता-पिता अपने बच्चे से मधुर बोलें, और खुले हाथों से उनकी आर्थिक सहायता करें उनके हितका चिन्तन करें, उनका संरक्षण अमृत के समान हो, अथर्ववेद कहता है- **'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा** (3.30.30) भाई भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से प्रेम करे परिवार में एक दूसरे से सभी ऐसे प्रेम करें जैसे गाय अपने नव जन्मे बच्चे से करती है **'सं वो मनांसि जानताम्, समानाहृदयानि, संगच्छध्वं, संवदध्वम्** जैसी भावनाएं वैदिक परिवार के उदाहरण हैं कि जिनका वाल्मीकि रामायण पर प्रत्यक्ष प्रभाव है। राम माता कौसल्या का कितना सम्मान करते हैं कि

रामायणकालीन समाज की वेदमूलकता

डॉ० ज़मीरपाल कौर
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डी.ए.वी. कॉलेज, अमृतसर

वाल्मीकि रामायण न केवल भारत बल्कि पूरे विश्व में एक श्रेष्ठतम काव्य-रचना का स्थान रखती है। यह भारत का राष्ट्रीय आदि-काव्य है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भंडार होने के साथ-साथ यह एक महत्त्वपूर्ण मानवीय समाज-शास्त्र भी है, जिसका अपने तत्कालीन समाज से लेकर वैदिक भारत के सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रीय आदर्शों के साथ अविच्छिन्न संबंध है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रामायणकालीन संस्कृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो मूल भारतीय आदिकालीन समाज और संस्कृति से स्वतंत्र या निरपेक्ष अस्तित्व रखती हो।

वैदिक सामाज के पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विभिन्न पहलुओं का आदर्श स्वरूप वाल्मीकि रामायण में रोचक तथा व्यावहारिक रूप में प्राप्त होता है। वेदकालीन भारत में समकालीन आर्यों की जीवन पद्धति, वर्ण और आश्रम व्यवस्था, विवाह प्रणाली, शासन, सुरक्षा तथा आर्थिक संगठन की विशेषताओं को रामायणकालीन समाज के संदर्भ में रखकर देखना, अपने आप में विशेष महत्त्व का धारणीय विषय है। बल्कि यह कहने में भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक आदर्श समाज के विधान की जो तस्वीर हमें वेदों में प्राप्त होती है, उसका व्यावहारिक स्वरूप रामायण में दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तावित शोध पत्र में वाल्मीकि रामायण के मूल पाठ में प्राप्त समकालीन सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों की वेदकालीन समाज के आदर्श तथा लौकिक एवं व्यावहारिक संगठन के साथ समरूपता का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा, जिस में इस अमर ग्रंथ के सामाजिक तथा ऐतिहासिक युगकालीन महत्त्व एवं उपयोगिता को अगरभूमित करने का प्रयास निहित है। यही तथ्य अपने परिवर्तित रूप में इस महाकाव्य के सर्वव्यापक, सर्वकालीन मूल्य तथा गुणात्मकता को दृष्टिगोचर करता है, क्योंकि किसी भी साहित्यिक कृति की सार्थकता, उसके समकालीन संदर्भो तथा परिस्थितियों की सापेक्षता में ही निहित होती है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक नारी

डॉ० सुनीता जायसवाल
विभागाध्यक्षा-संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
चकिया, चन्दौली उ.प्र.

रामायण आदिकवि महर्षि वाल्मीकि विरचित लौकिक संस्कृत साहित्य का अद्वितीय आदिकाव्य है। रामायण वैदिक साहित्य से परवर्ती रचना है। रामायण की पूर्वसीमा वैदिककाल की समाप्ति का काल माना जाता है। रामायण का अधिकांश चित्रण विशेषकर उसका सामाजिक चित्र 5वीं शताब्दी ई0पूर्व का है। रामायण में हमें पांचवीं शताब्दी ई.पूर्व के भारतीय समाज के पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक जीवन की स्पष्ट झाँकी मिलती है।

किसी भी देश, काल और परिस्थिति विशेष के साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्य के देश, काल, परिस्थिति एवं तत्कालिक पारिवारिक स्वरूप, समाज, संस्कृति, धर्म, शिक्षा, व्यवस्था, राज्य व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था, दार्शनिक चिन्तन प्रणाली, उपासना पद्धति एवं कर्मकाण्ड, वर्णाश्रम व्यवस्था, प्रकृति, भौगोलिक स्थिति एवं पर्यावरण, आचार, विचार, आहार, विहार, मूल्य, मान्यताएँ, परम्पराएँ, व्यक्ति एवं समाज की रुचि, अभिरुचि, अभिवृत्ति एवं आदर्शों का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणगन्थों तथा सूत्र साहित्य में वर्णित वैदिक कालीन नारी का जन्म, बाल्यावस्था, शिक्षा, विवाह, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति तथा नारी के विविध स्वरूप एवं सम्मान की स्थिति के सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण की नारी से काफी साम्य एवं एकरूपता परिलक्षित होती है।

इस शोधपत्र में वाल्मीकि रामायण तथा वैदिक ग्रन्थों से ५३ सन्दर्भ दिए गए हैं।

रामायणकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति

डॉ. (श्रीमती) रंजन
संस्कृत विभागाध्यक्षा
गांधी महिला कॉलेज, भावनगर, गुजरात

राष्ट्र की सभ्यता का सच्चा मापदंड है- समाज में नारी की स्थिति। रामायणकाल की नारी का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए रामायण काव्य में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। नारियाँ ही आदिकाव्य का प्रमुख आलंबन है वे ही काव्य के कथानक को गति प्रदान करके चरम विकास तक ले जाती हैं "काव्यं रामायण कृत्स्नं सीतायाः चरितं महत्" - रामायण 1.4.7- कवि वाल्मीकि का प्रस्तुत विधान ही उस बात का प्रमाण है प्रातः स्मरणिया पांच नारियों में से अहल्या, सीता, तारा और मंदोदरी चारों रामायण के ही स्त्री पात्र हैं

विविध दृष्टिकोण से रामायण में नारी की स्थिति का आभास किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय गृहस्थजीवन में नारी के स्थान को ध्यान में रखते हुए तीन स्वरूप का अभ्यास प्रस्तुत शोधपत्र में किया गया है- 1. कन्या स्वरूप 2. पत्नी स्वरूप 3. माता स्वरूप।

समाज में कन्या के प्रति उपेक्षाभाव, यज्ञक्षेत्र में जनक को सीता की प्राप्ति के प्रसंग में सूचित होता है दूसरी ओर पितृगृहे में बड़े प्यार से उसका लालन-पालन होता था और विवाह योग्य कन्या का अनुरूप वर के साथ परिणय किया जाता था। जनक और उनकी महारानी का सीता के प्रति व्यवहार इस बात का प्रमाण है।

विवाह के बाद कन्या वधू पद प्राप्त करती थी। श्वशुर गृह में उसका बड़ा मान था। पतिव्रता धर्म का पालन आदर्श स्त्री का परम कर्तव्य माना गया था। कौसल्या, अनसूया और सीता के विचारों की अभिव्यक्ति में उस कर्तव्य का कवि ने विस्तृत वर्णन किया है। स्त्री के इस कर्तव्य पालन के प्रति समाज विशेष जागृत था, जिसकी वजह से अयोध्या के रूढ़िवादी और कट्टर समाज ने रावण द्वारा अपहृत सीता को आत्मविलोपन करने पर मजबूर किया। समाज ही नहीं स्त्री का पति भी समाज के साथ था। राम और गौतम ऋषि का दृष्टांत इस बात का प्रमाण है। कर्तव्यपालन के साथ कुछ अधिकार भी स्त्रियों को मिले थे

वाल्मीकि ने शारीरिक आकर्षण और नैतिकगुण समृद्धि से अलंकृत आदर्श पत्नी का चित्र रामायण में अंकित किया है। पति के वश में रहनेवाली पुत्रवती भार्या के रूप में जीवन के धर्म, अर्थ और काम इन परस्परविरोधी पुरुषार्थों का समन्वय हो जाता था। वह अतिथिपूजन आदि कार्यों में

सहधर्मचारिणी बनकर धर्म में, मनोनुकूल होकर काम में और सुपुत्रवती होकर अर्थ में सहायक होती थी। जिसकी वजह से समाज में गृहस्थधर्म का पूर्णरूप से पालन होता था।

वैदिक ऋषियों ने वैवाहिक संबंध को सदा मातृत्व और पितृत्व के महान आदर्शों से गौरवान्वित किया है। संतति की माता ही जाया पद की अधिकारिणी मानी गयी है। ''पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरं, तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।'' एतरेय ब्रा. 7.13,

रामायण में कवि ने सबल, स्वस्थ एवं विशुद्ध संतति प्राप्त करने का परम लक्ष्य विवाह को माना है। और नारी को मातृत्व से गौरवान्वित किया है। कौसल्या और सीता में उदात्त मातृत्व का दर्शन होता है।

चतुर्णामाश्रमाणां गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुच्यते - प्रस्तुत विधान द्वारा वाल्मीकि ने वैदिक संस्कृति का अनुमोदन करते हुए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता स्थापित की है। पत्नी और पति के सायुज्य से गृहस्थाश्रम सफल होता है। दशरथ का परिवार गृहस्थाश्रम की सफलता का उदाहरण है।

विवाह के पश्चात् स्त्रियों को गृहस्वामिनी, सहधर्मचारिणी और माता का पद उस युग में मिल जाता था। पर पत्नी के बीच समानता का भाव नहीं दिखाई देता। अन्य निष्प्राण संपत्ति की भांति स्त्रियों को भी पुरुष निजी संपत्ति मानता था। राम के शब्दों में वाल्मीकि की अभिव्यक्ति यहाँ उदाहरणीय है।

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

६/१०१/१४

''लक्ष्मण की मूर्छा प्रसंगमें'', ''रावणवध के बाद लंका में सीता के प्रति राम के प्रत्याख्यान में और ''उत्तरकाण्ड में अश्वमेध प्रसंग पर प्रजा समक्ष पुनः सीता की चारित्र्यशुद्धि विषयक राम के प्रस्ताव में'' - स्त्री के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट हुआ है। स्त्रियों पर पुरुषों का यह प्रभुत्व भाव और अनेक स्त्रियों के साथ पुरुष का विवाह संबंध- रामायणकालीन समाज की दो बातें ठीक नहीं जंचती।

फिर भी रामायण के समय में सामान्यतः स्त्रियों की स्थिति सुखद थी। संभवतः सुविधाएँ और अधिकार उनको मिले थे। और इन के सहारे वे परिवार, समाज और राष्ट्र के उत्थान में अमूल्य योगदान करती रहती थी।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक शिक्षा व्यवस्था

डॉ० विनय कुमार विद्यालंकार
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
लोहाघाट जिला-चम्पावत

शिक्षा का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। जीवन का आधार शिक्षा ही है, व्यक्ति के जीवन में जैसी शिक्षा होती है वैसा ही उसके जीवन का निर्माण होता है। वेद मानव निर्माण शास्त्र हैं, अर्थात् वेद में जीवन निर्माण के सभी सूत्र विद्यमान हैं उसी प्रकार लौकिक काव्य के आदि ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण में भी मानव निर्माण की शिक्षा के सूत्र न हों यह संभव ही नहीं हैं। वेद प्रतिपादित शिक्षा का स्वरूप रामायण में भी उपलब्ध होता है।

वैदिक विचार धारा के अनुसार बालक शैशव पार कर, मातृमान् और पितृमान् बन आचार्यवान् होने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तथा आचार्य रूप अग्नि में स्वयं को समिधा बनाकर ज्ञान ज्योति से प्रदीप्त हो जाता है। प्रथम आश्रम शिक्षा का आश्रम है वेदों का अध्ययन करते हुए हमें शिक्षा सम्बन्धित अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं। वेद में शिक्षा का व्यापक उद्देश्य है- विद्यार्थी जब समित्पाणि होकर आचार्य के समीप पहुँचता है और आचार्य कुल की अग्नि में समिधा डालता हुआ जिस मन्त्र का उच्चारण करता है उसका भाव है- ''इस बृहत् जातवेदस् अग्नि के लिए मैं समिधा लाया हूँ, हे अग्ने! जैसे तू समिधा से समिद्ध होता है वैसे ही मैं आयु, मेधा, तेज, प्रजा, पशु व ब्रह्मचर्य से प्रज्ज्वलित हो जाऊँ। मैं मेधावी, अनिराकरिष्णु (सज्जनों व सद्वृत्तियों का निराकृत न करने वाला) यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी और अन्नाद हो जाऊँ। वैदिक शिक्षा का उद्देश्य है कि छात्र गुरु के सानिध्य में रहकर शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार का विकास करें। वह शिष्ट सद्व्यवहार करने वाला बन जाए। शिक्षा का यही उद्देश्य वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध होता है कि मानव की सभी प्रकार से उन्नति ही विद्या या शिक्षा का उद्देश्य है। जिस समय धनुष भन्जन होता है और महर्षि परशुराम कुपित होते हैं तो महाराज दशरथ कहते हैं-

भार्गवाणां कुले जाता स्वाध्यायव्रतशालिनाम्।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि॥

यहाँ ''**स्वाध्यायव्रतशालिनाम्**'' अत्यधिक महत्वपूर्ण पद है सरलता से कहा जा सकता है शिक्षा या स्वाध्याय का फल विवेकपूर्ण व्यवहार है यदि विद्यावान् होकर भी विपरीत व्यवहार करते हो तो शिक्षा का क्या फल हुआ।

इसी प्रकार युद्ध काल में राम के शिविर में आये हुए विभीषाण को देखकर सुग्रीव के अनुचित वचनों को सुनकर श्रीराम कहते हैं कि जिसने शास्त्र नहीं पढ़े, वृद्धो का संग नहीं किया वही ऐसे असामयिक वचन कह सकता है। अर्थात् शास्त्रों का अध्ययन करना ही शिक्षा नहीं है अपितु पूज्यों का सम्मान एवं सद्व्यवहार का ज्ञान व आचरण भी विद्या का फल है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-पत्र में विस्तार से शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा पद्धति, शिक्षा का क्षेत्र, शिक्षा के गुणं, शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध, शिक्षण शैली, पाठ्य, शिक्षा में तप का स्थान आदि विषयों पर चर्चा की जायेगी।

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक वर्णव्यवस्था

डॉ० वेदप्रकाश वेदालंकार
विद्यावाचस्पति
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
डी.ए.वी. कॉलेज, अम्बाला

वाल्मीकि रामायण भारत का राष्ट्रिय आदिकाव्य है। वैदिक वर्णव्यवस्था का स्वर्णयुग इसमें प्रतिबिम्बित है। वेदों तथा समस्त वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से परिज्ञात होता है कि वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का स्वरूप अपने शुद्धतम रूप में विद्यमान था। वर्णव्यवस्था के माध्यम से उसके विभाजक तत्त्व जनता को विभक्त नहीं करते थे। उस युग में वर्ग-जात का कोई प्रश्न नहीं था। यही कारण है कि ऋग्वेद (10/191/3-4) आदेश देता है कि तुम्हारी मंत्रणा में, समितियों में विचारों और चिन्तन में समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य या दुर्भावना न हो-

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

समष्टि भावना से युक्त होकर वैदिक ऋषि अपने अपने नियत कर्तव्य-पालन पर बल देते रहे हैं। यजुर्वेद में उल्लेख आता है-

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्।
(यजुर्वेद ३०/५)

यहाँ ब्रह्म-कृत्यों के लिए ब्राह्मण, राजकृत्यों के लिए क्षत्रिय, व्यपार-कृषिकर्म के लिए वैश्य और सेवा तथा तपस्या के लिए शूद्र को माना गया है।

जब ये सभी वर्ण मिलकर अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं, तभी सम्पूर्ण उन्नति सम्भव है। यजुर्वेद में कहा है-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च उभौ संचरतः सह।
तं देशं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।
(ऋग्वेद १०/९९/१२, यजुर्वेद ३१/११)

अर्थात् ब्राह्मण इस समाज के ज्ञान प्रधान होने से मुखस्थानीय है। क्षत्रिय रक्षण-प्रधान होने से बाहु स्थानीय है। वैश्य कोषरक्षण प्रधान होने से ऊरू स्थानीय है। और शूद्र सेवा-धर्म प्रधान होने

से पाद-स्थानीय है।

जैसे हमारे शरीर में मुख, बाहु, ऊरू और पैर ये चार प्रमुख अंग हैं वैसे ही समाज रूप शरीर के निर्वहन के लिए चार वर्ण-अंगविशेष हैं।

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्

(अथर्ववेद ३/३०/७)

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपद् प्रियः।।

यथा मनुमहितेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता।।

(बा.का. सर्ग-६, श्लोक १,४)

श्रीरामचन्द्र जी के विषय में कथन है-

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य रक्षिता।
वेद वेदांग तत्त्वज्ञों धनुर्वेद च निष्ठितः।।

(बा.का. सर्ग-१, श्लोक ४)

यजुर्वेद विनीतश्च वेदविद्भिः सुपूजितः।
धनुर्वेद च वेदे च वेदांगेषु च निष्ठितः।।

(सु.का.,सर्ग-३५, श्लोक १४)

ऋत्विग्भिः ब्राह्मणैः पूर्वं कन्याभिः मंत्रिमिस्तथा।
याधैश्चैवाम्यर्षिं च स्ते संप्रद् दृष्टैः स नैगमैः।।

(यु. सर्ग. १३०, श्लोक ६२)

बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता।
तेनास्येहाऽतुलाकीर्तिर्यशश्च स्तेजश्चवर्धते।।

देवासुर मनुष्याणां सर्वशास्त्रेषु विशारदः।
सम्यक् विद्यापुत्र स्नातो यथावत् सांगवेदवित्।।

(अयो. सर्ग-२, श्लोक ३३-३४)

नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्।।

(कि.का., सर्ग १, श्लोक-२८)

ओं आ ब्रह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजयः शूर इषव्योऽतिव्याधि महारथो जायताम्।।

रामायण के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों की स्थिति

डॉ० सरोज नौटियाल
रीडर, संस्कृत विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय,
देहरादून

रामायण भारतीय इतिहास के उस महत्वपूर्ण युग का प्रतिनिधित्व करता है जब पौराणिक हिन्दू धर्म की आधार शिला रखी गई; अनेक मान्यताओं एवं परंपराओं ने स्वरूप ग्रहण किया। इस महाकाव्य में प्राप्त संदर्भों के आधार पर सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप एवं मान्यताओं का सामान्यीकरण संभव नहीं है क्योंकि इसमें प्रतिबिम्बित समाज अनेक क्षेत्रीय विशिष्टताओं से समन्वित एक विस्तृत क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है; साथ ही इसमें वर्णित चरित्र समाज के विभिन्न वर्गों से संबंधित है। नगरीय सभ्यता के कुलीन वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले राम अपनी दीर्घ यात्रा के क्रम में अनेक जंगली जनजातियों एवं कबाइली संगठनों के संपर्क में आते हैं। जोड़े गए प्रक्षिप्तांश भिन्न-भिन्न समय के समाज की तस्वीर उपस्थित करते हैं। अत: प्रचलित मान्यताओं एवं विश्वासों को तत्कालीन संपूर्ण भारतीय समाज से संबंधित करना उचित नहीं है तथापि इस महत्वपूर्ण महाकाव्य के संदर्भों से ज्ञात होता है कि स्त्रियों की स्वतन्त्रता पूर्ववर्ती काल की तुलना में बाधित हुई थी।

पुरुषों की तुलना में समाज में उनका निम्न स्थान था। पर्दा प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन, स्वयंवर परम्परा के ह्रास का प्रमाण, गणिकाओं एवं विधवाओं की दयनीय स्थिति इसकी पुष्टि करती है। रामायण में स्त्रियों के लिए विशिष्ट शिक्षा से संबंधित कोई संदर्भ प्राप्त नहीं होता। किसी स्त्री, मंत्री या महत्वपूर्ण पदाधिकारी की सूचना भी नहीं मिलती परन्तु सीता, तारा, अनसूया आदि के वार्तालाप एवं विचारों से लगता है कि वे सामान्य विषयों एवं राजनीति का ज्ञान रखती थी। उनके लिए शिक्षा की सामान्य व्यवस्था रही होगी परन्तु राजनैतिक विषयों पर निर्णय लेने का अधिकार स्त्रियों (राजपरिवार से संबधित) को नहीं था। राम ने माँ की इच्छा को नकारते हुए पिता के आदेश से स्वयं को बाधित बताते हुए वन को प्रस्थान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ कवि, विद्वान्, दार्शनिक, ब्रह्मवादिनी हो सकती थी। परन्तु सभाओं में अपनी विद्वत्ता के प्रदर्शन या राजनीति में अपना लोहा मनवाने का सौभाग्य उनके हिस्से में नहीं था। उनकी वास्तविक पहचान पति की सहचरी एवं यशस्वी पुत्र की माँ के रूप में ही मान्य थी। समाज या राज्य में प्रभावी भूमिका निभाने, मौलिक परिवर्तन के नेतृत्व देने या नीति-निर्धारण में भाग लेने के संबंध में उनके महत्व को व्यवस्थापकों ने गंभीरता से नहीं लिया।

वैदिक सन्दर्भ के आलोक में रामायणकालीन नारी

डॉ० नलिनी शुक्ला
एम.ए.(संस्कृत)बी.एड.
ल.वि.वि. लखनऊ

किसी भी समाज के विकास को जानने के लिए उस काल की नारी की स्थिति जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि नारी ही सामाजिक विकास का मापक होती है। वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने पर तत्कालीन समाज में चित्रित नारियों का महत्त्वपूर्ण स्थान दृष्टिगोचर होता है- "गृहिणी गृहमुच्यते" की मूल भावना वैदिक साहित्य में परिलक्षित होती है। वेदों के समान ही रामायण में भी कई प्रधान एवं आनुषांगिक नारी पात्रों के विशद वर्णन से रामायणकालीन नारी की स्थिति का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित होता है।

वैदिक वाङ्मय में नारी कहीं पुत्री, कहीं भगिनी तथा अन्यत्र पत्नी एवं माता के रूप में तथा इसके अतिरिक्त वह ऋषिका के पद गौरव को प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर होती है। नारियों के लिए प्रयुक्त दुहितृ योधा-मातर जनिमीजाभिजाया-वधू-अम्बा इड़ा काम्या चन्द्रा आदि वैदिक शब्द उनके वैशिष्ट्य के द्योतक हैं।

रामायण में भी स्त्री को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। तथा एक स्थान पर कहा गया है कि गुणवान् कन्या की प्राप्ति दीर्घ तपस्या करने से होती है।

दोनों ही कालों में नारी की शैक्षिक स्थिति अत्यन्त उत्तम थी। वेद विद्याओं में पारंगत होने के साथ-साथ यज्ञादि कर्मों, शास्त्रार्थ की ज्ञाता तथा मन्त्र दृष्टा थी। वैदिक काल में नारी की धार्मिक स्थिति अत्यन्त उन्नत थी यहाँ तक कि नारी के अभाव में नर यज्ञ का अधिकारी नहीं था परन्तु पत्नी अकेले भी यज्ञ करती थी। रामायण में भी पति-पत्नी दोनों की समस्त धार्मिक क्रिया कलापों में सहयोगी बताया गया है। यज्ञादि कर्मों में स्त्रियाँ पति की सहायता करती थी तथा मान्यता थी कि पति-पत्नी संयुक्त रूप से कर्मफल भोगते हैं।

दोनों ही कालों में स्त्रियों को विवाह हेतु वर चुनने का अधिकार था तथा विवाहोपरान्त कन्या को अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाता था। बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था, पत्नी के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास माता के रूप में होता था। नैतिक आदर्शों के अतिरिक्त पत्नी में शारीरिक आकर्षण की अपेक्षा की जाती थी परन्तु सौन्दर्य तभी पूर्ण माना जाता था जब उसका हृदय और स्वाभाव भी सुन्दर हो पत्नी के पालन का दायित्व पति का होता था तथा स्त्रियों का धन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। वेदों तथा रामायण दोनों में विधवा नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिनके लिए वैधव्य से बढ़कर कोई दुःख नहीं है। विधवा विवाह का उल्लेख भी है।

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य तथा रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नारी को तत्कालीन समाज में कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में समस्त सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अधिकार प्राप्त थे और इनके सहारे वे परिवार, समाज, राष्ट्र के उत्थान में अमूल्य योगदान करती थी।

रामायण में वैदिक शिक्षा-व्यवस्था

डॉ० सन्तकुमार मिश्र
प्रवक्ता-शिक्षा विभाग
दीवान कॉलेज ऑफ एजुकेशनल स्टडीज
परतापुर, मेरठ (उ.प्र.)

रामायण तथा स्मृतियों के अन्त:साक्ष्यों के आधार पर रामायणकाल आज से लगभग 6500 वर्ष पूर्व सिद्ध किया जाता है। इस समय के समाज में तीन प्रकार की संस्कृतियाँ - राक्षस संस्कृति, वानर संस्कृति तथा आर्य संस्कृति अस्तित्त्व में थी। इनमें आर्य संस्कृति की अन्य पर श्रेष्ठता स्थापित होती है फिर भी तीनों संस्कृतियाँ वैदिक शिक्षा से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होती हैं। वेदकालीन संस्कृति में मानव जीवन को पाशिवकता के गर्त से निकालकर विशाल एवं उदात्त उद्देश्यों से युक्त कर दिया गया था और यह कार्य शिक्षा के माध्यम से हो सका था, क्योंकि शिक्षा ही वह माध्यम था जिससे व्यक्ति सत्, असत् का ज्ञान प्राप्त कर परमलक्ष्य-मोक्ष की प्राप्ति करता है।

आर्य-संस्कृति की वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था तथा संस्कारों को रामायणकाल में स्वीकार किया गया था। इस समय प्राथमिक शिक्षा घर में दी जाती थी। जिसमें माता-पिता का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राथमिक शिक्षा की समाप्ति के बाद बच्चे को आश्रम में भेज दिया जाता था। यद्यपि स्त्री-शिक्षा की स्थिति अधिक अच्छी नहीं थी। फिर भी कौसल्या, सीता, शबरी, तारा, मन्दोदरी के दृष्टान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि उच्च कुलों की स्त्रियाँ शिक्षा नगरों में ही प्राप्त करती थी। अयोध्या में ऐसी नाटक मंडलियाँ थी, जिनमें केवल स्त्रियाँ ही नृत्य व अभिनय की शिक्षा प्राप्त करती थी (वा.रा. 2.22.13)।

लव-कुश के माध्यम से इस समय की शिक्षा को रेखांकित किया गया है। श्रीराम जी को ऋषि विश्वामित्र ने बला, अतिबला नामक विद्याओं के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों तथा शास्त्रों का ज्ञान प्रदान किया था, जिनमें वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, संगीत, विज्ञान, गणित, चिकित्सा सम्मिलित थे। वैद्य सुषेण चिकित्सा शास्त्र के ज्ञाता थे। रावण वेद का परम ज्ञानी था। इसी प्रकार हनुमान, अंगद, इन्द्रजित, अतिकाय को शस्त्र-शास्त्र में निपुण बताया गया है। रामायणकाल में तीन विद्यायें प्रचलित थीं - त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति।

रामायणकाल में शिक्षा आश्रमों, अग्रहारों, नगरों तथा ग्रामों में दी जाती थी। यहाँ पढ़ने वाले विद्यार्थियों का सम्पूर्ण उत्तरदायित्त्व गुरुओं पर होता था, जो उन्हें पुत्रवत् रखते थे तथा कथन, वार्तालाप, वाद-विवाद, उपदेश, शास्त्रार्थ विधि से शिक्षा देते थे। विद्यार्थी भी चिन्तन, मनन, निदिध्यासन द्वारा अपने ज्ञान तथा धारणा शक्ति को विकसित करते थे। वे ब्रह्मचारी के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ज्ञान, तप एवं उपासना तथा वेदोक्त कर्म-स्वस्ति, कृत, हुत के माध्यम से सप्तमर्यादाओं में रहते थे। डॉ. ए.एस. अल्टेकर की बात सत्य प्रतीत होती है कि इस समय शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, भौतिक व आध्यात्मिक क्षमताओं का विकास करते हुए स्वयं तथा समाज को उत्कृष्टता प्रदान करता था।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक संस्कृति

डॉ० ओजोव्रत शास्त्री
प्रधानाचार्य, गुरुकुल आश्रम,
जानकीपुरम, लखनऊ

किसी भी देश या समाज की पहचान उसकी संस्कृति से ही होती है। संस्कृति का अर्थ है उसकी जीवन शैली या समाज में किये जाने वाले उसके व्यवहार जिससे सामान्य जन या उसके स्वजन और अन्त में पूरा राष्ट्र प्रभावित होता है। संस्कृति ही उसकी पहचान को एक पृथक् स्वरूप प्रदान करती है जिससे वह समाज में स्थान पाता है।

वैदिक संस्कृति का सर्वोत्तम उदाहरण हमें रामायण काल में देखने को मिलता है।

धर्म एव हतो हन्ति धार्मो रक्षति रक्षितः

नारद जी रामायण के प्रमुख पात्र श्री राम का वर्णन करते हुए कहते हैं-

स च सर्व गुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धौर्येण हिमवानिव॥ १/१७ (बालकाण्ड)
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।
कालाग्निः सदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः॥ १/१८ (बालकाण्ड)

राम सर्व गुणसम्पन्न, कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले, समुद्र के समान गम्भीर पर्वत के समान धौर्यवान्, विष्णु के समान पराक्रमी, चन्द्रमा के समान प्रियदर्शी, कालाग्नि के समान क्रोधी, पृथिवी के समान क्षमाशील सत्यभाषण में मानो दूसरे धर्म हैं।

निर्लोभ जीवन शैली

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधाः कस्य स्विद्धनम्

राम के राज्य में सभी लोग संतुष्ट निर्लोभी व सत्यवादी थे।

तस्मिन्पुरवरे हृष्टा धर्मात्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥ (बालकाण्ड-६/६)

राम ने बाली को मारकर उसका राज्य उसी के भाई सुग्रीव कों समर्पित कर दिया। हनुमान् कहते है। हे राम-

भवत्वप्रसादात्सुग्रीवः पितृपैतामहं महत्।
वानराणां सुदुष्प्रापं प्राप्त राज्यमिदं प्रभो॥ २०/२

आपकी कृपा से पिता पितामह का राज्य सुग्रीव को प्राप्त हुआ।

रावण बध के पश्चात राम त्याग भाव से कहते है। हे लक्ष्मण रावण के छोटे भाई विभीषण को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त करो-

विभीषणमिमं सौम्य लंकायामभिषेचम्।
अनुरक्तं च भक्तं च मम चैवोपकारिणम्॥ ६२/२-३

मातृ देवो भव। पितृ देवो भव

ते चापि मनुज व्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः।
पितृ शुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिता॥ ९/२४

चारो भाई वेद आदि सत्य शास्त्रे और धनुर्वेद का अध्ययन करके माता पिता की सेवा करने लगे। आचार्य देवो भव अतिथि देवो भव

आसनावस्थौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने सम समम्॥ मनु ३/१०४

मनुस्मृति के आधार पर रामायण काल में भी विद्वानों और अतिथियों का सदा सम्मान और आदर होता था। शृष्यशृंग के सत्कार के लिए दशरथ से सुमन्त्र कहते है-

स त्वं पुरूष शार्दूल तमानय सुसत्कृतम्।
स्वयमेव महाराज गत्वा सबल वाहनः॥ ७/२

हे महाराज आप सेना और वाहनों सहित ऋज़ि को आदर पूर्वक ले आयें।

वर्तमान संदर्भ में रामायण की उपादेयता

डॉ० चन्दा बानो ज़ैदी
वरि. प्रवक्ता, संस्कृत विभाग (के.एस.आई.)
डा0 बी.आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

'रामायण' संस्कृत साहित्य का आदि महाकाव्य है। ऐतिंहासिक नाम और योग्यता के अरुणोदय में रचे जाने पर भी यह ग्रन्थ अनुपम और अद्वितीय है। भारतीय साहित्य में वह शुभ चिरस्मरणीय रहेगा जब तमसा के तट पर महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से यह करुणामयी वाग्धारा फूट पड़ी थी।

मा निषाद-प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

भारतीय संस्कृति का जैसा समुज्ज्वल सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र इस महाकाव्य में अंकित हुआ है वैसा संसार के किसी अन्य देश के 'महाकाव्य में वहाँ की संस्कृति का चित्र शायद ही उतरा हो। मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही महर्षि वाल्मीकि ने इस महाकाव्य की रचना की है। इस 'रामायण' की कथा से भारत के जनसाधारण आबाल-वृद्ध वनिता केवल शिक्षा ही नहीं पाते, आनंद भी पाते हैं, केवल उसे शिरोधार्य ही नहीं करते, हृदय में भी रखते हैं यह केवल धर्मशास्त्र ही नहीं काव्य भी है।'

विद्वानों ने उसकी रचना शैली, विचारों की मनोहरता तथा रमणीय दृश्यों के चित्रण के कारण अलंकृत शैली के काव्यों में 'रामायण' को प्रमुख स्थान दिया है। 'रामायण' में होमर वर्जिल और मिल्टन की अपेक्षा कहीं अधिक भाषा का गाम्भीर्य, छन्दों का औचित्य और रसों का परिपाक है। रामायण महाकाव्य में मानव अन्त:प्रकृति का जैसा स्वाभाविक सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है, वैसा ही बाह्य प्रकृति के दृश्यों का भी संजीव और यथातथ्य चित्रण हुआ है। मानव मनोवृत्तियों का जैसा व्यापक और विशद निरुपण उसमें हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

वाल्मीकि रामायण हमारे देश के प्राय: प्रत्येक युग के बड़े कवियों और नाटककारों का आदर्शभूत ग्रन्थ रहा है- 'मधुमयमणितीनां मार्ग दर्शी महर्षि:। प्रत्येक भारतीय इस महाकाव्य से अत्यधिक अनुप्रमाणित हुआ है।'

रामायण की संस्कृति का प्रचार हिन्दू धर्म के व्याख्याताओं और उन्नायकों का सदा से प्रिय विषय रहा है और हमारे साहित्य में ऐसे लेखों, ग्रन्थों या काव्यों की कमी नहीं, जिनमें राम की स्तुति, उनके अलौकिक चरित्र का कीर्तन अथवा एक मर्यादा-पुरुषोत्तम लोकोत्तर विभूति के रूप में उनका न चित्रण किया गया हो। रामायण के नैतिक आदर्शो का गुणगान करने वाले गंभीर भाषण, लेख आदि भी आये दिन सुनने में आते रहते हैं। भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं को समझने के लिए रामायण और महाभारत में वर्णित सांस्कृतिक परिस्थितियों से सुपरिचित होना आवश्यक है क्योंकि एक तो उनकी संस्कृतिआज भी हमारे समाज में न्यूनाधिक रूप से परिलक्षित होती है और दूसरो प्राचीन सभ्यता और संस्कृति, राजनीतिक और सामाजिक जीवन का जैसा सजीव वर्णन उनमें मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

वाल्मीकीय रामायण में हिन्दू संस्कृति

डॉ० जितेन्द्र कुमार
संस्कृतविभागाध्यक्ष
शहीद उधम सिंह राजकीय महाविद्यालय, इन्द्री

वाल्मीकीय रामायण में प्राचीन हिन्दू संस्कृति का अत्यन्त विशद एवं सर्वांगपूर्ण चित्रण हुआ है। प्रस्तुत लेख में प्राचीन संस्कृति का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया गया है।

सामाजिक व्यवस्था- रामायण में दर्शायी गई आर्यों की सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम पर आधारित थी। वर्ण चार थे, - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। दैनिक जीवन में ब्राह्मणों का अग्रिम स्थान था। श्रीराम को **'ब्राह्मणानामुपासक:'** कहा गया है। क्षत्रिय का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। श्रीराम के अनुसार क्षत्रिय धनुष इसलिए धारण करता है कि संसार में आर्त का अस्तित्व ही न रहे। वैश्य जन कृषि, गोपालन और वाणिज्य- व्यवसाय करते थे। तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का विहित धर्म था।

पारिवारिक स्थिति- रामायण काल में संयुक्त परिवार प्रणाली थी, जिसका मुखिया पिता होता था। पिता की आज्ञा पुत्रों के लिए सदा पालनीय होती थी। परिवार के अनुशासन में स्वार्थत्याग, सेवाभावना जैसे गुणों को महत्व दिया जाता था।

शिक्षा-दीक्षा- उस काल में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था। वाल्मीकि के अनुसार उस समय देश में कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख अथवा नास्तिक नहीं था।

उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त इस शोधपत्र में रामायणकालीन धार्मिक जीवन, सांस्कृतिक जीवन, रामायण में नगर, ग्राम, आश्रम आदि विभिन्न विषयों पर भी चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक वर्ण व्यवस्था

तृप्ति गोस्वामी
शोधछात्रा, पीलीभीत

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥

वाल्मीकि की रामायणमयी वाणी एक देश विशेष के प्राणियों की ही मंगलसाधना नहीं करती और न किसी काल-विशेष के जीवों का मनोरंजन करती है, अपितु वह तो सार्वकालिक व सार्वदेशिक है।

रामायण काल में भद्र-जनों का समाज निश्चित रूप से वर्णों में विभाजित हो चुका था। वर्ण-व्यवस्था के ये बीज ऋग्वैदिक काल में ही दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के 'पुरुष सूक्त' में चारों वर्णों की उत्पत्ति उसी परम पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्गों से बतायी गयी है-

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

ऋग्वैदिक समाज में वर्णों का विभाजन स्पष्ट व पूर्णरूप से नहीं हुआ था। रामायणकालीन वर्ण व्यवस्था, वैदिक काल की अपेक्षा अधिक पार्थक्यपूर्ण थी। वाल्मीकि ने चारों वर्णो का स्पष्ट उल्लेख किया है-

चातुर्वर्ण्य स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्। ४/४/६

सार्वजनिक उत्सवों में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के साथ तदनुरूप व्यवहार किया जाता था।

सर्वे वर्णा यथापूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः १/१३/१४

रामायण काल में वर्णव्यवस्था को राजकीय स्वीकृति प्राप्त थी, अतः उसका पालन करना प्रजा के लिए अनिवार्य था। राम स्वयं चारों वर्णों के रक्षक थे तथा सामाजिक मर्यादाओं का पालन करते थे। अतः यह सिद्ध होता है कि रामायणकालीन समाज वर्ण-व्यवस्था में विभाजित होने के साथ पूर्ण रूप से मर्यादित था।

वाल्मीकि रामायण में विवाह संस्कार

डॉ० ब्रह्मानन्द पाठक
(शोधसहायक-संस्कृत)
संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

संस्कृति मानव समाज के इतिहास की आचरण, चिन्तन, शिक्षा, कला, साहित्य, प्रशासन एवं समाज के परिष्कृत मूल्यों की गरिमामयी धरोहर है इसी से स्वस्थ परम्परित दिशा प्राप्त करके सम्पूर्ण मानवता विकास एवं उन्नति की ओर अग्रसर होती है, परम्परा प्राप्त सुन्दर पद्धति एवं सत्प्रवृत्तिप्रेरित कर्म ही संस्कृति है। अत: संस्कार या संस्कृति शरीर का नहीं वरन् आत्मा का गुण है। भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में संस्कारों के सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से न होकर सम्पूर्ण समाज से होता था। ये संस्कार वैवाहिक जीवन के दायित्वों के प्रतीक भी होते थे। निरन्तर प्रवाहमान भारतीय संस्कृति में विवाह के विविध आदर्शों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में ऋषि विवाह के आदर्श को बताते हुए कहते हैं-

''गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः''

(ऋग्वेद 10.85.36)

वेदों के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में संस्कार विवेचन प्राय: विवाह संस्कार से प्रारम्भ होता है। गृह्यसूत्रों में वर्णित समस्त वैवाहिक संस्कार के लगभग सारे ही शास्त्रीय आधार वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होते है। विवाह के वैदिक आदर्श को प्रस्तुत करते हुए रामायण में विवाह के प्रयोजनों-धर्मपालन, पुत्र प्राप्ति तथा रति, का वर्णन किया गया है। विवाह के जिन प्रकारों का वर्णन गृह्यसूत्र (आश्वलायन गृह्यसूत्र 1.4.31-32), धर्मसूत्रों (गौतम धर्मसूत्र 1.4.4-11, बौधायन धर्मसूत्र 1.11.20.2-16), स्मृतियों (मनुस्मृति 3.21) ने समाज में प्रचलित विवाहों को वर्ण एवं नीति के अनुकूल अलग-अलग आठ प्रकारों में विभाजित किया है। रामायणकालीन संस्कृति में उन आठ विवाह-प्रकारों के प्रसंग नामोल्लेख सहित प्राप्त नहीं होते, किन्तु कुछ विवाहों को विशिष्ट प्रकार का माना अवश्य जाना चाहिए। रामायण में प्राप्त ब्रह्म, प्रजापत्य, राक्षस, आसुर, गान्धर्व, पैशाच आदि विवाह तो प्रसंगवश प्राप्त होते ही हैं। वाल्मीकि रामायण में स्वयंवर, अनुलोम, प्रतिलोम विवाह अतिरिक्त आदर्श रूप में पाये जाते हैं।

रामायण में तो रावण ने अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न कराकर समस्त सामाजिक अथवा समाजशास्त्रीय व्यवधानों को सुधार कर सुलभ और सर्वजन ग्राह्य बनाया था। वंश भेद परम्परा तो थी किन्तु उसका आधार विवाह में आड़े नहीं आता था। रावण ने अपने वंशजों का विवाह (7.12.24) स्वयं उसी प्रकार कराया था। इस प्रकार रामायण कालीन संस्कृति में विवाह समाज में एक उच्च धार्मिक संस्कार के रूप में अपना आदर्श प्रस्तुत किया था।

मैं अपने शोध-पत्र में **''वाल्मीकि रामायण में विवाह संस्कार''** विषय में समस्त वैदिक विवाह आदर्श को समुचित रूप से विवेचित करने का सार्थक प्रयास करूँगा।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक वर्णव्यवस्था

प्रतिमा त्रिपाठी
(शोधछात्रा-संस्कृत)
संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारतीय ऋषियों ने समाज के विभिन्न कार्यो की दृष्टि से चातुर्वण की जिस अद्भुत अवधारणा को प्रस्तुत किया वह वर्ण-व्यवस्था व्यक्तियों के अपने गुणों और कर्मो के अनुसार विकसित हुई थी। चारों वर्ण परस्पर प्रीतिभाव से रहते थे। ऋग्वेद में ऋषि ने एक मन्त्र द्वारा चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का निर्देश किया है। ये वर्ण परमपुरुष परमेश्वर के अंगों से उत्पन्न हुए थे-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।। (ऋग्वेद १०.९०.१२)

ऋग्वेद में वर्णित यही चातुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) व्यवस्था वाल्मीकि रामायण में श्रुति का ही सन्दर्भ दिया गया है जिसमें ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के सदृश ही विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, वक्षस्थल से क्षत्रिय, जघांओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पत्ति का दृष्टान्त है-

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्र इति श्रुतिः।। (बा०रा० ३.१४.३०)

ऋग्वेद में वर्ण व्यवस्था कर्म प्रधान थी किन्तु रामायण काल में वह व्यवस्था मूलतः जन्म प्रधान थी, कर्म नहीं। ब्राह्मण पुत्र ब्राह्मण ही था, भले ही वह परिस्थितिवश वैश्यकर्म कृषि आदि करने लगा हो। त्रिजट नाम का एक ब्राह्मण था किन्तु वह वैश्यों की भाँति कृषि कर्म द्वारा जीविकोपार्जन करता था (2.32.29)। रामायण में जन्म से श्रेष्ठ कर्म द्वारा दूसरा वर्ण ग्रहण करने का केवल एक उदाहरण प्राप्त होता है। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे किन्तु कठोर एवं दीर्घ तपस्या के द्वारा उन्होने ब्राह्मणत्व सिद्ध किया था (1.65.26-27)।

रामराज्य में भी चारो वर्ण लोभरहित थे और सन्तुष्ट होकर अपने-अपने कर्मो में संलग्न रहते थे (6.128.114) अयोध्या में रहने वाले चारो वर्ण क्रमशः अपने से उच्च वर्ण की आज्ञा पालन में तथा सेवा में लगे रहते थे-

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः।। (१.६.१९)

रामचन्द्र जी के अयोध्या लौटा लाने के लिए जब भरत चित्रकूट जाने को तत्पर हुए तो चारों वर्णो के लोग वहाँ जाने के लिए तैयार हो गये- **''ततः समुत्थाय कुले कुले ते, राजन्यवैश्या वृषलाश्च विप्राः** (२.८२.३२) चित्रकूट में राम ने भरत से प्रश्न किया था कि स्वकर्मनिरत चारों वर्णों से युक्त अयोध्या की भली भाँति रक्षा तो हो रही है? (2.100.42)। इन समस्त विवेचनों से यही स्पष्ट होता है कि रामायण काल में चातुर्वर्ण्य सुस्थापित था।

इस प्रकार मैं अपने शोध पत्र के माध्यम से रामायण में वर्णित वैदिक वर्ण व्यवस्था का आदर्श विवेचन प्रस्तुत करने का समग्र प्रयास करूँगी।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक समाज व्यवस्था

आँचल गुप्ता
पीलीभीत।

वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। पुत्र तथा पुत्री, वधू तथा स्त्री सब लोग उसकी छत्र-छाया में अपना सुखद समय बिताते थे। पिता केवल पुत्रों को ही शिक्षा नहीं देता था अपितु पुत्रियों को भी ललित कलाओं की शिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाता था। ऋग्वेद के युग में विवाह एक सुव्यवस्थित प्रथा के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आर्य संग्राम प्रिय जाति थी जो शत्रुओं के साथ संग्राम में अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखलाने के लिये सर्वदा उद्यत रहती थी। वैदिक आर्यो का समाज कृषिबल समाज था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में आर्यो को दासों तथा शूद्रों का विरोधी कहा गया है। वेद जिस परमतत्त्व का वर्णन करते हैं, वही श्रीमन्नारायण तत्त्व श्रीमद्रामायण में श्री राम रूप में निरूपित है इसलिये श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की वेदतुल्य ही प्रतिष्ठा है। वैदिक संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं को परिवर्तित कर नई दिशा एवं नई विद्या प्रदान करने का श्रेय रामायण को ही है। रामायण में पारिवारिक सम्बन्धों तथा सामाजिक जीवन का इतनी बारीकी से विश्लेषण किया गया हैं वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में होना दुर्लभ है। रामायणकालीन समाज में भारतवासियों को दो भागों में विभाजित किया गया है- आर्य तथा अनार्य। उस युग में वर्णो का विभाजन गुण-कर्म के अनुसार किया जाता था। उस समय समाज का चार भागों में बंटवारा किया गया था-

''चातुर्वर्ण्य स्वधर्मेण नित्यमेवभिपालयन्''

वेदों का पठन-पाठन ब्राह्मणों का मुख्य कार्य था। ब्राह्मणों शूद्रों के लिये वैदिक ज्ञान प्रदान करना निषिद्ध था। इसका आशय हम सीता के द्वारा रावण से कहे गये इस कथन से लगा सकते हैं-

''भावं न चास्याहमनुप्रदातु-
मलं द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय॥

रामायणकालीन समाज में आश्रम की संख्या चार हो चुकी थी तथा उस समय परिवार को समस्त मानवीय संगठनों की मूल इकाई और सामाजिक विकास की पहली सीढ़ी माना जाता था। पिता परिवार का मुखिया था। अतः राम ने धनुर्भंग करने पर भी विवाह से पूर्व पिता की आज्ञा लेना अपना परम कर्त्तव्य समझा-

''दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्रह राघवः।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः॥

उस युग में विवाह से पूर्व वर-वधूमें कोई परिचय नहीं होता था। दाम्पत्य प्रेम को विशेष महत्व दिया जाता था। राष्ट्र तथा व्यक्ति के जीवन में अर्थ का विशेष महत्व था, जैसा कि लक्ष्मण के भाषण से स्पष्ट है-

''अर्थ ही धर्म का मूल है''

शिक्षा का उस युग में प्रचुर-प्रसार था तथा रामायणकालीन समाज ''Simple Living and High Thinking'' अर्थात् **'सादा जीवन उच्च विचार'** वाला था। रामायणकालीन सामाजिक स्थिति सुगठित तथा उन्नत अवस्था में थी।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक आश्रम-व्यवस्था

डॉ० योगेश शास्त्री
विद्यालय-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

भारतीय संस्कृति के सुदृढ़ आधार-स्तम्भ, भारतीय जीवन की वैज्ञानिक व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था है। ऋषियों ने सूत्र साहित्य में स्पष्टत: जीवन-कल्याणार्थ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों का निर्माण किया है, जिसमें मनुष्य की आयु को एक सौ वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष का काल निर्धारण किया गया है।

रामायण काल में आश्रमों की वैदिक व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रचलित थी। वैदिक विधि के अनुसार विद्यार्थी गुरुकुल में आचार्य के निर्देशन में शिक्षार्जन करते थे, तथा अपने जीवन के सम्यक् विकास के लिए क्षमता उपलब्ध करते थे। महर्षि अगस्त्य, भारद्वाज, वाल्मीकि ऐसे ही आचार्य थे। रामायण में वेद, ब्रह्मचर्य, और गुरुसेवा एक साथ वर्णित हैं। **आदि काव्यानुसार** लोक में प्रचलित ब्रह्मचर्य के दो रूपों की ओर संकेत किया गया है।

गृहस्थ के दैनिक आचारों का वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थलों पर वर्णन मिलता है। पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों के लिए भी अग्निहोत्र का विधान निर्दिष्ट है। जो वेद सम्मत है। **''चतुर्णामाश्रमाणां ही गार्हस्थयं श्रेष्ठमुत्तमम्''** महर्षि वसिष्ठ के अनुसार पत्नियाँ पतियों का आधा अंग है। उन्होंने पत्नी को इस रूप में माना है, यथा-

आत्मा ही दारा: सर्वेषां द्वारसंग्रहवर्तिनाम्।
आत्मेयामिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्।।

(बा.रामा. २.३७.२४)

वाल्मीकि रामायण में वानप्रस्थ का ज़ो उल्लेख है, वह सर्वथा वैदिक व्यवस्था के अनुसार है। राजा दशरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम से कहा कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, मेरी आयु अधिक हो गयी है, मैंने बहुत से मनोवांछित भोग, भोग लिए हैं, था बहुत से यज्ञ भी निष्पन्न कर लिये है। वाल्मीकि रामायण में ऐसे आख्यान भी आते हैं, जिनमें पुत्रों को राज्य का दायित्व सौंपकर वृद्ध राजाओं द्वारा तपस्यार्थ वन में जाने का उल्लेख और वानप्रस्थाश्रमों में उचित अनुष्ठानों की ओर भी संकेत मिलता है।

श्लक्ष्णकाषाय संवीत: शिखी छत्री उपनही।
वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू।।

अरण्ड काण्ड ४६/३

संन्यासी के वेश को निर्धारित किया गया है। अत: यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का प्रर्याप्त रूप में उल्लेख है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में वाल्मीकि रामायण में प्रतिपादित वैदिक आश्रम व्यवस्था पर विचार किया जा रहा है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित नारी की स्थिति

मुकेश शर्मा
शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

परिवार समस्त मानवीय संगठनों की मूल इकाई है तथा सामाजिक विकास की पहली सीढ़ी। सामाजिक कर्त्तव्य का पालन कराने के लिए परिवार मानवीय व्यक्तित्व के विकास में योगदान देता है इसका उदाहरण वाल्मीकि रामायण वर्णित पारिवारिक जीवन में उपलब्ध होता है। जहाँ परिवार में नारी को अधिकार देते हुए उसके कर्त्तव्य को विशद रूप से बताया गया है भारतीय संस्कृति में पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति अभिलिखित है। भारतीय दर्शन में पुरुष को परामात्मा एवं प्रकृति को उसकी आद्य शक्ति नारी कहा गया है। नारी नर की जननी, नर की सहधर्मिणी, नर की संरक्षिका तथा उसका पोषण करने वाली है। अतएव उसका परिवार एवं समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

तत्कालीन समाज तथा परिवार में नारी की स्थिति उन्नत थी। वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि उनकी शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। माता के रूप में उसे गुरु से भी बढ़कर बताया गया है। उन्हें वैदिक साहित्य के साथ-साथ पारम्परिक एवं सैन्य शिक्षा प्राप्त करने का भी अधिकार था। इस प्रकार मिलने वाली उनकी शिक्षा सर्वांगीण थी। विवाह पश्चात् पितृ-गृह से पति-गृह आने वाली कन्या 'वधू' पद को प्राप्त करने के पश्चात् अपनी सास से पारिवारिक शिक्षा प्राप्त करती थी कि असाधारण परिस्थितियों में उसे पति तथा परिवार के सदस्यों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। वाल्मीकि ने पत्नी की एकान्तिक निष्ठा एवं सेवा भावना का ही बारम्बार आग्रह किया है और यह इसलिए कि पति ही पत्नी की एक मात्र शरण है। जैसे बिना तार के वीणा नहीं बज सकती, पहिये के बिना रथ नहीं चल सकता, वैसे ही पति के बिना पत्नी व पत्नी के बिना पति को सुख नहीं मिल सकता। इसी कारण राम को अश्वमेध यज्ञ कराते समय अपनी पत्नी सीता की प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। स्वयंवर से ज्ञात होता है कि कन्या का विवाह युवा होने पर ही किया जाता था। सुख-दुःख में पति का अनुसरण करना ही नारी का परम कर्त्तव्य था। पुत्र प्रसव करके नारी वास्तव में अपने पति को पुनर्जन्म देती है इसलिए उसे 'धात्री' तथा 'जननी' कहा गया है। और इसी कारण उसके प्रति आदर का भाव व्यक्त किया गया है। उसकी स्थिति अत्यन्त उन्नत थी। पारिवारिक जीवन का वह केन्द्र बिन्दु थी। तत्कालीन समय में नारी अपने मुख पर किसी प्रकार का अवगुंठन करती होगी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता पता चलता है कि स्त्रियाँ बिना पर्दे के स्वच्छन्द रूप से विचरण करती थी तथा परिवार और समाज में उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी। अन्य दृष्टियों से भी नारी-वर्ग संसार एवं उसके विविध अनुभवों से अलग-थलग नहीं रहता था तथा पुरुष वर्ग के साथ सभी प्रवृत्ति में भाग लेता था। चेटियां, वेश्याएं एवं सैनिकों की स्त्रियाँ इनमें प्रमुख थी स्त्रियों को पुरुषों की भांति न्यायालयों में जाकर धर्मासन राजा के समक्ष शिकायत पेश करने का भी अधिकार था। इसी प्रकार स्पष्ट है की उच्च वर्ग की नारी हो अथवा सामान्य वर्ग की, उन्हें इतनी स्वतंत्रता मिली थी जितनी पश्चिम के समुन्नत सामन्ती युग की नारियों को भी शायद प्राप्त हो रही थी।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक आश्रम व्यवस्था

डॉ० मीनू सक्सेना
पीलीभीत

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन तथा धर्म को भली-भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। वेदज्ञ की प्रशंसा में मनु की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है- वेदशास्त्र के तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है, वह इसी लोक में रहते हुए श्री ब्रह्म का साक्षात्कार करता है-

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

मनु. 12/102

प्राचीन आर्यऋषियों के अनुसार मानव जीवन अनवरत आत्मशिक्षण एवं आत्म अनुशासन का समय था। वेदों का आधार मानकर ही आदि कवि वाल्मीकि ने धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भण्डार रामायण में प्रस्तुत किया है। रामायण में आश्रमों की संख्या चार रूपों में प्रस्तुत की है-

१. विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्याश्रम-

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी ब्रह्मचारी रहकर कठोर एवं अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता था। गुरु की सेवा और शास्त्रों का अध्ययन उसके दो प्रमुख कर्त्तव्य थे। अगस्त्य भरद्वाज वाल्मीकि आदि ऋषि-मुनियों के आश्रमों में असंख्य विद्यार्थी आकर अपने कुलपति की अधीनता में शिष्य वृत्ति से रहते थे।

२. विवाहितों के लिए गृहस्थाश्रम-

गृहस्थाश्रम में पितृ-ऋण, देव ऋण और मनुष्य ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थ को श्राद्ध, यज्ञ और अतिथि सत्कार करने पड़ते थे। साथ ही साथ उसे अपने वयोवृद्ध गुरुजनों, पुत्र-कलत्र तथा परिवार के अन्य सदस्यों का भरण-पोषण करना पड़ता था। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ था। **''चतुर्णामाश्रआणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।''** वाल्मीकि ने रामायण की रचना का गृहस्थ धर्म को गौरवान्वित किया।

३. अर्थोपार्जन से विरत वनवासी तपस्वी के लिए वानप्रस्थाश्रम-

वानप्रस्थाश्रम में पत्नी या तो पुत्रों के संरक्षण में घर पर रहती थी अथवा पति के साथ वन-गमन करती थी। रामायण में उल्लिखित अधिकांश तपस्विगण अपनी पत्नियों के साहचर्य में वैखानस-मार्ग का पालन करते थे।

वानप्रस्थ गृहस्थ वन में संयम और त्याग का जीवन व्यतीत करता, सब प्राणियों के हित में रत रहता, भिक्षाटन और यज्ञों का अनुष्ठान करता तथा वेदों के स्वाध्याय में संलग्न रहता था।

४. संसार त्यागी वैरागी के लिए संन्यासाश्रम-

संन्यासी शब्द का प्रयोग न होकर 'भिक्षु' और 'परिव्राजक' नाम उल्लिखित हुए हैं। रामायणकालीन परिव्राजक या संन्यासी का परिचय पाने के लिए हमें रावण का उस समय का वर्णन देखना चाहिए। इस रूप में सीता के सम्मुख उपस्थित हुआ था- वह शरीर पर साफ-सुथरा गेरुए रंग से रंगा वस्त्र लपेटे हुए था, उसके मस्तक पर शिखा, हाथ में छाता और पैरों में जूते थे तथा उसने वाये कंधे पर डंडा रखकर उसमें कमंडलु लटका रखा था।

आदिकवि वाल्मीकि ने वेदों को आधार मानकर आश्रम व्यवस्था को व्यवस्थित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदकाल में आश्रम व्यवस्था को वाल्मीकि ने अपनी रामायण में प्रस्तुत किया है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक-पारिवारिक स्वरूप

डॉ० इन्द्रेश 'पथिक'
वेद विभाग, शान्तिकुंज, हरिद्वार

परिवार शब्द का अर्थ -

प्रस्तुत शोध पत्र में सर्वप्रथम इसकी व्युत्पत्ति पूर्वक परिवार शब्द का अर्थ परिव्रियतेऽनेन - परि+वृ+घञ् (परिजन) पक्षे उपसर्गस्य दीर्घः नौकर, अनुचर वर्ग, अनुयायी आदि दिया गया है। अर्थात् जिनके द्वारा मनुष्य चारों ओर से घिरा (आवृत) होता है, उनके परिकर को परिवार कहते हैं। किन्तु परिवार का विस्तृत अर्थ भी है।

वैदिक कालीन परिवार संस्था व उसका स्वरूप -

इसके अन्तर्गत यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि वैदिक कालीन परिवार संस्था सर्व प्रथम किस प्रकार अस्तित्व में आयी व उसका स्वरूप क्या था?

वैदिक पारिवारिकता के आधारभूत मापदण्ड -

वैदिक आदर्श पारिवारिकता के सम्बन्ध में ऋषियों ने कुछ मापदण्ड निर्धारित किये थे, जिनके आधार पर वैदिक परिवारों की सुख-शान्ति-समृद्धि अक्षुण्ण रहती थी। ये मापदण्ड थे-

1. प्रेम-आत्मीयता, 2. सहिष्णुता-कर्तव्य परायणता, 3. धैर्य-विश्वास,
4. साहस-जागरूकता, 5. सन्तोष-मधुर व्यवहार, 6. आस्तिकता-सत्यनिष्ठा
7. संगठन-एकत्व।

ऋषि प्रणीत इन मापदण्डों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करते हुए इन्हीं को आधार बनाकर महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण में पारिवारिक व्यवस्था का अनुगमन किये जाने पर निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है-

वाल्मीकि रामायण में वैदिक पारिवारिक व्यवस्था का अनुकरण-अनुगमन

1. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक प्रेम और आत्मीयता
2. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक सहिष्णुता और कर्तव्य परायणता
3. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक धैर्य-विश्वास
4. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक साहस एवं जागरूकता
5. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक सन्तोष और मधुर व्यवहार
6. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक आस्तिकता एवं सत्यनिष्ठा
7. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक संगठन एवं एकत्व।

इस प्रकार वैदिक पारिवारिक स्वरूप एवं वाल्मीकीय रामायण के पारिवारिक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उनमें ऐक्य सिद्ध किया गया है। इस विनम्र प्रयत्न में कुल 47 (29 पृष्ठों के नीचे व 18 बीच-बीच में) सन्दर्भों से पृष्टि सहित वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वैदिक पारिवारिकता का अनुकरण करने का अनुरोध-आग्रह करते हुए शोध पत्र को विराम दिया गया है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक आश्रम व्यवस्था

शालिनी पाण्डेय
शोध छात्रा
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आश्रम-व्यवस्था प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ थी। साधारणतया विद्वानों का मत है कि आश्रम-व्यवस्था का विकास वैदिक युग में विशेषकर ऋग्वेदकाल में नहीं हुआ था। किन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि के आलोचनात्मक अध्ययन से उक्त व्यवस्था के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

रामायण में चारों आश्रमों को चतुराश्रम की संज्ञा दी गई है। (चतुर्णामाश्रमाणां हि.........। वा0रा0 2/98/17) वैदिक युग में मानव जीवन चार भागों में विभक्त था- ये चारों आश्रम ब्रह्मचर्य,

गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास थे। वैदिक युग में आश्रम व्यवस्था समाज का मुख्य आधार स्तम्भ था। उस समय मनुष्य की आयु लगभग 100 वर्ष की मानी गयी जिसके आधार पर प्रत्येक आश्रम की अवधि 25 वर्ष निश्चित की गई। रामायण में भी इन आश्रमों का वर्णन मिलता है।

ब्रह्मचर्य : (ब्रह्म वेदा:, ब्रह्म तपो ब्रह्म ज्ञानं वा तच्चरत्यर्जयति अवश्यम्-व्रतं-इति वा, 'सुधिइतिवा', आवश्यकता इति वा णिनि:। इति ब्रहाचारी)

ब्रह्मचर्य आश्रम मुख्यत: विद्यार्थी जीवन होता था। तथा ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला 'ब्रह्मचारी' कहलाता था। ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मचण में ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को 'ब्रह्मचारिन्' कहा है।

रामायण में 'ब्रह्मचर्य' का ठीक इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि ने इसे सबसे महत्वपूर्ण माना है तथा प्रथम आश्रम के रूप में इसे मान्यता दी है। रामायण युग में उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक गुरु के संरक्षण में रहता था और वहीं अध्ययन करता था।

गृहस्थ : (गृहे तिष्ठतीति, गृ+ङि+स्था+क: गृहस्थ+ष्यम् - वैदिक तत्सम्)

जीवन के चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम मानव जीवन की अद्वितीय अवस्था है। वैदिक युग में मनुष्य गृहपति बनकर गृहस्थ जीवन के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करता था, यथा- वंशवर्धन, भार्या तथा परिवार के अन्य सदस्यों की देखरेख, आतिथ्य सत्कार, पंचयज्ञ आदि।

वाल्मीकि ने इसे भोगकाल (वारा0रा0 2/12/84) भी कहा है। इस आश्रम में पितृ-ऋण और गुरु-ऋण चुकाने के लिए गृहस्थ को श्राद्ध, यज्ञ और अतिथि सत्कार आदि कर्त्तव्य करने पड़ते थे।

वानप्रस्थ : (वाने वनसमूहे प्रतिष्ठते - स्था + क - अपने धार्मिक जीवन से तीसरे आश्रम में प्रविष्ट ब्राह्मण) वानप्रस्थ शब्द का तात्पर्य है - 'वह जो वन में सर्वोत्तम ढंग से (जीवन के कठोर नियमों का पालन करने हेतु) रहता है।'

रामायण में तृतीय आश्रम वानप्रस्थ का समुचित वर्णन प्राप्त होता है। तथा यहाँ भी 'वैखानस' शब्द तृतीय आश्रम के लिए प्रयुक्त हुआ है। महाराज जनक कहते हैं- मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभि षिच्च नराधिप:, कुशध्वजं समावेश्यभारं मयि वनं गत: (वा0रा0 1/70/14)। वृद्धावस्था में पिता जी मुझ (ज्येष्ठ पुत्र) पर राज्यभार सौंपकर तथा छोटे भाई का भार डालकर वन को चले गये।

संन्यास : संन्यास को वाल्मीकि युग में प्रवाण (वा0रा0 2/64/65) कहते थे। यह चौथा और अन्तिम आश्रम था। सर्वस्व त्यागकर चले जाने वाले 'प्रब्राजित' या 'परिव्राजक' कहलाते थे।

वाल्मीकि जी का आदर्श परिवार

श्रीमती अलका
शोध छात्रा (संस्कृत)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्।।
यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्।।

महर्षि वाल्मीकि विश्व के आदिकवि हैं। इस नाते से संसार के सभी कवियों के गुरु हैं। उनका आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण वेद के पश्चात् भारतीय-संस्कृति का मूलस्त्रोत है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के अमर काव्य रामायण ने आज भी केवल भारत में ही नहीं बल्कि सारे संसार के मनुष्यों के हृदय में विशेष आदरयुक्त भावना भरी है। रामायण का हर एक पात्र एवं उसकी कथा समूचे विश्व को पूर्व से ही नीतिमूल्यों की शिक्षा देती रही है, जिसके विषय में किसी कवि ने कहा था-

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणि कथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।

रामायण महाकाव्य में महर्षि ने अति सुन्दर, मर्यादायुक्त, स्नेह से परिपूर्ण, देशभक्त, त्यागी और संस्कार सम्पन्न परिवार का वर्णन किया है, जिसमें यशस्वी, तेजस्वी और संस्कारित चार पुत्र जन्म लेते हैं। उन्हीं की कथा को आगे विस्तार दिया गया है। किसी भी देश, समाज, जाति, परिवार का तानाबाना सब परिवार पर टिका होता है।

वाल्मीकि जी ने एक आदर्श परिवार का स्वरूप स्पष्ट किया है। एक आदर्श परिवार में परिवार के सदस्य सभी आपस में प्रेम करते हों, सभी एक-दूसरे के लिए त्याग की भावना रखते हों और परस्पर अटूट विश्वास रखते हों।

वेद में भी आदर्श परिवार के विषय में बताया गया है-

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

अथर्ववेद काण्ड 3/31/3

वाल्मीकि जी का आदर्श परिवार वेद का ही अनुसरण करता है उनके परिवार में भी भाई-भाई से द्वेष नहीं करते, बहिन-बहिन से द्वेष नहीं करती। सभी यथोचित आचरण करते हुए सदाचार व्रत का पालन करते हुए आपस में कल्याण करने वाली भद्र वाणी बोलते हैं।

परिवार में सद्भाव, समानता, प्रेम, त्याग, विश्वास, स्नेह और आदर दृष्टि से प्रत्येक सदस्य प्रसन्न और दीर्घायु हो सकते हैं। इन्हीं गुणों के कारण वाल्मीकि जी का परिवार एक आदर्श परिवार बन गया और करोड़ों वर्षो बाद आज भी समूचे विश्व को आदर्श परिवार की शिक्षा दे रहा है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित वैदिक वर्ण-व्यवस्था

हिमांशु पण्डित
शोध-छात्र
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन काल के मनीषियों ने समाज-तन्त्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए वर्ण-व्यवस्था नियोजित की थी। इस व्यवस्था के मूल में यह दर्शन निहित था कि प्रत्येक वर्ग अपनी-अपनी प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर अपने लिए विनिर्दिष्ट कर्त्तव्यों को पूरा करें ताकि एक स्वस्थ और सद्भाव पूर्ण समाज निर्मित हो, साथ ही अपने उत्तरदायित्वों के निष्ठापूर्ण अनुपालन से प्राप्त होने वाले मोक्ष के मार्ग पर भी वे निर्बाध गति से चल सकें। स्पष्ट है कि प्रारम्भिक तौर पर इनका आदर्श कर्त्तव्यों एवं वर्ण के उच्च मापदण्डों पर बल देना निश्चित किया गया था। लेकिन उत्तर वैदिक काल से इनमें जन्माधार ज्यादा पुष्टतर होता चला गया। ऐसे में विशेषाधिकारों का अनियमित विभाजन तथा वर्णों के बीच मर्यादाएं सम्मान एवं गौरव की पृथक्-पृथक् अवधारणाएं विकसित होना स्वाभाविक ही था।

रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन समाज की मूल आधारशिला भी यही वर्ण-व्यवस्था थी। वाल्मीकि ने चातुर्वर्ण्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। रामायण में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए वैदिक ''पुरुष-सूक्त'' द्वारा प्रतिपादित विराट् पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति का सिद्धांत भी स्वीकार किया गया है। प्रथम तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) द्विज कहलाते थे। उपनयन संस्कार इनके द्वितीय जन्म का सूचक समझा जाता था जबकि शूद्रों को यहाँ समाज क्रम के चौथे पायदान पर दयनीय स्थान मिला था।

वर्ण-व्यवस्था के प्रथम और श्रेष्ठतम अंग ब्राह्मण की उत्पत्ति चूंकि विराट्-पुरुष के मुख से मानी गयी थी अत: अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन को ही उनका प्रमुख कर्म कहा गया। जीविकोपार्जन के लिए यज्ञों के पौरोहित्य कर्म को भी वे अपना सकते थे ऐसे में ब्राह्मण को स्वाध्याय को पूरा समय मिलता था यही कारण है कि वे परम ज्ञानी और चिंतक हुआ करते थे तथा राजा भी उनसे परामर्श करके ही शासन-प्रशासन किया करते थे। राम की राज-सभा में वसिष्ठ प्रमुख परामर्शदाता के पद पर आसीन थे। राष्ट्र की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति के प्रसार और उसकी श्रेष्ठता को अक्षुण्ण बनाए रखने का दायित्व भी ब्राह्मण का था। ऐसे में उन्हें विशेष सुविधाएं और अधिकार मिलना स्वाभाविक था।

रामायण में जहां ब्राह्मण का उत्तरदायित्व प्रजा की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति को सुनिश्चित करना था तो वहीं द्वितीय स्तम्भ-क्षत्रिय का कार्य था अपने बाहु बल से प्रजा में शान्ति बनाए रखना तथा बाह्य आक्रमणों से उनकी रक्षा करना, क्योंकि शान्ति के वातावरण में ही किसी भी प्रकार की उन्नति निहित होती है। विराट-पुरुष की बाहु से उत्पन्न होने की मान्यता के चलते ही क्षत्रियों को यह दायित्व दिया गया था। ब्राह्मणों, गौओं, न्याय की रक्षा और शासन-प्रशासन को

श्रेष्ठता से चलाने का दायित्व भी क्षत्रिय का होता था।

वहीं समाज की अर्थव्यवस्था की धुरी वैश्य को समझा जाता था, यही कारण है कि विराट-पुरुष की जंघाओं से वैश्य की उत्पत्ति मानी गयी है क्योंकि जैसे शरीर का भार जंघा उठाती है उसी प्रकार समाज-शरीर का भार अर्थव्यवस्था उठाती है, जिसका अधिकार वैश्यों के पास था। लेकिन इतना महत्वपूर्ण होने के बावजूद भी वैश्यों को समाज-क्रम में तीसरा स्थान दिया गया था।

वर्ण-व्यवस्था के इन क्रम से सबसे निचला स्थान शूद्रों को प्राप्त था। विराट-पुरुष के पैरों से उत्पन्न शूद्रों का कार्य द्विजों की सेवा करना था। हालांकि यज्ञ में उपस्थित हो सकते थे किन्तु वैदिक ज्ञान से उन्हें वंचित रखा गया था, तपस्या का अधिकार भी उन्हें नहीं था। शम्भू-वध इसका स्पष्ट प्रमाण है। हालांकि रामायण के मौलिक काण्डों में शूद्र भी निर्विघ्न तपस्या करते थे और तपस्वी-शूद्र भी आदर के पात्र समझे जाते थे। शबरी इसका सर्वश्रेष्ठ साक्ष्य है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित वर्णव्यवस्था एवं चतुराश्रम

अजय प्रताप सिंह
शोध-छात्र, समाजशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारतीय ऋषि ने समाज के विभिन्न कार्यों की दृष्टि से चतुर्वर्ण की जिस अद्भुत अवधारणा को प्रस्तुत किया था वह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था वाल्मीकि रामायण के समय तक पूर्णतः परिपक्व हो चुकी थी। वाल्मीकि रामायण के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन संस्कृतियों में जातियों के मध्य एक सुनिश्चित पार्थक्य स्थापित हो चुका था, और उनके कर्तव्यों एवं अधिकारों का विभाजन भी हो चुका था।

रामायण कालीन वर्णव्यवस्था का मूल आधार जन्म था, कर्म नहीं। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण था, भले ही वह वैश्य कर्म में लगा हो। त्रिजट नामक व्यक्ति ब्राह्मण था, परन्तु वैश्यों की भांति कृषि से जीवकोपार्जन करता था। विश्वामित्र क्षत्रिय थे, किन्तु कठोर तप के द्वारा उन्होंने ब्रह्मणत्व सिद्ध किया था। रामायण में प्रायः चारों वर्णो का उल्लेख किया गया है। दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में वसिष्ठ ने अधिकारियों को आज्ञा दी थी कि सभी वर्णो की सत्कार पूर्वक पूजा होनी चाहिए।

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः (१.१३.१४)

अयोध्या में रहने वाले चारों वर्ण क्रमशः अपने से उच्चवर्ण की आज्ञापालन में तथा सेवा में लगे रहते थे -

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥

(१.६.१९)

वर्णव्यवस्था की ही भांति चतुराश्रम परिकल्पना भी भारतीय संस्कृति के समुज्ज्वल तत्वों में से एक है। हिन्दू सामाजिक संगठन के अन्तर्गत आश्रम व्यवस्था की आयोजना से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय मनीषियों का मानव जीवन के प्रति एक सर्वांगीण दृष्टिकोण था। आश्रम व्यवस्था की योजना का कारण यही था कि मनुष्य के जीवन में सतत सौख्य बना रहे तथा जीवन के समस्त प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सभी चारों पुरुषार्थ भी पूर्ण हो जायें।

रामायण में शिक्षा का स्वरूप

विजेन्द्र शास्त्री
गुरुकुल का.विश्वविद्यालय, (विद्यालय-विभाग)

रामायण काल में शिक्षण संस्थाएँ चाहे आश्रमों में अवस्थित थी अथवा शिक्षणालयों में थी। वहाँ किन-किन विषयों का अध्ययन कराया जाता था, इसका वर्णन भी वाल्मीकि रामायण में किया गया है। शिक्षा के विषय चार प्रकार के होते थे। ये विषय थे, शारीरिक, बौद्धिक, व्यावहारिक और नैतिक। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए छात्र को हृष्ट, पुष्ट, बलवान् तथा सहनशील बनने के लिए विशेष ध्यान देना होता था। इसके साथ ही वे अपनी तथा अपने देश की रक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र तथा युद्ध विद्या की भी शिक्षा प्राप्त करते थे। उस युग में युद्ध बहुत ही महत्त्व रखते थे। राजकुल के व्यक्तियों तथा क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा के बौद्धिक विषयों में वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, कला, वार्ता और राजनीति शास्त्र आदि विषय थे। व्यावहारिक शिक्षा में चिकित्सा शास्त्र, आयुर्वेद, विविध शिल्पों उद्योग धंधों का सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक ज्ञान दिया जाता था। नैतिक शिक्षा में इन्द्रियों को संयम में रखने, सबके प्रति स्नेह की भावना रखने और चरित्र को महान् बनाने पर बल दिया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि सनत् कुमार के पूछे जाने पर नारद ने आचार्य कुल में जिन विद्यार्थियों की शिक्षा प्राप्त करने का वर्णन किया उसमें, शारीरिक (क्षत्र विधा), बौद्धिक (वेद, इतिहास पुराण, व्याकरण, ब्रह्म, शास्त्र, नीति शास्त्रादि) और नैतिक शिक्षा का वर्णन किया है। प्राचीन भारत में सभी बालक-बालिकाओं को शिक्षा दी जाती थी।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक वर्ण व्यवस्था

डॉ० उमा जैन
रीडर, संस्कृत-विभाग
मु.ला.एण्ड जय ना. रवे. गर्ल्स कॉलिज, सहारनपुर

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृञ्' 'वरणे' अथवा 'वृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है वरन करना अथवा चुनना अर्थात् एक विशेष प्रकार के कार्य अथवा व्यवसाय को चुनने वाले समूह को वर्ण कहा जाता है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर वर्ण का अर्थ 'रंग' या 'प्रकाश' किया है। कहीं-कहीं वर्ण का

सम्बन्ध ऐसे जनसूमह से किया है जिसका चर्म काला या गोरा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मण को दैवी वर्ण और शूद्र को असुर्य वर्ण (शूद्र जाति) कहा है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अर्थवेद में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक विराट् पुरुष कहा गया है। जिनके मन्त्रों में समस्त समाज को चार मुख्य श्रेणियों में बाँटा गया है- ब्रह्माण, क्षत्रिय (राजन्य) वैश्य और शूद्र। जिनकी उत्पत्ति विराट् पुरुष से मानी गयी है- ब्राह्मण उसका मुख है, राजन्य उसकी भुजाएँ है, वैश्य उसकी जंघाएँ (या मध्यभाग) है और शूद्र उसके पैर है। इन चारों वर्णों को चतुर्वर्ण कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में **'ओ३म्'** से, क्षत्रिय 'भूः' से वैश्य 'भुवः' व शूद्र 'स्वः' से उत्पन्न हुए है।

वर्ण व्यवस्था भारतीय संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक विशेषता है। वेदों में यह बात स्पष्ट कही गयी है कि प्रत्येक व्यक्ति हर कार्य करने में समर्थ नहीं है। रुचि, स्वभाव और कार्यक्षमता पृथक् होने के कारण स्वरुचि का कार्य करने में ही शीघ्र दक्षता प्राप्त होती है, अन्य कार्यों में नहीं। इस दृष्टि से वेदों में वर्ण में वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद में ब्रह्म (ज्ञान, विद्या, बुद्धि) के लिए ब्राह्मण है, रक्षण के लिए राजन्य है, प्रजा के भरण -पोषण के लिए वैश्य है और तप (श्रमशक्ति) के लिए शूद्र है।

वाल्मीकि रामायण का भारतीय साहित्य एवं जीवन में महत्त्व

कु० गरिमा राजपूत

शोधछात्रा, गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.

कुजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविता-शाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम्॥

काव्यतरु पर आरुढ़ होकर जिस प्राचेतस् ब्रह्मविद् आदिकवि महर्षि वाल्मीकि-रुप कोकिल ने 'राम-राम' इन मधुराक्षरों के रटन से साहित्य-जगत को अनुगुंजित किया, उसकी महिमा अपरिमेय है।

वाल्मीकि भारतीय साहित्य के ऐसे महान कवि हैं जिनका इस देश के साहित्य और संस्कृति की परम्परा पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा हैं। साथ ही उनका महत्व सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। दूसरी ओर रामकथा इस देश की ऐसी साहित्यिक और सांस्कृतिक निधि है जो युगों से यहां की जनता को प्रकाश देती आयी है।

भारतीय जन-जीवन पर भी इसकी अमिट छाप है, क्योंकि इस देश की मनीषा ने त्याग को सर्वोच्च मानवीय गुण के रुप में स्वीकार किया है और रामायण में भरत के महोच्च परिवार के त्याग की कथा वर्णित है। पिता दशरथ का पुत्र स्नेह के लिये शरीर त्याग, पुत्र राम का पिता दशरथ एवं माता कैकेयी की इच्छापूर्ति के लिये गृह-त्याग, भार्या सीता एवं अनुज लक्ष्मण का राम के लिये ऐश्वर्य एवं सुख त्याग, तथा भाई भरत का अग्रज राम के लिये राज-त्याग स्नेह के कारण ही सम्पन्न हो पाया है।

रामायण भारतीयों के मस्तिष्क में ऐसी रम चुकी है उनकी आकांक्षाओं, भावानाओं एवं आचार-व्यवहार में आत्मसात् हो चुकी है। इस काव्य ने ही भारतीयों के हृदयों में 'राम-राज्य' की स्वर्णिम-कल्पना को अंकित किया है।

VALMIKI'S RAMAYANA:SOCIO-POLITICAL SITUATION

Dr. S.Ramadevi
Lecturer in Sanskrit
Sri Ramachandra College, Hyderabad

Valmiki's objective in the Ramayana is to explore and exhibit how the life of men and women can be enriched, how the content and quality of life can be sustained. Dharma is the means to attain and sustain the quality of life. Dharma removes the delusion about the nature of Artha and Kama, thereby revealing the true joy of Arhta and Kama. Valmiki's Ramayana is about discovering this true joy of life. His concept of Dharma is one which attempts to secure the true joy of life to the maximum number of people in the socity - प्रहृष्टमुदितो लोकः तुष्टः सुधार्मिकः। etc.

VR's theme is the need for establishing an ordered social life, in which every mumber can pursue his enlightened interests without fear or hindrance. An ordered social life means the existence of a social organistaion for the effective ordering. We are told of time when existed a stateless society, which did not need any social ordering or regulation or governance because the people of those time were ordered, self - regulating needing no extenal organisation to govern them :

नैव राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

But in course of time, human nature degenerated. Greed and selfishness became the driving force of human conduct. Then arose the need for an external agency to acquire a new significance, from an individual virtue to a concept of independence and social harmony. To bring about this social harmony, a political organisation is required. The organisation may change its form from time to time, but its function remains the same. In form it may be monorchy or democracy. VR portrays and it is a monorchy wity more democratic content than modern deified democracies.

In this paper it is attempted to show how a ruler shall act, what are the expected qualities of a ruler, and how he is going to govern himself and his people. This paper brings out the concern of the elderly people in Ayodhya, the human concern of the king towards his people, how Valmiki portrays the charcter of Rama, who tries to see every individual citizen gets the comfort in his society.

WOMAN AND POLITICS IN RAMAYANA

Dr. Man Mohan Sharma
2698 HB Sector-3, Rohtak

Woman in India were never silent, inactive and sleeping partners of man but they had a great sense of public life and their duties towards the society. They were never solely for bearing and rearing the children and just objects of plearsures. They were not confined within the walls of the house but were active participants in day-to-day life. The marriage hymn of Rigveda expresses the hope that the bride would be able to speak with composure and success in the public assemblies down to her old age. In later Vedic period the queen is found amoug ratnins (the giver of kingdom), whom the sacrificer of the rajasuyayajna used to visit. This shows her importance as an important seat in the administration. In Valmiki Ramayana there is a proposal to install Sita as the crown of Ayodhya when Rama was banished to forests but this was not materialized owing to the refusal of Sita. There are many evidences in Ramayana which show the active role of women as counsellors in policy matters. This paper intends to show that women were active part of society in domestic and national affairs. They were excellent advisors of their husbands and brothers. Many of them were versed in the state craft and influanced the contemporary politics.

RELEVANCE OF TEACHING OF RAMAYAN IN MODERN TIME

Dr. S.R. Verma
2, Aketa Avenue, Rajpur Road, Dehradun

Valmiki Ramayan is one of the greatest epics of the world. It is known as the Adi kavya in Sanskrit as it is the first piece of Sanskrit epic poetry. It consists of 24,000 verses in six cantos. Ramayan has influenced the hearts and minds of millions of people for countless ages. It has inspired them to high thinking, noble effort and right conduct. Even today, there is hardly a village or city in India where the Ramayan story is not told. The Ramayan is superb in the delineation of every day domestic life, its joys and sorrows and the inner working of the human mind and heart, the devotion and spirit of

self-sacrifice of a son, the love and grief of a father and a mother, the trials and endurance of a wife of supreme devotion. The Ramayana expounds ethics and sublime philosophy in a masterly manner. It indicates and illustrates right conduct, individual and social; and it postulates in many places what it known as Eternal laws. Here I would like quote the verse which is usually recited every day as preliminary to devotional study of Ramayana, where in it is stated that when God, who can be known and realized only by the Vedas was born as the son of Dashrath, the Vedas themselves took shape as the Ramayana of Valmiki.

वेद वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेत सादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥

The Utility of Valmiki Ramayan as the cultural heritage for the non-resident Indians

Dr. C.M. Agrawal
M.A. Ph.D., D,Litt
Head of the Department
S.S.J. Kumanu University, Almora,

The present paper purports to trace and high light the everlasting effects on the non-resident Indians settled abroad of the Valmiki Ramayan. Though in this materialistic age its utility is limited, yet after thinking of thousands of years, it is found that this epic is the true medium to estabhish emotional and heart-left relations with the Almighty. It has made its abiding effect of them by becoming the instrumental by having the knowledge of all the developed traditions, habits, vilnals of this subcontinent. Though non-resident Indians have settled in various countries of the globe and some of them treat their respective country more important yet, the deep and significant effect of the Ramayan bound them to carry out the Indian culture and tradition. This work is an instrument for bridging the gap for the NRIs from their motherland.

LIFESTYLE IN THE RAMAYANA

Dr. M.N. Joshi
Dept. of Sanskrit
Karnatak University, Dharwad

In Sanskrit literature, we have texts revealing many historical truths or facts. The word इतिहास or history is as old as the Vedas. Indians know that history is different from mythology. इतिहास (इति-ह-आस) means such a thing happened. History is full of incidents that have or might have happened longback. This is called इतिहास-history having a bearing on our lifestyle. There is a lot of difference between western and Indian concept of history. Incidents are important in the west. So, the main purpose of history in the west is to describe was, victory and defeat. But it is different in India. Anything useful in reforming social life of men and women is considered relevant. Any other incident is not taken note of seriously. This is the difference in approach.

In Sanskrit literature महाभारत also is considered as इतिहास, history. महाभारत is held in high esteem not only as a text related to the long war between Pandavas and Kauravas, but also as an authority on our cultural studies, as also on Indian society, politics and religion. Ramayana also shares these characteristics and is held in high respect as आदिकाव्य. Indian culture as depicted in रामायण is totally different from what it is in महाभारत. रामायण is the earliest epic and महाभारत comes later. Ramayana deals with the noble personality of Sri Ramachandra in a facile style. The concept of 'रामायण' is the greatest gift to mankind from वाल्मीकि and that is influencing Indian political evolution.

Wrinkles appear all over the body and silvery hair appears in ripe age. Hands, feet, head, etc. become shaky. One cannot sit down or get up without some support. A well-built beautiful body becomes as object of pity. Mind rejects such a pity and desires to be what it was early. But it is of no avail.

This is an age of medicines. Even if we take care to replace all organs with artificial limbs, old age still persists. Even when test-tube babies appear on the scene with no sexual union of man and woman, there is no escape from age withering away. Such a creation gets sustenance from a given environment and develops complications. Biologists have named it as organic evolution. They say it is a fact. Such a development is termed as super-creations by Indians. Sri Rama's message is that one has to grow, in spite of all limitations, in an orderly form-

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविता शाखां वन्दे वाल्मीकि कोकिलम्॥

पर्यावरण
प्रकृति-चित्रण

वाल्मीकिरामायणे पर्यावरणविज्ञानम्

डॉ० सुषमा सिंघवी
निदेशक वर्धमान
महावीर खुला विश्वविद्यालय,
क्षेत्रीय केन्द्र, जयपुर (राजस्थान)

वाल्मीकिरामायणस्य सौन्दर्यं रामवन-गमनमेव, तत्तु प्राधान्येन पर्यावरण विज्ञानम् प्रस्तौति इत्यस्मिन् शोधपत्रे निरूपितम्।

''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'' इति, वेद्दृष्ट्या मनुष्य प्रकृतेः शिशुः न तु स्वामी। प्रकृतिः पोषयतु इति तु युक्तं किन्तु प्रकृत्याः शोषणम् अनुचितम् इत्येवं पर्यावरणविज्ञानं वाल्मीकिरामायणे निरूपितम्।

वेदविज्ञाने मानवकृते षडावश्यकतत्त्वानि निरूपितानि। अन्न-अन्नाद-प्रजा-पशु-कीर्ति-ब्रह्मवर्चस्व इति। अन्नान्नादयोः सम्बन्धः भूपिण्ड-पार्थिवमहिमामण्डलाभ्याम् अस्ति। प्रजापश्वोः सम्बन्धः चन्द्रपिण्ड-चान्द्रमण्डलाभ्यां चास्ति। कीर्तिब्रह्मवर्चस्वयोः सम्बन्धः सूर्यपिण्ड-सौरमण्डलाभ्यामस्ति। एवं मनुष्याणां सर्वाकांक्षाः पर्यावरणसम्बद्धाः वर्तन्ते। दूषिते पर्यावरणे प्राणधारिणां जीवनमपि दूषितं भवेत्। पर्यावरणस्य सर्वाणि अंगानि स्वस्वरूपे स्थेयुः अनुकूलानि भवेयुः तदैव प्रकृतेः पर्यावरणस्य वा सत्कारः यज्ञं वा भवति।

वाल्मीकिरामायणे गंगायाः उत्पत्तिप्रकरणं विश्वामित्रेण व्याख्यातम्। तत्प्रसंगे देवाः शिवं परामृष्टवन्तः यत् सर्वलोकंसंरक्षणाय शिवः स्वतेजः स्वास्मिन्नेव धारयतु-'**रक्ष सर्वानिमाँल्लोकान्... ....**'[1]

पर्यावरणसंरक्षणाय प्रदूषणविनाशाय च शिवेन देवप्रस्तावो स्वीकृतः -

'धारयिष्यामि तेजः ....।
त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु॥[2]'

पृथ्वीलोकः अन्तरिक्षलोकः द्युलोकश्च स्वस्वरूपम् अधिगच्छन्तु, इति शिवमस्तु। महाकवेः वाल्मीकेः पृथिव्या सह समवेदना तस्य पर्यावरणसंचेतनायाः निदर्शनम् -

''ऋतुत्रये स पृथिवीं शतयोजनविस्तराम्।
कृत्वातिदुःखितां .... ''॥[3]

शिवस्य अष्टमूर्तयः प्राणवन्तः। प्राणिमात्रस्य हित-साधनं पर्यावरणसंरक्षणस्य प्राथमिकी आवश्यकता वर्तते। 'सर्वभूतेषु को हितः?' इति पृष्ट्वा 'प्रजानां हिते रतः' इति उक्त्वा 'प्रकृतीनां हितेर्युक्तं रामं'[4] तपोवने प्रेषितवान्। तत्र ते देवगन्धर्वसंकाशाः सुखं न्यवसन्।[5]

श्रेयसे, वृद्धये, पुनरागमनाय गच्छस्व ''इत्युक्ते पितरि,[6] रामोऽब्रवीत् - प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते...वने रंस्यामहे वयम्''[7]

''फलानि मूलानि च भक्षयन् वेन, गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च।
वनं प्रविश्यैव विचित्रिपादपं, सुखी भविष्यामि............................॥''[८]

भारतीय तपोवनसंस्कृतेः संरक्षणमेव पर्यावरणसंरक्षणम्। वानप्रस्थाश्रमे वने निवासः पर्यावरण संरक्षणस्य अद्वितीयो उपायः।

''नगरात् ग्रामात् वा वने प्रस्थानम्'' इति वाल्मीकिरामायणस्य संदेशः पर्यावरण - विज्ञानमेव प्रकटीकरोति। 'वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः'[९]

पृथिव्याः मानदण्डाः इव शैलाः सुसम्पन्नाः राजन्ते -

वृतं नानाविधैर्पुष्पैर्मृगसेवितशाद्वलम्।
लताकुसमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम्॥
सिंहशार्दूलसहितं मत्तमातंगसेवितम्।
मत्तद्विजगणोद्घुष्टं सलिलोत्पीडसंकुलम्॥[१०]

महाशैलाः पर्यावणपोषकाः। पशवः पक्षिणः, लतागुल्मवृक्षाश्च पर्यावरणस्य प्रजाः। प्राणिनां प्राणानां परिरक्षणं पर्यावरणविज्ञानस्य आत्मा। इति निरूपितं वाल्मीकिरामायणे।

विश्वव्यवस्थायाः आधारः यज्ञम्। यज्ञस्य तात्पर्ययम् आदान-प्रदानम्। वेदज्ञाः राजानः 'यज्ञकर्म कर्तव्यं इति मन्यन्ते स्म- ''यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे''।[11] प्राकृतिकयज्ञे अग्नौ सोमस्य आहुति प्रदानम्। अग्निना सोमांगीकरणं तु आदानम्। वनस्पतिसूर्ययोः आदान-प्रदानं ख्यातमेव।

विश्वमेकं यज्ञम्। ब्रह्माण्डस्य प्राकृतिकस्वरूपम् एतादृशमस्ति यत् यदि पर्यावरण-विज्ञानस्य प्राकृतिकयज्ञे किमपि परिवर्तनं कारयेत् तर्हि विश्वस्य स्वरूपं अस्तं व्यस्तं च स्यात्। मानवैः यदा यदा आदानप्रदानयोः अस्मिन् यज्ञे स्वबुद्ध्या किंचित् तथाकथितविकासः परिवर्तनं वा कृतं तदा तदा प्रकृत्या ते दण्डिताः। एकस्मिन् वाक्ये यदि कथ्यते तर्हि - पर्यावरणप्रदूषणस्य कारणमस्ति प्रकृत्या प्रवर्तमाने आदानप्रदानरूपे यज्ञे किमपि परिवर्तनं नाम।

---

1. वाल्मीकिरामायणः, बालकाण्डः, सर्गः 36/11
2. वाल्मीकिरामायणः, बालकाण्डः, सर्गः 36/13
3. वाल्मीकिरामायणः, अध्याय, 2/46,47
4. वाल्मीकिरामायणः, बालकाण्डः, 1/20
5. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्डः, 1/31
6. वाल्मीकिरामायणः, अयोध्या काण्ड, 34/31
7. वाल्मीकिरामायणः, अयोध्या काण्डः, 35/51
8. वाल्मीकिरामायणः, अयोध्या काण्डः, 35/59
9. वाल्मीकिरामायणः, अयोध्या काण्डः, 34/22
10. वाल्मीकिरामायणः, किष्किन्धा काण्डः, 67/40-41
11. वाल्मीकिरामायणः, बाल काण्डः, 38/24

वाल्मीकिरामायणे पर्यावरणचिन्तनम्

डॉ० हरिगोपाल शास्त्री
प्राचार्य
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

वाल्मीकि: संस्कृतसाहित्ये आदिकविरित्युच्यते। कालव्यवस्थापनानुसारं एष: ऋषि: त्रेतायुगेऽभवत्। प्रागैतिहासिककालस्य अनन्तरं यदा प्रभृति: मानवजाति: जीवनदर्शनं प्रति प्रवृत्ता: अभवत्, तस्य प्रक्रमे द्वितीयोऽयं त्रेतायुग:। प्रथमस्तु वर्त्तते सत्ययुग:। तस्मिन् तादृक्पुराकाले त्रेतायुगेऽपि मानवस्य सुखसमृद्ध्यर्थं पर्यावरणचिन्तनं कीदृग् महत्त्वभृतममन्यत इति अस्य **''वाल्मीकिरामायणे पर्यावरणचिन्तनमिति''** आकाशवाणीप्रसारणस्य प्रयोजनम्। एतेन वर्तमानोऽपि मानवसमाज: तद्विषयिकां शिक्षां गृह्णीयात् इति वयं मन्यामहे।

परि-समन्तात्, आवृणोति-आच्छादयति, इति पर्यावरणम्। इत्यस्य अर्थ: -यद् वस्तु मानवजीवनं परित: आच्छादयति तद् पर्यावरणम् इति शब्देन व्यवह्रियते। यद्यपि सन्ति वहूनि वस्तूनि यानि मानवजीवस्य कृते पर्यावरणत्वेन प्रवर्तन्ते तथापि अत्र केवलं तेषामेव वस्तूनां चर्चणं सम्भवति ये मानवजीवनस्य सुखसौविध्यसिद्ध्यर्थं प्रकल्प्यन्ते। तत्र महर्षिवाल्मीके: विषयेऽस्मिन् कीदृशं चिन्तनमिति अत्र प्रस्तूयते-

कवि: प्रकृतिश्च नितरां संगततत्वे स्त:। कवि: कर्ता भवति प्रकृतिस्तु कर्म। तस्या: प्रकृतेर्वर्णनम् तत्र क्रिया समुदेति। कविकर्मणि वाह्या: प्रकृति अभ्यन्तरा च प्रकृति: सम्बद्ध्येते। वस्तुस्थितौ तु मानवस्या वाह्या अभ्यन्तरा च उभे एव प्रकृत्यौ पर्यावरणत्वेन प्रतिफलत:। वाह्या: प्रकृति: अभ्यन्तरां अभ्यन्तरा च वाह्यां प्रसादयति। एषा एव प्रक्रिया मानवजीवनस्य परमाह्लादाय कल्पते। अत एव आदिकाविना वाल्मीकिना स्वीये आदिकाव्ये रामकथायां बहुत्र पर्यावरणवर्णनं कृतं वर्तते। तत्र अयोध्यानगरीं परित: वा स्यात्। जनकपुरीं परित: वा स्यात् अथवा तपोवनेषु अरण्येषु वा स्यात्। स्थालीपुलाकन्यायेन अत्र अस्मिन् लघुसम्भाषणे पञ्चवटीं परित: यत् पर्यावरणं तदानीमासीत् तदुच्यते।

तत्त्वज्ञेन महर्षिणा अगस्तेन पूर्वापरप्रसङ्ग विवेकानन्तरं साकेतराज्यसर्वस्वभूताया: निसर्गपरिपूताया: रामलक्ष्मणसीतात्रय्या: शारीरबलमनोबलपरिवर्धनार्थं एषा रामलक्ष्मणसीतात्रयी पञ्चवट्यां निवासाय प्रेरिता आसीत्। तत्र गत्वा राम: लक्ष्मणं पर्णकुटीनिर्माणाय तादृशस्थानस्य कृते परामृशति यत्र-

वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा।
सन्निकृष्टं च यस्मिन् तु समित्पुष्पकुशोदकम्॥

अरण्य काण्ड सर्ग १५/५

अर्थात्- कुटीनिर्माणं तत्र स्यात् यत्र वृक्षलतादि रमणीयता स्यात्, जलस्य रमणीयता स्यात्, समिधां-पुष्पाणां-कुशानां पेयजलस्य च सान्निकट्यं स्यात्। एतेषामेव वस्तूनां सन्निधौ मानवस्य शारीरस्वास्थ्यं, मनसः आह्लादः, धर्मकर्मणोश्च निर्वृत्तिः भवति। आदेशमेनं शिरसि सन्धार्य लक्ष्मणेन पर्णकुटी तादृश एव प्रदेशे निर्मिता। तैश्च यावत्तत्र वास आरब्धस्तदा परमप्रसन्न रामः सीतायाः लक्ष्मणस्य च समक्षं यत् पर्यावरणोत्पादित आनन्दविवेचनां सोल्लासं कुरुते तदत्र महत्त्वपूर्णम्।

पञ्चवटीदेशे ससीतो रामः स्वभ्रातरम् लक्ष्मणं प्रति ब्रूते- ''यथोद्दिष्टो मुनिना अगस्त्येन एष पञ्चवटीदेशः सत्यमेव उल्लासदायकत्वात् अस्माकं कृते परमरमणीयोऽस्ति। पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः एषः समो देशः वर्तते। सुरभिगन्धिभिः आदित्यसंकोशेः पद्मैः शोभिता पद्मिनी अत्र सम्मुखः एव रम्या दृश्यते। अन्यतश्च चक्रवाकोपसेविता हंसकारण्डवाकीर्णा इयं गोदावरी सरित् पुष्पितैस्तरुभिर्वृता रमणीयतां द्विगुणी करोति। अत्रत्या बहुकन्दराः पर्वता मृगयूथनिपीड़िता, मयूरनादिताश्च कामप्यलौकिकामेव शोभां जनयन्ति। अथ चेयं भूः''

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरैः पनसैद्रुमैः। (अर.का.सर्गः 15)
नीवारैस्तिनिशैश्चैव पुन्नागैश्चोप शोभिताः॥१६॥
आम्रैरशोकैस्तिलकैः केतकैरपि चम्पकैः।
पुष्पगुल्मलतोपेतैः तैस्तैस्तरुभिरावृता॥१७॥
स्यन्दनैश्चन्दनैर्नीपैः पनसैर्लकुचैरपि।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमी किंशुकपाटलैः॥१८॥

इदृशैः पर्यावरणैः परिवृत्तः स पञ्चवटीप्रदेशः रामलक्ष्मणसीतानां शारीरिकमानसस्वास्थ्यवृद्धये परमोपकारकोऽसिद्धयत।

किन्न साधयति वाल्मीकिरामायणे कृतमिदं पर्यावरणचिन्तनम् यन् मानवजीवनस्य सुखसमृद्ध्यर्थं गिरीणां, नदीनां सरोवराणां, पुष्पाणां विविधपशुपक्षिणां परमोपयोगित्वं तु वर्तत एव तत्रापि न कस्यचन वृक्षाविशेषस्यैव अपि तु विविधानां वृक्षाणां लतानामपितत्र स्थितिः आवश्यकी। अतः सुखसम्पन्नस्य जीवनस्य कृते सुन्दरं पर्यावरणं नितरामपेक्ष्यते। इति॥

रामायणे वृष्टि-निबन्धन प्रकृति चित्रणम्

डॉ० भारतेन्दु पाण्डेयः
वरिष्ठ प्रवक्ता- संस्कृत विभागे,
नानक चन्द-एंग्लो-संस्कृतमहाविद्यालय (मेरठ)

'लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि' इत्यासूत्रितं शास्त्रकृता। परम् यतो वर्णनीयं लोकमन्तरेण तद्वर्णना विशेष-नियुण-कविकर्मभूतं काव्यं क्व उदीयादित्येवाकलय्य स्वसूक्ष्मैक्षिकया तेन (शास्त्र कारेण) विद्यातोऽपि षडङ्गत् प्रकीर्णादपि लोकस्यैव काव्याङ्गेषु प्राथम्यं प्रतिपादितम्। तत्र लोकेऽपि प्रकृतिरेव कवीनां कारयित्री प्रतिभां सर्वतोऽधिकं कृतार्थयति इत्यत्र विश्ववाङ्मयमेव प्रामाण्यं भजते।

स्वयमस्मदीयं वाल्मीकिरामायणमेव प्रोक्तां प्रकृत्यालम्बपरां परम्परां काव्यानां प्रवर्तयन् परिलक्ष्यते। तत्र बाह्यप्रकृतिमतिरिच्य आन्तरिकी जीवानां प्रकृतिरपि प्रकर्षेण चित्रिता वर्तते। अत्र वर्षर्तुवर्णनपरं बाह्यप्रकृतिचित्रणमेवादाय तत्रत्यं विचार्यते किंचित्।

स्वकविधर्ममिक्षरशोऽभिरक्षन्नपि आदिकविरत्र रामायणे भास्करकराणाम् अपाञ्च समुद्रगतानां मध्ये कः सम्बधो वर्षासु का तद्भूमिका चैवमाद्यात्मकं वृष्टिविज्ञानमपि निर्वक्ति। इत्थमेव वर्षतुवातानाम् अज्जलियान शक्यता निरूपणद्वारा सान्द्रत्वार्द्रत्वादि तेषां (वातानाम्) प्रकाशयन्ती ऋतुविज्ञानवैशारदी वाल्मीकीया मुहुर्मुहुः मुखरीभवति रामायणे।

अत्र न केवलं वर्षाः प्रत्युत तात्कालिकी निखिलाऽपि चेतनाऽचेतना च प्रकृतिः तद्वर्णना मुखेन लोकोत्तरतामेवारोहन्ती मिलति। तद् यथा- मेघकृष्णाजिनधराणाम् धारायज्ञोपवीतिनाम् मारुतापूरित गुहानां पर्वतानां प्राधीत्वकल्पनम् रूपकोत्प्रेक्षालंकारैरलंकृतं सदपि नैसर्गिकीमेव चित्रचित्रण सुषमामासादयति। एवमेव तत्र रामायणे नीलमेघाश्रित विद्युताम् बलाकिनां सलिलातिभारं समुद्वहतां महन्महीद्रशृंगेषु विश्रम्य विश्रम्य पुनरग्रे प्रयातां वारिधराणाम्, वहन्तीनां नदीनाम्, वर्षतां धनानाम्, नदतां मत्त गजानाम्, भातां वनान्तानाम्, ध्यायताम् प्रियाविहीनाम्, नृत्यतां शिखिनाम्, प्लवंगानाञ्च श्वसतां वर्णनानि एतावत् प्रामाण्येन प्रस्तूयन्ते रामायणे यत तानि न केवलं सहृदयहृदयान्येववर्जयन्ति अपितु अनुवर्तिकवीनामपि स्वानुकरण विंवर्शान् कुर्वन्ति धर्मपरिप्लुष्टायाः नववारिपरिप्लुताया मह्याः शोकसन्तप्तायाः सीताया इव वाष्प विमोचनं नान्येन केनापि प्रत्युत स्वयं कविकुल गुरुणाऽपि प्रायो यथावदुपजीव्यते कुमार संभवीये पंचमसर्गे। इत्थं रामायणीयं वृष्टि निबन्धनं प्रकृतिचित्रणं प्रकृति विज्ञान संवलितम्। सुकृतालंकृति संस्कृतिम् परवर्ति महाकाव्यादर्शभूतञ्च विद्यते।

वाल्मीकिरामायणे प्रकृतिचित्रणम्

डॉ० शिव शङ्कर मिश्रः
व्याख्याता- सर्वदर्शन
श्रीलाल बहादुर शास्त्री
राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नवदेहली-16

लौकिकसंस्कृतस्यादिमं काव्यं वाल्मीकिरामायणमिति विविच्यते विवेचकैः। काव्येऽमुस्मिन् पद्यपीयूषस्य प्रवहणं विद्यते निराबाधम्। अत्रार्थाववोधने न किमपि काठिन्यं न वा शब्दप्रवचने कश्चनापि क्लेशः। वस्तुतो यथा अक्षराणामकारश्छन्दसां गायत्रीन्द्रियाणां मनो मनसि चान्तरात्मा, मुख्यमङ्गानां, सरित्सु गंगा, श्रुतिषु साम, सामसु वृहत्साम, सहस्रनामसु रामनाम, सतीषु सीता दिव्यवैभवविलसितं प्राधान्यमावहति तथैवेदं ग्रन्थरत्नभूतं वाल्मीकिरामायणं विश्वकाव्यकदम्बेषु विलसतितराम्।

रामायणस्य प्रतिकाण्डे प्रसंगविशेषे चित्तापहारि प्रकृति चित्रणं चित्रितमादिकविना वाल्मीकिना। कुत्रचित् पयःपूरितमरालमण्डितसरोवरस्य, कुत्रचित्कलरवकूजितविहंगविलसितवृक्षस्य, कुत्रचिच्छैलप्रचारिगिरिगुहाविदारिझंकारकारिनिर्झरस्य, कुत्रचित्पीयूषस्रोतसः चन्द्रस्य कुत्रचिद्अरुणपुरस्सर अर्कस्य, कुत्रचित्पृथिव्याः, कुत्रचित् जलस्य, कुत्रचित्तेजसः, कुत्रचिद्वायोः कुत्रचित्सन्ध्यायाः कुत्रचित्प्रभातस्य च चित्ताकर्षकं वर्णनं समुपलभ्यते।

एकस्मिन् प्रसंगे यदा लघुरूपधरस्य भगवतो हनुमतो लंकापुर्य्यां प्रवेशस्तदानीं चन्द्रोदयशोभायाः वर्णनं कपिमुखेन वाल्मीकिना एवं विहितम् -

हंस कारण्डवाकीर्णा वापीः पद्मोत्पलावृताः।
आक्रीडान् विविधान् रम्यान् विविधांश्च जलाशयान्॥
संततान विविधैर्वृक्षैः सर्वर्तुफलपुष्पितैः।
उद्यानानि च रम्याणि ददर्श कपिकुञ्जरः॥

एवमेव अशोकवनिकायां प्रविश्य तस्याः शोभायाः दर्शनमेकस्मिन्श्लोके प्रच्छन्नीभूतेन हनुमता एवं कृतम्-

स प्रविश्य विचित्रां तां विहगैरभिनादितां।
राजतैः काञ्चनैश्चैव पादपैः सर्वतो वृताम्॥
विहगैर्मृगसंधैश्च विचित्रां चित्रकाननाम्।
उदितादित्यसंकाशां ददर्श हनुमान् बली॥
वृतां नानिविधैर्वृक्षैः पुष्पोपगफलोपगैः।
कोकिलैर्भृंगराजैश्च मत्तैर्नित्यनिषेविताम्॥

अत्र शोधपत्रसारांशे स्थालीपुलाकन्यायेन केवलं स्थलद्वयस्य संकेतमात्रेणोपस्थापनं कृतम् विशेषतस्तु उपस्थापनीये शोधपत्रे प्रकृतिचित्रणस्य प्रतिप्रसंगस्य समग्रंपक्षमभिधास्ये इत्यलं पल्लवितेन।

वाल्मीकीयरामायणे पर्यावरणचेतना

डॉ० राधेश्याम गंगवार
वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत विभाग
राज. स्नातकोत्तर महा.पिथौरागढ़

लौकिक संस्कृत साहित्यस्य आदिस्त्रष्टा आर्यसंस्कृते रुपदेष्टा आदर्श प्रणेता लोकव्यवहाराभिज्ञ: सरसकाव्यामृतनिष्णात: मधुरोदात्तपदावलीरचनाप्रवीण: निगमागम पारावारीण: अध्यात्मवादपोषक: मानवतोपासक: आर्यसभ्यतोपदेशक: सदाचारशिक्षक: चतुर्वर्गाचार्य: मार्मिकभावाभिव्यञ्जनाकुशल: करुणरसपरिपाकनिपुण: मधुरमधुराक्षरवाक् कविकमलभास्वान् जगदार्यमान् सकलगुणवान् विशुद्धरीति उदात्तनीति वाल्मीकि आदि कवि इति सुरभारतीसाहित्यकविष्वप्रतिमं प्रतिष्ठां लभते लोके। महर्षिणानेन प्रणीतम् आर्षकाव्यं रामायणमिति संस्कृतमहाकाव्यसाहित्यस्य आदिकाव्यत्वेन परमप्रीत्या भक्तया उदभिवंद्यते सहृदयै: कविभि र्विद्वद्भिश्च। महाकाव्येऽस्मिन् न केवलं विकसित महाकाव्य वैशिष्ट् यानि निसर्गरम्यां च पर्यावरणचेतनां प्रमाणयति। अतो महाकवेरस्यादिकाव्ये विहितां पर्यावरणचेतनामाश्रित्यैव समासतोऽत्र विव्रियते।

अस्मान् परित: आवृत्य संस्थितं तत्त्वजातं पर्यावरणं नाम। जल-वायु-भूमि-तेजस्-खमिति भौतिक तत्त्वावरणम्, विहग-मृग-मधुप-सरीसृपादिकं जैविक तत्त्वारणम्, वनौषधलतागुल्मवीरुध प्रभृत्युद्भिज्ज तत्त्वावरणं समष्टित्वेन पर्यावरणं निगद्यते। अनया दृष्टया रामायणस्यानुशीलनादिदं प्रतिभाति यदत्र क्वचिद् गङ्गासरयू तमसा गोदावर्यादीनां सरितां सजीववर्णनेन, क्वचिदश्वमेधादिक यज्ञविधिसम्पादनेन, क्वचिच्चित्रकूट मैनाककिष्किन्धादीनां पर्वतानां विशदवर्णनेन, क्वचिद्दण्डकाशेकमधुवनादीनां वनोपवनानां याथातथ्यचित्रणेन, क्वचिद् मृगसिंह गज शार्दूल शरभसरीसृपवृश्चिक कीट पतङ्ग दंशमशकादीनां जीवजन्तूनां सूक्ष्म निरीक्षण सापेक्षवर्णनेन, क्वचित् किरातकपि भील भल्लूक ऋक्षादीना मरण्य चारिणाम् आख्यानोपन्यासेन, क्वचित् शालाशोकभव्य चम्पकोद्दालक नागाम्रादीनां लताशत समन्वितानां पुष्पफलवतां नित्योन्मत्तपिकभृङ्गराज सेवितानां निबन्धनेन च महर्षिरसौ प्रमाणयति स्वीयामसाधारणां पर्यावरणावलोकनदक्षताम्। अथ महाकविर्वाल्मीकिरेवास्ति यस्य पर्यावरण चेतनया चमत्कृत: सन् क्रौञ्च द्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वं प्रपन्न:, रामायण रचनायां बीजरूपेण च परिणतो बभूव। तद्यथा-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काम मोहितम्।।

पद्येऽस्मिन् गुम्फितां महाकवे पर्यावरणचेतनामेव परीक्ष्य ध्वज्यालोक प्रणेताचार्यानन्दवर्धनो व्याहरति

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत:।।

वस्तुतो वाल्मीकिर्निसर्गपर्यावरणचेतना निरीक्षणानिपुणो महाकविरस्ति। तस्य महाकाव्ये विन्यस्ता पर्यावरणचेतनाऽत्र समासेनैवं पञ्चधा विभज्य प्रस्तोतंतु शक्यते, तथाहि (1) पञ्चमहाभूत विषयिका पर्यावरणचेतना (2) प्राणिजातान्विता पर्यावरण चेतना (3) वानस्पतिक पर्यावरण चेतना (4) निसर्गघटकान्विता पर्यावरण चेतना (5) शिष्टवस्तुसम्बद्धा पर्यावरण चेतना च।

वाल्मीकिरामायणे प्रकृतिचित्रणम्

डॉ० अरुणिमा
प्रवक्ता- संस्कृतविभाग:
एस.डी. डिग्री कॉलेज, मुजफ्फरनगर

आदिकविश्रीवाल्मीकिमहामुनिरेक: अद्वितीय: कविरासीत्। तेषां प्रकृतिचित्रणं रामायणे सुलभतरं सुमनोहरञ्च विद्यते। वाल्मीकिरामायणे पदे पदे प्रकृतिचित्रणं दृष्ट्वा एवं प्रतीयते यत् न तत् श्रव्यकाव्यमपितु दृश्यकाव्यत्वमापन्नमनेन।

श्रीराममुखारविन्देन महामुनि: वाल्मीकि: कथयति -

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभव:।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम्॥

चित्रकूटं दृष्ट्वा श्रीराम: सीतां प्रति कथयति यत् भद्रे! इमं रमणीयं गिरिं दृष्ट्वा मम सर्वं दु:खं विलुप्तम्। आदिकवि: वाल्मीकि: स्वप्रज्ञानं वनस्पतीनां कृते एवं ज्ञापयति -,

आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रै: प्रियालै: पनसैर्धव:।
अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभि:॥

चित्रकूटपर्वते क्वचित् आम्रफलानि, क्वचित् जम्बूफलानि, क्वचित्, लोध्रपुष्पाणि, क्वचित् प्रियाला:, क्वचित् पनसफलानि, क्वचित् अङ्कोला:, क्वचित् बिल्वफलानि, क्वचित् तिन्दुका: क्वचित् वेणुवृक्षाश्च रोचन्तेतमाम्।

एवं आदिकवे: वाल्मीके: प्रकृतिचित्रणं शोधार्हं विद्यते। प्रकृतशोधपत्रे **'वाल्मीकिरामायणे प्रकृतिचित्रणम्'** इत्यस्मिन् विषये गूढचिन्तनं कृत्वाहं विशिष्टान्वेषणं कर्तुं शक्ष्यामि इति मे प्रयासो भविष्यति॥

वाल्मीकिरामायणे पर्यावरणचिन्तने जलतत्त्वम्

हरीश चन्द्र गुरुरानी
एम.ए. (संस्कृत) बी.एड.
साहित्याचार्य: शोध-छात्र

अखिलेऽस्मिन् संसारे को न जानीते आदिकवि: वाल्मीकिर्नाम यस्य सुललितं रमणीयं कमनीयम् आदिकाव्यं रामायणम् विश्वप्रसिद्धं विराजते। अमुमेव काव्यं प्रमाणभूतं स्वीकृत्य सर्वे कवय: स्वकाव्य रचनासु प्रयतमाना: अभवन् अस्मिन्नेव काव्ये वेदानुकूल-समाजानुकूल-परिवारानुकूल तत्वानाम् आध्यात्मिकं वैज्ञानिकञ्च सजीवचित्रणं समुपलभ्यते।

वाल्मीकिरामायणे पर्यावरण चिन्तने विश्वव्यापिन्या: समस्याया: ज्ञानं परमावश्यकम् ननु किमिदं पर्यावरणम्? अस्मान् परित: आवृत्य संस्थितं तत्त्वजातं पर्यावरणंनाम। जल-वायु-भूमि-तेजस् खमिति भौतिक-तत्वावरणम्, विहग-मृग-मधुप-सरिसृपादिकं जैविकतत्वावरणम्, वनौषधलता, गुल्मवीरूध

प्रभृत्युदभिज्ज-तत्वावरणं समष्टित्वेन पर्यावरणमभिधीयते। एतेषु तत्त्वेषु मया जलविषयकं तत्त्वं निरुप्यते (विवेच्यते)। यतोहि- ''अप एव सरएर्जादौ तासु बीजम् अवसृजत्'' अर्थात सर्वप्रथमं जलमेव उत्पन्नम्। जलान्नतरं सृष्टि:, अतव जलं जीवनममृतम् उच्यते। जले जीवने शक्ति: वर्तते।

रामायणस्यास्य अनुशीलनेन चिन्तनेन इदं प्रतिभाति यदत्र गङ्गासरयू-तमसा गोदावर्यादीनां पवित्रसरितां सजीव चित्रवर्णनेन। क्वचिदश्वमेधादिक यज्ञविधिसम्पादनेन, क्वलिच्चित्रकूट मैनाक-किष्किधा-हिमालयादीनां विशदवर्णनेन, क्वचिद्दण्डकाशोक-मधुवनादीनां प्रसङ्गेन, क्वचिद्शाला-शोक-भव्य-सम्पकोद्दालकनाग्रामादिनां लताशत समन्वितानां पुष्पफलवतां दर्शनेन क्वचिद् ग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तबसन्तादीनां निबन्धनेन एवं प्रतीयते वाल्मीकि रामायणे जल विषयकं तत्वं प्राचुर्येषु सम्प्राप्यते।

वाल्मीकि रामायण ''जलतत्वं'' पर्यावरणस्य रक्षाणाय संवर्धनाय महतीं भूमिकां प्राप्नोति। रामायणकाले जलस्यस्थिति-महिमा-उपयोगसंर्वधनेन शुद्धपर्यावरण संवर्धनेन समेषां मानसिक-समाजिक शुद्धिरासीत्। येन रामराज्यस्य प्रवर्तनमासीत्। दूषितेपर्यावरणे रामराज्यस्य कल्पना कल्पयितुं न शक्यते।

अत: साम्प्रतिकं दूषितं वातावरणं विशुद्धं विधाय पुन: रामराज्यस्य स्थापना भवितुर्महति। येन अस्माकं जीवनस्यसाफल्यं स्यात्। एतदेव वेदस्यापि सारभूततत्त्वम् अस्मिन्नेव विषये निबन्धेऽस्मिन् रामायणस्यालोके चिन्तनं विवेचनञ्च विहितं मया।

वाल्मीकिरामायणे पर्यावरणचेतना

डॉ० विनीत घिल्डियाल

उपाचार्या, संस्कृत विभाग:, हेमवतीनन्दनबहुगुणागढ़वालविश्वविद्यालय:,
श्रीनगरम् (गढ़वालस्थम्)

अस्मान् परितो यदावरणं तदेव पर्यावरणपदेन संज्ञायते। अथवा यत्किञ्चिदपि प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरुपेण अस्माकं जीवनं प्रभावयति तत्सर्वमेव 'पर्यावरणम्' इति कथ्यते। एवं जलवायुपृथिवीदहनगगनाख्यानि पञ्चभूतानि, वनवृक्षवनस्पतय: लतौषधायश्च, वन्यपशव: पालितपशवश्च, जलचरखेचरसरीसृपकीटादयश्च जन्तव:- सर्वेऽप्येते पर्यावरणस्य प्राकृतिकघटकास्सन्ति। संस्कृतसाहित्ये वैदिककालादेव पर्यावरणम्प्रत्यस्माकमृषीणां संवेदनशीलता स्पष्टरुपेण दृश्यते। वाल्मीकिरामायणे त्वस्या: पर्यावरणसम्बन्धिाचेतनाया: पूर्णपरिपाक: संदृश्यते। काव्यस्यास्योपक्रमेव क्रौञ्चीकृतकरुणक्रन्दनव्यथितहृदयस्य महर्षिवाल्मीके: मुखान्नि:सृतस्य शापरुपशोकेन भवति य: श्लोकीभावं सम्प्राप्य रामायणमहाकाव्यस्य बीजत्वेन स्वीक्रियते। वस्तुत: रामायणमस्ति रामस्य चरितम्, किन्तु ततोऽप्यधिकमस्ति सीतायाश्चरितं महत्। वनमेव रामस्य अयनम्, सीता चास्ति वनात्मा, वनसंस्कृति:। इदमेव च कारणं यद् महर्षिवाल्मीकि: वनोपवनोद्यानानां, वन्यजीवजन्तूनां, सरसागरसरितासरोवरादीनां, पृथिवीपर्वतादीनाञ्च वर्णनमत्यन्तमनोयोगेन करोति यत्र संदृश्यते काचिदलौकिकी पर्यावरणचेतना।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित औषधि और वनस्पतियाँ

डॉ० नन्दिता सिंघवी
व्याख्याता, संस्कृत
राजकीय डूँगर महाविद्यालय
बीकानेर, राज.-334001

वाल्मीकि रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत औषधि और वनस्पतियों की सम्पदा से सुसम्पन्न था। नगर वाटिकाओं और अनेक प्रकार के फल-फूल वाले वृक्षों से सुशोभित थे। वाटिकाओं में मिथिला की पुष्पवाटिका, लंका की अशोकवाटिका और किष्किंधा का मधुवन उल्लेखनीय है। अशोकवाटिका की उपमा नन्दनवन से दी गई है। रामायण में दण्डक नन्दनवन पंचवटी, किष्किंधा तथा लंका की मध्यवर्ती तथा दक्षिणी वन श्रृखंला का सजीव वर्णन प्राप्त होता है।

चित्रकूट के परिसर में स्थित वन के अत्यन्त सजीव वर्णन महर्षि वाल्मीकि ने किये हैं। इन वनों में विद्यमान औषधि वनस्पतियों की विविधता और प्रचुरता तथा उनके आश्रम में रहने वाले पशु पक्षियों के वर्णन से तत्कालीन भारत की जैव विविधता का परिचय प्राप्त होता है। लंका नगरी को विविध वृक्षों से सम्पन्न कहा गया है **'विविधद्रुमभूषितम्,** वाल्मीकि रामायण, 6.1.20।

ये वन भक्षणीय फल मूल से युक्त होत थे- **फलानि मूलानि च भक्षयन् वने-** वही, 2.34.59।

जल उत्पल और कमल वनों से व्याप्त हुआ करते थे- वही, 2.50.20., 6.2.12।

पर्वतों पर उत्तम वृक्ष, सुगन्धित और सुस्वादु कन्द, मूल तथा फल विद्यमान होने का वर्णन प्राप्त होता है- वही, 6.1.48.49.116

तत्कालीन नर-नारी पुष्पों से अपना श्रृंगार किया करते थे। भारत में वानस्पतिक ज्ञान समुन्नत था। इसका ज्ञान राम के वनवास गमन के समय सीता द्वारा राम से वनस्पतियों के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों से प्राप्त होता है-

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम्।
अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं प्रपच्छे साबला।।

वही, 2.55.29।

पवित्र वृक्षों को आदरपूर्वक नमन कर आशीर्वाद लिया जाता था। सीता श्यामवट को नमन कर प्रार्थना करती है कि आप ऐसी कृपा करें जिससे मेरे पतिदेव अपने वनवास विषयक व्रत को पूर्ण करें तथा हम लोग वहीं वन से सकुशल लौटकर माता कौसल्या तथा यशस्विनी सुमित्रा देवी का दर्शन कर सकें- वही, 2.55.23-25।

मानव के सुख-दुःख में वनस्पतियाँ भी सहभागिनी होती हैं, इस तथ्य का रामायण में प्रतिपादन किया गया है। राम के वन प्रस्थान करने से अयोध्या में आये महान् संकट से वृक्ष भी कृशकाय हो गये तथा फूल, अङ्कुर और कलियों सहित मुरझा गये। वनों और उपवनों के पत्ते सूख गये- वही, 2.55.23-5।

दूसरी ओर भरद्वाज मुनि के तेज के कारण देवदारु, ताल, तिलक और तमाल नामक वृक्ष कुबड़े और बोने बनकर अत्यन्त हर्ष के साथ भरत की सेवा में उपस्थित दृष्टिगत होते हैं- वही, 2.89.50।

मानव और प्राणी जगत् के जीवन और स्वास्थ्य के लिए औषधि-वनस्पतियों की बहुविध उपयोगिता रामायण में परिलक्षित होती है। जिसका विवेचन प्रस्तुत शोधपत्र में किया जायेगा।

रामायण में प्रकृति चित्रण

डॉ० शरण कौर
अध्यक्षा, संस्कृत विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

वैदिक साहित्य में प्रकृति का अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्राप्त होता है। आदि-कवि वाल्मीकि ने उस परम्परा को सुरक्षित रखते हुए रामायण में प्रकृति को अनेकानेक रूपों में व्यक्त किया है। आदि काव्य रामायण में प्रकृति के नाना क्षेत्रों में बिखरे हुए सौन्दर्य के स्वतन्त्र तथा मुक्त रूप के दर्शन होते हैं। रामायण की रचना की प्रेरणा के मूल में ही स्वयं प्रकृति के एक रमणीय दृश्य का करुण अवसान ही तो है। महाकाव्य में प्रकृति-चित्रण के दो उद्देश्य हैं-वर्णन का पृष्ठाधार प्रस्तुत करना और पाठकों के मन को मुग्ध करना। वाल्मीकि ने प्रकृति-चित्रण द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति की है।

वाल्मीकि रामायण की कथावस्तु का विस्तार राम के वनवास के उपरान्त वन-पर्वत आदि के विस्तृत प्रदेश में है। अयोध्या काण्ड से कथावस्तु वन की भूमिका पर उपस्थित हुई है। इसके अनन्तर अरण्य काण्ड, किष्किन्धाकाण्ड तथा सुन्दर काण्ड का विस्तार वनभूमि में हुआ है। इस कारण आदि कवि को वन्य-प्रकृति उपस्थित करने का अवसर अधिक प्राप्त हुआ है। यहाँ कवि ने वनों के भयावह रूप का वर्णन अपने पात्रों के माध्यम से किया है। प्राचीन काल में प्राकृतिकप्रदेश के साथ आश्रम का जीवन महत्त्वपूर्ण था और वे आश्रम भांति-भांति के पक्षियों और तालाबों से भरे-पूरे और नाना-जीवों से शोभायमान हो रहे थे। राम के वनवास जीवन में वन के साथ पर्वतों का भी स्थान रहा है। अत: रामायण में चित्रकूट, ऋष्यमूक, महेन्द्र, मैनाक, अरिष्ट आदि मध्य देश के पर्वत उल्लेखनीय हैं। वन मार्ग में नदियाँ प्रवाहित होती हैं। अत: कवि ने सरिता, सर, सागर तथा वृक्षों आदि का वर्णन करते हुए प्रकृति की क्रिया या उसकी स्थिति का सूक्ष्म चित्रण किया है। वाल्मीकि ने प्राय: सभी ऋतुओं का अत्यन्त यथातथ्य तथा रसमय चित्रण किया है। वर्षा, बसन्त और हेमन्त का वर्णन अनूठा है। कवि ने आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों ही रूपों में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त सफलता के साथ किया है पर आलम्बन वाला रूप अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वाल्मीकि रामायण में वायुमण्डलीय पर्यावरण

डॉ० मीरा द्विवेदी
रीडर-संस्कृत वैदिक अध्ययन विभाग
वनस्थली विद्यापीठ

भारतवर्ष की पुरातन आर्ष परम्परा अपने पर्यावरण के प्रति अत्यन्त संवेदनशील थी। व्याध-बाण से बिद्ध मरणासन्न-क्रोञ्च के विरह में क्रौञ्ची के करुण-क्रन्दन से द्रवीभूत आदि कवि वाल्मीकि के हृदय से प्रादुर्भूत रामायण में भी पर्यावरण-चेतना पदे-पदे अनुस्यूत दिखाई देती है।

पर्यावरण-चिन्तन के मूलत: तीन क्षेत्र माने जाते हैं- स्थलमण्डल, जलमण्डल एवं वायुमण्डल। इन तीनों की पारस्परिक सापेक्ष स्थिति प्राणीमात्र को प्रभावित करती है। वाल्मीकि रामायण में अभिव्यक्त वायुमण्डलीय पर्यावरण सम्बन्धी चेतना आधुनिक समाज को प्रकृति के साथ सामञ्जस्य रखने का सन्देश देती है। इस आदिकाव्य में वायु का स्वरूप, आवश्यकता, वायुमण्डल के विविध स्तर, खग-पथ का सप्तधा विभाजन, प्रदूषित वायु के दुष्परिणाम आदि का सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। आधुनिक भूगोलवेत्ता वायुमण्डल के क्षोभमण्डल, समतापमण्डल, ओजोनमण्डल, अयनमण्डल एवं बहिर्मण्डल ये पाँच मुख्य स्तर मानते हैं। परन्तु हमारे प्राचीन ऋषियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टियों से वायुमण्डल के सात स्तरों-आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, विवह, अनुवह एवं परिवह की पहचान कर ली थी। महर्षि वाल्मीकि भी वायुमण्डल के इन सात स्तरों से परिचित थे। उन्होंने इनकी संज्ञा वातस्कन्ध दी है। बालकाण्ड में विश्वामित्र राम को बताते हैं कि इनका निर्माण इन्द्र द्वारा दिति के गर्भ का सप्तखण्डों में भेदन करने से हुआ था।

किष्किन्धा काण्ड में सम्पाति सीता की खोज में संलग्न वानरों को खगपथ के सात स्तरों की जानकारी देता है, जो गौरय्या पक्षी से लेकर वैनतेय पक्षी की सामर्थ्य एवं गति के अनुसार वर्णित हैं। एकबार जटायु एवं सम्पात्ति अस्ताचल पर पहुँचने से पहले सूर्य को छूने की प्रतिज्ञा करके उड़ान भरते है। सूर्य के समीप पहुँचने पर दाहकता से व्याकुल हो जाते हैं। जटायु को सम्पात्ति अपने पंखों से आच्छादित कर बचा लेता है। किन्तु उसके पंख जल जाते हैं। आजीवन वह इस कष्ट का अनुभव करता है। इस वृतान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों ओजोन मण्डल के स्तर को भेदकर अयन मण्डल में प्रवेशकर गये थे और सूर्य की हानिप्रद विकिरणों (ultra violet Rays) से दग्ध हो गये।

वाल्मीकि रामायण में वायुमण्डलीय विविध गतिविधियों जैसे- मेघ निर्माण, कुहरा, झंझावात आदि के निर्माण की भी जानकारी प्राप्त होती है। वायु के प्रकुपित एवं प्रदूषित होने के दुष्परिणाम भी इस महाकाव्य में वर्णित हैं। कुशनाम की सौ कन्यायें वायु प्रदूषण से कुब्जा हो गयी थीं।

वस्तुत: वायु प्राणदायी है। वह जीवनदायी बना रहे एतदर्थ उसे प्रदूषणमुक्त रखना परम आवश्यक है। अन्यथा जीव जगत् का विनाश अवश्यम्भावी है। यही सन्देश वाल्मीकि रामायण देता है-

**"वायु: प्राण: सुखं वायुर्वायु: सर्वमिदं जगत्।
वायुना सम्परित्यक्त: न सुखं विन्दते जगत्।।"**

- (उत्तर0/35/62)

वाल्मीकि रामायण में प्रकृति-चित्रण

डॉ० विजयकुमार वेदालंकार
सोनीपत, हरियाणा

इस दृश्यमान् अखिल चराचर जगत् को जीव और प्रकृति इन दो भागों में विभक्त किया गया है। स्रष्टा तथा नियामक के रूप में ईश्वर या ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त है। जीव उस विराट् चेतन सत्ता का अंश और दृश्य-प्रकृति उसका पार्थिव प्रसार है। तात्विक दृष्टि से प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित् है तथा ईश्वर सत्-चित् आनन्द स्वरूप है। प्राकृतिक उपादानों द्वारा जहाँ जीव-योनि का भरण-पोषण होता है, वहाँ सृष्टि की श्रेष्ठतम रचना 'मानव' को उसके द्वारा अपने भाव-जगत् के निर्माण की अमूल्य सामग्री कल्पना और चिन्ता की विविध दिशाओं का नूतन संकेत भी मिलता है।

प्रकृति मानव की चिर सहचरी है जो उसके जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हुई अंतरंग अनुभूतियों को अपने रूप-सौंदर्य से प्रभावित और चमत्कृत करने की अद्भुत क्षमता रखती है। इस कारण सृष्टि के आदि से ही मानव का प्रकृति के साथ जो संबंध स्थापित हुआ, वह स्पंदनशील एवं संवेदनशील सत्ता के रूप में हुआ है। प्रकृति अपने असंख्य रूपों में हमारे सम्मुख आती है और हम नाना रूपात्मक, गतिमान, परिवर्तनशील, विविध, ध्वनिनाद युक्त सृष्टि को देखकर विस्मय विमुग्ध होने के साथ एक अव्यक्त जिज्ञासा से प्रश्नशील हो उठते हैं। प्रकृति के प्रति पूजा-आराधना का भाव भी कदाचित् इसी कारण मानव के मन में उदय हुआ है। उसने अपने भाव-लोक में प्रकृति की व्यक्त सत्ता का जो विराट् रूप अंकित किया, वही काव्य, साहित्य, संगीत, चित्र आदि विभिन्न ललित कलाओं द्वारा प्रस्फुटित होकर हमारे रागात्मक जगत् का अभिन्न अंग बन गया। फलत: विश्व-साहित्य में प्रकृति-वर्णन की अनिवार्यता स्वीकार की गई।

वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन इस बात का साक्षी है कि उस काल में ऋषि-मुनियों ने विराट् चेतन-सत्ता के स्तवन-प्रसंग में उषा, सविता, वरुण, चन्द्र, मरुत आदि प्रकृति-तत्त्वों का प्रचुर परिमाण में वर्णन किया है। वेद संहिताओं के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय के अन्य अंगों में भी प्रकृति के प्रतीक, उपमान, रुपक आदि की भरमार है।

भारतीय दर्शन अपने सूक्ष्म विवेचन के लिए प्रसिद्ध है। कपिल, कणाद आदि ऋषियों ने प्रकृति की मीमांसा बड़ी विशद एवं संतुलित शैली से अपने दर्शन-ग्रंथों में प्रस्तुत की है। दर्शनों में प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही रूप आए हैं जो सृष्टि-रचना के रहस्योद्घाटन में तथा संसार के सरणशील बने रहने में अपनी उपादेयता रखते हैं। इससे प्रकृति और मानव चिर सहचर बन गए हैं।

संस्कृत महाकाव्यों में प्रकृति का ग्रहण अपेक्षा कृत अधिक व्यापक रूप में हुआ है। वाल्मीकीय रामायण में दृश्य प्रकृति-चित्रों का जैसा संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है वैसा कालिदास और भवभूति के सिवा किसी अन्य कवि में दृष्टिगत नहीं होता है। वाल्मीकि रामायण में संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण के ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनमें प्रकृति को शुद्ध रूप में स्वीकार करके कवि ने उसका आलम्बन-परक वर्णन किया है। कवि ने प्रकृति की रूप-छटा पर

मुग्ध होकर जिस स्वाभाविक अनुराग के दृश्य-चित्र में अपनी अलौकिक प्रतिभा को लीन किया है वह सर्वथा स्तुत्य है। उनके वर्णन अत्यंत सजीव और व्यंजक हैं। इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण में वर्षा-वर्णन तथा पंचवटी में लक्ष्मण द्वारा हेमंत का दृश्य-वर्णन कवि का प्रकृति-प्रेम लक्षित कराता है। स्पष्टतः अनन्त सौंदर्य व अनन्त चैतन्य से परिपूर्ण है। कवि अपने अंतःकरण व सहृदय समाज के लिए मानसिक सुख की रसानुभूति के रूप में व्यवस्था करता है। इसी से उसे इस लक्ष्य पूर्ति के लिए प्रकृति की ओर जाना इष्ट है क्योंकि आनन्द के मूल तत्त्व वहीं प्राप्त हैं।

वाल्मीकि रामायण में पर्यावरण

रवीन्द्र सिंह
प्रवक्ता, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पर्यावरण की दृष्टि से इक्कीसवीं सदी कैसी होगी, यह भविष्यवाणी करना कठिन है। किन्तु सम्भावना यह है कि विश्वभर में पर्यावरण संकट इतना बढ़ गया है कि मानव का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है। इसके बावजूद आशा की किरण बाकी है। यदि मनुष्य की समदृष्टि और सर्वज़ीव समभाव लौट आये।

पर्यावरण कई कारकों की समष्टि है-जिसमें पानी, जलवायु, वनस्पति, प्रकाश, तापमान, ऑक्सीजन, कार्बनडॉईऑक्साइड, नाइट्रोजन, खाद्यान्न, जीव आदि को माना जा सकता है। इसमें एक जलवायु सम्बन्धित तत्त्व है और दूसरा मृदा सम्बन्धी तत्त्व। अतः पर्यावरण के अन्तर्गत स्थलमण्डल, जलमण्डल एवं वायुमण्डल अध्ययन के मुख्य विषय हैं।

रामायण में पेड़ों से लदे पहाड़, हरी-भरी उपत्यकाएं, दूर-दूर तक फैले चारागाह और वन, फूलों से लदी तलहटियों का विस्तृत विवरण है, जिसे मनुष्य ने अपूर्व आत्मीयता प्रदान की है। मनुष्य का जीवन और उसका ज्ञान-विज्ञान वनों में विकसित हुआ। वैदिक काल में भारतीय मनीषी प्रकृति के आराधक थे, वे वनस्पतियों को अपने अनुष्ठानों में विशेष महत्व देते थे। रामायण में मरुत, सूर्य, इन्द्र, वरुण, उषा आदि के साथ-साथ वनस्पति, वृक्ष, एवं समुद्र को भी देवता कहकर उपासना की गई है। सीता जी वनवास के समय लंका में अशोक वाटिका में जहाँ रहती थीं वह भी हरे-भरे वृक्षों से परिपूर्ण थी।

वाल्मीकि रामायण में बालकाण्ड (2-3/4/5) में तमसा नदी एवं गंगा नदी का वर्णन है, इसमें कहा गया है कि वहाँ का घाट कीचड़ से रहित है, उसका जल वैसा ही स्वच्छ है जैसे सत्पुरुष का मन होता है। इसी में आगे तमसा नदी के तट को उत्तम तीर्थ की संज्ञा दी गई है। इस नदी के चारों ओर विशाल वन थे जो उस स्थान की शोभा बढ़ा रहे थे। इसी तट पर वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी

के जोड़े को विचरते हुए देखा था, यह पक्षी मनोहर कलरव करते हुए आनन्द में विभोर था।

रामायण में कौशल जनपद में अयोध्या नाम की नगरी का उल्लेख है, इसमें जाने के लिए विशाल राजमार्ग था। यह उभय पार्श्व में वृक्षावलियों से विभूषित बताया गया है। (बालकाण्ड 5-7)

रामायण में ही धूल रहित सुखदायिनी वायु चलने का वर्णन किया गया है, जो उस समय की पर्यावरणीय स्थिति को स्पष्ट करता है। (बालकाण्ड 22-4/5)

रामायण में ककुत्स्थनन्दन वन का वर्णन है जोकि अद्भुत और दुर्गम है। इसमें भयानक हिंसक जन्तु भरे हुए है। भयंकर बोली बोलने वाले पक्षी सब ओर फैले हुए हैं। नाना प्रकार के विहंगम भीषण स्वर में चहचहा रहे हैं। सिंह, व्याघ्र, सुअर और हाथी इस जंगल की शोभा बढ़ा रहे हैं। यह जंगल धव (धौरा), अश्वकर्ण (एक प्रकार का शाल वृक्ष), ककुभ (अर्जुन), बेल, तिन्दुक (तेन्दू), पाटल (पाड़र) तथा बेर के वृक्षों से भरा हुआ है। (बालकाण्ड 24-12-/13/14/15/16)

इस प्रकार महाकाव्य रामायण में अनेक पर्यावरणीय तत्त्वों का विवेचन किया गया है। वर्तमान में ऊर्जा संकट के हल की कुंजी भी वनों में छिपी हुई है। वन्य वनस्पतियों में अनेक चमत्कारी औषधियाँ छिपी हुई हैं। यह सब जानते हैं कि वन, वायुमण्डल की कार्बनडाईऑक्साइड को सोखकर धरती के सारे जीवों का उपकार कर रहे हैं, अगर ऐसा न होता तो **'ग्रीन हाऊस प्रभाव'** का शिकार होकर धरती न जाने कब की जल-भुन गयी होती। अत: यह कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी का प्रमुख विषय पर्यावरण ही होगा।

वाल्मीकि रामायण में प्रकृति चित्रण

डॉ० (श्रीमती) कौसल्या
प्रवक्ता-संस्कृत
कालपी कॉलेज कालपी, जालौन

रामायण भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों की अमूल्य निधि है। महर्षि वाल्मीकि आदि कवि और रामायण आदि काव्य है। इस बात को प्राचीन विद्वान् भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। जीवन के विविध पक्षों (आन्तरिक और वाह्य) का समन्वित स्वरूप इसमें निहित है। रामायण की लोकप्रियता व उपजीव्यता का कारण उसमें चित्रित जीवन की पूर्णता है। लोक को 'काव्य-दृष्टि' प्रदान करना रामायण की सबसे बड़ी देन है। वाल्मीकि ने न केवल वाह्य प्रकृति में असाधारण कौशल दिखाया है बल्कि वे अन्त: प्रकृति के चित्रण में भी सिद्धहस्त थे। सम्पूर्ण रामायण महाकाव्य प्रकृति वर्णनों से भरा पड़ा है। जिनमें चित्रकूट, मन्दाकिनी पंचवटी, पम्पासरोवर, ऋष्यमूक पर्वत, अशोक वाटिका, पुष्पक विमान तथा षड् ऋतु वर्णन परम रमणीय हैं। शोधपत्र में इन्हीं का चित्रण किया जा रहा है।

वाल्मीकि रामायण में पर्यावरणीय चेतना - वैज्ञानिक दृष्टि

डॉ० नन्दन भार्गव
व्याख्याता, रसायन शास्त्र
राजकीय महाविद्यालय, कोटा (राज.)

ऋग्वेद से प्रारम्भ कर आधुनिक संस्कृति साहित्य तक सम्पूर्ण वाङ्मय पर्यावरण चेतना से ओत-प्रोत है। वाल्मीकि रामायण में भी इस चेतना का वृहद्रूप वैज्ञानिक दृष्टि से आज के परिवेश से अधिक व्यवस्थित रूप में पाया जाता है। रामायण में जल, थल एवं वायु प्रदूषण की रोकथान की वैज्ञानिक तकनीक से अध्ययन इस पत्र में किया गया है।

शुद्ध एवं निर्मल जल की संकल्पना वाल्मीकि रामायण में सर्वत्र परिलक्षित होती है। यहाँ जल की अलौकिकता, पवित्रता, प्राणदायकता का समुचित वर्णन किया गया है। पानी को गंदला करने वाले के लिए दण्ड का विधान है।

पानीयप्रदूषके पापं तथैव विषदायके। सु. ७५/५६

वर्तमान की आवश्यकता जलसंरक्षण का भी वैज्ञानिक रीति से समुचित जलप्रबन्धन द्वारा निदान किया गया है।

समुद्र जल के संरक्षण हेतु नानाविध जलजन्तुओं की उत्पत्ति भी प्रमुख रूप से पर्यावरणीय चेतना को ही प्रदर्शित करता है।

प्रजापतिः पुरा सृष्ट्वा अपः सलिलसम्भवः।
तासां गोपायने सत्त्वानसृजत् पद्मसम्भवः॥

उत्तराकांड ४/९

पर्यावरण संतुलन हेतु पर्यावरणविदों द्वारा सघन वृक्षारोपण कर कृत्रिम वन-निर्माण की परिकल्पना का मूल बीज भी रामायण में दृष्टिगोचर होता है। रामायण के सुंदरकांड में विश्कर्मा द्वारा अशोक वाटिका में कृत्रिम तालाब एवं कृत्रिम वन निर्माण का उल्लेख है।

कृत्रिमां दीर्घिकां चापि पूर्णां शीतेन वारिणा। सुन्दरकांड १४/३३

काननै कृत्रिमैश्चापि सर्वत्र समलंकृताम्॥ सुन्दरकांड १४/३५

दधिमुख नामक वनरक्षक के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन जन अपने चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण के प्रति सजग थे।

ऋषि के अयोध्या आगमन से पूर्व सम्पूर्ण राजमार्गों को झाड़-वुहारकर जल से धोकर स्वच्छ कर देने के उल्लेख से भी सिद्ध होता है कि रामायणकालीन समाज पर्यावरणीय चेतना के प्रति सजग एवं सचेष्ट था।

वाल्मीकि रामायण में प्रकृति चित्रण

मधु अग्रवाल
रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
रानी भाग्यवती देवी स्नात. महिला महाविद्यालय,
बिजनौर

तपोवन में प्रकृति की सहज सुषमा की स्वानुभूति में तन्मय ऋषियों ने जो अभिव्यक्ति दी है उसका आकर्षण शाश्वत है, उसमें उनकी क्रान्ति दर्शिता एवं कान्ति दर्शिता दोनों मिलती है, इसलिए ये कवि कल्पना की अनुपम उपलब्धि हैं। आधुनिक युग की समर्थ प्रतिभाओं ने कलात्मक क्रान्ति की है।

प्रतीयमान प्रकृति के अनन्त वैचित्र्य के साथ अभिन्न आत्मीयता की इस वैदिक अभिव्यंजना ने भारतीय वाङ्मय को जीवन शाक्ति दी है, उसीने हमारी सहृदयता को समष्टिमंगलकारिणी बनाया है।

प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के प्रति सहजसद्भावना, और लोकमंगलशीलता की परम उदात्तता का यह स्वाभाविक स्वरूप **'बाल्मीकि रामायण'** के सामाजिक जीवन में परिलक्षित होता है। यदि कहा जाये तो, प्रकृति, ईश्वर और प्राणीजगत् यहाँ एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। प्रकृति के प्रति वैदिक ऋषि की सद्भावना वाल्मीकि रामायण में आद्योपान्त है और प्रकृति और मानव की सम्बन्ध ानुभूति की व्यंजना विविध रूपों में रामायण में अभिव्यंजित है।

शस्य श्यामला भारत भूमि हमारी माता है। उसके हृदय से आविर्भूत होने वाले वृक्ष, पहाड़, नदियाँ, पौधे, वनस्पतियाँ, पक्षी, पशु के साथ सभी पात्रों की आत्मीयता सर्वथा सप्रमाण है।

प्रकृति के सीमाबद्ध तथा निःसीम, सूक्ष्म तथा स्थूल स्थिर तथा परिवर्तनशील अस्तित्वों के साथ अभिन्न आत्मीयता की भावना ही किसी भी राष्ट्र की एकता का सबल आधार होता है। इसी की प्रतिष्ठा के लिए उस राष्ट्र के कर्मयोगी अपने सर्वस्व का विसर्जन करते हैं। अतः प्रकृति में मानवीय आत्मीयता की सम्बन्धानुभूति जगाकर कवि वाल्मीकि राष्ट्रोद्धारक और देश की अक्षय-गौरव-स्मृति का प्रतीक बन गये हैं, तभी तो रावण द्वारा सीता का अपहरण कर लिए जाने पर व्यथित, राम ईश्वर से नहीं प्रकृति से पेड़ पौधों और पशु-पक्षियों से पूछते हैं कि सीता कहाँ है? श्रीराम को इन पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों पर ही पूर्ण विश्वास जो है।

यह तो वाल्मीकि कवि की वेदानुमोदित कल्पना का ही अनुसंधान कहा जा सकता है कि प्रकृति और मानव यहाँ भिन्न नहीं। अतः वाल्मीकि के प्रकृति चित्रण में राष्ट्र-प्रेम के साथ विश्व प्रेम का लोक पावन विश्वास भी अन्तर्निहित है, जो श्लाघनीय व श्रेष्ठ है।

वाल्मीकि रामायण में प्रकृतिचित्रण

डॉ० (श्रीमती) पूजा श्रीवास्तव
प्रवक्ता- संस्कृत विभाग
महिला महाविद्यालय (परा0) किदवई नगर, कानपुर

संस्कृत साहित्य और भाषा हमारे भारतवर्ष की विश्व साहित्य और संस्कृति के प्रति एक अनुपम अलौकिक देन है, जिसकी किसी भाँति भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वैदिककाल से आधुनिक काल पर्यन्त संस्कृत का जितना भी वाङ्मय है उसमें वैदिक और लौकिक साहित्य की सीमा निर्धारित करने का श्रेय महाकाव्यों को ही प्राप्त है। वेद तथा उनसे सम्बन्धित अन्य वैदिक ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों, ज्ञान, कर्म, उपासना आदि विषयों का वर्णन है। महर्षि वाल्मीकि की अमर रचना रामायण की काव्य दृष्टि से प्रथम विश्वकवि स्वर्गीय **रीवन्द्रनाथ टैगोर** का भी मत था कि यह ग्रन्थ भारत की काव्य कीर्ति को संसार से लुप्त नहीं होने देंगे। इनके रचयिता वाल्मीकि धन्य है जिनकी परमोजस्विनी वाणी आज भी कोटि-कोटि नरनारियों के द्वार-द्वार अपनी प्रवाहमान धाराओं से अनुपम शक्ति और शान्ति का संचार करती है।

वनवास काल में जिस समय मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे और वहां की शोभा का अवलोकन करने में प्रवृत्त हो गये तथा एक अवसर पर वह सीता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि -

''पश्येमचलं भद्रे नानाद्विज गणायुतम्।
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुिमद्भिर्विभूषितम्॥''

अयो० ९४/४

इनमें से कुछ शिखर चाँदी के समय श्वेतवर्ण, कुछ रुधिर के समान रक्त वर्ण, कुछ पीत कुछ मंजिष्ठ के समान गहरे लाल रंग के और कुछ इन्द्रनीलमणि के समान कृष्ण वर्ण के है। इस प्रकार ये शिखर गगन भेदी एवं पक्षियों से परिपूर्ण है।

महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में पम्पा सरोवर का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। जब रावण द्वारा सीता का अपहरण कर लिए जाने पर श्री रामचन्द्र तथा लक्ष्मण सीता का अन्वेषण करते हुए पम्पा सरोवर के तट पर मतङ्गवन में शवरी का सत्कार ग्रहण करने के पश्चात् जब वे दोनों पम्पा सरोवर के तट पर आते हैं और सीता का स्मरण करते हुए लक्ष्मण से पम्पा की शोभा का वर्णन करते है-

'पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्प शालिनाम्।
सृजतां पुष्प वर्षाणि वर्षं तोयमुचामिव॥'

कि.का.१/११

हे लक्ष्मण फूलों से सुशोभित इन वन के रूप को देखो जो कि फूलों की वर्षा कर रहे हैं जैसे मेघ जल की वर्षा करते हैं।

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने प्रकृति की छटा का अद्भुत अंकन किया है। प्रकृति मानव के प्रति अत्यन्त अह्लादक एवं चित्ताकर्षक वर्णन प्रस्तुत करती है। प्रकृति तो किसी भी समय मनुष्य के लिए प्रसन्नता व आनन्द का विषय होती है।

वाल्मीकि रामायण में प्रकृति चित्रण

डॉ० (श्रीमती) पुष्पा यादव
रीडर एवं विभागाध्यक्षा-संस्कृत
महिला महाविद्यालय (परा0), कानपुर

आदिकाव्य महाकवि वाल्मीकि की कृति काव्य सौन्दर्य, शाश्वत सौन्दर्य एवं उदात्त भावनाओं से अलङ्कृत होने के कारण सारे विश्व के लिए अजस्र प्रेरणा स्रोत बनी हुई है। जिस प्रसादमयी शैली में इसका निर्माण हुआ है वह अन्यत्र कहीं दुर्लभ है। जीवन को ओजस्विता तथा निर्मलता से भरने के लिए रामायण में राम चरित्र के माध्यम से जिन आदर्शों को आदिकवि की लेखनी ने प्रस्तुत किया है वे न केवल भारतीय जनता के लिए ही मान्य एवं आदरणीय है, अपितु विश्व-मानवता के लिए उच्च नैतिक स्तर तथा सामाजिक उदात्तता की भावना प्रस्तुत करते हैं।

यद्यपि रामायण में हृदय पक्ष की प्रधानता है, कविता का सहज प्रवाह है किन्तु इसमें कलापक्ष की भी कमी नहीं है। अत: मैं राष्ट्रीय-संस्कृतसम्मेलनम् के चयनित विषय 'वेद: वाल्मीकिरामायणञ्च' के उपविषय 'वाल्मीकि रामायणे प्रकृतिचित्रणम्' पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत कर रही हूँ।

यद्यपि वाल्मीकि रामायण में प्रकृति-चित्रण अत्यन्त विस्तृत है जिसका अल्प शब्दों में वर्णन अत्यन्त दुष्कर कार्य है। तथापि अनुशीलन के पश्चात् यह ज्ञात है कि आदिकवि वाल्मीकि ने प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण किया है। प्रकृति के प्रांगण में तपो निरत तपस्वी के लिए नितान्त स्वाभाविक था कि वह स्वानुभूति के आधार पर सरल एवं स्पष्ट चित्रांकन कर सकते। अतएव उन्होंने मानव के समकक्ष ही प्रकृति के उन्मुक्त रूप का चित्रण विवरणात्मक ढंग से किया है। संश्लिष्ट तथा शब्द चित्रात्मक विवरणों के द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि आदिकवि वाल्मीकि वन-प्रकृति के सूक्ष्म दृष्टा थे। अत: उन्होंने प्रकृति चित्रण अत्यन्त सजीवता एवं सूक्ष्मता के साथ किया है।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धा काण्ड में वर्णित वर्षा के स्वरूप का प्राकृतिक सौन्दर्य

श्रीमती मीनाक्षी उपाध्याय, गोरखपुर

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः।।

महर्षि वाल्मीकि प्रणीत आदिकाव्य रामायण में राम के रूप में श्रीमन् नारायण को ही रूपायित किया गया है। वेद में वर्णित परम तत्त्व का रामरूप में गायन ही महर्षि का मुख्य विषय है उस वेद वर्णित परम तत्त्व का रामरूप में गायन करने में आदि काव्य रामायण में मानव की अन्तः प्रकृति के सहज सूक्ष्म और सुन्दर विश्लेषण के साथ ही साथ बाह्य प्रकृति के भीषण एवं कोमल समस्त स्वरूपों का सजीव, सूक्ष्म एवं सुंदर चित्रण भी समाहित हो गया है। महर्षि वाल्मीकि का प्रकृति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका काव्य भी प्राय: प्रकृति के परिवेश का ही कथानक लेकर चलता है। पर्वतों वनों, नादियों एवं समुद्र के आस-पास ही रामायण की अनेक घटनायें घटती है।

वाल्मीकि रामायण में प्रकृतिचित्रण

डॉ० अर्चना श्रीवास्तव
प्रवक्ता : संस्कृत-विभाग
महिला महाविद्यालय (परा0)
किदवई नगर, कानपुर

आर्ष चक्षुसम्पन्न, दिव्य गुण - मण्डित, विमल प्रतिभा सम्पन्न महामहनीय महर्षि वाल्मीकि का काव्य शाश्वतवाद का उज्ज्वल उदाहरण है। अवान्तर काव्य - साहित्य पर मार्मिक एवं आभ्यन्तर प्रभाव डालने वाला वाल्मीकि का यह उपजीव्य काव्य रसमयी काव्यशैली का हृदयावर्जक निर्देशन है। फ्रान्सीसी आलोचक **''फ्लाउबेर''** ने महनीय कला[1] के लिए जिस आदर्श को काव्य - गोष्ठी में प्रस्तुत किया था, वह 'वाल्मीकि - रामायण' में सुचारु रूप से अभिव्यक्ति पा रहा है। **'चतुर्विंशति साहस्री संहिता'** के नाम से विख्यात यह **'आदिकाव्य'** लव - कुश के मधुर स्वर के माध्यम से अपनी मार्मिक आलोचना स्वयं करता है -

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानाञ्च विशेषतः।
चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।।२

वैदिक सहित्योपरान्त लौकिक काव्य - माला के प्रथम गुच्छ इस काव्य में ऐतिहासिक काव्य, महाकाव्य एवं वीर-काव्य के सभी गुण समन्वित हैं। इसमें एक ओर भाषा का लालित्य है, तो दूसरी ओर भावों की मनोहर छटा। एक ओर रस - परिपाक अद्वितीय है तो दूसरी ओर अलंकारों का सप्तरंगी आकर्षण। एक ओर नायक की उदात्तता है, तो दूसरी ओर नैतिकता का चरमोत्कर्ष। एक ओर अन्तः प्रकृति का मनोज्ञ संगुम्फन है तो दूसरी ओर बाह्य प्रकृति का सजीव चित्रण।

'शोक एवं श्लोक का समीकरण' (शोकः श्लोकत्वमागतः)[3] - आलोचना जगत् के लिए कवि की महती देन है। सत्यं तथा शिवं के साथ सुन्दरं के मधुमय सामान्जस्य को स्थापित करने वाले रससिद्ध कवीश्वर आदिकवि वाल्मीकि की दिव्य वाणी विश्व के समक्ष एक भव्य आदर्श उपस्थित करती है।

महर्षि वाल्मीकि केवल अन्तः प्रकृति के निरूपण में ही नहीं, अपितु बाह्य प्रकृति के विशद चित्रण में भी सिद्धहस्त हैं। रामायण में प्रकृति - चित्रण के अनेक प्रसंग हैं। इसमें नगर, ग्राम, आश्रम, वन, उपवन, पर्वत, नदीं, पम्पा - सरोवर, सेना, युद्ध, ऋतु - वर्णन, चन्द्रोदय आदि के वर्णन अत्यन्त सरस, भावपूर्ण, सजीव एवं रोचक हैं। बालकाण्ड में राजा दशरथ द्वारा सुरक्षित अयोध्या नगर का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया गया है। भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर जब ब्रह्मा जी गंगा को पृथ्वी पर भेजते हैं, उस समय कवि ने आकाश - मार्ग से कल - कल करके अवतरित होती हुई गंगा का अत्यन्त सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

वाल्मीकि रामायण में प्रकृति-चित्रण

डॉ० गीता कपिल
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली (राज.)

इस सम्पूर्ण जगत् की चर-अचर प्रकृति के साथ मनुष्य का अटूट रागात्मक सम्बन्ध है, जिसकी अभिव्यक्ति मानव निर्मित सभी कलाओं में प्राचीन काल से होती आ रही है।

आदि कवि वाल्मीकि का 'रामायण' एक महानतम् ग्रन्थ है, जिसके प्रणयन की प्रेरणा कवि को प्रकृति से ही मिली। जब क्रोञ्च पक्षी के जोड़े में से एक का वध देखकर उनके मुँह से अनायास निकल पड़ा-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। वा.रा. १/२/१५

कवि की ये पंक्तियाँ प्रकृति से उसके घनिष्ट रागात्मक सम्बन्ध की द्योतक है। 'रामायण' में भी विविध मनोहारी और दुर्लभ दृश्य प्रकृति से उनके गहरे सम्बन्ध के परिचायक हैं। इसके प्रकृति-चित्रण की यह विशेषता है कि कवि जिस भी दृश्य को उठाते हैं, उसका सर्वांश चित्रण करते हैं। ये चित्र और दृश्य कवि की कोरी कल्पना नहीं वरन् सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के परिचायक हैं। चाहे वर्षा ऋतु का वर्णन हो, शरद का अथवा बसन्त ऋतु का, कवि की दृष्टि से प्रकृति का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, परिवर्तन तथा क्रिया-व्यपार ओझल नहीं, हो पाया। पम्पा सरोवर के सौन्दर्य वर्णन में तो कवि ने अनुपम उपादानों को प्रयोग किया है। वियोगी राम भी उसकी अनुपम शोभा को देखकर उस पर मुग्ध हो जाते है।

कवि की दृष्टि प्राकृतिक स्थितियों से प्राणी-जगत् पर पड़ने वाले परिवर्तनों के प्रति भी सचेत है। वर्षा ऋतु में मेढकों की टरटराहट, हाथियों की गर्जना तथा साँपों का बिलों से निकलना आदि स्थितियाँ कवि के सूक्ष्म-निरीक्षण के परिचायक हैं। मानवीय भावों को उद्दीप्त करने में भी प्रकृति की अहम् भूमिका होती है, राम पम्पा सरोवर के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध ही नहीं होते वरन् प्रिया वियोग से व्यथित भी होते हैं -

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम्।
यत्र राजन्ति शैला वा द्रुमाः सशिखरा इव।।
मां तु शोकाभिसंतप्तमाधयः पीडयन्ति वै।
भरतस्य च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च।।
शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा।।
वा.रा. ४/१/४-६

कहना चाहिए कि 'रामायण' में कवि ने प्रकृति का स्वाभाविक और संश्लिष्ट चित्रण किया है। इसी के कारण वाल्मीकि के राम दैवीय की अपेक्षा अधिक मानवीय है। कवि अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति को विस्तार देकर अपने इस ग्रन्थ को प्रकृति की विराट् लीलास्थली बना दिया है।

वाल्मीकि रामायण में पर्यावरण चेतना

डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी,
प्राध्यापक संस्कृत
का.नं.राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर (भदोही)

पर्यावरण शब्द परि+आवरण से बना है, जिसका अभिप्राय है चारों ओर से घेरना। संस्कृत में इसके लिए पर्यावृत्ति और परिवेष्टन शब्दों का प्रयोग मिलता है। पर्यावरण का सामान्य अर्थ भौतिक परिवेश से है जो पृथ्वी के जीव जगत् को चारों ओर से घेरे हुए है। सम्पूर्ण जगत् का जीवन एक आवरण से आवृत्त है जो इसे संचालित और प्रभावित करता है। यह शरीर पंच तत्त्वों से निर्मित है। पंचतत्त्वों में भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश आते हैं। ये पाँचों तत्त्व जगत् को प्रभावित करते हैं। इनका सन्तुलन जीवन के स्रोत को प्रभावित करता है। पर्यावरण के इस संतुलन पर ही हमारा जीवन निर्भर करता है।

वैदिक काल से ही पर्यावरण के प्रति संचेतना दिखायी पड़ती है। वेदों ने **'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'** कहकर भूमि का माता के तुल्य संरक्षण करने का उपदेश दिया है।

वाल्मीकि लौकिक संस्कृत के आदि कवि हैं। उनकी रचना लौकिक संस्कृत का प्रथम ग्रन्थ है। रामायण में वाल्मीकि ने रामकथा को सात काण्डों में विभक्त किया है। रवीन्द्र नाथ टैगोर के शब्दों में रामायण से भारतवर्ष का परिचय प्राप्त होता है। इस रामायण की कथा से भारतवर्ष के बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ आदि सबको केवल शिक्षा ही नहीं मिलती है, शिक्षा के साथ-साथ उन्हें आनन्द भी मिलता है।' रामायण में वाल्मीकि ने पर्यावरण संरक्षण के प्रति भी सन्देश दिया है। रामायण के पात्र भी पर्यावरण के प्रति सचिष्ट रहते हुए संरक्षण का सन्देश देते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में रामायण में प्राप्त पर्यावरण चेतना का विस्तृत विवेचन किया गया है।

वाल्मीकि रामायण में प्रकृति-चित्रण

डॉ० बृजेन्द्र कुमार सिंह देव
गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

प्रकृति और मानव-जीवन एक साथ ही सृष्टि रूपी तरु पर लिखने वाले दो सुमनोहर पुष्प हैं। प्रकृति में मानव जीवन के व्यापार एवं मानव जीवन में प्रकृति का सौन्दर्य लक्षित होता है। मनुष्य स्वभाव से ही प्रकृति का उपासक है। मानव प्राकृतिक व्यापारों में अपने सुख-दुःख की छाया देखता है। प्रकृति, सुख के क्षणों में हमारे उल्लास को बढ़ाती है तथा दुःख के समय कभी राहत देती है तो कभी हमारे दुःख को और भी अधिक तीव्र कर देती है। चाँदनी रात, रमणीय वनस्थली, झरने आदि प्राकृतिक दृश्यों से हमें रति का प्रकाश दृष्टिगत होता है। मानव प्राकृतिक चेष्टाओं में अपनी भावनाओं का बिम्ब-प्रतिबिम्ब देखता है। अतः काव्य में मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के साथ-साथ प्रकृति की

भी अभिव्यक्ति सहज रूप में हो जाती है। कवि स्वभाव से ही आनन्दभोगी एवं सौंदर्य का उपासक होता है, उसका प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध होता है। वह प्रकृति के स्वभाव पर आनन्दमग्न हो उठता है।

वेदों में प्रकृति को दृष्टान्त रूप में भी खूब अपनाया गया है। यतो हि-भारतीय काव्य चेतना का प्रस्फुटन वैदिक साहित्य से आरम्भ होता है। वेदाध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि प्रकृति के माङ्गलिक और सौन्दर्य-मण्डित रूप पर मुग्ध थे। वे प्राकृतिक शक्तियों उषा, मरुत, वरुण आदि को देखकर आत्मविभोर हो उठे और उनसे लोक-कल्याण की याचना करने लगे-

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन।
स्तोतारस्त इह स्मसि।।

ऋ०-६/५४/९

वाल्मीकि रामायण का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि वाल्मीकि जहाँ कवि थे वहाँ साक्षात्कृत धर्मा महर्षि भी थे। रामायण महाकाव्य की रचना तमसा नदी के तट पर, चित्रकूट पर्वत के शिखरों की स्निग्ध-छाया में, सर-सरिता-सागर-वन-पर्वत से घिरे आश्रम में षडऋतुओं से अलंकृत एवं पक्षियों के कलगान से पूजित प्रकृति के मुक्त-प्रांगण में हुई थी। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने जहाँ प्रकृति के भव्य और विराट् दृश्य प्रस्तुत किये हैं, वहाँ आपने प्रकृति के जीवन में गहराई से झांककर प्रकृति के समस्त क्रियाकलापों का, उसके हास और अश्रु, आशा और निराशा, उल्लास और विषाद आदि का भी दर्शन किया है।

रामायण में पर्यावरण

कु० प्रज्ञाशंकर
161, गांधी नगर
पो.आ. इज्जतनगर, बरेली

इतिहास की परिधि और प्राचीनता में न समा सकने वाली रामकथा भारतीय जीवन से जिस अभिन्नता से जुड़ी रही है, उसे देख या समझकर ऐसा कहा जा सकता है कि रामायण भारतीय संस्कृति की अमरता और रामकथा दोनों एक ही हैं। मानो ये एक दूसरे के पर्याय हों।

रामायण संस्कृत साहित्य का आदि महाकाव्य है। यह अनुपम और अद्वितीय ग्रन्थ है। रामायण की कथा जनसाधारण से लेकर आबालवृद्धवनिता तक को आनंद प्रदान करने के साथ ही साथ शिक्षा भी प्रदान करती है।

भौगोलिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक समग्र दृष्टियों से पुष्ट यह ग्रन्थ पर्यावरणीय पृष्ठभूमि में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। **'परितः आवृणोतीति पर्यावरणम्'** के अनुसार जो चारों ओर से आवृत करता है, वह पर्यावरण है।

पर्यावरण और प्राणी अन्योन्याश्रित हैं। रामायण की प्रकृति और मनुष्य के मञ्जुल सामंजस्य के वर्णन को प्रस्तुत करना ही इस शोध पत्र के प्रस्तुतिकरण का आधार है।

ENVIRONMENTAL CONCERN IN THE VEDAS

Dr. Pranav Sharma
D.Litt.
Lecturer Hindi Deptt.
Upadhl P.G. College, Pilibhit (U.P.)

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
ऐनं विदन्ति वेदेन, तस्मात् वेदस्य देवता।।

The knowledge which was meditated and observed first of all by the Rishis is called Veda, Veda symbolises the entire knowledge. The eternal knowledge which the Rishis perceived in their meditation is known as Vedas.

In the history of Indian culture, the Vedas has a glorious place. The inumerabic pharaseology of the science of spirit is called Veda. Just as eyes are needed for the observation of material world so, are Vedas to know the mystery of infinity.

Nature has always been deifiable for the Indians whether the worship of the Sun for magnificence, or for the women for the boon of long life of their husbands, or the poor dreaming to be a Kuber, or the lust of knowledge in a student, or the worship of life giving rivers, for all these we have to go to the shelter of the Vedas.

Rigved describes the daily life of a poet

एषस्य कारुर्जरते सूक्तैरग्रे, बुधान उषसां सुमन्मा।
इषां तं वर्धदध्नया पयोभिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।

-ऋग्वेद ६८.९

The Rivers, Seas, Sun, Moon, Water, Air described in the Vedas have all been the source of our faith. We have included even boons from the trees in our culture. By worshipping various trees in nature we expect glory and renown,

In the Athurveda, the forest and trees have been considered as the source of all the pleasures of the world. In Vrihdaranya copnished the principle of life force in the trees has been expounded. Indian ways of knowledge have developed the prosperity of the world, through the Ashrama and Gurukulas spread over the forests. The brave like Bharat brought up in the lap of forests lap counted the lion's teeth. Because of the incomparable life giving power of the forests, cutting of trees has been totally probihited in our Vedic religion, because trees themselves are very magnanimaous. Forests have been our wealth and protect our nourishing elements, trees hold the mountains, sup-

press the stormy rain and subdue the rivers and by nourshing the birds, make the environment happy, cold and heiginic, So the forests are also called the carriers of rain. By soaking the rain water the forestsinstad of decreasing increase the water level by their roots. In the Vedas and Puranas, the glory of ten virtaous sons is as much as planting one tree, The cultural development has been achied in the greenery of the trees. The greenery of the forest symbolises our progrees and it offers, nimbleness and awarness to eyes.

TRADITIONAL WISDOM OF ENVIRONMENTAL PROTECTION IN THE RÂMÂYANA

Prof. R. C. Sharma
Professor & Head, Department of Environmental Sciences,
H.N.B. Garhwal University, Srinagar-Garhwal,

Industrialization, technological expansion, exponential growth in human population, excessive deforestation and insatiable desire for over exploitation of natural resources have caused several environmental problems including air pollution, water pollution, global warming, ozone layer depletion, wildlife depletion and erosion of genetic diversity resulting the planet Earth as inhospitable for the sustenance of life. There is a cross-cultural and international debate that the solution of these environmental problems lies with the revival of concepts and principles of ecocentrism/cosmocentrism. The Sanskrit literature has enormous intellectual wealth which has the answers for all the global environmental problems. The present contribution seeks to present a panoramic view of traditional wisdom of the great rishi Mahrshi Vâlmîki for the protection and sustainability of the natural environment to which he was an integral part. The Paòcavati forests in the Râmâyana conjure up a vivid picture of the forest abode of Ram in exile. Vâlmîki has emphasized that the survival of the planet depends on the existence of environmental components such as sea, mountains and forest cover. Various natural resources (water, forest, wildlife, etc.) and their protection have been discussed in the light of the references available in the Râmâyana. The relationship between man and wildlife was friendly and based on the principle of co-existence. Ram was the focal point of this relationship with Hanumân and Sugrîv (monkeys), Nal-Nîl (bear) and Jatâyu (vulture). Ecosystem approach for the management of natural environment was the key during epic period.

SIGNIFICANCE OF THE FIRST VERSE 'ma nisada' etc OF VALMIKI IN PROMOTING ENVIRONMENTAL CONSCIOUSNESS

Pro. K.V.V. RAO
Former Head, Chairman, Board fo Studies,
Director of Research Studies,
Dept of Sanskrit,Andhra University, Visakhapatnam

The great epic Ramayana is nothing but the outflow of emotion of Valmiki, who was overpowered by the grief of the female Kraunce bird sorrowing at the killing of its mate by a cruel hunter. That grief it self transformed on to the Verse ma nisada etc, which is very popular. This great verse is nothing but a curse aimed at the hunte, who made the female Kraunca bird bereft of its endeared mate.

This verse, outwardly, means that the hunter, under reference, should not get stability for so many years to come because he killed one of the Kraunca birds, engrossed in deep passion. This verse conveys, on the one hand, the mind of Valmiki, that whoever kills the innocent should meet with the same fate, because there is no right to any one to take the lives of others and on the other hand, he committed the crime of disrupting the pleasure of the birds.

Now a days, our scentists claim that they are striving to preserve the eco balance, environment and many such things, at a time when so much of industrialization and unawareness to its consequences created all the problems. Had we taken care of all these things, right from the start, the present situation could have been averted in successful manner.

Valmiki, who was a sage too, hinted at this phenomenon and warned the world, in befitting terms, through the verse 'ma nisada' etc. In his opinion, flora and fauna are a must for the sustenance of mankind and termination of these would result in utter destruction. The curse of Valmiki to the hunter was nothing but a warning to the people about the future.

In the present paper, a sincere effort has been made to bringout the environmental consciousness of Valmiki with a special reference to the verse 'ma nisade' etc and other related aspects of the Ramayana as well.

साहित्य

वाल्मीकि-रामायणे वेदानां प्रभावः

प्रो० सुभाष वेदालंकार
पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत, राजस्थान वि.वि.
जयपुर (राज0)

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञाश्च विजयावहम्
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्॥

युद्ध का.-१२८-१०६

वाल्मीकि - रामायणस्य पद्यमिदं साधयति यत् इदं ननु

आदिकाव्यमस्ति तत् च वाल्मीकिना विरचितमिति। रामायणस्योत्तरकाण्डे लिखितं यत् आदिकाव्यमिदं चतुर्विंशतिसहस्रं पद्यैः, शतमुपाख्यानैः, पञ्चशतं सर्गैः षड्भिश्च काण्डैर्गुम्फितं नाम। उत्तरकाण्डमपि कविनानेन वाल्मीकिनैव विरचितम् -

सन्निबद्धं हि श्लोकानां चतुर्विंशत्सहस्रकम्।
उपाख्यानशतञ्चैव भार्गवेण तपस्विना॥

उत्तर-९४-२६

आदि प्रभृति वै राजन् पञ्चसर्गशतानि च।
काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना॥

उत्तर ९४, २७

वाल्मीकि-रामायणे पदे-पदे वेदानां प्रतिच्छाया दरीदृश्यते।

रामायण-व्याख्यातृभिरनैर्विद्वद्भिः! पद्यमिद दमेकं प्रायेण समुद्धृतं ग्रन्थारम्भे -

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षात्रामायणात्मना॥

अर्थात् परमेश्वरः वैदेर्विज्ञोयो वर्तते। यदा चासौ परमेश्वरः राम रूपे भूमावतीर्णस्तदा सर्वे वेदाः वाल्मीकिमुखात् रामायण रूपे अवतीर्णा ननु। वेदानां गूढा अर्थाः शब्दाश्च सुगमतया सरसविधिना च रामायणेन स्फुटतामायान्ति। अत एव मूलरामायणस्य फलश्रुतौ भणितं किल :-

इदं पवित्रं पापघ्न पुण्यं वैदैश्य सम्मितम्।
यः पठेत् रामचरितं सर्वपापैर्विमुच्यते॥

वा०रा०१-१-९८

रामायण-महानायकः श्रीरामः वेदाध्येता अभूत्। भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नैः सह गुरोराश्रमं गत्वासौ वेदानां गम्भीराध्ययनं विधाय, जीवनं वेदमयं कृत्वा, जीवनपर्यन्तं वेदप्रतिपादित-यज्ञानयजत्। अत एवाह कविवरो **''सोऽध्यैवर वैदान् त्रिदशानयष्ट''**

राजर्षिः जनकः, गुरुवर्यः याज्ञवल्क्यः गौतम-शतानन्द-प्रभृनयः वेदेषु कृतभूरिपरिश्रमाः समभवन्।

रामायणस्य वैदिक-राष्ट्रियभावनाविकासेऽवदानम्

डॉ० ब्रह्मचारी व्यासनन्दनः शास्त्री
अध्यापकः, संस्कृत-विभागः,
रामेश्वर महाविद्यालयः, मोदपालपुरम्, मुजफ्फरपुरम्

राष्ट्रियः स भवति यस्य स्वकीये राष्ट्रे, तस्याचारविचारधर्मसंस्कृतिपरम्परासु, तस्याङ्गभूतेषु गिरिनदीनदवनादिभूभागेषु च दृढानुरक्तिः। राष्ट्रियता न केवलं भौगोलिकी भौतिकी वाऽपितु सांस्कृतिकी धार्मिकी वैचारिकी चापि भवति। आ हिमालयात् समुद्रपर्यन्तं प्रसृतं भारताख्यमेकमेव राष्ट्रमासीदिति समेषां प्राचीनाचार्याणां काव्यकारणां च दृष्टिः। भारतराष्ट्रस्येदं स्वरूपं रामायणकारोऽपि द्वित्रेषु स्थलेषु प्रस्तौति।

यथा '**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**' (अथर्व. 12/1/12), '**भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्**' (अर्थव. 12/1/63), '**वयं तुभ्यं बलिहृताः स्याम**' (अथर्व. 12/1/62) इत्यादिवैदिकवचनैः श्रीप्रदानाय मातृभूमिः प्रार्थ्यते, तां प्रति स्वकृतज्ञता प्रदर्शयते अथर्ववेदीये पृथिवीसूक्ते तथैव महर्षिणा वाल्मीकिना स्वरामायणमहाकाव्ये भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य स्वमातृभूमिं प्रति अपूर्णा आसक्तिः वर्णिता। जननीमिव गरीयसीं गुरुतरां स्वभूमिमयोध्यां प्रति चतुर्दशवर्षावधिकवनवासादनन्दतरं लङ्कातः प्रतिष्ठमानस्य भगवतो रामचन्द्रस्याक्तिरियं याऽत्र साकल्येनोद्ध्रियते -

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

वाल्मीकिरामायणे आर्षप्रयोगाः

सुबोध शुक्ल
शोध छात्र, संस्कृत-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

इमं विषयमुररीकृत्य अत्यल्पमत्या वक्तव्यमस्ति किञ्चिद्- प्रप्रथमोऽस्माभिः ज्ञातव्यमेतद् कीदृशोऽयमार्षप्रयोगः?

इह बोधव्यं यदार्षप्रयोगः अर्थात् ऋषिकृतप्रयोगः आर्ष प्रयोगः भवति। लौकिकसंस्कृतप्रयोगे सत्यमेव जयते = अत्र "जयति" इति शुद्धं रूपम्।

लौकिकसंस्कृतस्य प्रयोगश्च। वन्दे मातरम् = (अहं मातरं वन्दे) त्राणाय सेवामहे (वयं त्राणाय परित्राणाय रक्षणाय सेवां कुर्मः) श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् ज्ञानस्यान्तो न विद्यते। = (ज्ञानस्य अन्तः न विद्यते)

नभारो बाधते राजन् "<u>बाधति</u>" बाधते।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते।

एतानि वाक्यानि खल्वत्रोद्धृतानि।

एतेषा वाक्येषु आत्मनेपदीनां धातूनां वर्तमानकालस्य रूपाणि सन्ति

इह रामायणे द्वौ वैयाकरणौ विद्वांसौ महेश्वरगोविन्दराजवर्यौ श्लोकेऽस्मिन् रकारप्रयोगमार्षं कथयतः- मारीचः रावणं प्रतिबोधयति-

रकारादीनि नामानि रामस्तत्रस्य रावणः।
रत्नानि च रथाश्चैव वित्रासं जनयन्ति मे॥१८॥

अरण्यकाण्डम् ३९

पृथिवीमपि काकुत्स्थ ससागरवानाचलाम्।
परिवर्तयितुं शक्तः किं पुनस्तं हि रावणम्॥३०॥

किष्किन्धाकाण्डम् २७

आर्षप्रयोगे वैदिशिकानां विदूषां कथनानि

Hopkings has convincingly shown how in the Epic Ramayana. Valmiki composed the Ramayana. The Epic Ramayana metre surpasses Sanskrit Grammer and most of the grammatical irregularities one merely dialectic variations.

In 1904 Dr. T.Michelson examined minutely the archaisms of the Ramayan and contributed on article-

"Linguistic Archaisms of the RAMAYANA"

इह निष्कर्षेण वक्तुं प्रभावामः यत् संस्कृतव्याकरणस्य मापकत्वेन वाल्मीकिना प्रणीतं रामायणं महाकाव्य वर्तते।

कथाभिरभिरामाभिरामौ नृपात्मजौ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिकौ मुनिपुङ्गवः॥२२॥

''रामायणपदव्युत्पतिः''

रमयति इति रामः। रामो रमयतां वरः इत्यार्षनिर्वचनात् यद्वा रमन्तेऽस्मिन् सर्वे जना इति राम अकर्तारि च कारके संज्ञायामिति घञ् प्रत्ययः स अय्यते प्रतिपाद्यतेऽनेनेति रामायणम्। अयते धातोः कर्माणि ल्युट् पूर्वपदात् संज्ञायामग इति ण्त्वम्।

रामायणे स्वाध्यायावधारणा

डॉ० (श्रीमती) विजयलक्ष्मी
प्रवक्त्री, संस्कृत-विभागः,
सनातनधर्म- महाविद्यालयः, मुज्जफरनगरम्

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्।।

- बालकाण्डम् 1/1

आद्येऽस्मिन् श्लोके स्वाध्यायपदमादाय रामायणमहाकाव्यस्यावतरणं भवति। अत्र जिज्ञासुः वाल्मीकिः नारदमुपयाति। कीदृशः नारदः खलु? तपसि स्वाध्याये च संलग्नः वाग्विदश्च स्वाध्यायोऽपि तपः इति सम्यग् निरूपयति महर्षिः याज्ञवल्क्यः शथपथब्राह्मणस्य स्वाध्यायप्रसंगे। तद्यथा-

यदि ह वाभ्यङ्क्तोऽलंकृतः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते,
आ हैव नखाग्रेभ्यस्तपस्तप्यते, य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते।

- शतपथ ११/५/१/४

अर्थात् यो जनः आत्मानमलंकृत्य सुखासने विष्टरे वा शयानः स्वाध्यायं करोति तेन आनखशिरस्तपस्तप्यते, अतः स्वाध्यायः करणीयः। स्वाध्यायाभावे साम्प्रतं वेददर्शनव्याकरणादीनां सर्वेषामपि प्राच्यग्रन्थानामध्ययनं प्रायः समाप्तमिवाभाति। न कोऽपि पठति, अतः कथं कं पाठयेत्। महदाश्चर्यं यद् रामायणनाम्ना रामचरितमानसमेवाभिजानन्ति जनाः। वेदवेदांगानां तु का कथा। अनध्ययनकारणेन ग्रन्थानां रक्षा, चरित्रशिक्षा, संस्कृतिज्ञानञ्च दुस्तरं कार्यं जातम्। रामायणकाले स्वाध्याये जनानां कीदृशी रुचिः? स्वाध्यायविषयिकी कावधारणा तदानीमासीत्। उपनिषद्ब्राह्मणानां विषयेऽस्मिन् किं चिन्तनम्। अस्मिन् शोधपत्रे उक्तविषय एव विस्तरेण विमर्शो विधास्यते।

आदिकवि वाल्मीकि की उपमाओं में वैदिक दृष्टि

डॉ० लक्ष्मी शर्मा
संस्कृतविभाग,
राज0 विश्वविद्यालय, जयपुर

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रारामायणात्मना।।

महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं और उनकी रामायण आदिकाव्य, यह सर्वमान्य है। अतः वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषि कवियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी कवि को वाल्मीकि का पूर्ववर्ती स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि आदि काव्य में यत्र-तत्र वैदिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

रामायण के काव्य सौन्दर्य से प्रत्येक रामायण-पाठी परिचित है। वाल्मीकि के उपमा-वैविध्य को अनुपम कहा जा सकता है।

प्रस्तावित वक्तव्य में वाल्मीकि की उपमानयोजना पर वैदिक प्रभाव पर विचार किया जा सकेगा, क्योंकि वाल्मीकि की उपमाओं में भी वैदिक ऋचाओं में प्रयुक्त उपमानों के आधार पर उपमानों का प्रयोग किया गया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :-

देवराजोपवाह्यैश्च, संनादित वनान्तरम्।
प्रमदामित यत्नेन, भूषितां भूषणोत्तमैः।।

(वा0रा0 2/5/23)

पुष्पकादवरुह्याशु नर्बदां सरितां वराम्।
इष्टामिव वशं नारीमवगाह्य दशाननः।।

(वा0रा0 6/31/24)

जैसी उक्तियों में वैदिक ऋषि की वाणी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, जहाँ वैदिक ऋचाओं में अनेक स्थानों पर नदी के लिए **''युवति स्त्री''** की उपमा दी गई है। यथा :-

''आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषामर्य्यायेव कन्या शश्वचै ते।।''

(ऋग्0 3/33/10)

इसी प्रकार वाल्मीकि की उपमाओं पर वैदिक प्रभाव के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया जाना प्रस्तावित है।

अथातो रामायणजिज्ञासा

डॉ० राजेन्द्र
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
मारकण्डा नेशनल कालेज
शाहाबाद मारकण्डा, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

रामायण आदि कवि वाल्मीकि की कालजयी रचना है। यह भारत के धर्म, संस्कृति और सभ्य लोकाचारों की मानकभूत ऊर्जस्विनी संवाहक है। इसके नायक राम रचनाकार की दृष्टि में धर्म के विग्रहवान रूप हैं। भारत का श्वसन - तन्त्र अत्यधिक रूप से इस पर निर्भर है। धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य, राजनीति और समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों को कभी रामायण मे नियन्त्रित किया है, तो कभी इन प्रवृत्तियों ने रामायण को। इसके कई चेहरे बदले, लेकिन हर चेहरे ने लोगों में आकर्षण पैदा किया। कई अहम घटनाओं की यह साक्षी रही। लोगों ने अपने-अपने ढंग से इसका प्रयोग किया। अपने बदले रूपों में यह उन्मेष की भी हेतु बनी और उन्माद की भी। यह हथियार भी बनी और कवच भी। इस सबके बावजूद रामायण की निरन्तरता अवरुद्ध नहीं हुई।

महर्षि वाल्मीकि और रामायण काल

रामायण के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि के विषय में अनेक भ्रामक आख्यान समाज में प्रचलित हैं। भारतीय साहित्य के लम्बे कालखण्ड में हमें कम से कम सात वाल्मीकियों का उल्लेख मिलता है। इनमें वैय्याकरण वाल्मीकि[1] प्राचेतस्[2] भार्गव[3] वाल्मीकि और दस्यु वाल्मीकि[4] प्रमुख हैं। आदिकाव्य रामायण के रचनाकार के रूप में प्राचेतस् वाल्मीकि को अधिकांश विद्रान् स्वीकार करते हैं। रामायण के आदिरूप के प्रणेता प्राचेतस् वाल्मीकि प्रतिभा सम्पन्न प्रखरप्रज्ञ मुनिपुंगव हैं। भारत में काव्य के स्वरूप को स्थिर करने का श्रेय वाल्मीकि को दिया जाता है। वास्तव में संस्कृत काव्यधारा की दिशा तभी निर्दिष्ट हो गयी थी, जब प्रेम परायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था।[5] उनके लिए प्रायः सभी आलोचकों ने 'आदिकवि' के विशेषण को स्वीकार किया है।[6] यदि वाल्मीकि न होते तो हम कवि और कविता के वास्तविक स्वरूप तथा अभिराम आदर्श को कहाँ से सीखते? यह बहुसंख्य कवि समाज के उपजीव्य हैं। तमसा नदी के किनारे इनका आश्रम था।[7] वर्तमान में अयोध्या की तमसा नदी से भिन्न यह तमसा नदी मध्यदेश में कटनी के पास कैमूर की पहाड़ियों से निकलकर विन्ध्य प्रदेश में उत्तर को बहती हुई संगम से 30-35 किलोमीटर पूर्व दिशा में गंगा में विलीन हो जाती है।

अनेक विद्वानों ने 'आदि रामायण' (वाल्मीकि की मूल रचना) और 'प्रचलित रामायण' (प्रक्षेप युक्त रामायण) के रूप में दो विभिन्न स्तरों पर रामायण के रचना काल का निर्धारण किया है। ए. श्लेगेल 11वीं शती ईस्वी पूर्व, जी. गोरेसियो 12वीं शती ईस्वी पूर्व, मोनियर विलियम्स पांचवी शती ईस्वी पूर्व तथा ए.वी.कीथ चौथी शती ईस्वी पूर्व को 'आदि रामायण' का रचना काल मानते हैं, जबकि एच. याकोबी प्रथम या द्वितीय शती ईस्वी, एम. विन्टरनित्स द्वितीय शती ईसवी तथा सी.वी. वैद्य द्वितीय शती ईस्वी पूर्व से द्वितीय शती ईस्वी के मध्य 'प्रचलित रामायण' का रचनाकाल स्वीकार करते हैं।[8] भारतीय साहित्य में उपलब्ध सूचनाओं की अन्तरंग परीक्षा कर बलदेव उपाध्याय ने रामायण का रचनाकाल 500 ईस्वी पूर्व नियत किया है।[9] भारतीय परम्परा में तथा जनश्रुति के आधार पर राम

त्रेतायुग में हुए थे। वायु पुराण में उल्लेख है कि चौबीसवें त्रेतायुग में रावण का तप क्षीण हुआ और तब वह दशरथ के पुत्र राम को प्राप्त होकर बन्धु-बान्धवों सहित मारा गया।[10] पुराण के इसी प्रमाण से युगक्रम की गणना करके स्वामी जगदीश्वरानन्द रामायण का रचनाकाल 1,81,49,070 वर्ष मानते हैं।[11]

रामकथा के प्राचीन संदर्भ और वाल्मीकि रामायण

वैदिक साहित्य में हमें इक्ष्वाकु[12], दशरथ[13], राम[14], अश्वपति[15]; जनक[16] और सीता[17] आदि रामायण के अनेक विश्रुत पात्रों के नाम मिलते हैं। इन नामों के आधार पर कुछ विद्वान् रामकथा का मूल वैदिक साहित्य में खोजते हैं।[18] अनेक विद्वानों ने इस प्रवृत्ति की आलोचना की है। वैदिक साहित्य में न तो इन नामों का पारस्परिक सम्बन्ध उल्लिखित है, और न इनके संदर्भ में रामकथा का निर्देश मिलता है। डा0 कामिल बुल्के का कहना है कि वैदिक काल में रामायण की रचना हुई थी अथवा रामकथा सम्बन्धी गाथाएं प्रसिद्ध हो चुकी थीं, इसका निर्देश समस्त विस्तृत वैदिक साहित्य में कहीं भी नहीं पाया जाता। अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम रामायण के पात्रों से मिलते हैं, इससे इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये नाम प्राचीनकाल में भी प्रचलित थे।[19] वस्तुत: वैदिक साहित्य में इन शब्दों का शिक्षा और वित्त के पोषक (इक्ष्वाकु), दस रथों वाला सेनापति (दशरथ), रमणीय (राम) और कृषि प्रक्रिया (सीता)[20] आदि अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है।

बौद्ध जातक कथाएं

उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम के योग्य विद्वान् डॉ0 वेबर ने बौद्ध-साहित्य में रामकथा का मूलस्रोत घोषित कर एक नई बहस का सूत्रपात किया। बौद्ध जातक कथाओं में कम से कम तीन ऐसी जातक कथाएं उपलब्ध हैं, जिनमें महात्मा बुद्ध अपने असंख्य पूर्वजन्मों में मनुष्य अथवा पशु के रूप में भाग लेते हैं। उल्लेखित जातकों में महात्मा बुद्ध राम के रूप में जन्में हैं। उन तीनों जातकों में दशरथ जातक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इस जातक के अनुसार राम वाराणसी के अधिपति राजा दशरथ के पुत्र हैं। इनकी अन्य सन्तानों में लक्ष्मण और सीता देवी हैं। एक अन्य रानी से भरतकुमार उत्पन्न हैं। भरत की माता भरत के लिए राज्य मांगती है। राजा मना कर देते हैं। रानी के षडयन्त्रों से आशंकित राजा, राम और लक्ष्मण को वनवास के लिए हिमालय पर चले जाने का आग्रह कर ज्योतिषियों द्वारा बताए गए अपने 12 वर्ष के शेष जीवन के पश्चात् लौटकर राज्याधिकार प्राप्त करने को कहते हैं। जातक कथा के अनुसार राम अपने भाई लक्ष्मण और बहन सीता के साथ वनवास पर चले जाते हैं। बाद में यही सीता राम की पटरानी बनती हैं। अनामकं जातक कथा नाग द्वारा राम की पत्नी के अपहरण की जानकारी देती है। इन जातक कथाओं के अनुसार राम हिंसा, आशङ्का और कटुता टालने के लिए स्वयं वन में जाकर निवास करते हैं। वस्तुत: बौद्ध कथा-साहित्य में उपलब्ध रामकथा के ये सूत्र रामकथा के मूल उत्स न होकर इसका उत्तरवर्ती विकृत रूप हैं। इतिहासकारों ने सम्भावना व्यक्त की है कि यह विवरण अपने काल की प्रचलित सामाजिक प्रवृत्तियों और अवध रणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। दशरथ जातक के आख्यान में राम का अपनी बहिन सीता से विवाह कर उसे अपनी पटरानी बनाना रामायण की संरचना से सादृश्य नहीं रखता। यह जातक कथा साहित्य जिस काल की रचना है, उस काल में शाक्यों के राजघरानों में राजवंश की शुद्धता रखने के लिए भाई के साथ भी बहिन के विवाह का प्रचलन था।[21] जैनागमों में भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले युगल में भाई बहिन के विवाह की शाश्वत् परम्परा का उल्लेख है। कामिल बुल्के ने बौद्ध जातक कथाओं

के उल्लेखों की सतर्क सघन परीक्षा कर इनकी मौलिकता को नकारते हुए इन्हें मूल रामकथा का विकृत रूप भर घोषित किया है।[22] रामायण में[23] बुद्ध का उल्लेख होने से अनेक विद्वानों ने उस पर बौद्ध प्रभाव होने की ओर इंगित किया है। व्हीलर राक्षस रावण को बौद्ध और राम को ब्राह्मणवाद का प्रतीक मानकर सम्पूर्ण रामायण को ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के संघर्ष का आख्यान मानते हैं। रामा में उपलब्ध बुद्ध के उल्लेख को क्षेपक तथा व्हीलर के मत से असहमति व्यक्त करने के बावजूद राम के धीर, शान्त व्यक्तित्व के आधार पर कामिल बुल्के दबे स्वर में रामायण पर बौद्ध प्रभाव को आंशिक मान्यता देते हैं – 'राम का अत्यन्त शान्त और कोमल स्वभाव, उनकी सौम्यता आदि ध्यान में रखकर स्वीकार करना पड़ता है कि वे मुनि पहले हैं क्षत्रिय बाद में। अतः इनके चरित्र चित्रण में किंचित् परोक्ष बौद्ध प्रभाव देखना निर्मूल कल्पना नहीं प्रतीत होती है।'[24] यहाँ कामिल बुल्के की सम्मति से असहमति व्यक्त करने के पर्याप्त आधार हैं। धीर प्रशान्त सौम्य व्यक्तित्व की भारतीय जीवनशैली और उपदेश बौद्ध साहित्य से पर्याप्त प्राचीन उपनिषदों से लेकर योगशास्त्र की परम्परा[25] तक प्रामुख्येन मुखरित हैं। रामायण में अभिव्यक्त राम के धीर प्रशान्त सौम्य व्यक्तित्व को इन्हीं के प्रभाव का प्रतिफल मानने में क्या अनुचित है?

महाभारत एवं रामाख्यान

जय काव्य के रूप में अनुमानतः 8800 श्लोकों से शुरू होकर 97000 से अधिक श्लोकों का विशालकाय आकार धारण कर चुका 'महाभारत' अपने स्वरूप, संरचना, साक्षी और तथ्यात्मकता की दृष्टि से बहुशः अस्थिर ग्रन्थ है। महाभारत में आरण्यक पर्व, द्रोण पर्व तथा शान्ति पर्व[26] में रामकथा विषयक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। आरण्यक पर्व में उपलब्ध रामोपाख्यान इनमें सबसे अहम् है। महाभारत में उपलब्ध इन आख्यानों में रामकथा की अनेक घटनाओं का रोचक विवरण दिया गया है, लेकिन ऐसी कोई सम्भावना नहीं है कि ये स्थल रामायण के उत्प्रेरक रहे होंगे। अवधेय है कि महाभारत में रामायण की घटनाओं का उससे जुंडे पात्रों के नामोल्लेख के साथ विवरण मिलता है, लेकिन रामायण में महाभारत की किसी घटना का उससे जुड़े पात्रों के नामोल्लेख के साथ विवरण नहीं मिलता। इस आधार पर सुतराम् स्पष्ट ही है कि महाभारत के प्रसंग रामायण का मूलस्रोत नहीं हैं। यद्यपि पी.वी. काणे आदि कुछ मनीषियों ने भारत काव्य के महाभारत बनने के बीच के समय में रामायण का सृजन माना है।

रामकथा क्या है?

अनेक प्रक्षेपों को आत्मसात् कर चुकी रामायण का स्वरूप इतना विस्थापित हो गया है कि इस पर केन्द्रित बहसों में एक मुख्य बिन्दु यह भी है कि यह इतिहास गाथा है या मिथ? क्या रामकथा इतिहास है? कुछ कहेंगे पूर्णतः इतिहास है, तो कुछ कहेंगे यह ऐतिहासिक आधार लिए एक जीवन्त काव्य है। पर सुनीतिकुमार को आपत्ति है कि इतिहास का कोई गम्भीर विद्यार्थी इसे ऐतिहासिक दस्तावेज़ कैसे मान सकता है? डॉ0 वेबर को लगता है कि यह रूपक है, तो व्हीलर को लगता है कि यह ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के परस्पर संघर्ष का प्रतीक है। येदातोरे सुब्बराव और मूर को यह दार्शनिक ग्रन्थ लगा। उन्हें महसूस हुआ कि रामायण के भौगोलिक स्थान योगशास्त्र में वर्णित चक्र हैं। एम.वेंकटरत्नम् मिस्र जा पहुंचे। उन्होनें पाया कि रामायण तो मिश्र के राजा 'रैमसेस' का इतिवृत्त है।[27]

वाल्मीकि के राम

वाल्मीकि ने जिनका वृत्त लिखा, वह 'राम' थे। वह मनुष्य थे। उनके साथ जो हुआ वह

मनुष्य समाज और व्यवस्था का यथार्थ था। उस यथार्थ का उन्होंने जिस ढंग से मुकाबला किया, उस 'ढंग' ने उन्हें महामानव बना दिया। उन्होंने जो सहा उसका दर्द अन्तस् तक अनुभव किया। अन्तर्मन की उनकी बैचेनी को उनका चेहरा छिपा न सका।[28] जब उपयुक्त अवसर मिला तो बड़ी बेबाकी से उस दर्द को विश्वस्तों के समक्ष अभिव्यक्त भी किया। उनमें मानवोचित सभी उद्वेग उठते हैं, स्वप्न और कामनाएं हृदय में हिलौरे लेती हैं। वे अत्यन्त शान्तमना हैं, लेकिन वे आक्रोश से भी भर उठते हैं। आत्मीयजनों के व्यवहार से वह खिन्न भी होते हैं। वे रोना भी जानते हैं और हंसना भी। उनका हृदय अनिष्ट की आशंका से व्याकुल भी हो उठता है[29] तथा आशा के आश्वासन से शान्त भी हो जाता है। वे स्वयं को अपमानित अनुभव करने पर प्रतिवाद करते हैं। इसके लिए वह युद्ध के विकल्प का भी चयन करते हैं। वह शंकालु भी है और आत्माभिमानी भी।[30] लेकिन यह सब वह जिस ढंग से करते हैं, वह इतना मर्यादित और नियन्त्रित है कि उसने उन्हें महामानव बना दिया है। वाल्मीकि को राम का यही रूप प्रिय है। पर विडम्बना देखिए – काल के अन्तराल, कवियों की कल्पनाशीलता, शिल्पियों की तूलिका, चारणभाटों की गाथाओं और धर्मकर्मियों की धुन तथा आस्था ने वाल्मीकि के श्रीराम को 'विश्वात्मा राम' बना दिया है। आज मूल वाल्मीकि रामायण के श्रीराम परिशिष्ट में चले गए हैं, तथा शोध से नारों तक विश्वात्मा राम विराजमान हैं। विश्वात्मा बना दिए गए वाल्मीकि के श्रीराम को जो सहना पड़ा, या जो हर्ष-विषाद या प्रतिवाद उन्होंने किया, विश्वात्मा राम के सन्दर्भ में वह सब अलौकिक व्यवस्था के अन्तर्गत 'पूर्वनियोजित' था। श्रीराम के रूप में प्राप्त मानवीय संवेदना, चुनौती, संघर्ष, वीरता, धैर्य और चातुर्य आदि गुणों को विश्वात्मा राम के नाम कर दिए जाने पर उनका कोई समाज वैज्ञानिक मूल्य नहीं रह जाता। विश्वात्मा (भगवान्) के लिए क्या असम्भव है? संवेदना, चुनौती, संघर्ष, वीरता, धैर्य और चातुर्य आदि शब्दों का ईश्वर के सन्दर्भ में अर्थ ही क्या रह जाता हैं? वाल्मीकि के लिए राम का आचरण ईश्वरीय आचरण नहीं मानवीय आचरण है।

अपने विकास क्रम में रामायण नरकथा से प्रारम्भ होकर नारायण कथा के रूप में समादृत हो गई, दाशरथि राम के देवत्व के सम्बन्ध में रामायण में उपलब्ध सभी तथ्य वस्तुतः बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ही हैं, जो दोनों स्वयं में प्रक्षिप्त हैं। वैसे इन प्रक्षिप्त काण्डों में भी राम को नर प्रमाणित करने वाली बातें उन्हें अवतारी घोषित करने वाली बातों से संख्या में अधिक तथा स्वरूप में स्पष्ट हैं। वाल्मीकि, नारद से कथा लिखने के लिए धर्मज्ञ, वीर्यवान, प्रतापी, दयालु, सत्यवाक्य[31] आदि जिस सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति के विषय में पूछते हैं, उसके उत्तर में ऐसे सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति के रूप में नारद राम का नाम ही सुझाते हैं। नारद इस संवाद में राम को विष्णु न कहकर बल-पराक्रम में 'विष्णु के समान'[32] कहते हैं। रामायण के लौकिक और साधनारत विभिन्न पात्र राम को 'नरोत्तम' और 'पुरुषर्षभ' समझकर ही व्यवहार करते हैं। राम स्वयं भी अपने आपको मनुष्य ही समझते हैं।[33] उनमें अनेक बार अनेक कारणों से मानवीय दुर्बलताएं पैदा होती हैं। 'राज्याभिषेक' की घोषणा के बाद वनवास मिलने पर आक्रोशित लक्ष्मण को समझाते हुए दैववाद का समर्थन[34], दशरथ को कामी समझकर उन्हें कैकेयी के अधीन रहने वाला, कौशल्या और सुमित्रा के लिए कैकेयी की ओर से आशंका व्यक्त करते हुए दीनतापूर्वक विलाप करना[35], पिता की मृत्यु, सीता के अपहरण, लक्ष्मण की मूर्च्छा तथा सीता के वध की अफवाह सुनकर मूर्छित होना, शोकातुर होना, विलाप करना, नदियों, पर्वतों, देवों आदि पर क्रोध करना, आत्मोत्सर्ग का विचार आना एवं सीता के चरित्र पर संशय कर उन्हें कठोरता से बोलना आदि ऐसे उल्लेख हैं, जो राम के नर रूप का ही पोषण करते हैं। वाल्मीकि

को उनका यही रूप अभीष्ट है। इसीलिए उन्हें इन सब स्थलों पर उजागर हुई मानवीय दुर्बलताओं को छिपाने के लिए तुलसीदास की भांति यह नहीं कहना पडा कि राम ऐसे समय (इन सब प्रसंगों में) नर लीला कर रहे हैं। गीता तक ने राम के इस रूप को रेखांकित किया - रामः शस्त्रभृतामहम्।"

प्रक्षेपों के कारण वाल्मीकि के राम नर से नारायण के रूप में रूपान्तरित होते चले गये। अपने अलौकिक अवतारी संस्करण में वे अनुकरणीय न रहकर पूजापाठ की वस्तु बन चले। अवतारवाद की ये स्थापनाएं कई बार अत्यधिक हास्यास्पद भी बन गईं। रामायण के दाक्षिणात्य पाठ में राम के साथ उनके भाइयों को भी विष्णु का अंश घोषित करते हुए चारों भाइयों में अवतार का प्रतिशत तक तय किया गया कि विष्णु के आधे भाग से राम (विष्णोरर्ध महाभागम्) आधे (अर्थात् चौथाई चौथाई) से लक्ष्मण और शत्रुघ्न (लक्ष्मण शत्रुघ्नौ विष्णोरर्धसमन्वितौ) और चतुर्थ भाग से भरत हुए। अर्थात् भाग एक और जोड़ सवाया। अस्तु! अवतारवाद का 'फार्मूला' अत्यन्त आकर्षक बनता गया। नए से नए 'पैकेज' उसमें जुड़ने लगे। विष्णु अपने सकंटग्रस्त उपासकों का विघ्न हरने के लिए हर समय समुद्यत दिखाई पड़ने लगे। वैष्णव सम्प्रदाय निरन्तर विस्तार पाता गया, अयोध्या के इक्ष्वाकु राजवंश का सम्बन्ध विष्णु से जुड़ गया। विष्णुसदृश राम, विष्णु के अवतार राम बने, फिर ये साक्षात् विष्णु स्वरूप बना दिए गए। तुलसीदास तो भगवान राम को अविनाशी समझकर उनक निर्वाण का उल्लेख नहीं करना चाहते। परवर्तीकाल में अध्यात्म रामायण ने इस विचार का प्रतिनिधित्व किया। अन्ततः इसी अध्यात्म रामायण की कृपा से राम महाविष्णु-ब्रह्मस्वरूप राम बने। भक्तों की रक्षा के लिए यही निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप में प्रकट होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसी के रूप हैं। यही राम जब रसिक भक्तों के हाथ पड़े तो वह (रसिक सम्प्रदाय के) लीला पुरुषोत्तम बन गए। कृष्ण भक्ति की लहर और प्रतिस्पर्धात्मक दबावों ने भी ऐतिहासिक और साहित्यिक राम को अवतारी राम बनने के लिए विवश किया। हालांकि राम से सम्बन्धित अवतारवाद की धारणाओं में समय समय पर कुछ परिवर्तन भी होता रहा। प्रचलित वाल्मीकि रामायण और प्राचीनतम पुराणों के अनुसार राम और उनके भाई ब्रह्मा, विष्णु के अंशावतार हैं, वहीं परवर्ती काल में राम परब्रह्म के पूर्णावतार माने गए और भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न क्रमशः शेष, शंख और सुदर्शनचक्र के अवतार। प्राचीन पुराणों में सीता और लक्ष्मी अभिन्न नहीं हैं लेकिन बाद में लक्ष्मी सीता के रूप में अवतरित मानी गई। अवतारवाद की इस अवधारणा के प्रचार और पोषण के लिए रामभक्ति से ओतप्रोत संस्कृत सहित इतर लोकभाषाओं में भी व्यापक काव्यसृजन हुआ। अब रचनाओं का दृष्टिकोण साहित्यिक और ऐतिहासिक न रहकर धार्मिक हो गया था। साम्प्रदायिक आधार पर रचित रामायण ग्रन्थ तथा परवर्ती क्षेत्रीय भाषाओं की अधिकांश रचनाएं यही आधार लिए हुए हैं।

रामायण में प्रक्षेप

उत्तरवर्ती काल में रामकथा की विश्रुति रामायण की उपकारक भी बनी और अपकारक भी। इस विश्रुति के कारण जहाँ रामायण का काव्यीय मानदण्डों पर उपकार हुआ, वहीं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य नितान्त भ्रामक बन गया। निःसन्देह ऐतिहासिक कथा का काव्यात्मक विकास उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का ह्रास ही करता है। रामायण की विश्रुति के कारण इसके मूल कथानक पर आधृत इतर रामायण तथा काव्य लिखने की व्यापक परम्परा चली। परिणामतः रामकथा कहीं भ्रान्ति के कारण तो कहीं भक्ति के कारण, कहीं अनुश्रुति के कारण तो कहीं विकृति के कारण, कहीं क्षेत्रीय

परम्पराओं के कारण तो कहीं कवियों की युगीन कल्पनाओं के कारण सैकड़ों रूप धारण कर गई। काल के लम्बे प्रवाह में वाल्मीकि रामायण भी लिपिकारों के असाहित्यिक व्यवहार से विमुक्त न रह सकी। अनेकों क्षेपक रामायण की मूलकथा के साक्षीदार बन चले हैं। रामायण की उपलब्ध अनेक पाण्डुलिपियों के विशेष पाठान्तरों के आधार पर समीक्षकों ने इसके तीन पाठ स्वीकार किए हैं

1. दक्षिणात्य पाठ (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई तथा निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित और दक्षिण भारत में प्रचलित)
2. गौडीय पाठ या बंगीय पाठ (पाश्चात्य विद्वान गोरेसिया (पैरिस) द्वारा प्रकाशित एवं कलकत्ता सीरिज के संस्करण)
3. पश्चिमोत्तरीय पाठ (दयानन्द महाविद्यालय लाहौर, वर्तमान में साधु आश्रम, होशियारपुर से प्रकाशित)

रामायण के तीनों पाठों की आधिकारिक कथावस्तु में अन्तर न होते हुए भी इनमें पर्याप्त पाठान्तर, श्लोकान्तर, श्लोकक्रमान्तर और प्रसंगान्तर हैं। रामायण का प्रारम्भिक मौखिक प्रचार इस विभिन्नता का मुख्य कारण है। डॉ. कामिल बुल्के ने रामायण के दाक्षिणात्य पाठ में 12, पश्चिमोत्तरीय में 5 तथा गौड़ीय में 3 ऐसे नए प्रसंगों की पहचान की है जो अन्य पाठों में नहीं हैं।[37] इन तीनों की प्राचीनतम हस्तलिपियों पर आधारित ओरियन्टल इंस्टिट्यूट बड़ौदा द्वारा रामायण का वैज्ञानिक संस्करण तैय्यार कर प्रकाशित किया गया है।

प्राय: सभी समीक्षक मानते हैं कि बालकाण्ड, उत्तरकाण्ड और अवतारवाद के निरूपक या पोषक स्थल रामायण के मुख्य प्रक्षेप हैं। एतदर्थ कुछ तथ्य अवधेय हैं :

1. रामायण के प्रथम सर्ग में जो पहली अनुक्रमणिका मिलती है उसमें केवल अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड के अन्त तक के विषयों का उल्लेख किया गया है। उत्तरवर्ती काल में जब बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के प्रसंग रामायण में जोड़े गए तब इस अनुक्रमणिका की अपूर्णता का अनुभव होने पर इन काण्डों की विषयवस्तु का उल्लेख करती एक अन्य अनुक्रमणिका की रचना की गई। रामायण के पश्चिमोत्तरीय पाठ में एक तृतीय अनुक्रमणिका के भी दर्शन होते हैं, जिसमें और भी बाद में जोड़े गए विषयों तक का भी उल्लेख है।
2. युद्धकाण्ड के अन्त में उपलब्ध काव्य समाप्ति की सूचक फलश्रुति प्रमाणित करती है कि कभी रामाण की परिसमाप्ति वहीं मानी जाती थी।[38]
3. पहली और दूसरी अनुक्रमणिका में काण्डों का उल्लेख न होने से इस अनुमान को प्रबल आधार मिलता है कि आदिम रामायण काण्डों में विभाजित नहीं थी। तीसरी अनुक्रमणिका में काण्डानुसार विषयों का उल्लेख है।
4. उत्तरकाण्ड की सूचनाओं का युद्धकाण्ड की कई सूचनाओं के साथ विरोध है।
5. शैलीगत परीक्षणों के आधार पर बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड की शैली में परस्पर साम्य है परन्तु अन्य काण्डों की शैली से वैषम्य। बालकाण्ड का प्राय: आधा अंश पौराणिक कथाएं हैं, जो रामचरित से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। जबकि उत्तरकाण्ड को वाल्मीकि द्वारा 'भविष्य-दर्शन' करके पूर्व ही रचित घोषित कर दिया गया है। यद्यपि उत्तरकाण्ड की शैली भविष्यत् कथन की

न होकर वर्तमान और भूतकाल के कथन की है।

6. उत्तरकाण्ड के अन्तिम सर्ग में रामायण की पुनः फलश्रुति है इसी सर्ग में उत्तरभाग को रामायण काव्य से पृथक् घोषित किया गया है।
7. रामायण के उपलब्ध तीनों पाठों में अन्य काण्डों की अपेक्षा उत्तरकाण्ड में कम पाठान्तर हैं, जो इसे नवीन सिद्ध करते हैं।

प्रक्षेपों के कारण

रामकथा के पाठान्तर श्लोकान्तर, प्रसंगान्तर तथा विकास के कई कारण हैं। इन्हें हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत निबद्ध कर सकते हैं :

1. रामकथा की अनेक मौखिक परम्पराएं।
2. अलौकिक तथा चमत्कारिता का आग्रह।
3. कथा की गौरव वृद्धि हेतु विविध ज्ञान सामग्री का समावेश।
4. गायकों द्वारा व्यक्ति, समाज, युग और देशीय अभिरुचियों का ध्यान रखकर रोचकता के साथ कथा का प्रस्तुतिकरण।
5. लोक संस्कृति और लोकगाथाओं का समावेश।
6. लोक कल्याण और धर्मोपदेश के लिए रामचरित का प्रयोग।
7. नायकेतर पात्रों के जीवनवृत्त का विस्तार।
8. कथाक्रम के अन्तर्गत वस्तुवर्णन के रूप में पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवेश आदि का अतिशय परिचय।

रामायण में विद्यमान इन असंख्य आवृत्तियों, अलौकिक धारणाओं और अतिशयोक्तिपूर्ण बर्णनों के लिए वाल्मीकि को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। न केवल बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड अपितु रामायण के प्रामाणिक काण्डों में भी प्रक्षेपों की घुसपैठ है। उसके चलते न केवल रामायण की स्वाभाविकता और सन्तुलन गड़बड़ा गए हैं, अपितु इसकी श्लोक संख्या भी कम से कम दोगुनी अवश्य हो गई है।

भारत की प्रमुख रामायण

वाल्मीकि रामायण की प्रतिष्ठा-विस्तार के साथ ही रामायण लेखन की प्रवृत्ति बढ़ी। संस्कृत के साथ पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से लेकर तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती, बंगाली, असमिया, अवधी, पंजाबी, कश्मीरी तथा उर्दू भाषा तक में रामायण अथवा उसके आख्यानों की रचना का प्रचलन हुआ।

संस्कृत भाषा में रामायण ग्रन्थ

संस्कृत में वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त 'अध्यात्म रामायण', 'अद्भुत रामायण' तथा 'आनन्द रामायण' उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत में रामायण की मूल विषय वस्तु पर आधारित ललित साहित्य की सुदीर्घ परम्परा उपलब्ध है। संस्कृत भाषा में उपलब्ध रामकथा साहित्य

को भक्तिवादी स्वरूप देने के लिए अध्यात्म रामायण सर्वाधिक उत्तरदायी है। इसमें राम को परब्रह्म और सीता को उनकी अनिर्वचनीय माया के रूप में सृष्ट कर सम्पूर्ण विकास को उन्हीं की लीला माना गया है। अद्भुत रामायण, अध्यात्म रामायण का ही अनुसरण करती है। इस ग्रन्थ में उपनिषद्, गीता, पुराणादि के बहुश: श्लोकों को सम्मिलित कर लिया गया है। मौलिकता का इसमें अभाव है। संक्षिप्तता के कारण वर्णन कहीं-कहीं अपूर्ण प्रतिभासित होते हैं। 15वीं शताब्दी की रचना आनन्द रामायण भक्ति को अत्यन्त भावप्रवण रूप में प्रस्तुत करती है। राम, उनके शासन और विजय यात्राओं की वर्णना के साथ-साथ तीर्थों का वर्णन व महत्त्व, उपासना के प्रकार, प्रत्येक मास में पूजा और मास विशेष के महत्त्व आदि की पौराणिक प्रकल्पनाओं का इसमें विशेष निबन्धन मिलता है। इस रामायण पर कृष्णलीला का विशेष प्रभाव होने के कारण राम पर कामासक्त नारियों को कृष्णावतार में उनकी कामपूर्ति का आश्वासन तक दे दिया गया है।

बौद्ध एवं जैन रामकाव्य परम्परा

पालि भाषा मे उपलब्ध राम विषयक बौद्ध आख्यानों की परिचर्चा बौद्ध जातक कथाओं के प्रसंग में हो ही चुकी है। उनके अतिरिक्त देवधम्म जातक, साम जातक, जयसिंह जातक, वेस्सन्तर जातक और शाम्बुल जातक में रामायण के प्रसंग उपलब्ध हैं। जैन रामकाव्य परम्परा मुख्यत: प्राकृत भाषा में उपलब्ध रामायण परम्परा है। यद्यपि उत्तरवर्ती काल में जैन आचार्यो और कवियों ने संस्कृत, हिन्दी, गुजराती और कन्नड़ भाषा में भी रामकथा का प्रणयन किया। जैन धर्म के अनेक आचार्यो तथा कवियों ने जैन धर्म के सिद्धान्तों के पोषण की दृष्टि से रामकथा का निबन्धन किया है। प्रथम शती से बीसवीं शती तक रची गई इन रचनाओं में वाल्मीकि की रामकथा के प्रतिपक्ष में अहिंसा-दर्शन गद्य या पद्य शैली में व्यञ्जना कौशल के साथ मुखरित हुआ है। जैन सम्प्रदाय में रामकथा की मुख्यत: दो धाराएं हैं - प्रथम विमलसूरि की परम्परा एवं रचनाएं तथा द्वितीय गुणभद्र की परम्परा एवं रचनाएं। कुछ आचार्यों ने इन दोनों परम्पराओं के मिश्रित आधार पर भी काव्यों का निबन्धन किया है।

जैन रामकाव्य परम्परा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में विमलसूरि की प्राचीनतम प्राकृत रचना 'पउमचरिय' (प्रथमशती) संघदास कृत 'बसुदेव हिण्डी' (सप्तमशती से पूर्व) रविषेण की प्राचीनतम संस्कृत रचना 'पद्म चरित' (सप्तम शती) स्वयंभू की अपभ्रंश रचना, 'पउम चरिउ' (आठवी शती) शीलांकाचार्य की प्राकृत रचना 'चउपन्न महापुरिसचरियं' के अन्तर्गत 'रामलक्खणचरियं' (नवीं शती) गुणभद्र की संस्कृत रचना 'उत्तरपुराण' (नवीं शती) हरिषेण की संस्कृत रचना 'बृहत्कथाकोष' (दसवीं शती), भद्रेश्वर की प्राकृत रचना 'कहावली' (11वीं शती) हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' (12वीं शती) के अन्तर्गत 'जैन रामायण' तथा संस्कृत ग्रन्थ योगशास्त्र की सोपज्ञवृत्ति टीका के अन्तर्गत 'सीता रावण कथानकम्', धनेश्वर की संस्कृत रचना शत्रुंजय माहात्म्य (14वीं शती) कृष्णदास की संस्कृत रचना 'पुण्यचन्द्रोदय पुराण' (16वीं शती) तथा देवविजयगाठी कृत संस्कृत ग्रन्थ 'रामचरित (16वीं शती) प्रामुख्येन उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त जिनरत्नकोश में भुवनतुंगसूरि कृत 'सीयाचरियं' तथा 'रामलक्खणचरियं' नामक दो ग्रन्थों की सूचना और दी गई है।[39] सीयाचरियं नाम से प्राकृत में दो रचनाएं मिलती हैं। इनमें से एक की पाण्डुलिपि पर विक्रमी संवत् 1600 दिया गया है।[40] जैन परम्परा के विभिन्न भाषाओं में रचित रामकाव्यों का विस्तृत उल्लेख जिनरत्नकोश में उपलब्ध है। विमलसूरि ने रामकथा को ब्राह्मणवादी वातावरण से विमुक्त करा जिस जैन वातावरण में उसकी अवतारणा की थी, वह परवर्ती काल में पर्याप्त पुष्पित हुई। जैन रचनाकारों

ने रामायण के हिंसा परक स्थलों को अस्वीकार करने के साथ-साथ अतिरंजनापूर्ण कथानकों को विश्वसनीयता का संस्पर्श दिया। ये दैवी तत्त्वों से कथा को विमुक्त करा यथार्थ के वातावरण में ले आये। यहाँ राम और रावण पक्ष के अधिकांश पात्रों को जिनदीक्षा धारण कर जैनव्रतों का पालन करना पड़ता है। अहिंसा का पालन न करने पर लक्ष्मण को भी मरकर नरक जाना पड़ता है।

अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं में उपलब्ध रामायण या रामाख्यानों से सम्बद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएं निम्नवत् हैं।

हिन्दी

हिन्दी में विपुल रामकथा साहित्य उपलब्ध है। तुलसीदास द्वारा अवधी भाषा में रचित श्रीरामचरितमानस समस्त रामकथा साहित्य की प्रतिनिधि रचना है। वस्तुतः यह रचना संसार की सर्वाधिक विख्यात लोकप्रिय रचनाओं में से एक है। निश्चय ही मानस के बिना हिन्दी साहित्य अधूरा है।

असमिया

पूर्वी असम के राजा महामाणिक्य के संरक्षण में चौदहवीं शती के कवि माधव कदली कृत रामायण असमी भाषा की रामकाव्य परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त शंकरदेव, (15वीं शती), हरिवर विप्र (14वीं शती) अनन्त कदली और राम सरस्वती (16वीं शती), रघुनाथ महन्त, धनञ्जय कवि, भवदेव विप्र, पंचानन द्विज और अद्भुत आचार्य (सभी 18वीं शती) आदि ने रामकथा से सम्बन्धित अनेक उपाख्यानात्मक काव्यों की रचना की।

बंगला

अनुमान से 15वीं शती के कवि कृत्तिवास द्वारा बंगला भाषा में रचित रामायण को बंगाल में वही सम्मान प्राप्त है जो वर्तमान के रामचरित मानस को उत्तर भारत में। इस ग्रन्थ के व्यापक प्रभाव और बंगाल मे जातीय जीवन का अभिन्न अंग होने के कारण जे.सी. घोष ने इसे बंगाल का बाइबिल कहा है। युगीन चित्रण, रस और भाषा के कारण इस रामायण ने लोगों के जीवन, हृदय और कण्ठ में स्थान बना लिया है।

उड़िया

उड़िया मे अनेक रामायण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। क्रमशः सरलादास कृत रामायण (इसका उल्लेख मात्र ही मिलता है परन्तु यह अप्राप्य है), बलरामदास कृत दांडी रामायण, सिद्धेश्वरदास कृत विलंका रामायण, विश्वनाथ खूंटिया कृत विचित्र रामायण, भूइंया माधवदास कृत विचित्र रामायण, केशवपट्ट कृत नृत्य रामायण एवं केशव त्रिपाठी की पूर्ण रामायण अपना विशेष स्थान रखती हैं। उड़िया में रामकाव्य की समृद्ध परम्परा का सर्वप्रथम सामग्रिक रूप 15वीं एवं 16वीं शती के सन्धिकाल में बलराम दास ने ही प्रस्तुत किया था दांडी रामायण में बलराम ने वाल्मीकि रामायण के पात्रों का आचरण, चिन्तन और मनन देश, काल और स्थितियों के अनुसार मोड़ा है। आंचलिक प्रभाव इसमें पदे-पदे अभिव्यक्त हुए हैं।

गुजराती

कम से कम पन्द्रहवीं शती में गुजराती में रामभक्ति के गायन का श्री गणेश हो चुका था। यहां भी वाल्मीकीय रामायण के आधार पर काव्य रचना हुई। इनमें पुरुषोत्तम महाराज की 'रामबाला

चरित' (15वीं शती), कर्मणामन्त्री कृत 'सीता हरण', मांडण कृत 'सम्पूर्ण रामायण' (15वीं शती), नाकर कृत 'लव कुश आख्यान' (16वीं शती), कीकुवसही कृत -अङ्गदविष्टि' (16वीं शती), वजियो कवि कृत 'रण जंग' और 'सीता संदेश' आदि प्रमुख रचनाएं हैं। 19वीं शती में 299 अध्यायों और 20 हजार पंक्तियों में गिरधर कवि द्वारा रचित रामायण गुजराती की सर्वश्रेष्ठ रामायण रचना है।

मराठी, हरियाणवी एवं पंजाबी

मराठी में समर्थ रामदास की लघु रामायण एवं बड़ी रामायण तथा सन्त एकनाथ की भावार्थ रामायण विशेष समादृत हैं। हरियाणवी में अहमद बख्श थानेसरी कृत रामायण तथा जसवन्त सिंह टोहानवीं कृत रामायण का विशेष प्रचलन रहा है। पंजाबी भाषा में रामकथा का प्रचूर लेखन हुआ। उल्लेखनीय कृतियों में अमर सिंह की अमर रामायण, रामलुभाया दिलशाद की 'पंजाबी रामायण' चक्रध र बेजर की 'सुन्दर रामायण' बृजलाल शास्त्री की 'रामगीत', गुरु गोविन्द सिंह की 'गोविन्द रामायण' या 'रामावतार', हरि सिंह की 'आत्मरामायण' श्रीनिवास उदासी की 'सुखदायक रामायण' बसावसिंह की 'रामचरित रामायण' वीरसिंह नल की 'सुधासिन्धु रामायण' आदि हैं सिक्खों के दशवें गुरू गोविन्दसिंह द्वारा रचित 'रामावतार' या गोविन्द रामायण का सन् 1953 में पटियाला के सन्त इन्द्रसिंह चक्रवर्ती ने सम्पादन एवं प्रकाशन किया। यह रामायण दसवें गुरु की रचना 'विचित्र नाटक' का एक भाग है।

फारसी

फारसी में रामकथा को लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास कश्मीर के सुल्तान जैनुल आबदीन ने किया जो अब अनुपलब्ध है। अकबर की इच्छा से अलबदायुनी द्वारा किया गया वाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त शाहजहाँ के शासन में रामायण का गद्यानुवाद 'रामायण फैजी' तथा औरंगजेब के शासनकाल में किया गया चन्द्रभान वेदिल का फारसी पद्यानुवाद प्रमुख हैं।

तेलगु, तमिल, मलयालम एवं कन्नड

तेलगु में रंगनाथ कृत 'रंगनाथ रामायण' (13वीं शती), तिकन्ना कृत 'निर्वचन रामायण' (13वीं शती), श्रीभास्कर, मल्लिकार्जुन, भट्ट कुमार, रूद्रदेव और अयलार्य नामक कवियों की संयुक्त रचना भास्कर रामायण (14वीं शती), कवयित्री मोल्ल कृत 'मोल्ल रामायण' (16वीं शती), रामभद्र कृत 'रामाभ्युदय' (16वीं शती) एवं विश्वनाथ सत्यनारायण कृत 'श्रीमद् रामायण कल्पवृक्ष' आदि काव्य रचनाएं रामकथा साहित्य की सौन्दर्यभूत हैं। जबकि 'कम्ब रामायण' वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण से प्रभावित है। मलयालम भाषा में तिरुविन्ताकूर के शासक वीरराम वर्मा ने 12वीं शती में सर्वप्रथम 'रामचरितम्' नाम से रामायण का प्रणयन किया था। उसके बाद रामन पणिकर कृत 'कण्णश्श-रामायण', श्री अयियप्पिल आशानकृत 'रामकथापाट्टु', कालीकट के शासक श्री पुनम् नम्बूतिरी कृत 'रामायणचम्पू', श्री रामनाट्टम् कृत 'आट्टकथा', कोट्टरयम के शासक वीर केरल वर्मा की 'रामायण किलिपाट्ट', अपाकादु पद्मनाभ' कुरुप कृत 'रामचन्द्रविलासम', कुमारन आशन कृत 'बालरामायणम्' श्री बल्लेथोल नारायण मेनन द्वारा बाल्मीकिरामायण का मलयालम भाषा में अनुवाद एवं मलयालम के प्रसिद्ध के प्रसिद्ध कवि श्री तुञ्जूत एषुच्छधन द्वारा अध्यात्म रामायण के मलयालम रूपान्तर को साहित्यिक जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कन्ड, भाषा में श्री बालचन्द्र के शिष्य तथा कन्नड़ भाषा के जैन कवि श्री पम्प नागचन्द्र ने पम्परामायण की रचना की है। इस कवि को अभिनव पम्प भी कहते हैं। इस रामायण का नाम 'रामचन्द्रचरितपुराण' भी है।

मूर्तिकला में रामायण की अभिव्यक्ति

भारत के लोक जीवन में रामायण का हस्तक्षेप बढ़ने के साथ यह भारतीय मूर्ति कला का भी विषय बन गई है। आधुनिक पुरातात्त्विक सर्वेक्षणों और अन्वेषणों से यह उजागर हो गया है कि भारत में गुप्तकाल तक रामकथा विषयक आख्यान मूर्तिकला में प्रमुखता से जीवन्त हो उठे थे कटिंधरा (एटा), कौशाम्बी (इलाहाबाद), अहिच्छत्रा (बरेली), नचारखेड़ा (हिसार), जीन्द, सन्धाय (यमुनानगर), हाठ (जीन्द), भादरा (हनुमानगढ) और सिरसा आदि स्थलों से प्राप्त मृण्मूर्तियों के सघन वैज्ञानिक विश्लेषण के पश्चात् पुरातत्त्वविदों ने यह निश्चय किया है कि गुप्तकाल में रामायण की दृश्यावलियों से युक्त मन्दिर और भवन विद्यमान थे। इन मूर्तियों के आधार पर विभिन्न हाव-भावों को प्रकट करती मानव-शरीर एवं चेहरे की आकृतियाँ, वेशभूषा, आभूषण,शृंगार-सज्जा, शस्त्रास्त्रों एवं रथ आदि यातायात के साधनों की बनावट का रामायण में उल्लिखित सन्दर्भो से तुलनात्मक अध्ययन तत्कालीन समाज पर रामायण के प्रभावों को अभिव्यक्त करता है। वाल्मीकि रामायण में मकराक्ष का उल्लेख मिलता है। इसी मकराक्ष को प्रस्तुत करती एक मूर्ति में उसके नामानुसार (मकर जैसी आखों वाला) ही उसकी बेहद जीवन्त आकृति को प्रस्तुत किया गया है।[11] इन मूर्तियों में राम का वनगमन, मारीच प्रकरण, त्रिशिरा, खर, दूषण की मन्त्रणा, त्रिशिरा का लक्ष्मण से युद्ध, राम द्वारा बालिवध, सुग्रीव, जाम्बवन्त, हनुमानादि द्वारा सीता खोज के लिए मन्त्रणा, इन्द्रजित् युद्ध, रावण द्वारा सीता हरण, किष्किन्धा में नृत्य करते मयूर, हिलौर मारते समुद्र की प्रतिछाया[12], अशोक वाटिका भग्न, बालि-सुग्रीव युद्ध[13] इत्यादि वाल्मीकी रामायण के प्रसंग सजीव और मुखर हो उठे हैं। अज्ञानता एवं असावधानी के कारण अन्वेषकों को मिलने से पहले मूर्तियाँ आंशिक स्तर पर विखण्डित भी हो गई हैं। इन मूर्तियों से राम के ईश्वरीय रूप को आंशिक समर्थन नहीं मिलता। उनके इस रूप को पूर्णतया नकार दिया गया है। मूर्तियों में राम को जिस मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर उनकी वीरता की छवि प्रकट होती है। इन मृण्मूर्तियों के नीचे लिपि और संस्कृत भाषा में श्लोक उत्कीर्ण हैं। ये श्लोक किञ्चित् पाठान्तर से वाल्मीकि रामायण के ही श्लोक हैं।[14]

विश्व साहित्य में रामायण

रामायण ने प्रायः विश्व के सभी महाद्वीपों में किसी न किसी रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है। भारत के अतिरिक्त श्रीलंका, नेपाल, चीन, तिब्बत, बर्मा, मलेशिया, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, फिलीपीन्स, इण्डोनेशिया, लाओस, जापान इत्यादि देशों में रामायण के अपने स्वरूप विद्यमान हैं, जिनमें वहां की सभ्यता एवं रीति-रिवाजों का अनूठा संगम हुआ है। बहुत बार तो यह संगम इतना यथार्थ हो गया है कि ऐसा लगता है जैसे रामायण की विभिन्न घटनाएँ इसी भूभाग में घटित हुई होंगी। थाईलैंड, बर्मा और कम्बोडिया के बौद्धों से लेकर मलेशिया और इण्डोनेशिया के मुसलमानों तक में रामायण सांस्कृतिक प्रतिनिधि बनी, तो अमेरिका, यूरोप, सोवियत संघ, चीन, ब्रिटेन आदि देशों में यह साहित्यिक अभिरुचि (शोधादि) का केन्द्र बन गई। जबकि फिजी, सूरीनाम, डच गुयाना, मॉरीशस, ट्रिनिडाड आदि देशों में विस्थापित (वर्तमान में प्रवासी) भारतीयों के लिए यह निरन्तर आध्यात्मिक संचेतना की धुरी बनी रही।

इण्डोनेशिया की सबसे प्रचलित, प्रसिद्ध एवं विशालकाय रचना ककविन रामायण है। थाईलैण्ड में वाल्मीकि रामायण क आधार पर सत्रहवीं शती के मध्य में रचित 'रामकियेन' ने

आश्चर्यजनक प्रसिद्धि प्राप्त की है। कम्बोडिया की अपूर्ण साहित्यिक कृति 'रामकेर्ति या 'रामकेर' विश्वभर के विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र बनी है। लाओस की रामकथा से सम्बन्धित प्रसिद्ध कृति 'फालक फालाम' 'प्रिय लक्ष्मण प्रिय राम) उपलब्ध है। इस्लामीकरण के बाद भी अरबी भाषा में उपलब्ध मलेशिया की रामकथा से सम्बद्ध लोकप्रिय कृति 'हिकायत सेरी राम' वहाँ के जनजीवन में अपना विशेष स्थान रखती है। फिलीपीन्स की रामकथा 'महरादिया लावना' 13वीं शती की रचना है। यहाँ रामकथा परिवर्तित रूप और परिवर्तित नामों के साथ पहुँची। बौद्धपरम्परा प्रधान बर्मा में बोधि सत्व के रूप में राम के प्रस्तुतिकरण के अतिरिक्त 'रामवस्तु' (रामवात्तु), 'राम ताज्यी', 'रामतोन्मयो' एवं 'थिरीराम' आदि रचनाएं प्रमुख हैं।

इन देशों में साहित्य के अतिरिक्त वहाँ की वास्तुकला, संगीत, नृत्य, अभिनय शैली के साथ-साथ लोक अभिधानों और परम्पराओं के माध्यम से भी रामायण के आख्यानों एवं सन्दर्भों को अभिव्यक्ति मिली है। इण्डोनेशिया के प्रम्बनान के शिव मन्दिर की भित्ति पर सातवीं आठवीं शती की शिलोत्कीर्ण रामकथा, पूर्वी जावा में जलतुंडो के अवशेषों में 10वीं शती के भित्तिचित्र, सीता की अग्नि परीक्षा से सम्बन्धित बाली में विद्यमान भित्तिचित्र, उत्तरी सेबेल्स में रामकथा से सम्बद्ध भित्तिचित्र[15] तथा कम्बोडिया की प्राचीन राजधानी अंगकोरवाट के एक विशाल मन्दिर में रामकथा के अनेक भित्तिचित्र उपलब्ध हैं।

इन देशों में अनेक स्थलों के नाम आज भी रामायण में उल्लिखित स्थलों के नामों से साम्य रखते हैं। इण्डोनेशिया के नगर योग्या (अयोध्या), किस्केन्दा (किष्किन्धा), सेतुबन्ध जैसे नगरों तथा प्रसिद्ध नदी सेरयू (सरयू) एवं थाईलैण्ड की एक प्रसिद्ध नगरी अयुध्या (अयोध्या) अपने नाम में ही रामायण की स्मृतियाँ समेटे हुए हैं। वहां का शासक स्वयं को राम नाम से घोषित करता है। थाईलैण्ड के 'रामकियेन' पर आधारित नृत्य, लाओस का रामकथा पर आधारित संगीतरूपक, मलेशिया के 'छाया नाटक' कला और संस्कृति के स्तर पर रामाख्यान को संजोए हुए हैं। रामकथा तिब्बत, जापान, चीन, थाईलैण्ड में बौद्ध धर्म के प्रभाव से पहुंची।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 9.4, 15.36, 18.6
2. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड 87.17-18, वही 84.15
3. मत्स्यपुराण 1.50-51
4. (क) अध्यात्म रामायण, अयो. सर्ग 6, उ. 4.61, 6.26-28, 7.12-13, 31,32
   (ख) आनन्द रामायण, राज्यकाण्ड, सर्ग 14
5. कल्याण (वाल्मीकीय रामायणाङ्क), कल्याण कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 12
6. ध्वन्यालोक 1.5 : काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
   क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
7. वाल्मीकि रामायण
8. द्रष्टव्य, रामकथा : उत्पत्ति और विकास, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, छठा संस्करण 1999, पृष्ठ 24-25
9. द्रष्टव्य, संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, दुर्गाकुण्ड वाराणसी, दशम संस्करण, पृष्ठ 25-27
10. वायुपुराण 70.48 : त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात्।

रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमीयवान्।।

11. श्रीमद्वाल्मीकिरामायण, सम्पादक स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली - 6, द्वितीय संस्करण 1977, (भूमिका), पृष्ठ 19
12. (क) ऋग्वेद 10.60.4 : यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान् मराय्येधते। द्वितीय पञ्च कृष्टयः ।।
    (ख) अथर्ववेद 19.39.9 : त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वाकुष्ठ काम्यः ।
13. ऋग्वेद 1.126.4 : **चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।**
14. वही 19.93.14 : **प्र तद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवस्तु।**
    तैत्तिरीय आरण्यक 5.8.13 : **संवत्सरं न मांसमश्नीयात्। न रामामुपेयात्। न मृन्मयेन पिबेत्।** नास्य राम **उच्छिष्टं पिबेत्। तेज एवं तत्संश्यति।।**
    ऐतरेय ब्राह्मण 7.27-34
15. शतपथ ब्राह्मण 10.6.1.2, छान्दोग्योपनिषद् 5.11.4
16. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.10.9, वृहदारण्यक उपनिषद् 3.1.1-2
    शतपथ ब्राह्मण 11.3.1.2-4
17. ऋग्वेद 1.140.4 : मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्पते रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊ जुवः ।
    अथर्वः 11.3.12, 3.17.1-9, यह सूक्त कृषि से सम्बद्ध है।
    तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.3.10
18. वेदार्थभूमिका, विद्यानन्द सरस्वती, इन्टरनेशनल आर्यन फाउन्डेशन, 302, कैप्टन विला, मोंट मेरी रोड, बांद्रा, बम्बई 50, प्रथम संस्करण 1988, पृष्ठ 21
19. रामकथा : उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ 19
20. उद्धृत मन्त्रों के स्वामी दयानन्द, सायण, सातवलेकर आदि भाष्यकारों के भाष्य।
21. जैन साहित्य और इतिहास : डा0 नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नागार, बम्बई, द्वितीय संस्करण 1956 ईस्वी, पृष्ठ 93
22. रामकथा : कामिल बुल्के, पृष्ठ 61-78
23. वाल्मीकीय रामायण, 2.109.34 : यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
24. रामकथा, पृष्ठ 78
25. प्रायः विद्वान् प्राचीन उपनिषदों एवं योगसूत्रों को बुद्धकाल से पूर्व का स्वीकार करते हैं।
26. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, पांचवा संस्करण सम्वत् 2045, आरण्यक पर्व 147.28-38, द्रोण पर्व 59. 1-25, शान्ति पर्व 46-55
27. रामकथा, पृष्ठ 87-90
28. द्रष्टव्य, वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 16.5-10
29. सम्पूर्ण प्रसंग के लिए द्रष्टव्य वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 53.6-28
30. द्रष्टव्य, वही, युद्धकाण्ड सर्ग 115 सम्पूर्ण
31. वही, बालकाण्ड 1.2 : कोन्वास्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।।
32. वही 1.18 : विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः । कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ।।
33. युद्धकाण्ड 101.19 : किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि।
34. वही, अयोध्याकाण्ड 22.15-25
35. वही, 53.8-13
36. श्रीमद्भगवद्गीता 10.31
37. रामकथा, पृष्ठ 20-23

38. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड 128.119 : रामायणमिदं कृत्सनम्।
39. जिनरत्नकोश, हरि दामोदर, वेलणकर, पूना, 1944 ई., पृष्ठ 331, 422
40. वही, पृष्ठ 442
41. प्राचीन भारत में यौधेय गणराज्य, डॉ. योगानन्द शास्त्री, प्राचीन इतिहास शोध परिषद्, 119, गौतमनगर, नई दिल्ली - 49, प्रथम संस्करण 1999 ई., चित्र संख्या 97
42. ये सभी मृण्मूर्तियां हरियाणा प्रान्तीय पुरातत्व संग्रहालय गुरुकुल झज्जर में सुरक्षित हैं।
43. द्रष्टव्य, प्राचीन भारत में यौधेय गणराज्य, चित्र संख्या 95-96
44. द्रष्टव्य, प्राचीन भारत में यौधेय गणराज्य, पृष्ठ 193-195

वाल्मीकि रामायण में वैदिक पुराख्यान

डॉ० दिनेश कुमार शर्मा,
सहायक विभागाध्यक्ष, अंग्रेजी
श्री गौतम प्राच्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कासगंज (एटा)

संस्कृत साहित्य के लोक-व्यापी प्रचार और सर्वसाधारण में अत्यधिक प्रिय होने का एक बहुत बड़ा कारण रामायण और महाभारत सदृश विशालकाव्य महाकाव्य ग्रन्थों की लोकप्रियता, विशालता एवं जीवन के प्राय: समस्त अंगों का समाविष्टीकरण है। ये दोनों ही ग्रन्थ भारतीय साहित्य साधना के दो अमूल्य अनन्य प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त संस्कृत का जितना भी वाङ्मय विद्यमान है उसमें वैदिक और लौकिक साहित्य की सीमा निर्धारित करने का श्रेय उक्त महाकाव्यों को प्राप्त है।

रामायण इस विराट भारतवर्ष की उज्जवल ज्ञान परम्परा का एक मात्र अरम स्मारक आदिग्रन्थ है। वैदिक और लौकिक युगों के संघर्षमय काल में रामायण एक सन्धिग्रन्थ के समान है जिसमें उभयपक्ष के मनीषियों के हस्ताक्षर विद्यमान हैं। वाल्मीकि रामायण के अधिकांश पात्र, स्थल वैदिक वाङ्मय एवं वैदिक गाथाओं के ही पुराख्यान हैं क्योंकि वाल्मीकि रामायण आदिकाव्य है जो महाकाव्य की कोटि का है और इस महाकाव्य के पूर्व का साहित्य वैदिक वाङ्मय ही आता है। सुपुष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण पर वैदिक वाङ्मय की प्रतिच्छाया है जो संस्कृत आलोच्य साहित्य में प्रतिबिम्बित होकर पुराख्यान का स्वरूप धारण करती है क्योंकि प्राय: सभी व्याख्याताओं ने अपनी रामायण व्याख्या के प्रारम्भ में एक बड़ा ही सुन्दर मनोहारी श्लोक लिखा है-

वेद वेद्ये पर पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेद: प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना।।

भाव यह है कि परमात्मा वेद वेद्य है अर्थात् केवल वेदों के द्वारा ही जाना जा सकता है। जब वह परब्रह्म परमेश्वर लोक कल्याण के लिए दशरथात्मज श्री रामचन्द्र के रूप में अवतीर्ण हुआ, तब सभी वेद भी प्रचेता मुनि के पुत्र महर्षि वाल्मीकि के मुख से श्रीमद् रामायण के रूप में अवतीर्ण हुए।

रामकथा का आदि स्त्रोत

डॉ० रमेश चन्द्र शुक्ल
डी.फिल्., प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
उपाधि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पीलीभीत

राम-कथा के यशस्वी कृतिकार और एक अर्थ में आधुनिक भारतीय समाज के व्यवस्थापक गोस्वामी तुलसी दास जी महाराज ने रामकथा के आदि स्त्रोतों की चर्चा बालकाण्ड के मंगलाचरण में सूक्ष्म तौर पर संकेतित किया है उन्होंने लिखा है कि -

नानापुराण निगमागम सम्मतं यत्, रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबंधमति मञ्जुलमातनोति।।

आशय केवल इतना है कि प्रकारान्तर से प्राप्त राम की गाथा जो पुराणों, निगमों तथा आगमों में बिखरी पड़ी थी उसे ही उन्होंने एक जगह पर निबंधित किया है, लेकिन उस प्राचीन गाथा के साथ-साथ उनका अपना भी मन्तव्य '**क्वचिदन्यतोपि**' से व्यंजित है जिसमें '**मानस**' की व्याख्या प्रच्छन्न रूप में '**सन्निविष्ट**' है। राम कथा के आदि स्त्रोत की यही चर्चा उन्होंने '**वक्ता और श्रोता**' के सन्दर्भ में विस्तार से की है जिसमें महर्षि याज्ञवल्क्य, शिव, कागभुसुंड़ी वक्ता ओर भरद्वाज, उमा, गरुड़ श्रोता के रूप में दिखाए हैं। यही कथा गोंसाई जी ने अपने गुरु (स्वामी नरहर्यानंद जी महाराज) से बाल्यावस्था में सुनी थी लेकिन तब उस पर बहुत अधिक ध्यान उनका नहीं था कारण यह -

श्रोता वकता ग्यानविधि कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ़।।

इस पूरे प्रकरण को ध्यान में रखने से एक बात स्पष्ट होती है कि राम की कथा किसी न किसी रूप में समाज में मौजूद थी और यहीं कथा '**श्रुति-कर्ण न्याय**' के द्वारा समाज में प्रसारित हुई।

सुन्दरकाण्ड की उपजीव्यता

डॉ० सिद्धार्थ शंकर सिंह
संस्कृत विभाग
जगदम महाविद्यालय, छपरा

वाल्मीकीय प्रतिपादित आर्षकाव्य रामायण भारतीय सांस्कृतिक तथा साहित्यिक गगन का वह सूर्य है जिससे अनुप्रेरित होकर भारत एवं विदेशों में राम-कथा के हजारों ग्रन्थ विकसित हुए। इस उपजीव्य आदिकाव्य में 'मधुमय भणिति' के रूप में काव्य-शैली की अद्भुत परम्परा प्रवर्तित हुई। विषय एवं प्रस्तुति की दृष्टि से रामायण के सातों काण्डों में सुन्दरकाण्ड अत्यधिक आकर्षक है। 'सुन्दर' शब्द भारतीय संस्कृति में मङ्गल का वाचक है एवं इस शब्द ने हनुमान् के चरित्र के विभिन्न पक्षों को उद्भाषित किया है।

सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरः कपिः।
सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किं न सुन्दरम्॥

सागर के वाष्पित बुन्दों से मेघ नव-नव वृष्टि करते हैं उसी प्रकार इस उपजीव्य सागर से कथानक ग्रहण कर कवियों ने विभिन्न काव्यों, नाटकों एवं अन्य रचनाओं में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में प्रमुख नाटकों तथा काव्यों की सुन्दरकाण्डगत विषयवस्तु की प्रस्तुति की समीक्षा का प्रयास है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' का रामायण पर प्रभाव

डॉ० सुधा जैन
अध्यक्ष- संस्कृत वि()महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक (हरियाणा)

महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की एक अमूल्य निधि है जो भारतीय जनमानस के लिए ऐसा प्रकाशपुञ्ज है जो सहस्त्राब्दियों से निरन्तर प्रज्वलित है और हमारे जीवनपथ को निरन्तर प्रशस्त करता आ रहा है। रामकथा के माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने वेदों और उपनिषदों में वर्णित मानव संस्कृति के स्वर्णिम तत्त्वों का जो भव्यचित्र प्रस्तुत किया है वह प्राचीन होते हुए भी नित्य नवीन है। भारतीय संस्कृति-विचार और दर्शन के विश्वकोष रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने जिस प्रकार के कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह सर्वथा वैदिक है। **'कुर्वन्नोवेह कर्माणि'** की अजस्त्रत विचार धारा रामायण में सर्वत्र प्रवाहित हो रही है जिससे रामायण के पात्रों के रूप में समस्त भारतीय मानस पुष्पित और पल्लवित हो रहा है। चाहे राम का वनगमन हो, या रावण का वध या फिर सीता निर्वासन सर्वत्र कर्तव्य कर्म को ही प्रमुखता दी गई है और प्रत्येक घटना का आध ार भी कर्म ही बताया गया है। वाल्मीकि द्वारा सदैव शुभ और नैतिक कर्म करने की प्रेरणा दी गई है क्योंकि फल की लघुता या गुरुता पर विचार किये बिना कर्म करने वाला सदैव दुःख पाता है। वस्तुतः कर्म ही धर्मार्थकाम की सिद्धि का मूल कारण है। वाल्मीकि के इन्हीं विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करने की चेष्टा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में की जायेगी।

रामायण के प्रणेता आदिकवि वाल्मीकि

वेदप्रकाश गर्ग
मुज्जफ्फरनगर

आदिकाव्य रामायण के रचयिता वाल्मीकि के सम्बन्ध में लोककथा प्रचलित है कि वे पहले दस्यु थे और उनका पूर्व नाम रत्नाकर था, पीछे तपस्या कर राम नाम के प्रभाव से महर्षि हो गये और उन्होंने रामायण की रचना की। वाल्मीकि विषयक उक्त कथा का उल्लेख विभिन्न रूपों में जिस सामग्री में मिलता है, वह अर्वाचीन है। अर्वाचीन सामग्री से तात्पर्य बाद के उस पौराणिक साहित्य से है, जिसमें उक्त कथा को स्थान मिला है, यथा- स्कन्द पुराण, अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण आदि। लेकिन प्राचीन सामग्री इससे नितान्त भिन्न है। सर्वप्रथम इस प्राचीन सामग्री पर विचार किया जा रहा है।

वेदों में वाल्मीकि नामक किसी भी व्यक्ति का उल्लेख नहीं है। सर्वप्रथम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में एक वाल्मीकि का उल्लेख मिलता है[1], किन्तु वे व्याकरण के आचार्य हैं और निश्चित रूप से आदिकवि से भिन्न है। इन वैयाकरण वाल्मीकि का आदिकवि से एकीकरण किसी प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि रामायण के कर्ता वाल्मीकि के विषय में जहाँ कहीं भी सामग्री प्राप्त होती है, उसमें कहीं भी वैयाकरण के रूप में उनकी प्रशस्ति नहीं है। हाँ, इससे कम-से-कम इस बात का पता अवश्य चलता है कि प्राचीनकाल में वाल्मीकि नाम प्रचलित था। अत: आश्चर्य नहीं होना चाहिए, यदि अन्यत्र भी वाल्मीकि नामक अन्य व्यक्तियों का उल्लेख मिल जाये।

वाल्मीकि ने अपने विषय में स्वयं रामायण के प्रामाणिक काण्डों (अयोध्या से युद्ध तक) में कही भी कोई संकेत नहीं किया है। केवल युद्ध काण्ड के फलश्रुति अध्याय में वाल्मीकि नाम का निर्देश कई स्थलों पर प्राप्त है।[2] वहाँ वाल्मीकि द्वारा प्राचीनकाल में विरचित 'रामायण' नामक आदिकाव्य के पठन से पाठकों को धर्म, यश एवं आयुष्य प्राप्त होने की फलश्रुति दी गयी है। इसके अतिरिक्त बालकाण्ड तथा उत्तराकाण्ड, जिनको प्रक्षिप्त माना जाता है, में भी वाल्मीकि को रामायण का कर्ता माना गया है[3] और इसकी सत्यता के विरोध में कोई भी न्यायोचित तर्क नहीं दिया जा सकता है।

---

1. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, 5-36, 9-4, 18-6।
2. 'आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।' 6/128/107।
3. रामायण के उक्त काण्डों में उनके विषय में जो उल्लेख आये हैं, वे मौलिक नहीं माने जाते।

VALMIKI RAMAYANA

Dr. Falguni P. Desai
Deptt. of English
V.S.Patel College of Arts & Sc.
Bilimora Distt. Navsari, Gujarat

Ramayana is not a mere story it is the story we live every moment of our lives it is never tired of explaining again and again many moral qualities, the practice of which makes a person & society pious and noble.

Sri Rama was the Parmatman (Supreme Reality) and that Sita was the Jivatman (embodied individual soul). Each man's or woman' s body is the Lanka. The Jivatman which is enclosed in the body, or captured in the island of Lanka, always desired to be in affinity with the Parmatman, But the Rakshasas would not allow it, and the Rakshasas represented certain trains of character.

Gunas keep back Sita, or Jivatman, which is in the body (Lanka) from joining Paramatman (Rama). Sita, thus imprisoned and trying to unite with her Lord, received a visit from Hanuman, the Guru or divine teacher, who shows her the Lord's ring, which is Brahma-Jnana, the supreme wisdom that destroys all illusions. Thus Sita finds the way to be at one with Sri Rama or in other words, the Jivatman finds itself one with the Paramatman.

Dasaratha symbolise the intellect that controls the senses.

The three queens of Dasaratha are the three Gunans known as

1- Sattwa (tranquillity),
2- Rajas (activity), and
3- Tamas (mailce, ignorance, darkness).

Vasishtha and Viswamitra are the gurus who guide the intellect. Rama is the transcendental Self and Lakshmana, Bharata and Satrughna (Rama's three brothers) are the triple manifestations

1- of God as immanent, Lakshmana, Bharata
2- God as in-dwelling spirit, Bharata
3- God as soul,. Satrughna

1- Manthara (the maid servant) symbolises the negative qualities that poisons Kaikeyi (the Rajasic - Tamasic mind).
2- Demons and demonesses in Ramayana are the evil propensities in us.
3- Ravana is the Rajasic ego.
4- Kumbhakarana is the Tamasic ego.
5- Vibhishana represents the Sattwic ego.
6- Rama's wife Sita is the Cosmic Energy (Kundalini) abducted by Ravana, the ego, for wrong use.
7- So, through (with the help of) Hanuman, symbolising Pranayama, or rhythmic breathing, you will find the location of Sita, the energy and convey the news of Rama, the Self. Rama's destruction of Ravana and Kumbhkarana symbolises the destruction of Rajasic and Tamasic egos.
8- The installation of Vibhishana symbolises the establishment of Sattwa Guna and equanimity through self-realistaion.
9- Union of Rama and sita is the union of Shaki with the eternal consciousness of the true self.
10- Rama's coronation symbolises the Kingdom of Heaven on earth. This, in short, is the esoteric meaning of Ramayana.

The overall picture that we get on the large canvas of Valmiki's is of three distinctly contrasted societies;

1- Sattvic in Ayodhya,
2- Sattvic and Rajasic in Kishkindha,
3- and Tamasic and Rajasic in Lanka.

If Dharma is the Cardinal principle of the Aryan society (of Ayodhya), Adharma is the ruling principle of the Rakshasa (demon) society. We have a Manava in the north, a Vanara in the peninsula and a Rakshasa in the island.

चरित्र चित्रण

वैदिक संस्कृति संरक्षकेष्वन्यतमः श्रीरामः

डॉ० जगतनारायण त्रिपाठी
प्राध्यापक संस्कृत, शास. हमीदिया कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, भोपाल

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जाजते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

यजु. ३१/१९

इतिमन्त्राधारेण वयं जानीमः यदनादिः अजन्मा सर्वेश्वरः विश्वकल्याणार्थं जन्म गृह्णाति। तस्यार्विभूते सम्पूर्णं भुवनं तस्मिन् अवस्थितं भवति। तेन परिपालिता संस्कृतिः विश्वसंस्कृतिः भवति- **'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा'**। इत्थं विश्वैः स्वीकरणीया संस्कृतिः वैदिकी संस्कृतिरेव। भारतीया संस्कृतिः तस्याः शाश्वतं प्रभावं समाश्रित्यैव अद्यापि अक्षुण्णा वर्तते। वाल्मीकेः रामः तस्याः संरक्षकेष्वन्यतमः। वेदाः यत्तत्त्वं वर्णयन्ति तत् रामायणे रामरूपेण चित्रितमस्ति -

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥[1]

इतिपद्यं स्मरन्तो जानीमः यत् शब्दप्रमाणैः वेदैः वेद्यः परमपुरुषः दशरथस्य पुत्रत्त्वेन जनिमलभत्। तत्साहचर्याय वेदोऽपि वाल्मीकिमुखात् रामााणाबात्मना उत्पन्नोऽभूत्। अनेन रामायणस्य वेदमूलकत्त्वमपि सिद्धंभवति। भारतीयपरंपरायाम् रामायणस्य प्रामाण्यं तस्य वेदमूलकत्त्वादेव। स्वयं महर्षिः रामायणं वेदस्योपवृंहणत्त्वेन स्वीकरोति -

रामायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम्।
सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम्॥[2]

अत्र रामरूपधरस्य विष्णोः स्तुत्यर्थं क्रियमाणः श्लोकः चिन्तनीयः, यस्मिन् 'सहस्रशीर्षा' इति मन्त्रस्य सादृश्यं स्पष्टम् -

सहस्रचरणः श्रीमान् शतशीर्षः सहस्रदृक्।
त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्व पर्वतान्॥

वा.रा. ६/११७/१७

वाल्मीकि रामायणे हनुमच्चरितम्

डॉ० वीना अग्रवाल
वेदालोक, 22 नन्द विहार, हरिद्वार

धन्योऽयं भारतदेशः धन्याश्च वयं यत्र वाल्मीकिः-व्यास-कालिदास-भारवि-भवभूति सदृशाः कवीश्वराः रामायण, महाभारत प्रभृतीनि रमणीयानि महाकाव्यानि विरच्य काव्यामृत-धारां प्रवहितवन्तः। निखिलेषु संस्कृत काव्येषु आदिकवि विरचितं रामायण महाकाव्यम् सर्वोत्कृष्टम् इत्यस्मिन् विषये नास्ति मतवैभिन्नयम्। सरसा, सरल भावगंभिरा रामायणीकथा अस्माकं देशे नगरे-नगरे-ग्रामे-ग्रामे, गेहे-गेहे, जने-जने श्रद्धया प्रेम्णा च गीयते। भारतीयानां सांस्कृतिकं, साहित्यिकं किं च सर्वविधं गौरवं रामायणं दरीदृश्यते।

महर्षिणा वाल्मीकिना मर्यादा पुरुषोत्तमस्य भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य, जगद्वन्द्यायाः सीतायाः यच्चारुचरित्र चित्रणं चित्रितं, तत् पाठं पाठं वयं सर्वे परमानन्दम् अनुभवामः। अस्यामेव परम्परायां पवनसुतस्य श्रीमतो हनुमतः दिव्यं भव्यं, प्रेरकम्, अद्भुतं, त्रिकाल रमणीयम् चरित्रं कस्य सचेतसः चेतसि आनन्दातिरेकं न जनयति। न केवलं भारतदेशे, अपितु निखिलेऽपि विश्वे यत्र-यत्र भारतीयाः निवसन्ति, सर्वेषां हृदयेषु सततं निवसति आञ्जनेयः हनुमान्। वीराग्रगण्यं हनुमन्तमन्तरा रामकथायाः किं महत्वम्। अतएव शिक्षिताः अशिक्षिताः सभ्याः ग्राम्याश्चापि वा जनाः प्रतिदिनं हनुमद् गौरवं गायन्ति। यथा भगवतः रामस्य मातुः सीतायाश्च स्मरणं पावयति जनं तथैव हनुमतः स्मरणमपि पवित्री करोति।

रामकथायां किष्किन्धा काण्डे सर्वप्रथमं हनुमद्दर्शनं संजायते। प्रिया विरहालव्याकुलः दाशरथिः श्रीरामः अनुजेन सह प्राणवल्लभां जानकीमन्विष्यन् ऋण्यमूकपर्वतं संप्राप्नोति। सुर्वणाभौ तौ तपस्विनौ दर्शं दर्शं सुग्रीवस्य हनुमतश्च मनसि परिचयौत्सुक्यं समुदेति। सुग्रीव प्रेरितः श्री हनुमान् संस्कार युक्यां, आत्मीयता परिपूर्णयां, स्नेहसंजुष्टायां भाषायां तयोः वृत्तम् आगमन प्रयोजनं च ज्ञातुम् इच्छति। श्रूयताम् पवनसुतस्य विद्वद्वरेण्यस्य सुधाधारामप्यधरी कुर्वाणी वाणी-

देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ।
त्रासयन्तौ मृगगणान् अन्यांश्च वनचारिणः॥
धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजा॥
यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुंधराम्।
विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ॥

(कि.का.३/६-८/१३)

अवसरेऽस्मिन् श्रीरामलक्ष्मणयोः परिचय कामयमानेन भगवता हनुमता यद् व्याहृतं तत् श्रुत्वा विविध विद्याविभूषितः श्रीरामः सुमित्रानन्दवर्धनं लक्ष्मणं ब्रवीति-

नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेद धारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।

बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु-दोषः संविदितः क्वचित्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थान व्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥

(कि.का ३/२८-३०/३३)

आदि कविः वाल्मीकिः 'रामो विग्रहवान् धर्मः' 'रामो द्विर्नाभिभाषते इत्युदीरयन् भगवतः श्रीरामस्य त्रिकालसत्यवादित्वं प्रतिपादयति। तस्य मर्यादापुरुषोत्तमस्य मुखारविन्दाभिसृता हनुमतः प्रशंसामयी इयं वाणी कं न आनन्दयति। ब्रह्मचर्ये, सदाचारे, सत्ये, धर्मणि च सुप्रतिष्ठितो वीरो हनुमान वेद वेदाङ्गेष्वपि अप्रतिहतगतिरेव आसीत्।

परिचयानन्तरं श्रीरामलक्ष्मणयोः हनुमतः सुग्रीवस्य च मैत्री संजायते। अन्योऽन्ययोः प्रयोजनमपि अवगम्यते। बलिना वालिना हृतसर्वस्वः सुग्रीवः स्वराज्यं स्वभार्यां प्राप्तुमिच्छति। श्रीरामश्च दशाननेन रावणेन अपहृतां जनकतनयाम् अन्वेष्टुमितस्ततः परिभ्रमति। उभाभ्यां पक्षाभ्यां सुहृद कार्यं कर्तुं प्रतिज्ञातम्। इदानीं हनुमान् प्रतिजानीते-समुद्रे वा पाताले वा यत्र कुत्रापि लंकाधिपतिना स्थापितां जानकीं सोऽन्वेक्ष्यति। हनुमतो बलं वर्णयन् कपीश्वरः सुग्रीवो वदति-

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिसंगं ते पश्यामि हरिपुंगव॥
तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते।
तद् यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय॥

(कि.का. ४४/३/६)

अधुना समायातः सः कालः यदा सुविशालं जलनिधिं तीर्त्वा स्वर्णमय्यां लंकायां सीतान्वेषणाय गमनस्य। सर्वथा विलक्षणम्, अकल्पनीयं कार्यमिदं समुन्द्रलंघनं नाम। को नु प्रभवेत्? कस्य सामर्थ्यम्? केवलम् आंजनेय एव अस्मिन् अद्वितीये कर्मणि समर्थः। वृद्धो जाम्बवन्तस्तस्य वीरवरस्य वीरतां स्मारयन् उदीरयति-

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम्।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव॥

(कि.का. ६६/३६)

प्रभु श्रीराम कर्मणि समर्पित जीवनः श्रीहनुमान् स्वयमपि सागरं लंघितुं सन्नद्धः सन् उत्साहेन, शौर्येण च परिपूर्णः निगदति:-

वैनतेयस्य वा शक्तिर्मम वा मारुतस्य वा।
ऋते सुपर्णराजानं मारुतं वा महाबलम्॥
न तद् भूतं प्रपश्यामि यन्मां प्लुतमनुव्रजेत्॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे।
अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मतिः।।
(कि.का. ६७/२३/२७)

अपांनिधिः दृढ़ संकल्पस्य तस्य साहाय्यं कर्त्तुं स्वयमेव उद्यतो भवति। यथा उदीरितं केनापि विदुषा न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः। सागरो विनम्रायां वाचि ब्रुवीति-

साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः।
करिष्यामि भविष्यामि सर्ववाच्यो विवक्षताम्।।
(सु.का. १/८९)

वीरवरो हनुमान् सागरम् विल्लंध्य स्वर्णमयीं लंकां प्रविश्य श्रीरामवल्लभायाः जनकात्मजायाः अन्वेषणे संलग्नो भवति। सन्ति तत्र अनेके योधाग्रगण्याः शूरवीराः। यदि दिवा तत्र प्रवेशः क्रियते चेत् युद्धभयम्। प्रारब्धे च संग्रामे कथं सीतायाः प्राप्तिः इति शंकाकुलेन मनसा तेन रजन्यामेव एकाकिना प्रवेष्टव्यमिति निर्धारितम्। यदा हि सो बालब्रह्मचारि निशिथिन्यां रावणस्य प्रासादे प्राविशत् लावण्यो-पहसित रति विभ्रमाः तस्य महीपतेः स्त्रियः अद्राक्षीत्। ताश्च नार्यः मधुपानमत्ताः विविधाभरणभूषिताः अद्वितीय सौन्दर्यमण्डिताश्च अभवन्। येन सदाचार निधिना अद्यावधि कस्या अपि ललनायाः मुखमपि न दृष्टं स एव इदानीं परस्त्रीणां मुखकमलानि विलोकयति, तासु च भगवतीं जानकीम् अन्वेषयति, किमिदं अनुचितं? किमनेन मे धर्मपत्नेयो भविष्यति? इति चिन्तासन्तप्त मानसस्य तस्य हनुमतो हृदयम् आत्मग्लानिना परां विषादमयीं दशां प्राप्तवान्। अचिन्तयच्च-

परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इदं खलुममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति।।
न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्त्तिनी।
अयं चात्र मया दृष्टः परदारापरिग्रहः।।
कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसा किंचचिद् वैकृत्यमुपपद्यते।।
(सुन्दर का. ५९२/३९-४० व ४२)

विषादं परित्यज्य अशोकवाटिकायां प्रविष्टो हनुमान् विरहपीडितां म्लान वदनां जानकीं पश्यति। तस्याश्च वर्णनमित्थं करोति-

सीतां पद्मपलाशाक्षीं मन्मथस्य रतिं यथा।
इष्टां सर्वस्य जगतः पूर्णचन्द्र प्रभामि व।।
हिमहतनलिनीव नष्टशोभा, व्यसनपरम्परया निपीड्यमाना।
सहचररहितेव चक्रवाकी, जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना।।
(सु. का. १७/३०)

भगवतीं जानकीं दृष्ट्वा मतिवतां वरेण्यो हनुमान् स्वर्णमयीं लंकां विध्वंसयति। राक्षस वीरैः सह युद्धयमानेन तेन हनुमता घातिताः शूरा दग्धा च लंका। यथा समुद्र लंघनं महदाश्चर्यकरं तथैव लंका दहनमपि अद्भुतम् वाल्मीकि कृतं लंका दहन कालीनं हनुमत् स्वरूपं तावद् श्रवणयोग्यं वर्तते-

वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा
साक्षाद् यमो वा वरुणोऽनिलो वा।
रौद्रोऽग्निरर्को द्यनदश्च सोमो,
न वानरोऽयं स्वयमेव कालः॥

(सुकर० काण्ड. ५४/३६)

लंकापूरीं दग्ध्वा हनुमान् भगवन्तं श्रीरामचन्द्रं प्राप्तवान्। तदनन्तरं च लंकायां रामरावणयोः ऐतिहासिकं युद्धं बभूव। युद्धे श्री रामस्य विजयः रावणसेनायाः पराजयः मूर्च्छितस्य सुमित्रातनयस्य पुनरपि संज्ञा प्राप्तिः सर्वासु घटनासु यदि कस्याप्येकस्य शौर्य, समर्पणं, बुद्धिकौशलं, सर्वान् अपि चमत्कृतान् करोति सो जगद्वन्द्यो वीरो हनुमान् एव।

यावत् चन्द्रदिवाकरौ, यावन् नगाधिराजो हिमालयः, यावच्च प्रवहति भगवती भागीरथी, तावत् वीरवरस्य हनुमतः गौरव गाथा जने-जने प्रचरिष्यति नात्र मनागपि सन्देहावसरः।

हनुमान् की वेदमूलकता

वीरेन्द्र कुमार शास्त्री
केन्द्रशिक्षकः
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
पटियाला (पंजाब)

हनुमान् के व्यक्तित्व की वेदमूलकता अनेक दृष्टियों से प्रमाणित होती है। हनुमान् का दूतरूप, विवेकी, स्वामी भक्त, नीतिनिपुण, दिव्यशक्ति सम्पन्न होना आदि अनेक गुण ऐसे हैं जो वैदिक मन्त्रों के आर्ष प्रयोगों में देखे जाते हैं। हनुमान् का दूतरूप वेद में वर्णित सरमा- पाणि सूक्त से प्रभावित है। यथा सरमा स्वामी इन्द्र की आज्ञा से गायों की खोज करती है तथैव हनुमान् भी स्वामी राम की आज्ञा से सीता का अन्वेषण करने जाता है। हनुमान् का वीरत्व उरूगाय विष्णु और इन्द्रादि देवों के वीरत्ववत् है। हनुमान् की दिव्य शक्ति वैदिक देवों के समान है। हनुमान् का विवेक वेदवर्णित विवेकत्व है। दूत और स्वामीभक्त का नीतिनिपुण होना भी वेदमूलक हैं इस प्रकार हनुमान् का व्यक्तित्व पूर्णतया वेदमूलक है। हनुमान् की वेदमूलकता प्रतिपादित करना ही शोध - पत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

सीतापति राम

डॉ० बीना अग्रवाल
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राज0 विश्वविद्यालय, जयपुर

आदिकवि वाल्मीकि की अमर लेखनी से प्रसूत आदि काव्य रामायण कलियुग में वेदोक्त धर्म के न रहने पर लोक सामान्य का मार्गदर्शका माना गया है। साथ ही पुरुषार्थों- धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की सिद्धि भी करता है और पापियों की पापबुद्धि के नाशपूर्वक उनके मन की शुद्धि में भी सहायक है। इसे स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदाता भी बताया गया है-

रामायणमादिकाव्यं स्वर्गमोक्षप्रदायकम्।
तस्माद् घोरे कलियुगे सर्वधर्मबहिष्कृते।।
नवभिर्दिनैः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम्।

(१.३५ रामायण महात्म्य)

रामायण के राम एक आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श राजा होने के साथ ही एक आदर्श पति भी है। राजा जनक की सभा में शिव धनुष भंग करके वीर्यशुल्का सीता का पाणिग्रहण करने वाले राम सीता से अत्यधिक प्रेम करते थे इसका प्रमाण उनका एकपत्नीव्रती होना है। सीता स्वयं भी उनका मन, वचन, कर्म से निरन्तर छाया की भांति अनुगमन करती थी-

पतिव्रता महाभागा छायेवानुवर्तत सदा। (बाल. ७३-२७)

सीता और राम अपने आचरण के कारण प्रजा को भी अत्यधिक प्रिय थे इसीलिए राम के राज्याभिषेक की घोषणा से प्रजा प्रफुल्लित थी। किन्तु कैकेयी के द्वारा राजा दशरथ से पूर्व प्रदत्त दो वरों में, भरत के लिए राज्य एवं राम के लिए चौदह वर्ष के वनवास का निर्णय करवाए जाने पर जितेन्द्रिय राम किसी भी मनोविकार को सम्मुख नहीं आने देते। धीर-गम्भीर भाव से माता कौसल्या को वे यह समाचार देते हैं एवं माता के भी उनके साथ वनगमन के लिए उत्सुक होने की स्थिति में वे उन्हें अपने पतिधर्म का स्मरण करवाते हैं-

शूश्रूषामेव कुर्वीत भर्तु प्रियहिते रता।
एष धर्म स्त्रिया नित्या वेदे लोके श्रुतःस्मृतः।।

(अयोध्या २४.२७)

मानधनी राम जब पतिपरायणा सीता से वनगमन की अनुमति चाहते हैं तब सीता उन्हें पति का महत्त्व बताते हुए कहती है कि इस लोक में पिता, माता, भाई, पुत्र आदि अपने-अपने कर्मों के फल रूप पुण्य का भोग करते हुए अपने भाग्य की उपासना करते हैं किन्तु एकमात्र नारी ही वह व्यक्ति है जो अपने पति के भाग्य का भोग करती है; इसलिए मैं भी आपके साथ वन में जाऊँगी।

शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परं दैवतम्।।

(अयोध्या २९.१६)

वनवास के इसी प्रसंग में पत्नी को पत्नी का आधा अंग नहीं अपितु आत्म-स्वरूप बतलाया गया है। कैकेयी की भर्त्सना करते हुए गुरु वसिष्ठ कहते हैं कि पत्नी पति की आत्मा है इसलिए राम के वन गमन करने की स्थिति में सीता अयोध्या का शासन सम्भालेंगी-

आत्मा हि दारा सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्॥

(अयोध्या ३७.२४)

वनवास के लिए सीता के स्वयं तत्पर होने की स्थिति में ही राम अपना मनोभाव अभिव्यक्त करते हैं कि सीता के बिना तो उन्हें स्वर्ग भी अच्छा नहीं लगता; किन्तु उसकी स्वयं की इच्छा जाने बिना वे उससे वनगमन के लिए कैसे कह सकते थे (अयोध्या. 30-42) यही नहीं सीता उन्हें प्राणों से प्रिय थी। मारीच-वध के पश्चात् लौटने पर आश्रम में सीता को न देखने पर वे लक्ष्मण को कहते हैं कि सीता के बिना मेरे मर जाने पर तुम्हारे अकेले अयोध्या लौटने पर कैकयी अतिप्रसन्न होगी-

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि।
कच्चित् सकामा कैकेयी सुखिया सा भविष्यति॥

(अरण्य, ५८,७)

रावण द्वारा अपहृता, विवशा, सीता को अपने पातिव्रत धर्म का पालन करती हुई अशोक वाटिका में देख कर हनुमान् ने यह पाया, कि वे स्वयं अपने शील से रक्षित थी-

तां देवीं दीनवदनामदीनां भर्तृतेजसा।
रक्षितां स्वेन शीलेन सीतामसितलोचनाम्॥

(सुन्दर, १७.२७)

सीता की अतिदु:खित अवस्था को देखकर हनुमान् जी, के उन्हें अपने साथ ले जाकर श्रीरामचन्द्र जी से मिला देने के प्रस्ताव पर पतिपरायणा सीता का कथन है-

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

यदहं गात्रसंस्पर्शं रावणस्य गता बलात्।
अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती॥

(सुन्दर, २७.६२.३)

हनुमान् द्वारा सीता से प्राप्त अभिज्ञान के रूप में चूडामणि के साथ उसका समाचार और दुर्दशा वृत्तान्त को सुनकर राम रो दिए थे और तत्काल उस स्थान को जाना चाहते थे जहाँ उनकी प्रिया स्थित थी। (सुन्दर 65.66 वर्ग)

तदनन्तर सीता को मुक्त करवाने के लिए युद्ध का उपक्रम हुआ। राम रावण युद्ध के अन्त में स्वयं देवताओं ने उपस्थित होकर सीता के पातिव्रत धर्म की प्रशंसा की और राम ने हनुमान् को अपने कुशल समाचार के साथ सीता के पास भेजा व धर्मपथ पर स्थित सीता को उन्होंने राम का

वह सन्देश सुनाया। (युद्ध 113.16) सीता के द्वारा राम से तत्काल मिलने की इच्छा प्रकट करने पर राम ने विभीषण को सीता को तैयार करके लाने का आदेश दिया। जबकि सीता अपने विरहव्रत के साथ ही अपने पति के दर्शन करना चाहती थी-

एवमुक्ता तु वैदेही प्रत्युवाच विभीषणम्।
अस्नात्वा द्रष्टुमिच्छामि भर्तारं राक्षसेश्वरम्॥

(युद्ध ११४.११)

राक्षस के घर में लम्बे समय तक रहने वाली प्रिय पत्नी सीता को देखने पर श्रीराम को क्रोध, प्रसन्नता व दीनता की एक साथ अनुभूति हुई। इसके पश्चात् सीता को शिविका से उतर कर पैदल आने देते समय उनका मानना था कि विपत्ति, युद्ध स्वयंवर, यज्ञ, विवाह आदि में स्त्री को अन्य पुरुष द्वारा देखा जाना दोषयुक्त नहीं है। सीता के प्रति राम के तटस्थ व्यवहार एवं दारुण इंगितों से उनकी मनोदशा का अनुमान होता था। प्रिय पत्नी को सामने देख कर मन प्रसन्न था किन्तु बुद्धि लोकापवाद के भय से आशंकित थी-

पश्यतस्तां तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम्।
जनवादभयाद् राज्ञो बभूव हृदयं द्विधा॥

(युद्ध ११५.११)

इस लोकनिन्दा के भय से राम सीता से कहते हैं कि स्वाभिमान की रक्षा के लिए उन्होंने रावण वध किया है। तुम्हारे चरित्र पर सन्देह होने के कारण तुम मुझे नेत्र रोगी के लिए दीपक की प्रभा की भांति अप्रिय हो, तुम दसों दिशाओं में कहीं भी, किसी के भी साथ जा सकती हो (युद्ध 115.15-24)

पति राम के इन हृदयविदारक वचनों के उत्तर में सीता का कथन है- कि मेरे अधीन जो हृदय है वह निरन्तर आपका ही ध्यान करता है, शरीर पर मेरा वश नहीं है। आपके साथ निरन्तर रहने से उत्पन्न सौहार्द और विश्वास के कारण आपको मेरी शुद्धता पर स्वतः विश्वास होना चाहिए और अगर वह नहीं है तो मेरे जीवन का कोई अर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में अनन्यहृदय सीता लक्ष्मण से चिता तैयार करवाती है अपने पति राम की प्रदक्षिणा करके शपथपूर्वक कहती है-

कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।
राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः॥

(युद्ध ११६.२७)

अग्नि में प्रविष्ट सीता को स्वयं अग्निदेव श्रीराम को समर्पित करते हैं तब श्रीराम यह स्पष्ट करते हैं कि उन्हें स्वयं सीता के चरित्र पर पूर्ण विश्वास था किन्तु किसी भी अपवाद से बचने के लिए उन्होंने यह किया-

नेयमर्हति वैक्लव्यं रावणान्तःपुरे सती।
अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा॥

(युद्ध ११८.१९.)

वनवास की अवधि समाप्त होने पर राम अभिषिक्त होकर अपने धर्मपरायणता के साथ राज्य करते हैं। सम्पूर्ण प्रजा भी धर्म परायण है। इसी युद्धकाण्ड के अन्त में फलश्रुति भी है जो किसी भी ग्रन्थ की सम्पूर्णता पर की जाती है। उत्तरकाण्ड के वर्णनीय विषय, भाषा शैली, उनकी पूर्व विषयों के साथ सम्बद्धता आदि की दृष्टि से यह प्रक्षिप्त जान पड़ता है।

इस दृष्टि से सीता निर्वासन का प्रसंग भी विचारणीय है। रामचरित पर विचार करने पर रामायण में वर्णित अनेक प्रसंगों व तथ्यों के साथ इसकी संगति का विवेचन आवश्यक है। प्रस्तुत लेख में इसी विवेचन के साथ किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया जाएगा।

वाल्मीकीय रामायण के लक्ष्मण का मूल्याङ्कन

डॉ० किरण टण्डन
एम०ए०, पी-एच०,डी०, डी०-लिट् साहित्याचार्य
कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल, उत्तरांचल

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'रामायण' में प्राय: प्रत्येक वर्ग के पात्रों का समावेश किया है, और इन पात्रों का जीवन-चरित अपनी विलक्षण विशेषताओं के कारण स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्यादि ब्रह्मर्षियों की लोक ल्याणकारिता, दशरथ की प्रतिज्ञा, श्रीराम की लोकरञ्जकता एवं मर्यादा, सीता का पातिव्रत्य, उर्मिला की सहिष्णुता, भरत की रामभक्ति, हनुमान् की प्रभुसेवा के साथ-साथ श्रीराम के अनुज सुमित्रानन्दन लक्ष्मण के भ्रातृ-प्रेम, जितेन्द्रियता, वीरता आदि अनुकरणीय विशेषताओं को भी हम सब भारतवासी बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया करते हैं। लक्ष्मण के चरित की उपादेयता श्रीराम के इस कथन से ही सर्वथा सिद्ध हो जाती है:

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे।।

– अयोध्याकाण्ड, 31/10

प्रस्तुत शोधलेख में लक्ष्मण के चरित की-संयम, अनासक्ति, पुरुषार्थसेवन, स्वावलम्बन, भ्रातृप्रेम, गुरुजनों का सम्मान, आपत्तियों का दृढ़तापूर्वक सामना करना, भ्रष्टाचार का विरोध, राष्ट्रप्रेम, विश्वकल्याण की भावना, धैर्य एवं सत्यनिष्ठा आदि ऐसी विशेषताओं को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिनके कारण लक्ष्मण वैदिक आदर्शों की कसौटी में खरा उतरने के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्मरणीय तथा अनुकरणीय बन जाते हैं।

वाल्मीकि रामायण एवं रावण का वैदिक दाय

डॉ० महेन्द्र कुमार मिश्र
श्री वार्ष्णेय कॉलिज, अलीगढ़

आदि महाकवि वाल्मीकि के प्रथम लौकिक महाकाव्य से पूर्व वेद ही एक मात्र आर्य साहित्य था। वेद भी मौखिक परम्परा से श्रुति बनकर जीवन्त थे। रामायण के खलनायक 'रावण' ने ही संभवतः सर्वप्रथम वेद का संपादन कार्य किया। यद्यपि रावण ने अपने कार्य ऋषि पिता विश्रवा से वेद पढ़ा और स्वतन्त्र रूप से उस पर विचार किया। तदनु यजुर्वेद का संपादन किया। वैदिक ऋचाओं पर उसने अपने अभिमत को पुष्ट करने वाली टिप्पणियाँ भी तैयार की। मूल वेद मंत्रों को अपनी व्याख्या प्रदान कर व्यवहार अध्याय को यत्र-तत्र वृद्धि संपन्न करके रावण ने मूलवेद और अपने मन्तव्य प्रदान कर वेद का एक मौलिक संस्करण तैयार किया जो तत्कालीन जम्बुदीप निवासी आर्येतर ही नहीं आर्य जातियों द्वारा मान्य हो गया। यह मान्यता कहीं तो वेद की गरिमा के प्रभाव से तो कही रावण के प्रभाव से व्याप्त हो गयी। हमारा विनम्र निवेदन है कि कालान्तर में रावण भाष्य के नाम से विख्यात, सटिप्पण संपादित वेद कृष्ण यजुर्वेद के नाम से जाना गया।

कृष्ण यजुर्वेद में आर्येतर कर्म-काण्डीय विधान सम्मिलित हो गये तथा पशुवध, मद्यपान, स्त्री समर्पण, गोवध, नरवध, ब्राह्मणवध, कुमारीवध आदि यह परंपरा यथार्थ में बहिष्कृत आर्यों तथा असुर प्रवृत्ति की जातियों में प्रचलित थी। इसी परम्परा में वाम-पक्षीय कर्मकाण्ड को पुष्ट किया।

रावण मूलतः शिश्न पूजक था। वाल्मीकि ने उत्तर काण्ड में लिखा है कि रावण अपने साथ स्वर्ण निर्मित लिंग रखता था और बालू की वेदी पर स्थापित कर उसका पूजन करता था। आर्येतर द्रविण जाति में हिंसायुक्त यज्ञ, मद्यपान, पंचमकार तथा शिश्नपूजन का विधान रहा है। कृष्ण यजुर्वेद द्रविणों में अद्यावधि प्रचलित है। यह सबकुछ रामायण के खलनायक रावण का वैदिक दाय है। यह तथ्य भिन्न है कि महीधर महाशय इसे मलिन वृद्धि की उपज मानते हैं और ब्राह्मण मिश्रित मंत्रों के कारण कृष्ण यजुर्वेद अशुद्ध माना जाए। परन्तु हमारा विनम्र मत है कि यज्ञ कर्म के आनुष्ठानिक विधान में दुर्ज्ञेयता उत्पन्न होने के कारण यह कृष्णत्व यजुर्वेद को प्राप्त हुआ।

कृष्ण यजुर्वेद में यज्ञ में आर्य परम्परा के विपरीत चार पुरोहितों के स्थान पर केवल एक चरक को पौरोहित्य कर्म का संपादन करता है। यजुर्वेद के ब्राह्मण भाग में दुष्ट कर्म के कर्ता चरक कहा गया है। (30/10 ब्रा०भाग) दुष्कृताय च चरकाचार्य। वैदिक परम्परा में वेद के पठन-पाठन की अनेक विधियाँ हैं जो शाखा भेद का हेतु भी हैं तथा शाखा भेद प्रवर्त्तक ही गोत्र प्रवर्त्तक भी प्रायः होते थे। यही कारण है कि ब्राह्मण अनेक शाखा एवं गोत्रों में बंटे हुए हैं। उल्लेखनीय है कि कृष्ण यजुर्वेद की कोई शाखा नहीं है। संभवतः इसी कारण द्रविणों में न शाखा भेद मिलता है और न गोत्र विस्तार। तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित कोई गोत्र नहीं मिलता। कृष्ण यजुर्वेद के शाखा भेद के स्थान पर अनुवाद की संख्या का भेद देखने को मिलता है यथा-द्रविणों के 64, आंध्रों के 80, कर्नाटकों के 49 तथा तैलंगों के 86 अनुवाद तैत्तिरीय आरण्यक में कहे गये हैं। रावण ने कृष्ण यजुर्वेदीय भाष्य को बलात्, प्रभावी बनाकर नैयर (बाहर से सभागत) एवं बहिष्कृत आर्य अयैरों को ही नहीं

तत्कालीन चारों लोकपालों, वसु, नाग, गंधर्व, आदित्यादि के प्राय: सभी जातियों को पराभूत कर उन पर अपने सांस्कृतिक प्रभुत्व के बलात् स्थापित तो कर किया परन्तु प्रतिक्रिया स्वरूप आर्यों की वैदिक परम्परा स्वत: ही और अधिक कहरता पूर्वक सुदृढ़ होती गयी। उदाहरणत: विश्वामित्र के यज्ञ को रावणीय प्रभाव से मुक्त रखने हेतु ही खर-दूषण, ताड़का आदि का वध करने के लिए ऋषि राम-लक्ष्मण को दशरथ से मांगकर ले जाते है।

वाल्मीकि के रामायण का समग्र सांस्कृतिक प्रयास रक्ष संस्कृति के आसुरी प्रभाव से मुक्त कर आर्यों की सनातन सांस्कृतिक धरोहर को अक्षुण्य बनाये रखने का सारस्वत प्रयास रहा। एतदर्थ उनके नायक 'राम' रहे तो रावण खलनायक। रामो साक्षात् विग्रहवान धर्म:। विवाह संस्था पर राक्षसी और आसुरी प्रभाव के वर्चस्व के कारण ही राक्षस, आसुरी एवं पैशाचिक विवाह भी आर्यों को धर्म सम्मत स्वीकार करने पड़े। यह निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा कि सभी प्रकार की सन्नद्धता बरतने के उपरान्त भी अनार्य रीतियाँ आर्य सभ्यता में प्रवेश कर ही गई।

यथार्थ में अनार्य ही नहीं थे उसमें आर्य एवं आर्येतर तथा आगुन्तुक भी सम्मिलित हैं। द्रविणों ने ब्राह्मण बनकर वर्तमान उड़ीसा, बंगाल, महाराष्ट्र और महाराष्ट्र तक तथाकथित आसुरी वैदिक सभ्यता को क्रमबद्ध विस्तार दिया। इनके द्वारा आर्य भाषा संस्कृति को स्वीकार कर उसी में नवीन ग्रंथों की रचना में तीन सावधानियाँ बरती :-

1. अपने प्रचार में जो बाधक नहीं थे वे सभी आर्यों के सिद्धान्त उन्होंने ज्यों की त्यों स्वीकार कर लिये।
2. आर्यों के गूढ़ चिन्तन जो जन साधारण की समझ से परे थे, के अभिप्राय: बदल कर उनको अपने मन्तव्य प्रदान किये।
3. साधारण आदरणीय पक्ष का विरोध कर उनके स्थान पर अपने सिद्धान्तों को पुष्ट किया।

कालान्तर में द्रविण और आर्य संस्कृति दोनों घुलमिल गयीं। इस एकीकरण को प्रस्थानत्रयी के द्वारा दार्शनिक गौरव भी प्राप्त हुआ। उपनिषद्, गीता और वेदान्त तीनों पर यह प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार कृष्ण यजुर्वेद तथा वर्णित अनार्यों द्वारा ही नहीं सम्पूर्ण आर्यों द्वारा भी स्वीकृत हुआ। देवेन्द्र इन्द्र भी पशुबलि द्वारा यज्ञ करते देखे जा सकते हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों को सम्यक् विभाजन किया। याज्ञवल्क्य के इस अनार्य परम्परा का विरोध किया और वैशम्पायन द्वारा प्रदत्त कृष्ण यजुर्वेदीय विधान और ज्ञान को त्याग दिया। उनका उद्गलित ज्ञान ही तैत्तिरीय संहिता नाम से जाना जाता है। (महीधर भाष्य) याज्ञवल्क्य ने एतदर्थ एक अलग शतपथ ब्राह्मण का प्रणयन किया जो शुक्ल यजु: का शुद्ध आर्य संस्करण है। ये याज्ञवल्क्य ही भारद्वाज को राम कथा का प्रवचन करते थे।

वाल्मीकि सर्वथा याज्ञवल्क्य के मतावलम्बी बने हुए थे। रामायण के द्वारा राम को अजर-अमर कर आर्य संस्कृति को शुद्ध रूप में स्थापित करने का कविर्मनीषी संभवत: सार्थक प्रयास करने वाले महाकवि के रूप में श्रद्धास्पद हैं और रहेंगे।

रीति, नीति, प्रीति, के अद्वितीय संगम मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम

डॉ० दीपशिखा
देहरादून

सहस्राब्दियों पूर्व, त्रेतायुगीन धराधाम पर हमें सत्य सनातन आदर्शों का जीवंत स्वरूप मिला जो आज भी कलियुग में हमारे आदर्शों को मूर्त रूप दे रहा है और वह है रीति, नीति, प्रीति के अद्वितीय संगम 'श्रीराम'। जिन युग पुरुष के रूप में मानों अमूर्त धर्म साक्षात् मूर्तिमान हो उठा-

"रामोऽविग्रहवान् धर्म"। सत्य सनातन आदर्शो को जीवंत स्वरूप मिला। चारित्रिक गुणागार का मानवीकरण हुआ। व्यवहारीय मर्यादाओं को स्फुट तथा परिपूर्ण परिभाषा प्राप्त हुई। श्रीराम विशुद्ध आचार-विचार-व्यवहार के समूर्तरूप है। वे एक आदर्श-पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श मित्र, आदर्श शत्रु, आदर्श राजा हैं। इन समस्त चरित्रों की गुण धाराएं श्रीराम सिंधु में समाहित हैं। वे दशरथ पुत्र श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसी के दोष नहीं देखते थे। भूमण्डल में उनकी समता करने वाला कोई नहीं था। वे अपने गुणों से पिता दशरथ के समान एवं योग्य पुत्र थे। वे सदा शान्त चित्त रहते और सान्त्वनापूर्वक मीठे वचन बोलते थे। यदि उनसे कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे। कभी कोई एक बार भी उपकार कर देता तो वे उसके उस एक ही उपकार से सदा संतुष्ट रहते थे और मन को वश में रखने के कारण किसी के सैकड़ों अपराध करने पर भी उसके अपराधों को याद नहीं रखते थे। अस्त्र-शस्त्रों के अभ्यास के लिए उपयुक्त समय में भी बीच-बीच में अवसर निकालकर वे उत्तम चरित्र में, ज्ञान में तथा अवस्था में बढ़ें-चढ़ें सत्पुरुषों के साथ ही सदा बातचीत करते और उनसे शिक्षा लेते थे। वैदिक रीति, वैदिक शिक्षा वे वेदों में वर्णित यज्ञादि आचरण को वे बहुत अधिक महत्व देने के साथ उनका बहुत सम्मान करते थे तथा उनका पालन भी करते थे तभी तो उन्होंने अश्वमेध जैसे यज्ञ का सम्पादन पूरे नियमों व उत्साह से किया। अश्वमेध यज्ञ में उन्होंने वस्त्र, धन तथा अन्न का प्रचुर मात्रा में दान किया। इसलिए श्रीराम का सकल जीवन, उनका प्रत्येक पक्ष हमारे लिए अनुकरणीय एवं प्रेरक है। जीवन अथाह में गुम नौकाओं के ज्योतिर्मयी प्रकाश स्तम्भ है उनके हर जीवनादर्श को आप स्व चरित्र चित्र पर उकेर सकते हैं। स्वजीवन की मंणिका में पिरो सकते है। प्रस्तुत लेख में हम श्रीराम के इन्हीं सभी गुणों पर विस्तार रूप से चर्चा करेंगे।

वैदिक आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में राम

आचार्य रामकृष्ण शास्त्री
संस्थापक/कुलाधिपति, गुरुकुल आश्रम
जानकीपुरम्, लखनऊ

इस जगत् में अगणित महापुरुष उत्पन्न हुए, अपनी कार्यशैली से संसार में चमत्कार प्रदर्शित किये और पुनः संसार से विदा हो गये। उनमें से प्रत्येक महापुरुषों के अनुयायियों ने अपने-अपने लघु या दीर्घ सम्प्रदाय बनाये और वे महापुरुषों को अपने तक सीमित कर लिये परन्तु राम में वह क्या गुण थे? जिनके कारण राम जन-जन की रसना पर अद्यापि पूर्ववत् विद्यमान हैं? क्या आदर्श थे जिनके कारण प्रत्येक माता-पिता अपने पुत्र को राम और पुत्री को सीता बनाना चाहते हैं? क्या मर्यादायें थी जिनके कारण प्रत्येक स्त्री राम जैसे पति और प्रत्येक पुरुष सीता जैसी पत्नी की कामना करता है? प्रेम और वात्सल्य था कि प्रत्येक बालक और बालिका राम जैसा भाई और सीता जैसी भाभी चाहता है। कैसी नैतिकता थी जो प्रत्येक भाभी लक्ष्मण जैसा देवर चाहती है? कैसी नम्रता थी जो प्रत्येक गुरु राम और लक्ष्मण जैसा शिष्य चाहता है? कैसा सम्मान और सात्कारिक गुण थे जो प्रत्येक ऋषि अपने आश्रम को उनके चरण रज से पवित्र करना चाहता था? कैसा शासन था जो आज भी प्रत्येक जन राम जैसा राजा चाहता है? कैसी शक्ति और कैसा साहस था जो राक्षस क्षण भर में धराशायी हो जाते थे? उनकी राज्य की क्या विशेषता थी कि महात्मा गाँधी जैसा व्यक्ति भी राम राज्य की इच्छा रखता था?

इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि राम वेदानुयायी थे। वैदिक आदर्श उनके जीवन में, व्यवहार में, विचार में यहाँ तक कि उनके रक्त की प्रत्येक बूंद में घुल गया था। वैदिक संस्कृति का और आदर्शो का पारिवारिक स्वरूप वेदों में कुछ इस प्रकार प्रकट होता है :-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचा वदतु शान्ति वाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।।

श्री राम गुणों के भण्डार थे। ग्रन्थ के प्रारम्भ में नारद जी कहते हैः-

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।। १/७ (बाल काण्ड)
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान् वशी।। १/८ (बाल काण्ड)

हे बाल्मीकि! जिन दुर्लभ गुणों का वर्णन तुमने किया है उन गुणों से युक्त पुरुष एक मात्र इक्ष्वाकुवंशीय राम ही हो सकता है। जो मन को वश में करने वाला, नियत स्वभाव, अति बलवान, तेजस्वी, धौर्यवान और जितेन्द्रिय है।

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानांच हितेरतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥ १/१२
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदांग तत्त्वज्ञो धानुर्वेदे च निष्ठितः॥ १/१४
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्व समश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥ १/१६

राम को धर्मज्ञ, प्रजा हितकारी, यशस्वी, स्वजनस्य रक्षिता, वेदवेदांग तत्त्वज्ञः, आर्य, प्रियदर्शनः इत्यादि अनेक विशेषणों से नारद जी ने सुर्शत किया है जो वैदिक आदर्श के पर्याय हैं।

कृतज्ञता प्रदर्शक श्रीराम

श्रीराम किसी के द्वारा किये उपकार को नहीं भूलते थे -

कथंचित् उपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

हनुमान् के उपकारों का स्मरण करते हुए कहते है-

रामोऽपि सस्वजे स्नेहाद्वाक्यमेतदुवाच ह।
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
त्वोकस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनों वयम्॥

हे वानर! तुम्हारे एक ही उपकार पर हम प्राण न्यौछावर कर सकते है। तुम्हारे किये हुए उपकारों के लिए हम सदा ऋणी ही बने रहेंगे।

पितृभक्त और पिता के आज्ञा पालक राम

कैकेयी के द्वारा राम को बनवास माँगने पर दशरथ स्वयं कहते है कि मैं पितृ भक्त राम को नहीं त्याग सकता-

कौसल्यां वा सुमित्रां च त्यजेयमपि वा श्रियम्।
जीवितं चात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम्॥ अयो. १२/१२
तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यंवा सलिलं विना।
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम्॥ अयो. १२/१३

दशरथ विलाप करते हुए कहते हैं कि सूर्य के बिना संसार रह सकता है जल के बिना अन्न जीवित रह सकता है। परन्तु श्रीराम के बिना मेरे प्राण स्थिर नहीं रह सकते। ये राम का पिता के प्रति व्यवहारादर्शों का प्रतिफल ही तो था कि राम के बिना दशरथ ने प्राण त्याग दिये।

जब राम को राजभवन में बुलाया जाता है और राम आकर प्रणाम करते हैं उस समय दशरथ केवल 'राम' बोलकर विलाप करने लगते हैं। उस समय राम कहते हैं-

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय॥ अयो. का. १८/११
अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे॥ अयो. का. १५-१५

हे माता! यदि अज्ञानवश मुझसे कोई अपराधा हो गया हो तो कृपया मुझे बताइये। पिता को असन्तुष्ट कर मैं एक क्षण भी जीना नहीं चाहता।

राम के इस वचन को सुनकर कैकेयी कहती है कि न तो पिता तुमसे अप्रसन्न है और न ही रोगग्रस्त है परन्तु तू प्रतिज्ञा कर कि महाराज उचित या अनुचित कहेंगे वह सब तू मानेगा। कैकेयी के यह वचन सुनते ही राम आग बबूला हो जाते हैं और कहते हैं-

अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेमापि पावके॥ १८-२८

वाल्मीकि रामायणीय श्रीराम में ऋग्वेदीय विराट् पुरुष का मूलत्व

डॉ० चन्द्रप्रभा गंगवार
बरेली, उ०प्र०

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम सम्पूर्ण साहित्य जगत् के लोकप्रिय नायक हैं। उनके स्वरूप को जन जन तक प्रेषित करने का श्रेय आदिकवि वाल्मीकि की आदिकृति रामायण को है। इसमें श्रीराम के सामान्य स्वरूप के साथ ही परमब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप भी वर्णित है। सम्पूर्ण सृष्टि उनसे उत्पन्न है। वे ही सृष्टि व प्रलय के कर्ता हैं।[1] वे विराट् पुरुष हैं उनके सहस्त्रों सिर, चरण, मस्तक व नेत्र हैं।[2] श्रीराम के इस स्वरूप पर ऋग्वेद के दशममण्डल के पुरुष सूक्त में वर्णित विराट् पुरुष के स्वरूप का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वह विराट् पुरुष भी सहस्त्रों नेत्रों, सिरों, पैरों, हाथों वाला है।[3] सम्पूर्ण चराचर जगत् उससे उत्पन्न है।[4] इस प्रकार वा०रा० श्रीराम व ऋग्वेदीय विराट् में आध्यात्मिकता का अन्वेषण ही मेरे शोधपत्र का ध्येय है।

---

1. वा०रा० 6/117/14
2. वा०रा० 6/117/21
3. ऋग्वेद 10/90/1
4. ऋग्वेद !0/19/5

सीता कठपुतली नहीं थी

डॉ० सुचित्रा मलिक
विभागाध्यक्ष-हिन्दी
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक नारियों का उल्लेख हमें दो रूपों में प्राप्त होता है। प्रथम वे जो अध्यात्म मार्ग की अनुगामिनी थीं, आत्मज्ञान से परमात्मा मे लीन होने वाली थी। दूसरी लौकिक सुखों का उपयोग करने वाली थी। ऐसी सीमा रेखा भी नहीं थी कि अध्यात्म की अन्वेषिका ये ब्रह्मवादिनी नारियाँ लौकिक जीवन में प्रवेश न कर सकें।

जब भी कोई ब्रह्मवादिनी, ब्रह्मचारिणी, नारीलक्षणों से सम्पन्न होकर कमनीय वर की इच्छा करे, उसे उसकी मनोदशा के अनुकूल वर मिले। पति के घर वधू को जीवन के सभी साधन सुलभ रहें और सदा उस गृह में दया, परोपकार, उदारता और शालीनता आदि गुण नदी के प्रवाह की तरह गतिशील बने रहें।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह कि स्त्री के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि की आकांक्षा पूरे घर-परिवार से की गयी है। सबसे यह उम्मीद रखी गयी है कि वे स्त्री को विकास का उचित अवसर प्रदान करें। वैदिक नारियाँ ज्ञान की चरम सीमा पर थीं। याज्ञवल्क्य और गार्गी का शास्त्रार्थ इसी का प्रमाण है। हमें देखना है इस प्रभाव की कहाँ तक अभिव्यक्ति सीता के चरित्र में होती है।

सारांश रूप में सीता आर्यों की पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के मध्य जीती-जागती और उसका मुखर प्रतिरोध करती वाल्मीकि की नारी कल्पना है। यह कल्पना वरेण्य है श्लाध्य है अनुसरणीय है। सीता में पहली बार देखा कि उसके सामाजिक सरोकार कितने विस्तीर्ण थे कि एक-एक वनवासी, केवट तक उनसे स्नेह पाता रहा। अशोक वाटिका (रावण की वाटिका) जैसी भयावनी और अपने लिए एक दम असुरक्षित जगह में भी उसने सखी बना ली थी। (त्रिजटा) सीता का मैनेजमैंट इतना मंजा हुआ था कि रावण जैसे राक्षस राज को उसने एक विशेष दूरी पर साधे रखा।

सीता के जीवन का सबसे क्रान्तिकारी सच था लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन। अर्थात आपात स्थिति में या एकाकी निर्णय की अवस्था में अपने विवेक से नियमावलियों में परिवर्तन का साहस। निर्णय गलत भी हो जाये तो क्या, निर्णय ले लिये गये, यही बड़ी बात है दस में से एक निर्णय किसका गलत नहीं होगा। अपने हिसाब से उन्होंने ठीक ही निर्णय लिया- किसी को भिक्षा दी, भूखे को भोजन दिया। यह तथाकथित गलत निर्णय का तेज ही था जो बाद में रावण के वध का निमित्त बना। न होता इस निर्णय का तेज तो रावण का वध कैसे होता। सीता कठपुतली होती तो रावण कैसे मारा जाता।

सीता ने अपने सम्मान की रक्षा स्वंय की है। अपनी ही नहीं पूरी नारी जाति जो पुरुष द्वारा तिरस्कृत है उसके सम्मान की रक्षा की हैं। उसने अपनी शपथ में राम के साथ का विकल्प ही नहीं छोड़ा है। सीता यदि पवित्र है तो धरती उसका आश्रय है राम का महल नहीं हैं वह अब त्याज्य है। सीता रित्री की कन्या थी पति गृह से त्यक्त अब धरती ही उसकी सम्माननीय शरण है। वह ईश्वर है नर या नारी नहीं,

टूट गये जब बंधन सारे और किनारे छूट गये,
बीच भँवर में मैंने 'उसका' नाम पुकारा करता क्या।

वैदिक वाङ्मय में रामायण के पात्र

डॉ० प्रकाश चन्द्र यादव
व्याख्याता संस्कृत
लक्ष्मीपुर प्रताप नारायण संस्कृत महाविद्यालय, बौंसी बाँका, बिहार

रामायण के सम्बन्ध में उसके निर्माता की यह उक्ति है कि जब तक पर्वतों और नदियों का अस्तित्व इस पृथ्वी पर वर्तमान रहेगा, तब तक रामायण की कथा संसार में बनी रहेगी, सर्वथा युक्त है[1]।

रामायण की प्रधान विशेषता यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित हुई है। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में स्वामी स्त्री में जो धर्म बन्धन है, जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है उसको रामायण ने इतना महान् बना दिया है कि वह सहज ही महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है[2]।

हिमालय जितने ऊँचे एवं व्यापक आदर्शों और सागर जैसे गंभीर विचारों का एक साथ किसी एक ग्रंथ में समावेश हो पाया हैं तो वह रामायण ही है। अपनी इन्हीं मौलिक विशेषताओं के कारण देश-काल की सीमाओं को तोड़कर रामायण आज विश्व साहित्य कि महान् कृति और महामुनि वाल्मीकि विश्व कवि के रूप में पूजित हो रहे हैं।

वे आदि कवि, महान् कवि, धर्माचार्य और सामाजिक जीवन की बारीकियों के ज्ञाता, सभी कुछ उनमें एक साथ थे। वे गंभीर अन्तश्चेता भी थे। इसीलिए महाकवि कालिदास और प्रतिभावान् काव्यशास्त्री आनन्दवर्द्धन ने वाल्मीकि को न केवल आदिकवि कहा है अपितु, एक महान् कवि होने के साथ-साथ उन्हें, साधारण ''क्रौञ्च'' शोक को श्लोकमयी वाणी में अवतरित करने वाला आदिकवि भी कहा है।[3]

रामायण के पात्रों में जैसे इक्ष्वाकु का उल्लेख वेदों में मिलता है[4]। इसी प्रकार वैदिक साहित्य में दशरथ का उल्लेख एक दान स्तुति में दूसरे राजाओं के साथ हुआ है[5]। इसके साथ-साथ महाद्वीप एशिया की आर्यजाति की एक शाखा मिन्नि का भी एक राजा, दशरथ के नाम से कहा गया हैं, जिसका समय 1400 ई0 पूर्व के लगभग था[6]। इसी प्रकार वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषद् ग्रंथों में राम के नाम की विस्तार से चर्चा मिलती है[7]।

अश्वपति कैकेय के सम्बन्ध में शतपथ और छांदोग्य में एक जैसी बात यह बताते हैं कि अश्वपति कैकेय वैश्वानर के तत्त्व को जानते हैं। इनको कैकेय देश का राजा तथा ब्राह्मण को ऊँचे ज्ञान में शिक्षित करने वाला बड़ा विद्वान् कहा गया है, तथा वे जनक वैदेह के समकालीन भी थे[8]।

एक यज्ञ के अवसर पर तैत्तरीयब्राह्मण जनक वैदेह का उल्लेख करता है। जनक के पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व का परिचय हमें अनेक ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों और उपनिषद् ग्रंथों में बहुलता से मिलता है[9]।

किन्तु इन्हीं जनक के विषय में हमें रामायण महाभारत और जातक ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक जनक राजा, जनक वैदेह सीता के पिता से पृथक् भी हुए जिनको रामायण में मिथि[10] का पुत्र, महाभारत में इन्द्र प्रद्युम्न का पुत्र[11] और जातकों में भी दूसरे नामों से कहा गया है।[12] यहाँ तक कि रामायण, महाभारत और पुराणों में जनक एक राजवंश का नाम बताया गया है[13]।

इसी प्रकार सीता का व्यक्तित्व भी समग्र साहित्य में कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में और सूर्यपुत्री के नाम से मिलता है, जिसका रामायण की कथा से कोई संबंध नहीं है[14]।

वाल्मीकि रामायण के महापात्र श्रीहनुमान्

भावना स्वामी
शोध-छात्रा, संस्कृत विभाग,
राज.डूगंर महाविद्यालय, बीकानेर, राजस्थान

श्रीहनुमान् वाल्मीकि रामायण-महामाला के महारत्न एवं महापात्र हैं। वस्तुत: श्रीरामचरित का वर्णन हनुमान्जी के वर्णन के बिना अपूर्ण ही रह जाता है। वेदवेद्य परात्पर परब्रह्म ने जब भक्तों के अनुग्रह से परवश होकर दशरथनन्दन के रूप में अवतीर्ण होने का निश्चय कर लिया, तब शाश्वत शब्दब्रह्म वेदराशि ने भी अपने इष्ट के दुर्लभ लोकोत्तर कल्याण एवम् गुणानुगान के लिए प्रचेतामुनि की संतान प्राचेतस वाल्मीकि द्वारा रामायणात्मक अवतार धारण किया।

सुन्दरकाण्ड वाल्मीकीय रामायण का प्राण है, किन्तु इसमें श्री हनुमान्जी ही सर्वस्व हैं। यदि वे मंगलरूप न होते तो सुन्दरकाण्ड के पाठ से पूर्ण मंगल कैसे होता? सीता का पता लगाना, उन्हें श्रीराम से मिलाना, धर्म की स्थापना करना, धर्मोन्मूलक रावणादि राक्षसों का उन्मूलन, विभीषण-सुग्रीवादि को राज्यदान ये सभी कार्य परम मंगलमय ही हैं। यावज्जीवन ब्रह्मचर्यधारण, ज्ञानार्जन, रामभक्तों का श्रेयोविस्तार-यही इनका मूर्त रूप है। इस प्रकार कार्यशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, भावशुद्धि, व्यवहारशुद्धि एवं आत्मशुद्धि आदि के शुद्ध विग्रह श्रीहनुमान्जी विशुद्ध मंगलविग्रह एवं मंगलमूर्ति के प्रतीक हैं।

वैदिक आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में रामायण के पात्र

मनीषा गर्ग
एम.ए.-द्वितीय, संस्कृत विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

वाल्मीकि रामायण वास्तव में वैदिक आदर्शो पर रचित है। महर्षि वाल्मीकि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से पात्रों का चरित्र चित्रण किया हैं जो पूर्णतया वेदों की कसौटी पर खरा उतरता है। रामायण में मुख्य पात्र वेदानुकूल आचरण करने वाले निम्नलिखित हैं।

(1) राम (2) सीता (3) भरत (4) यतिवर लक्ष्मण (5) दशरथ (6) कौसल्या (7) सुग्रीव (8) हनुमान्

(१) **राम**-मार्यादा पुरुषोत्तमराम, मातृपितृभक्त, एकपत्निव्रत, आदर्श राम, पिता के आज्ञापालक राम, दलितोद्धारकर राम, सच्चे मित्र राम, प्रतिज्ञापालक राम, आदर्श पति, दुष्टदलन करने वाले, राष्ट्रभक्त, भ्रातृ-प्रेम, कुशल प्रशासक, शरणागत रक्षक

(२) **सीता**- एक पतिव्रता नारी, सास-ससुर सेवा करने वाली, धार्मिक, तपोनिष्ठ, आदर्श भारतीय

नारी के गुणों से युक्त

(३) **आदर्श भरत**- भ्रातृप्रेम, प्रतिज्ञापालक, धर्म-धनुर्धर, त्यागी, उत्तम शासक

(४) **यतिवर लक्ष्मण**- वीर धनुर्धारी लक्ष्मण, भ्रातृभक्त, एक पत्निव्रत, अखण्ड ब्रह्मचारी

(५) **दशरथ**- वीर धनुर्धर, पुत्रवत्सल, यज्ञप्रेमी, सम्राट्, शस्त्रधारी

(६) **कौशल्या**- आदर्श पत्नी, आदर्श माता, आदर्श सपत्नी, धार्मिक

(७) **सुग्रीव**- आदर्श मित्र, प्रतिज्ञापालक, राजनीतिज्ञ

(८) **हनुमान्**- अखण्ड ब्रह्मचारी, वेदों का पण्डित, स्वामी भक्त, कुशल राजनीतिज्ञ, वीर योद्धा, दृढ़ वज्र से अङ्गो वाला, धार्मिक, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ।

HANUMAN IN ASSAM

Gokulendra Narayan Deva Goswami, AES.
K.K.H. Sanskrit College
Guwahati 781 014 Assam &
Organising Secretary Assam Sansrit Mahasabha

The place of Hanuman in Assam may be observed in different stages - (1) as a true devotee of lord Rama; (2) as a Dvarapala; and (3) as a god (deity). The Assamese Ramayana by Madhava Kandali (of 14th Cen.A.D.) Hanuman has been depictedf as a true devotee of Lord Rama. In Kamakhya (Sakta pitha) he is accepted as a deity, as per the reference available in the sastras, and he is to be worshipped with dhyana and pranama mantras. In Panca tirtha (i.e. Hajo of Kamrup district of Assam) he attains the position of a Dvarapala. In folk-literature Hanuman appears in two distinct forms-as a normal monkey and also the destroyer of the city of Lanka.

In this paper a humble attempt has been made to throw a light on his place in Assam.

शासन/न्याय/दण्ड व्यवस्था

वाल्मीकि रामायणे वैदिकराज्यव्यवस्थायाः प्रभावः

डॉ० बलवीर आचार्य
व्याकरणाचार्य, एम.ए. (वेद एवं संस्कृत)
पी-एच. डी., डी. लिट्।
संस्कृत विभाग
म. द. विश्वविद्यालय रोहतक, हरियाणा

सामाजिक सुव्यवस्थायां राजधर्मस्य स्थानं सर्वोपरि वर्तते। अत एवं तत्त्वचिन्तकैर्वैदिककाले सुदृढराज्यसंस्थापने महान् प्रयासः कृतः। ''शिवा नः सन्तु प्रदिशश्चतस्रः'' इत्यस्ति वैदिकराजधर्मस्य आदर्शः। राष्ट्रशब्दस्य प्रयोगः सर्वादौ ऋग्वेदेऽभवत् ''मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य'' ऋग्वेद 4.42.1, ''राजा राष्ट्रानाम्'' ऋग्वेद 7.34.11, ''युवो राष्ट्रं बृहत्'' ऋग्. 7.84.21 शुक्लयजुर्वेदस्य वाजसनेयि संहितायां राष्ट्रगानस्य उल्लेखो वर्तते ''आ ब्रह्मन् ब्राह्नणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्यः शूरइषव्योऽति व्याधि महारथो जायताम्.........। 22.22.'' अथर्ववेदे उल्लेखो वर्तते ''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'' 12.1.12'' ''बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'' - अथवे 12.1.8''। शतपथब्राह्मणग्रन्थे राष्ट्रस्य परिभाषा इत्थं कृता- ''क्षोमो वैः राष्ट्रस्य शीतम्-12.2.9.5। ''श्रीर्वै राष्ट्रम्- 13.2.9.2''।

वैदिक वाङ्मये परवर्ति विचारकैर्निर्धारितं राज्यस्य सप्ताङ्ग स्वरूपं स्पष्टरूपेण वर्णितमस्ति। वाल्मीकि-रामायणे वैदिक राजव्यवस्थायाः प्रभाव स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यते। रामः खलु-

राजनीत्यां विनीतश्च ब्राह्मणानामुपासकः॥

वाल्मीकिरामायण। 5.35.13

धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः॥

वही 5.35.14

''राजधर्ममनुस्मरन्'' वही 6.41.59
राजधर्मस्य सप्ताङ्गसिद्धान्तस्य चर्चा कुर्वन्नाह वाल्मीकिः-

पुरे कोषे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च।
कुशलं कौशिको राज्यः पर्यपृच्छत् सुधार्मिकः॥

वही. 1.45

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु।

वही 2.90.7

अथर्ववेदे प्रतिपादितस्य अराजकसिद्धान्तस्य साम्यमपि-अतुलनीयमेव-

विराड्‌ वा इदमग्र आसीत् तस्या जाताया सर्वमबिभेद।

अथर्व वेद 8.10.1

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥

रामायण 2.67.31

वाल्मीकिरामायणे वैदिक-न्याय-दण्डव्यवस्था

डॉ० वीना विश्नोई
संस्कृत प्रवक्ता
क0 गु0 महा0 हरिद्वार

कस्यापि राष्ट्रस्य अवनते: पतनस्य च द्वे कारणे स्त: - प्रथमं शासनं प्रति अज्ञानता तथा द्वितीय कारणं शासनस्य अनुचित प्रयोग:। शासने द्वे तत्त्वे शक्तयश्च कार्य कुर्वन्ति-चरित्ररक्षा दण्डेन भवति तथा च दण्डस्य समुचित प्रयोगस्य आधार: चरित्रं भवति। श्रेष्ठ: शासका: कदापि स्वार्थ साध ने असंलग्ना: भवन्ति। प्रजाया: सुखं प्रजाहितं च तेषां हितम् भवति।

प्रजा सुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितम्। [१]
नात्मप्रियं हितं राज्ञ: प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

समाज: सुसंस्कृतं समुन्नतं सुसमृद्धं कथं न स्यात् परं व्यक्तिषु विकाराणां चैव रक्षायै: न्यायस्य आवश्यकता भवति। [२]

रामायणकालीन शासन व्यवस्था धर्मे आधारित: आसीत्। धर्मे च न्यायस्य प्रधानता आसीत्। अराजकेषु राज्येषु न्यायं बिना 'मत्स्यन्याय' स्थिति उत्पन्न आसीत्। येन राज्यस्य अस्तित्वे एव सन्देह: उत्पादित:। न्यायेन एव राज्ञ: राज्यस्य च अस्तित्वं अस्ति।

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्। [३]
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥

मानव समाजे शान्त्यर्थं एव व्यवस्थार्थं यत् कार्य पद्धति भवति सा राजनीतौ 'दण्ड' इत्याभिध ीक्षते। राज्य प्रशासनाय दण्डव्यवस्था आवश्यकी एवं महत्त्वपूर्ण अस्ति। मनु दण्ड प्रजापरि प्रशासक: एवं राजा कथयति। [४] समाजे दुष्प्रवृत्तीनां एवं अपराधान् निवारणार्थं दण्डस्य आवश्यकता अभूत। शतपथ ब्राह्मणे दण्डस्य प्रयोग: शक्त्यर्थं वर्तते। तत्र दण्डं अपराध निवृत्यर्थं धर्मरक्षार्थ धर्मस्य क्रियान्वयनार्थं च आवश्यक: कथयति। तं नृप सम्बन्धिनं कथयति। तं नृप सम्बन्धिनं कथयति स्म। [५]

दण्डश्च राज्यस्थायित्वस्य आधार:। द्विविधं दण्ड-स्वरुपं आन्तरिकं बाह्यञ्च। रामायणे जीवनस्य सम्पत्ते:, धर्मस्य, राज्यस्य, प्रजायाष्च रक्षार्थ दण्डस्य आवष्यकता उक्ता।

ये हि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिकाश्चिन्नमंशया:।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिता:॥

अतएव रामायणकालिक शासने वेदा: शास्त्राणि धर्मो नैतिक नियमा एव संविधान रूपेण आसीत्।

---

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/19
2. ऐतरेय ब्राह्मण 8/12
3. वाल्मीकि रामायण 2/67/32
4. मनु स्मृति 7/7, 8/14
5. शतपथ ब्राह्मण 5/4/4/7

वाल्मीकिरामायणे वैदिकी राज्यव्यवस्था

डॉ० प्रियंवदा वेदभारती
आचार्या- गुरुकुल आर्ष कन्या विद्यापीठ
नजीबाबाद जिला-बिजनौर

वैदिकस्य भारतीयस्य च राजनीतिशास्त्रस्य सिद्धान्तद्वयं प्रामुख्येण विलसति। प्रथमस्तावत् -

सेनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (मनु०)

द्वितीयः पुनः -

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापपराः प्रजाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥ (महाभारत)

सिद्धान्तद्वयस्यास्य सन्दर्भे यदा वाल्मीकिरामायणस्यानुशीलनं क्रियते तदा दृश्यते समग्रमपि रामराज्यमनयोर्मान्यतयोर्निकषभूतमिति। भगवान् श्रीरामचन्द्रो राजा भरतश्चोभावपि वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञौ धर्मिष्ठौ नृपौ बभूवतुः। एतस्मादेव कारणादेतयोः राज्ये प्रजावर्गोऽपि सुखी समृद्धो मुदितश्चासीत्। रामराज्यस्य सर्वविधसम्पन्नतां परिपूर्णताञ्च विलोक्याद्यापि बालवृद्धवनितानां मुखाद् रामराज्यस्योद्घोषः प्रशस्तिश्च श्रूयते। स्वयं भगवतश्श्रीरामचन्द्रस्य मुखारविन्दाद् वैदिक्या राजनीतेर्य उपदेश अयोध्याकाण्डस्य शततमे सर्गे प्राप्यते स एवात्र साररूपेण प्रस्तूयते।

सर्गेऽस्मिन् राज्ञः पुरोहितस्याचार्यस्य सेनापतेश्च गुणाः कार्याणि, राजकोषस्य व्यवस्था, न्यायदण्डप्रक्रिया, कृषिवाणिज्यशिल्पानि, जलसंसाधनानि, खनिजपदार्थानां प्राप्त्युपायः, गुप्तचराणां राजदूतानां राजकर्मचारिणामर्हत्वं कार्यञ्च, राजधान्याः सुव्यवस्थेत्यादयो विषया विस्तरेण वर्णितास्ते राज्यसमृद्धिकामैर्मनुष्यैर्यथायथमनुपालनीयाः।

वाल्मीकि रामायण की राजनीतिक अवधारणाएँ

डॉ० (श्रीमती) रजनी शर्मा
प्रवक्ता-भगवान्शिव महाविद्यालय, उमेदपुर, एटा

वाल्मीकि रामायण एक मात्र प्राचीनतम धर्मग्रन्थ ही नहीं, अपितु भारतीय आर्यों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठन एवं विचारों को प्रस्तुत करने वाला राष्ट्रीय महाकाव्य भी है। महर्षि वाल्मीकि ने रामायणगत राजनीतिक व्यवस्था एवं विचारों का चित्रण करते समय राम, लक्ष्मण एवं सीता आदि चरित्रों को एक नैतिक व आदर्शवादी उद्देश्य भी प्रदान किया है। यही नहीं, जहाँ रामायण में राजनीतिक गंभीर चिन्तन हुआ है, वहाँ उसके समाधानों को भी सुविचारित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यहाँ तक कि आधुनिक राजनीतिक अवधारणा के सूत्र एवं समस्याओं के निदान भी उसमें निहित हैं।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक राज्यव्यवस्था

डॉ० कमला जोशी
रीडर- विभागाध्यक्ष संस्कृत
राज0.स्ना.महा. रुद्रपुर
(ऊधमसिंह नगर)

वेद जिस परमतत्त्व का वर्णन करते हैं वही परम आनन्द-घन-स्वरुप वाल्मीकि रामायण में निरूपित है। परम आस्तिकों की चिरकाल से यह मान्यता रही है कि वाल्मीकि रामायण की वेद तुल्य प्रतिष्ठा रही है, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक प्रत्येक दृष्टि से वाल्मीकि रामायण का विश्वजनीन महत्त्व है। वाल्मीकि की राजनीति बहुत उच्च कोटि की है उसके सामने अन्य राजनीतिक विचार तुच्छ प्रतीत होते हैं। रामायण में जिस जीवन, सभ्यता, संस्कृति, राज्य-व्यवस्था एवं धर्म दर्शन का वर्णन है वह किसी एक काल विशेष का नहीं है अपितु वह भिन्न-भिन्न युगों की व्यवस्था है। कभी-कभी तो आदि मानव सभ्यता को लेकर-विभिन्न युगों की सभ्यता के क्रमिक विकास का वर्णन इसमें प्रतीत होता है।

वाल्मीकि रामायण के युग में आर्य लोग पूर्व की ओर अधिक बढ़ गये थे, उन्होंने नवीन राज्य स्थापित कर लिए थे कौशाम्बी, कौशल, काशी, विदेहादि इस युग के प्रमुख विशाल राज्य थे लेकिन इनका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलता तत्समय में राज्य का राजनीतिक परिदृश्य पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया था तथा सार्वभौम साम्राज्य की धारणा बलवती हो गई थी। ''अधि राज[1]'' 'महाराजाधिराज[2]' 'सम्राट्[3]' और साम्राज्य की भावना ने जिनका उल्लेख उत्तर वैदिक युग के ब्राह्मण ग्रन्थों में था उसने एक निश्चित रूप धारण कर लिया था, समर्थ अधिराज राज्य विस्तार के पश्चात् राजसूय यज्ञ करते थे रामायण में राम ने अश्वमेध यज्ञ किया था। रामायण काल में शासन तंत्र राजतंत्रात्मक था। राजा वंश परम्परागत रूप से बनाये जाते थे। राजा का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता था। युवराज राम का राज्याभिषेक विधि पूर्वक सम्पन्न किया गया था।[4] राजा को दैवी अधिकार प्राप्त थे जिसे कालान्तर में प्रगतिशील राजनैतिक चेतना ने सामाजिक समझौते से सम्बद्ध कर दिया। यही झलक ऋग्वेद में देखने को मिलती है।[5] कहा है ''समस्त देवता वरुण की शक्ति पर निर्भर है किन्तु मैं मुनष्यों का राजा हूँ। अथर्ववेद के निम्नलिखित मंत्र से राजा के निर्वाचन का संकेत भी मिलता है-''

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन पर्ण मध्ह्यं त्वं सर्वान कृष्वमितो जनान्॥

वैदिक काल से ही वाल्मीकि रामायण काल तक राजपद आनुवंशिक हो चला था, ऋग्वेद में इन्द्र के ज्येष्ठ पद का संकेत हुआ है, तैत्तिरीय संहिता के अनुसार सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता था।[7] इसी तरह शतपथ ब्राह्मण में भी दस पीढ़ियों से चले आ रहे राजपद का उल्लेख मिलता है।[8] तदवत् रामायण में भी वैवस्वत मनु से लव-कुश तक विस्तृत राजवंश का वर्णन मिलता है।

वैदिक मान्यतानुसार ही इस युग में राजा प्रजा का अनुरंजन और रक्षण करने वाला माना गया है। प्रजा का कष्ट निवारण करना प्रजानुरंजन राजा का परम कर्त्तव्य था। रामायण के अयोध्याकाण्ड में कहा गया है कि राजा का ही सबकुछ है। राजा ही सत्य और नीति है। राजा ही माता पिता है, जहाँ राजा नहीं, वहाँ न धर्म है, न सुख है न पारिवारिक जीवन। राजा के कर्त्तव्य वैदिक काल से ही विस्तृत माने जाते रहे हैं।

राज्य-तंत्र को चलाने के लिए, राजा को सलाह देने के लिए मंत्रि-परिषद् भी होती थी, रामायण में उल्लेख है कि राम ने भरत को यह सलाह दी कि वह मंत्रियों के परामर्श से नीति निश्चित करे। तदवत् राम को युवराज नियुक्त करने से पूर्व राजा दशरथ ने भी मंत्रियों से मंत्रणा की थी राजसभा में राजा के पुरोहित होते थे, सामन्त प्रथा का भी इसमें वर्णन है, राज्य पदाधिकारियों की संख्या रामायण में अठारह बतायी गयी है मंत्र, पुरोहित, युवराज भूपति, द्वारपाल, कारागाराधिकारी, सभाध्यक्ष, दण्डपाल इनमें प्रमुख हैं। सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था में वैदिक कालीन राज्य व्यवस्था का प्रभाव झलकता है। रामायण कालीन न्याय व्यवस्था पर भी वेद कालीन व्यवस्थाओं का प्रभाव द्रष्टव्य है। समान न्याय व्यवस्था का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सीता की अग्नि परीक्षा है। राजा ने अपने आचार-व्यवहार, नीति एवं राजनीति से राम-राज्य को सुव्यवस्थित किया था तभी तो उनके मर्यादित पुरुषोत्तम स्वरूप के लिए कहा गया-

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि व्यापा।।

राजा के लिए जिन गुणों का प्रख्यापन मनु ने किया ये गुण राज्यश्री के वर्धन के लिए राम ने भी अपनाये थे-

वृद्धाश्च नित्यं सेवेत् विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
वृद्ध सेवो हि सततं रक्षाभिरपि पूज्यते।।

मनु0 9/38

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण में यत्र-तत्र-सर्वत्र वैदिक राज्य व्यव्स्था देखने को मिलती है। वैदिक राज्य एवं शासन व्यवस्था को ग्रहण करना हो तो वाल्मीकि रामायण के अध्ययन से ही सनातन सत्य, आदर्श एवं नैतिकता सुख समृद्धि से पूर्ण राज्य एवं राष्ट्र को निर्माण के सपना साकार हो सकता है।

1.2.3. प्रा0भा0 संस्कृति एवं सभ्यता पृ0सं0 152/53
4. उक्त- 170
5. ऋग्0 4/42
6. '' '' 9-5-6, 3-50-3
7. तैत0 सं0 5-2-9
8. शतपथ ब्रा0 12-5-9

वाल्मीकि रामायण में न्यायव्यवस्था

डॉ० रुद्रेत पाल आर्य
प्रवक्ता-सर.एम.यू. टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, एटा

रामायणकालीन व्यवस्था में जिस भाँति यम को ईश्वरीय न्यायकर्त्ता माना गया है, उसी भाँति पृथ्वी पर राजा को सर्वोच्च दण्डाधार स्वीकार किया गया है। सर्वोच्च न्यायपालक के रूप में राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह दण्ड का प्रयोग करके मनुष्य की रक्षा करे। कायार्थी पुरुषों का विवाद यदि निर्णीत न हो तो वह राजाओं को महान् दोष की प्राप्ति कराने वाला होता है। रामायणकालीन मान्यता के अनुसार विधिपूर्वक दिया गया दण्ड राजा को स्वर्ग का अधिकारी बनाता है। यदि राजा पापी को दण्ड नहीं देता, तो उसे स्वयं अपराधी के पाप का दण्ड भोगना पड़ता था। रामायण में इस बात पर भी बल दिया गया है कि राजा अपनी शक्ति का मनमाना प्रयोग न करें तथा किसी निरपराध व्यक्ति को दण्ड न दें, क्योंकि ऐसा होने पर उसके आँसू राजा के पुत्र और पशुओं का नाश कर डालते हैं। इस भाँति यह भी आवश्यक था कि कोई भी अपराधी व्यक्ति दण्ड से बचने न पाये।

रामायणकालीन समाज में दण्ड की व्यवस्था करना प्रमुख रूप से राजा का ही कर्त्तव्य था। इस कार्य को वह अपने सभासदों की सहायता से करता था। रामायण में न्यायाधीश से सम्भवत: उन सभी व्यक्तियों का बोध होता है जो राजा को न्याय करने में मदद प्रदान करते थे। अत: राजा के मन्त्री आदि भी इस श्रेणी में आ जाते हैं। इन लोगों की नियुक्ति अथवा चयन करके राजनीति, नीतिशास्त्र आदि के ज्ञान के आधार पर किया जाता था। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे निष्पक्ष होकर अपना कार्य करेंगे। रामायण में पक्षपातपूर्ण कार्य को बहुत बड़ा पाप कहकर पुकारा गया है। न्यायाधीशों की निष्पक्षता के साथ ही साथ उनके ईमानदार होने पर भी बहुत बल दिया गया है। वाल्मीकि रामायण में दिये गए वर्णन से स्पष्ट है कि सभी मन्त्री न्यायालय के सदस्य हुआ करते थे। वास्तविकता तो यह है कि सभा और न्यायालय में कोई अन्तर नहीं था तथा सभा ही न्यायिक कार्यों को भी करती थी। यही कारण है कि रामायण में मन्त्रियों को ही न्याय सम्बन्धी मामलों में भी परामर्शदाता के रूप में दिखाया गया है। मन्त्रियों के ईमानदार होने पर इतना अधिक बल दिया गया है कि राम ने भरत को सचेत किया था कि वे भ्रष्टाचारी लोगों को अपना मन्त्री न बनायें।

वाल्मीकि रामायण में शासन व्यवस्था

डॉ० रामप्रकाश वर्णी, डी०लिट्०
रीडर- संस्कृत विभाग
लोकराष्ट्रीय महाविद्यालय, जसराना, फिरोजाबाद

रामायणकार ने मन्त्रिमण्डल की कार्य प्रणाली का स्पष्ट रूप से कहीं पर वर्णन नहीं किया है। किन्तु प्राप्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस युग में राजा से यह आशा की जाती थी कि वह मन्त्रियों से परामर्श लेकर ही कार्य करेगा। रामायणकार के अनुसार उत्तम पुरुष

वह है जो अपने मित्रों, बान्धवों एवं हितकारियों से परामर्श लेकर कार्य करता है। रामायण में स्वेच्छाचारी व्यक्ति एवं राजा की तीव्र भर्त्सना की गई है। राजा पर यह बन्धन था कि वह किसी भी गूढ़ विषय पर न तो अकेले विचार करे और न बहुत लोगों के साथ। राजा से यह आशा की जाती थी कि वह तीन व चार मन्त्रियों के साथ सबको एकत्र करके अथवा सबसे अलग-अलग मिलकर परामर्श करे। इस प्रकार परामर्श लेने के बाद राजा किसी विषय को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत करता था। मन्त्रियों से यह आशा की जाती थी कि वे निष्पक्ष एवं निर्भय होकर राजा को परामर्श देंगे। यद्यपि सामान्य रूप से मन्त्रिमण्डल में राजा की बात मान ली जाती थी, किन्तु साथ ही मन्त्री का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह राजा को अनुचित कार्य करने से रोके। रावण के अनेक मन्त्रियों द्वारा समय-समय पर उसका विरोध किया गया। रामायण में उस निर्णय को उत्तम कहा गया है जिसमें शास्त्रोक्त दृष्टि से सब एकमत होकर कार्य में प्रवृत्त हों। जब प्रारम्भ में मतभेद होकर अन्त में कर्त्तव्य विषयक निर्णय एक हो जाता है तो उसे मध्यम श्रेणी में माना गया है। किन्तु जब भिन्न-भिन्न बुद्धि का आश्रय लेकर विचार किया जाये तथा एकमत होने पर भी जिससे कल्याण की सम्भावना न हो, उस निश्चय को अधम कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि रामायण काल में भी किसी निर्णय के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि सभी मन्त्री एकमत हों। यही कारण है कि अधिक बोलने वाले तथा अत्यधिक विरोध करने वाले परामर्शदाता को दण्डनीय समझा जाता था, ऐसी स्थिति में उसे सभा अथवा परिषद् से निष्कासित कर दिया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि भले ही उस युग में आज की भाँति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का विकास न हुआ हो किन्तु फिर भी मन्त्रिमण्डल की एकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अत: विरोध करने वाले मन्त्री को मन्त्रिपरिषद् से अलग होना पड़ता था। वाल्मीकि रामायण की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया सर्वात्मना वेदानुकूल है और उसी से अनुप्राणित भी है।

प्राचीन भारत में अमात्य व्यवस्था (रामायण के विशेष संदर्भ में)

कुणाल मेहता
इतिहास विभाग
डी.ए.वी.कालेज जालन्धर

प्रस्तुत शोध पत्र में प्राचीन भारत में अमात्य व्यवस्था (रामायण के विशेष संदर्भ में) शोध कार्य प्रस्तुत किया गया है। इस शोध पत्र में अमात्य के महत्व, उनके कार्यों, उनके गुणों, उनकी नियुक्ति, मंत्रणा प्रणाली, मन्त्री परिषद्, प्रधान मन्त्री की स्थिति तथा मन्त्री के राजा से संबंधो जैसे विषयो का अध्ययन किया है। इस अध्ययन का यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था में अमात्य का बहुत महत्वपूर्ण पद था और यह अमात्य राजा को न केवल सलाह ही देते थे बल्कि हर अवसर पर उनको सहयोग भी प्रदान करते थे तथा अमात्य व्यवस्था तभी सफल कहलाती थी जब राजा और अमात्य मिलकर परम्पर सहयोग से कार्य करते थे।

वाल्मीकि रामयण में वैदिक न्याय दण्ड व्यवस्था

डॉ० सुखदा सोलंकी
रीडर संस्कृत विभाग
डी.ए.वी. (पी.जी) कॉलेज देहरादून

महर्षि वाल्मीकि रचित आदिकाव्य रामायण भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण अवलोकन करने वाला काव्य है। भारतीय धर्म, संस्कृति, समाज, शासन व्यवस्था का अत्यन्त विशाल वर्णन रामायण महाकाव्य में है जो वेदों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी असम्भव है रामायण धार्मिक ग्रंथों की श्रेणी में प्रमुख स्थान रखता है।[1]

रामायण के प्रत्येक क्रिया-कलापों का प्रमुख तत्त्व धर्म ही है। चाहे वह शासन व्यवस्था हो, समाज हो या दण्ड व्यवस्था हो, सभी में धर्म का तत्त्व प्रधान रूप से दृष्टिगोचर होता है। (धर्मो विश्वस्य जगता प्रतिष्ठा) सरल शब्दों में यदि कहा जाये तो धर्म के विपरीत आचरण रामायण काल में दण्डनीय अपराध था। जो मनुष्य धर्म के विरुद्ध आचरण करता था उसे राजा द्वारा दण्ड दिया जाना निश्चित था।

धर्म मानव की प्रत्येक क्रिया में अनुभूत दिखाई पड़ता है। कथानायक राम स्वयं एक धार्मिक पुरुष है। "रामोविग्रहवान् धर्म:" तो उनका समाज धार्मिक होना स्वाभाविक था। इसी कारण रामायण काल की दण्ड व्यवस्था में भी धर्म का तत्त्व ही प्रधान है। जिस प्रकार अपराध के कई प्रकार होते है। उसी प्रकार रामायण में दण्ड का स्वरूप भी अनेक प्रकार का है। एक वाग्दण्ड, दूसरा शारीरिक दण्ड, आर्थिक दण्ड, प्राणदण्ड आदि।

रामायण में दण्ड को सर्वथा धर्मानुकूल माना गया है। जो राजा धर्मानुकूल दण्ड का पालन करता है। वही उत्तम सुखों को प्राप्त करता है तथा उत्तम जन्म प्राप्त करता है।[2]

राजा से अपने अपराध के लिए दण्ड पाने वाले व्यक्ति अपने सभी पापों से मुक्त होकर पुण्यात्मा मानव की भांति स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है।

---

1. ब्रह्मक्षमहिसन्तस्ते कोशं सम्पूरयन्
   सुतीक्ष्णदण्डा: सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् (13) बालकाण्ड (बाल्मीकि रामायण)
2. राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
   महामतिदर्ण्डधर: प्रजानाम्
   आवाप्य कृजत्स्नां वसुधां यथाव-
   दितश्च्युत: स्वर्गमुपैति विद्वान् (75) अयोध्याकाण्ड

वनवासी राम की राजनीतिक चिन्तना

डॉ० ब्रह्मदेव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वाल्मीकि रामायण मानव को सच्चे अर्थों में प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति का सदुपदेश देती है। वह आत्मिक उन्नति का हो अथवा पारिवारिक, सामाजिक, देश वा राष्ट्र हर क्षेत्र के उन्नयन हेतु यहाँ सूत्र बिखरे पड़े हैं। वह राजा को राजनीति के सूत्र भी सिखलाती है। राज्य-संचालन करते हुए राजा अथवा एक नेता को क्या ध्यातव्य है इसका उपदेश, दिशा-निर्देश वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्डगत 100 वें सर्ग में प्रश्नवचन के माध्यम से राम द्वारा उपस्थापित हैं। ऐसे राम जिन्हें राज्य-संचालन का अभी कोई विशेष अनुभव नहीं, फिर भी परम्परया अथवा आचार्यों से प्राप्त गूढ राजनीतिशास्त्र की दक्षता से अनुस्यूत प्रश्नावली उनकी राजनैतिक विचक्षणता के दिग्दर्शन करवाती है। वनवास प्राप्त राम की दृष्टि में विजय का मूल 'गुप्त मन्त्रणाएँ' हैं - **मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव** (अयोध्या० 100-16)। उनको भी तत्काल क्रियात्मकरूप राजा के साफल्य का परिचायक होता है। अमात्य-चयन भी दूरदर्शी राजा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। क्योंकि कुशल, मेध ावी अमात्य हर प्रकार की सुखसम्पदा को बढाने वाला होता है। यथायोग्य भृत्यों को कार्यों में नियुक्त करना भी राजा की दक्षता है-

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः॥

अयोध्या० 100-25

सैनिक भृत्यों को समय पर वेतन आदि से सत्कृत करना भी श्रेष्ठ राजा से अपेक्षा की गई है-

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न बिडम्बसे॥

अयोध्या० 100-32

दूत की नियुक्ति भी जानपदवासी, विद्वान्, प्रतिभासम्पन्न, कुशल, देश, राष्ट्र की वार्ता को यथोचित कहने वाले व्यक्ति की की जानी चाहिए-

कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान्।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः॥

अयोध्या० 100-35

राज्य संचालन के अतिरिक्त प्रजाजनों के साथ कैसा व्यवहार राजा करे, कर और दण्ड व्यवस्था कैसी हो, चातुर्वर्ण्य का सम्मान कैसे हो। राजा के द्वारा धर्म, अर्थ, काम कहीं परस्पर बाधित न हों इत्यादि राजधर्म से सम्बन्धित राम की चिन्तना जहाँ प्राचीन काल में समाज को उदात्तता देने वाली थी वहीं आज भी वह उतनी ही प्रासंगिक है। यही इस लेख का वर्ण्य विषय है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक न्याय दण्ड व्यवस्था

डॉ० लेखराज शर्मा
व्याख्याता दर्शनशास्त्र
सनातन धर्म आदर्श संस्कृत महाविद्यालय
गां0 व पो0 डोहगी, त0 बंगाणा
जिला ऊना (हिमाचल प्रदेश)

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महितले।
तावत् रामायणकथा प्रचलिष्यति भूतले।।

लौकिक संस्कृत में दिव्य राम कथा की श्रोतस्विनी प्रवाहित कर करोड़ों हृदयों को पावन करने वाले महर्षि वाल्मीकि हम सबके वन्दनीय हैं, संस्कृति, सभ्यता, दर्शन, शिक्षा, राजनीति आदि विविध विषयों का महर्षि ने मनोहारी चित्रण किया है।

आज भी कोटि-कोटि भारतीय रामायण में प्रतिपादित राम-राज्य की प्रार्थना करते हैं, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जीवन के अन्तिम क्षण तक राम-राज्य का सपना देखते रहे और हे राम, हे राम कहते हुए उन्होंने प्राणों का परित्याग किया। आज जब कि राजनीति छल, छद्म, भ्रष्टाचार, जातिवाद प्रान्तवाद और आतंकवाद से चरमरा रही है ऐसे में हमारी दृष्टि सहज ही रामायण की राजनीति पर जाती है, प्राचीन काल में राजनीति शब्द का प्रयोग न होकर राजधर्म शब्द का प्रयोग किया जाता था, राजधर्म में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का भी विकास माना जा सकता है राजशेखर के अनुसार मनुष्य दण्ड भय के फलस्वरूप ही अपने कार्यों में संलग्न रहता है।

वस्तुतः समाज को यदि दण्ड का भय न हो तो वह निश्चित रूप से विशृंखलित हो जायेगा। प्राचीनकाल से ही राजा धर्म अथवा कानून का संरक्षक माना जाता था और उसकी मर्यादा अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही उसे दण्ड देने का अधिकार प्रदान किया गया था। मनु के अनुसार प्रजापति ने प्रजा की रक्षा हेतु राजा की सृष्टि की और उसकी सहायता के लिए दण्ड की। रामायणकालीन समाज में भी न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का समुचित रूप से प्रयोग करना ही राजा अपना प्रमुख कर्त्तव्य व पारलौकिक समृद्धि का साधन मानता था जैसे-

अपराधिषु यो दण्डः पातयते मानवेषु वै।
स दण्डो विधिवन्मुक्तः स्वर्गनयति पार्थिवम्।।

-वा0रा0 7/78/9

तत्कालीन समाज में यह मान्यता थी कि जो राजा प्रतिदिन पुरवासियों के न्याय सम्बन्धी कार्य नहीं करता वह निःसंदेह सब ओर से निश्छिद्र अतएव वायु संचार से रहित घोर नरक में पड़ता है। जैसे-

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने-दिने।
संवृत्ते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः।।

-वा0रा0 1/7/16

अतः निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कार्यों में था। राजा ही न्याय का स्रोत माना जाता था तथा प्रारम्भिक एवं अन्तिम न्यायालय प्रजा के लिए राजा ही था।

स्मृतियों का कहना है कि राजा अकेला न्याय नहीं कर सकता। उसे लोगों की सहायता से न्याय करना चाहिए। मनु एवं याज्ञवल्क्य का मत है कि राजा को बिना भडकीले वस्त्र धारण किये हुए विद्वान् ब्राह्मणों व मन्त्रियों के साथ न्याय कक्ष में प्रवेश करना चाहिए तथा उसे क्रोधपूर्ण मनोभाव एवं लालच से दूर हटकर धर्मशास्त्रों में कहे गये नियमों के आधार पर न्याय करना चाहिए। रामायण काल में भी उपर्युक्त मान्यता का पालन किया जाता था एवं शास्त्र सम्मत दृष्टि से ही अपराधी को दण्ड दिया जाता था। किष्किन्धा काण्ड में राम बाली से कहते है कि तुमने जैसा पाप किया है वैसा ही पाप प्राचीन काल में एक श्रमण ने किया था। उसे मेरे पूर्वज मान्धाता ने अत्यधिक कठोर दण्ड दिया था, जो शास्त्रों के अनुसार भी अभीष्ट था। यथा-

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम्।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया।।

-वा0रा0/4/18/33

अन्य कतिपय स्थलों पर भी राजा के द्वारा परम्परा से स्थापित राजधर्म के अनुसार न्याय शासन करने का वाल्मीकि ने उल्लेख किया है। उस समय में यदि श्रेष्ठ व्यक्ति भी घमंड में आकर कर्त्तव्यता-अकर्त्तव्यता का ज्ञान खो बैठे और कुमार्ग पर चलने लगे तो उसे भी न्याय संगत दण्ड देना आवश्यक माना जाता था। इस बात का स्पष्ट संकेत शत्रुघ्न की भरत के प्रति कही गई इस उक्ति से हो जाता है कि जब राजा दशरथ एक नारी के वश में होकर बुरे मार्ग में आरूढ़ हो गये थे तब न्याय और अन्याय पर विचार करके उन्हें पहले ही कैद कर लेना चाहिए था। सहायकों के रूप में भी राजा योग्य न्यायाधीशों द्वारा जांच पड़ताल कराए बिना अभियुक्त को दण्ड नहीं देता था क्योंकि समाज मे यह मान्यता प्रचलित थी कि निरपराध होने पर भी जिन लोगों को मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उनकी आंखों से जो आंसू निकलते हैं वे पक्षपात पूर्ण शासन करने वाले राजा के पुत्र और धन-धान्य का नाश कर डालते हैं। साथ ही राजा का यह भी कर्त्तव्य था कि भ्रष्ट न्यायाधीशों के कारण या अन्य किसी कारणवश जैसे लोभ-लालच आदि द्वारा अपराधी व्यक्ति दण्ड पाने से कहीं बच न जाए। असहाय, दरिद्र और साधन सम्पन्न धनी के बीच मुकदमों का फैंसला निष्पक्षता से कराने का दायित्व राजा पर ही था।

रामायणकालीन न्याय एवं दण्ड पद्धति

डॉ० रेखा सेमवाल
संस्कृत विभाग
हे0न0ब0ग0 विश्वविद्यालय
परिसर-बादशाहीथौल, टिहरी-गढ़वाल

संस्कृत वाङ्मय में प्राचीनकाल से वर्तमान पर्यन्त शाश्वत रूप से न्याय-दण्ड और प्रशासन की व्यवस्था चलती आ रही है। निष्पक्ष न्याय करना, अपराध करने वालों को उचित दण्ड देना और निपराध को दण्ड से मुक्त करना ही न्याय का विशेष प्रयोजन है। भारतीय न्याय व्यवस्था का प्रथम परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक युग में राजा स्वयं न्याय करता था। राजा कुछ व्यक्तियों को प्रजा के कृत्यों को जानने के लिए नियुक्त करता था। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ नियम बने हुए थे। जो व्यक्ति उन नियमों का उल्लंघन करता था उनको उचित दण्ड दिया जाता था। तत्कालीन समाज में विविध प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड-व्यवस्था थी और साथ ही लोगों के परस्पर विवाद उपस्थित होने पर न्यायाधीश से न्याय कराने की रीति प्रचलित रही है।

न्याय-पद्धति- रामायण में भी न्याय-पद्धति पर विशद विवेचन प्राप्त होता है। तत्कालीन न्याय-पद्धति बहुत ही सुन्दर एवं व्यवहार कुशल थी। उस समय में भी मुकद्दमों की सुनवाई और उसका निर्णय स्वयं राजा करता था। राजसभा में वादी और प्रतिवादी सभी निधड़क पहुँच जाते थे, और राजा निष्पक्ष होकर न्याय करता था। तत्कालीन समय में भी सभी लोग आपस में मिलजुल कर प्रेमपूर्वक रहते थे, इसलिए लड़ाई-झगड़े की नौबत कम आती थी। फिर भी जो भी समस्या आती थी उस पर राजा गम्भीरतापूर्वक विचारकर निर्णय लेता था। राजा अपराध के अनुसार ही दण्ड देता था।

इस कारण जनता कानून का उल्लंघन नहीं करती थी। उस समय न्याय का मुख्य सिद्धान्त था कुशल एवं योग्य न्यायाधीशों द्वारा जाँच किये बिना किसी अपराधी को दण्ड न दिया जाना। राजा न्यायाधीशों के निर्णय के बाद स्वयं भी उन समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार था और तत्पश्चात् ही दण्ड का निर्धारण करता था।

दण्ड-विधान- तत्कालीन समय में न्याय की अवस्थिति दण्ड पर निर्भर थी। अपराध प्रमाणित होने पर न्यायधीश अथवा राजा साधारण दण्ड से लेकर प्राणदण्ड तक दे सकता था। अपराधों में मुख्य अपराध थे-कुमारियों का अपहरण तथा बलात्कार, राजद्रोह, चोरी, डकैती, ब्रह्महत्या, न्यास-सम्पत्ति का दुरुपयोग, आग लगाना, बालकों स्त्रियों को पीड़ित करना, युद्ध से मुख मोड़ना आदि। रामायण में बन्धन और 'बद्ध' का प्रयोग करागारों की ओर संकेत करता है। रावण के द्वारा जब सीता का हरण किया गया तब सीता ने यातना देने की पद्वतियों का उल्लेख किया है और सीता ने यह निश्चय भी अपने मन में किया कि मुझे रावण चाहे जितने भी कष्ट दें, पर मैं रावण के प्रेम-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करूँगी।

छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता।
रावणे नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम्।। वा.रा. ५/२६/१०

यहाँ पर सीता ने शूल से छेदना, तलवार से काटना, आग से जलाना आदि अनेक कठोर दण्डों का उल्लेख किया है।

वाल्मीकि रामायण तथा रामचरितमानसान्तर्गत राजा के स्वरूप-वर्णन में वेदों का प्रभाव

डॉ० मृदुल जोशी
प्रवक्ता (हिन्दी विभाग)
कन्या गु0 महाविद्यालय हरिद्वार

वैदिक राज्य-व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था है। इस व्यवस्था के संचालक राजा के स्वरूप का विस्तृत वर्णन हमे वेदों में प्राप्त है। इनमें राजा के अन्तर्बाह्य गुणों का वर्णन, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण, दिनचर्या, रण-कौशल आदि के यत्र-तत्र संकेत प्राप्त होते हैं। वेद के अनेक सूक्तों में 'अग्नि' और 'इन्द्र' शब्द राजा या सम्राट्परक अर्थो में लिये गए हैं। इनके विशेषण रूप में प्रयुक्त अनेक शब्द भी राजा के वैयक्तिक गुणों का आदर्श हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

अभिप्रेहि माप वेन उग्रश्चेता सपत्नहा।
आतिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधिब्रवन्॥

(अथर्ववेद 4/8/2)

"राजा इन्द्र का अंश है, वह सोम का अंश है, वरुण का अंश है, मित्र का अंश है, यम का अंश है, पितरों का अंश है और सविता देव का अंश है।" (अथर्व 10/5/9-14, अथर्व 10/5/25-35)

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक आर्यो ने राजा में प्रशासनिक क्षमता एवं योग्यता के साथ-साथ बल, अदम्य साहस, शौर्य, पौरुष आदि गुणों का होना भी आवश्यक माना है। निश्चित रूप से इन-इन देवों की विशेषताओं की आकांक्षा राजा से की जाती थी। अग्नि (अग्रणी) में नेतृत्व का गुण, वायु (वातिगच्छति) गति का गुण, सूर्य में तपाने का गुण है। इसी प्रकार राजा में भी नेतृत्व, गति और शत्रुओं को तपाने अर्थात् नष्ट करने का गुण विद्यमान होना चाहिए। राजा इन्द्र (इदि ऐश्वर्य) का अंश है क्योंकि वह स्वामी है। वह सोम का अंश है क्योंकि चन्द्रमा के समान वह सबको आनन्दित करने वाला है। उसमें वरुण (वृ-व्याप्त करना) का अंश है क्योंकि वह अपने कार्यों से प्रजाओं को व्याप्त करता है। उसमें यम का अंश है क्योंकि सबको दण्ड से नियमित करता है। पितरों का अंश है क्योंकि पितरों के समान प्रजा पालक है, सविता का अंश है क्योंकि सबको सत्तकर्मो के लिए प्रेरित करता है। ऐसे अनेक उद्धरण राजा की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए देखे जा सकते हैं।

विश्व की समस्त भाषाओं में रचित महाकाव्यों में से वाल्मीकि प्रणीत 'रामायण' सर्वोत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। रामायण में जिन नैतिक आदर्शो, दिव्य एवं उदात्त भावनाओं का वर्णन है, अन्यत्र दुर्लभ है। वाल्मीकि ने राष्ट्र के हित की चिन्ता की है। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। एक आदर्श राजा प्रजा का रंजक, उनका हित चिन्तक तथा राष्ट्र का उन्नायक होता है। अयोध्याकाण्ड के 67 वें सर्ग का **'नाराजके जनपदे'** के गायन में भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का प्रकाशन है। वाल्मीकि

का मानना है कि राजा राष्ट्र के धर्म तथा सत्य का उद्भव स्थल है। (**अयोध्याकाण्ड ६७/३३-३४**)। इसलिए राजा के अभाव में राष्ट्र का न मंगल है न ही कल्याण। एक राजा में जिन-जिन गुणों का होना वेदों में अपेक्षित है, वह वाल्मीकि के दशरथ, जनक, राम इत्यादि राजाओं के चरित्रों में परिलक्षित होता दिखाई पड़ता है।

नैव लोभान्न मोहाद्वा नह्य ज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः॥

(अयोध्याकाण्ड 109/17)

अथवा **'रामो द्विर्नाभिभाषते'**- इत्याादि श्लोकों में राजा की सत्यनिष्ठा दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार **"सर्वशास्त्रार्थततत्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् सर्वलोक प्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः,"** (**बालकाण्ड प्रथम सर्ग-१५**) के आधार पर राजा के अन्य वांछनीय गुणों पर प्रकाश पड़ता हैं।

'नानापुराणनिगमागं सम्मतं यद्, रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' का उद्घोष करने वाले तुलसी पर वाल्मीकि रामायण का व्यापक प्रभाव हैं। अतः तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम में भी एक आदर्श राजा के गुणों की झाँकी प्राप्त होती है। दशरथ, जनक इत्यादि पात्र भी एक आदर्श शासनाधिपति के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

प्रस्तुत शोध-पत्र में वाल्मीकि व तुलसी के राजा दशरथ व राजा राम आदि के चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, उनके परस्पर साम्य-वैषम्य को निरखते हुए दोनों पर ही वैदिक प्रभाव को देखने का विनम्र प्रयास किया गया है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक राजनैतिक व्यवस्था

डॉ० रुचि कुलश्रेष्ठ
प्रवक्ता-संस्कृत
आर.सी.ए.गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, मथुरा

आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण वैसे तो एक धार्मिक ग्रन्थ है, परन्तु इसमें उच्चकोटि की राजनीति एवं राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन आया है, जिसमें राजा के गुण-दोषों के साथ बताया गया है कि उसे प्रजा के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। मन्त्रियों के साथ किस प्रकार मन्त्रणा की जानी चाहिए ताकि अपने राज्य एवं प्रजा की उन्नति करना सम्भव हो सके। सेनापति का चुनाव उसकी विशेष योग्यता के अनुसार किया जाना चाहिए जिससे राज्य की सुरक्षा हो सके तथा राज्य में रहने वाले स्वयं को सुरक्षित समझे। राजनीति के सन्दर्भ में ही एक स्थल पर कहा गया है-

राजा, तु धर्मेण हि पालयित्वा, महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम्।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यक्षाव, दितश्च्युतः स्वर्गमुपैतिविद्वान्॥

अयोध्या काण्ड 76/100

अर्थात्, इस प्रकार धर्म के अनुसार दण्ड धारण करने वाला विद्वान् राजा प्रजा का पालन करके समूची पृथ्वी को यथावत् रूप से अपने अधिकार में कर लेता है तथा देहत्याग के पश्चात् स्वर्गलोक में जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रामायणकालीन राजनैतिक व्यवस्था वर्तमान राजनीतिज्ञों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। धर्मानुसार नीतियों का पालन करते हुए कोई भी शासक स्वयं के साथ-साथ अपने राष्ट्र एवं प्रजा दोनों को उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकता है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक राज्यव्यवस्था

डॉ० कंचन गुप्ता
नई टिहरी

प्राचीन वैदिक ग्रन्थ ही हमारी अमूल्य निधि हैं। वेद अक्षय ज्ञान का स्रोत होने के साथ ही हमारे सर्वविधि कल्याण का एकमात्र आश्रय हैं, किन्तु वेद साधारण लोगों के उपयोग की वस्तु नहीं हैं क्योंकि इनके अति गम्भीर एवं गूढ़ अर्थो को समझ पाना सर्वसाधारण के वश की बात नहीं है। अतः घर में ज्ञाननिधि के रहते हुए भी हम उसके उपयोग से वंचित न रहें इसलिए वेद भगवान् करुणा करके महर्षि वाल्मीकि के द्वारा रामायण के रूप में अवतीर्ण हुये – **'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना'** इस प्रकार वेद का ही सर्वलोकहितकारी संस्करण वाल्मीकि रामायण है।

वाल्मीकि रामायण में एक आदर्श राज्य-व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है जो वैदिक राज्य व्यवस्था से काफी समानता रखती है। रामायण में वर्णित रामराज्य तो सुशासन का पर्याय माना जाता है। विवेच्य शासन-प्रणाली वैदिक शासन-प्रणाली की भांति राजतन्त्रात्मक थी। शासन व्यवस्था का प्रमुख राजा होता था। वाल्मीकि के अनुसार राजा को सत्यवादी, विचारशील, विवेकशील, बुद्धिमान् एवं शास्त्रानुसार व्यवहार करने वाला होना चाहिए। राजा की सहायता के लिए उसके मंत्रिमण्डल में राजनीति विशारद्, शास्त्रज्ञ एवं निःस्वार्थी आठ मुनिगण हुआ करते थे। राजा प्रजा को अपनी सन्तान मानकर व्यवहार करता था। वैदिककाल की भांति जनतंत्र की भावना एवं जनता का अपने राज्य शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। लोक प्रसन्नता के लिए ही दशरथनन्दन श्रीराम ने अपनी प्राणप्रिया भार्या का भी परित्याग कर दिया था, वहीं प्रजा द्वारा राजा को ईश्वरीय प्रतिभूति के रूप में देखा जाता था।

शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए मंत्रिपरिषद् होती थी। जिसका प्रधान सदस्य पुरोहित होता था। जो राजशासन को संचालित करने में राजा की मदद करता था। वैदिक शासन व्यवस्था में भी पुरोहित का उल्लेख प्राप्त होता है जो राजा का पथ-प्रदर्शन, मंत्रदृष्टा व स्तुतिकर्ता होता था।

वैदिक व्यवस्था की भांति रामायण में भी पुरोहित का पद बहुत सम्मानजनक था। मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त 'पौर', 'जानपद' आदि अन्यान्य समितियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त गण, श्रेणी, नैगम आदि कुछ अन्य संस्थाये भी शासन कार्य में सहयोगी प्रदान करती थी। विचार स्वातन्त्र्य का अधिकार भी रामायणकालीन संस्कृति में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

सैनिक विभाग की व्यवस्था राजा स्वयं मंत्रियों की सहायता से करता था। सेना का संचालन सेनापति करता था, किन्तु युद्ध सम्बन्धी अन्तिम निर्णय राजा का ही होता था। वैदिक एवं रामायण दोनों कालों में युद्ध संस्कृति के प्रसार, आत्मरक्षा एवं विजय हेतु किये जाते थे। इस प्रकार प्रकृत शोध पत्र में रामायणकालीन राज्यव्यवस्था के अन्तर्गत राजा, उसके अधिकार एवं कर्तव्य, प्रशासन-तन्त्र व सैन्य सम्बन्धी विषयों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

रामायणकालीन दण्ड व्यवस्था - वर्तमान संदर्भों में

डॉ० (श्रीमती) सरिता भार्गव
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजकीय महाविद्यालय, कोटा (राज.)

मनुष्य अपनी अहंमन्यता, स्वार्थ एवं शैतानी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करे, इस भावना से प्रेरित होकर समाज के प्रत्येक व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित करने हेतु कुछ ऐसे नियम बनाए जाते हैं जो समाज में शान्ति, एकता, भाई-चारा और सामाजिक सहयोग को प्रोत्साहन देते हैं तथा समाज के हर व्यकित को स्वतन्त्रता, जीवन एवं अस्तित्व की सुरक्षा प्रदान करते हैं।

रामायण में ऐसे नियमों, कानूनों, विधियों को धर्म द्वारा परिभाषित किया गया है। यहाँ धर्म से तात्पर्य किसी संप्रदाय, जाति अथवा वर्ग विशेष से न होकर लोकाचार, लोकवृत्त, सदाचार, परम्परा, रीति-रिवाज, मर्यादा, आर्ष वाक्य इत्यादि नीति नियामक तत्वों से है। रामायण में दिग्घोष किया गया है कि जो भी लोकाचार से भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करेगा उसे रोकने के लिये दण्ड के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

न हि लोक विरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र न पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥

कि. १८/२१

राजा के प्रमुख गुणों का उल्लेख करते हुए भी कहा गया है

पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चापकारिषु। कि.७/२९

निग्रह एवं अनुग्रह को भी राजवृत्ति कहा गया है।

प्लेटो इत्यादि महान् दार्शनिकों ने भी अपराधियों के उपचार हेतु दण्ड को ही एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार किया है।

वर्तमान न्याय-व्यवस्था में दण्ड के चार सिद्धान्त देखे जा सकते हैं।

1. प्रायश्चित का सिद्धांत (Theory of expiation)
2. प्रतिशोधात्मक सिद्धांत (Retributive Theory)
3. प्रतिरोधात्मक सिद्धांत (Deterrent Theory)
4. निरोधात्मक सिद्धांत (Preventive Theory)
5. सुधारात्मक सिद्धांत (Reformative Theory)

रामायण में प्रथम चारों प्रकार के सिद्धांत देखे जा सकते हैं। लेकिन यहाँ अपराधी **'पापी' 'अकृतज्ञ' 'दोषी'** की संज्ञा से अधिहित होने के कारण यहाँ सुधार की बातें नहीं है अपितु उसे दण्डित कर आत्मा के विशुद्धीकरण की बातें कही गई हैं।

दण्ड के स्वरूप के अन्तर्गत रामायण में प्रमुखतः अङ्गभङ्ग या अङ्ग विकृति, प्राणान्तक दण्ड, उपांशुदण्ड निवार्सन, अर्थदण्ड देखे जाते हैं।

दण्ड के निर्धारण के विषय में राजा को परोक्ष एवं प्रत्यक्ष वृत्ति को अपनाना चाहिए।

परोक्षया वर्तमानो वृत्या प्रत्यक्षतया तथा। अयो. ३रु४३

दण्ड की मात्रा अपराधी के बलाबल पर आधारित थी। अपराधी पाये जाने पर पुत्र व पिता तक को दण्डित करने का विधान था।

दण्ड को अधिक उग्र नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे प्रजा के विद्रोह का भय उपस्थित हो सकता है। निरपराधी को दण्डित नहीं करने का उल्लेख रामायण में प्राप्त होता है कि निरपराधी का आंसू राजा को पुत्र एवं पशु सहित नष्ट कर देता है। राजा यदि दण्ड देने में प्रमाद करे तो उसके लिए भी प्रायश्चित का विधान है।

अपराधी को स्वयं ही राजा के सम्मुख जाकर अपराध का दण्ड भोगकर निर्मल अन्तःकरण वाला हो जाना चाहिए।

दण्डेच यः पातयेद् दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते।
कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः॥ कि. १८/६१

वर्तमान समाज में जहाँ नैतिक मूल्यों का, आस्थाओं का, सामाजिक एवं पारिवारिक उच्चादर्शों का, चारित्रिक गुणों का दिनों-दिन अवमूल्यन होता जा रहा है। वहीं रामायणकालीन राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक, आदर्श मानव में परस्पर सौहार्द सामंजस्य, बन्धुत्व, प्रेम, सद्भाव, सह-अस्तित्व आदि गुणों का विकास कर समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की भावना को सुदृढ़ कर सकते हैं।

रामायण एवं वैदिक परम्परा में राज्य व्यवस्था

डॉ० हरि प्रकाश शर्मा
संस्कृत प्रवक्ता
गुरु नानक खालसा महाविद्यालय, यमुनानगर

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण की प्रतिष्ठा वेदतुल्य है। रामायण को संस्कृत साहित्य के आदिकाव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। रामायण को आधार बनाकर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। इस ग्रन्थ का एक-एक अक्षर महापाप का नाश करने वाला है। रस, अलंकार आदि से युक्त यह महाकाव्य अत्यधिक सुन्दर संवादों वाला है। पुराणों में भी रामायण के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। हनुमान् की वार्तालाप-कुशलता, श्रीराम की प्रतिपादनशैली, दशरथ की सम्भाषणपद्धति अत्यधिक सुन्दर है। इस ग्रन्थ में महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में ज्योतिष, तन्त्र, आयुर्वेद, राजनीति आदि शास्त्रों की प्राचीनता एवं समीचीनता ज्ञात होती है। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र आदि की पर्याप्त सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। वाल्मीकि की राजनीति अत्यन्त उच्चकोटि की है। आदर्श राजा के कर्तव्यों का वर्णन रामायण में विशद रूप से किया गया है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित राज्य के सप्ताङ्ग

डॉ० अल्पना शर्मा
आर.ए. (संस्कृत), वनस्थली विद्यापीठ, टोंक, राजस्थान

वाल्मीकि रामायण संस्कृत का आदि महाकाव्य है। इस महाकाव्य की कथावस्तु सात काण्डों में विभक्त है- बालकाण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्धकारण एवं उत्तर काण्ड। इन काण्डों में कवि ने मानव-जीवन के विविध पक्षों को उकेरा है। उन्होंने रामराज्य के माध्यम से आदर्श राज्य का रूप प्रस्तुत करते हुए राजनीति के प्रत्येक पहलू को स्पष्ट किया है। राज्य को नैसर्गिक स्वरूप प्रदान करने वाले अंगों या अवयवों का विवेचन रामायण में उपलब्ध होता है। मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की भाँति वाल्मीकि भी राज्य के सप्ताङ्ग मानते हैं और उन्होंने राज्य के राजा, अमात्य, जनपद, कोष, पुर, दण्ड और मित्र ये सात अंग स्वीकार किये हैं।

अयोध्या काण्ड में राम गुह से कहते हैं कि तुम सेना, कोष, दुर्ग और जनपद के विषय में सदैव सावधान रहना क्योंकि राज्य का पालन करना कठिन कार्य है।

इसी प्रकार किष्किन्धाकाण्ड के उन्तीसवें सर्ग में हनुमान सुग्रीव से चर्चा करते हैं कि जिस राजा का कोष, दण्ड, मित्र और स्वयं राजा ये सब समान रूप से वश में रहते हैं। ऐसा राजा विशाल राज्य का पालन करने में समर्थ रहता है।

अत: रामायण का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि सप्ताङ्गों से निर्मित राज्य का स्वरूप मर्यादित राजतन्त्र था। समग्रत: महर्षि वाल्मीकि को मानव कल्याण साधक राजनीति का पूर्ण ज्ञान था।

वाल्मीकि रामायण में राजव्यवस्था

सवितुर प्रकाश गंगवार
दुर्गाप्रसाद, वीसलपुर
पीलीभीत (उ0प्र0)

संस्कृत साहित्य के आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में तत्कालीन राजनैतिक एवं शासन व्यवस्था का अलौकिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। राज्यों की प्रशासनिक एवं आर्थिक स्थिति अच्छी थी। राज्य की सर्वोच्च शक्ति 'राजा' था, प्रजा की शान्ति एवं समृद्धि का उत्तरदायित्व राजा पर था, वह अपने राज्य की उत्तम व्यवस्था के लिए विभिन्न मन्त्रियों, सचिवों एवं सहायकों की नियुक्ति करता था। संकट काल में राजमन्त्री एवं राजगुरु अपने नीतिगत विचारों से राजा को उचित परामार्थ देते थे। राजा प्रजा की वाह्य व आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करता था, राजा का आदेश सिद्ध था, न्याय एवं दण्ड देने का अधिकार राजा को था। आर्थिक सुदृढ़ता के लिए सामान्य नरेश सदा कर देने के लिए तत्पर रहते थे। राजा नीतिनिपुण, विनयशील, महान् पराक्रमी, शान्ति प्रिय, धैर्यवान्, उत्तम व्रत का पालक, प्रजावत्सल, शास्त्र एवं शस्त्र विद्या में पारंगत होता था। गुप्तचरों की नियुक्ति से राजा सदैव राज्य की विपत्तियों एवं समस्याओं से अवगत रहता था, शत्रु के बलाबल एवं नीति को जानने में समर्थ होता था।

राज्य की सुरक्षा राज्य की स्थिति पर निर्भर होती है, राज्य, नगरी एवं दुर्ग आदि के चारो ओर गहरी खाईं खुदी थी, जिसमें प्रवेश करना या लांघना अत्यन्त कठिन था-

दुर्गगम्भीर परिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्

लंका भी चारों ओर से खाईं एवं समुद्र से घिरी थी, बड़े-बड़े फाटकों पर यन्त्र लगे थे, जो पत्थर आदि फेंकते थे।

राजगुरु राजा को धर्म से विरत होने से रोकते थे, वे सत्मार्गदर्शन सलाह एवं राजधर्म की शिक्षा में निष्णात थे। गुरु वसिष्ठ राजा दशरथ को राजधर्म की प्रेरणा देते हैं-

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षात् धर्म इवापरः।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान् न धर्म हातुमर्हसि॥

राजा अपने राजमन्त्रियों के मध्य मन्त्रणा करके राज्यहित में विशेष कदम उठाता था। दशरथ ने राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव मन्त्रिगणों के समक्ष रखा और कहा-इसके अतिरिक्त कोई हितकर बात हो तो आप लोग विचार करें, क्योंकि मध्यस्थ पुरुषों का विचार एक पक्षीय पुरुष की अपेक्षा विलक्षण होता है-

यद्यप्येषा मम् प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थ चिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया॥

वाल्मीकि रामायण में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था

रविन्द्र कुमार
ग्यासपुर पटेलनगर
डिग्री कॉलेज रोड़, बीसलपुर, पीलीभीत

राज्य के सम्यक् सञ्चालन के लिए आवश्यक है कि सज्जनों, पीड़ितों को न्याय तथा अपराधियों एवं दुष्टों को दण्ड का विधान हो। न्याय एवं दण्ड से राज्य में सुख एवं शान्ति का विस्तार होता है। चोर अधर्मी उद्दण्डी आदि तुच्छ प्रवृत्ति के मानव दण्ड के भय से शान्त हो जाते हैं या शुद्ध चित्त को धारण करते हैं। वाल्मीकि रामायण में भी न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का महत्त्व है। राज्य का सर्वोपरि मुखिया ''राजा'' था। वह ही न्यायविद् एवं दण्डाधिकारी था। परन्तु न्याय एवं दण्ड देते समय मन्त्रियों से परामर्श किया जाता था। राजा के अन्याय एवं अधर्म के प्रति विरोध शान्त कर शास्त्र सम्मत उचित मार्ग दर्शन किया जाता था। श्रीराम न्याय, कुलोचित आचार, दया, धार्मिक आदि गुणों के साक्षात् रूप थे, प्रमाद-शून्य राम पराये मनुष्यों को अच्छी प्रकार जानने वाले थे, यथायोग्य निग्रह एवं विनिग्रह में पूर्ण चतुर थे। राम के इन गुणों को देखकर राजा दशरथ उनका राज्याभिषेक करना चाहते थे, क्योंकि राजा का न्याय जितना प्रसिद्ध होगा वह राज्य भी अपनी समृद्धि से उतनी ही ख्याति अर्जित करेगा। दण्ड के चार भेद-साम दान दण्ड भेद का प्रयोग किया जाता था, अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड दिया जाता था।

राम ने जब वाली को मार कर गिरा दिया, तब वाली राम से रोष प्रकट करते हुए कहता है- इन्द्रिय निग्रह, मन का संयम, धर्म, क्षमा, धैर्य, पराक्रम तथा अपराधियों को दण्ड देना-ये राजा के गुण हैं। परन्तु आपने साधुवेश धारण करके भी असत्य एवं अधर्म से छिपकर मेरा वध किया है और राजधर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन किया है। वाली के प्रश्नों का उत्तर देते हुए राम कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम मोक्ष को स्वयं नहीं जानते। जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन और कनिष्ठ भ्राता की भार्या के पास काम बुद्धि से जाता है, वह बध करने योग्य है। पापी पुरुष तो दण्ड प्राप्तकर शुद्ध होकर स्वर्ग को जाते हैं, परन्तु राजा यदि उचित दण्ड नहीं देता है तो उसे स्वयं उस अपराधी के पाप का फल भोगना पड़ता है-

राजभिधृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते।
राजात्वशासन् पापस्य, तद्वाप्नोति किल्विषम्॥

राजा सुग्रीव के द्वारा सीता को खोजने के लिए अंगद आदि वानरों को एक मास का समय दिया जाता है, जब एक मास में सीता का पता नहीं चलता है, तो अंगद आदि वानर सुग्रीव के मृत्युदण्ड के भय से माया निर्मित गुफा में निवास करने का विचार करते हैं, और सुग्रीव के पास वापस जाने का विचार छोड़ देते हैं, उस समय हनुमान भेदनीति से सभी वानरों को अलग करते हैं

और दण्डनीति से सबको भयदिखलाकर पुनः सीता खोज में प्रवृत्त होते हैं।

रावण द्वारा हनुमान को वध का आदेश दिए जाने पर विभीषण रावण को दूत के प्रति किए जाने वाले दण्ड प्रयोगों का विवेचन करते हैं और दूत को मारने का विरोध करते हैं।

वाल्मीकि रामायण में श्रीराम आदि के न्याय एवं दण्ड के अनेकों दृष्टान्त हैं, राजा की लोकप्रियता उसके न्याय पर आश्रित थी। विश्वामित्र के यज्ञों में राक्षसों द्वारा विध्न डालने एवं मारने के फलस्वरूप राम ने अनेक राक्षसों का वध किया और रामायण कालीन समाज एवं देवलोक को भयमुक्त कर प्रसन्नचित्त एवं आनन्दित किया।

रामायण तथा मानवाधिकार-सम्भावनाएँ एवम् चुनौतियाँ

आशुतोष आङ्गिरस,
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
सनातन धर्म कालेज, अम्बाला छावनी

लोकस्याराधनार्थाय त्यजेयं जानकीमपि की घोषणा करने वाले राम के विषय में रावण ने जब कहा कि 'रामो विग्रहवान् धर्मः' (3-27-13) तो निश्चित ही उनके मन में 'धर्म का कौन सा स्वरूप रहा होगा या धर्म से उसका क्या अभिप्राय रहा होगा? क्या इस धर्म में मानवाधिकार की कोई भावना या तत्त्व रहे होंगे? मानवाधिकार जो कि अपेक्षाकृत नवीन शब्द होने के साथ नई अवधारणा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी है, अपने में बहुत विस्तृत अर्थ समेटे हुए है। मानवाधिकार की अवधारणा का आरम्भिक बिन्दु यदि इस प्रश्न से करें कि 'मानवाधिकार क्या हैं'- तो सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि वे अधिकार जिनका उपयोग या उपयोग करने का अधिकारी प्रत्येक मनुष्य है। और उन अधिकारों की सुरक्षा के लिए प्रत्येक मनुष्य अधिकृत है। इन अधिकारों के विषय में निहित मूल भावना यह है कि सभी पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों के साथ व्यवहार करते हुए उन सभी सिद्धान्तों का सम्मान किया जाना चाहिए, जो किसी न किसी रूप में सभी संस्कृतियों में, समाजों में विद्यमान है। यह सिद्धान्त दो प्रकार के अधिकार समूह को स्वीकृति देता है- प्रथम अधिकार समूह का सम्बन्ध नागरिक और राजनैतिक अधिकारों से है तथा दूसरे अधिकार समूह का सम्बन्ध आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों से है। इन दो प्रकार के अधिकार - समूहों की घोषणा का उद्देश्य भय और याचना से मुक्ति देना है। और इनकी रक्षा ही संसार में स्वतन्त्रता, न्याय और शांति का मूल आधार बन सकती है। इन मानवाधिकारों की सुरक्षा का दायित्व राज्यों का, सरकारों का है। तथा इन अधिकारों की विश्वात्मकता में संदेह का कोई स्थान नहीं है। साथ ही यह जानना रुचिकर होगा कि ये मानवाधिकार विशुद्ध रूप से मनुष्य द्वारा रचित हैं।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक दण्ड-व्यवस्था

श्रीमती श्वेता गुप्ता
शोध छात्रा संस्कृत विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

सामाजिक मान्यताओं के पालन हेतु दण्ड एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। समाज में अव्यवस्था फैलाने वाले दुष्कर्मियों को दण्ड देकर ही समाज का सुयोग्यरूपेण संचालन किया जाता है। मनु के अनुसार प्रजापति ने प्रजा की रक्षा के लिए राजा की सृष्टि की तथा उसकी सहायता के लिए दण्ड की।

वैदिक दण्ड-व्यवस्था का क्रियान्वित स्वरूप वाल्मिकीय रामायण में परिलक्षित होता है। वाल्मिकी में उग्र-दण्ड व्यवस्था के प्रति सहमति का अभाव है। उग्र दण्ड से प्रजा उत्तेजित होकर राजा अथवा मन्त्रियों को अपमानित कर सकती है, अतः यह व्यवस्था उपयुक्त नहीं है।

काच्चिनोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजा।
राष्ट्रे तवावुजानन्ति मन्त्रिणः कैकेयीसुत।।[1]

परन्तु वर्णाश्रम की मर्यादा के पालन हेतु उचित दण्ड का विधान है। शास्त्रानुसार जो प्राणदण्ड पाने के अधिकारी है, उनके वध का भी समर्थन है।

हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति।
युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति।।[2]

ऐसी व्यवस्था की गयी है कि दोषी व्यक्ति को तो दण्ड मिले, परन्तु मिथ्या अपवाद से युक्त श्रेष्ठजनों को न्यायाधीशों के द्वारा परीक्षा किये बिना अथवा लोभ से दण्डित न किया जा सके।

कच्चिदायोऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः।।[3]

रावणादि राक्षसों का वध हो या वाली वध या राज्य संचालंन सर्वत्र दण्ड-व्यवस्था में वैदिक नियमों का अवलम्बन किया गया है। जिनमें से कतिपय प्रधान स्थलों की वैदिक दण्ड व्यवस्था के नियमानुसार विवेचना करने का प्रयास शोध-पत्र में किया गया है।

---

1. वाल्मिकी रामायण - अयो0 का0 100/27
2. " " - अयो0 2/46
3. " " - अयो0 का0 100/56

वाल्मीकि रामायण दण्डनीति की अवधारणा एवं उसकी प्रासंगिकता

डॉ० रामविलास यादव
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एल.सी.एस. कॉलेज, दरभंगा

भारतीय लोक साहित्य के आदि निर्माता महर्षि वाल्मीकि ने समाधियोग से सब कुछ प्रत्यक्ष कर जिस महाकाव्य का निर्माण किया वह वाल्मीकीय रामायण के नाम से विश्वप्रसिद्ध है। सत्युग में तो सुव्यवस्थित राजसत्ता के संचालन हेतु लिखित संविधान की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु त्रेता युग में संविधान की आवश्यकता होने पर भी कोई लिख़ित संविधान नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब संविधान की आवश्यकता त्रेता युग में पड़ी तो रामराज स्थापित हुआ और उन्होंने अपने आचरण के द्वारा ही प्रजावर्ग को अनुशासित रहने पर बाध्य कर दिया। उनका मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाना इसी बात को सार्थक करता है। कहा जाता है कि काव्य समाज का दर्पण होता है। वहीं काव्य सत्काव्य कहलाता है, जिसमें तत्कालीन नि:शेष सामाजिक स्थितियों का निर्मल प्रतिविम्ब अंकित है। महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित इस वाल्मीकीय रामायण महाकाव्य में वस्तुत: रामराज्य का निर्मल प्रतिविम्ब उभरकर सामने आया है। महर्षि वाल्मीकि ने अपनी इस अद्भुत कृति में जो रामराज्य का प्रतिविम्ब प्रस्तुत किया है, उससे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक विषयों का सहज - स्वाभाविक ज्ञान हो जाता है। त्रेता युग में रामराज्य के समय लिखित संविधान न सही किन्तु वाल्मीकि ने रामायण लिखकर संसार के समक्ष रामराज्य का संविधान अवश्य ही प्रस्तुत कर दिया है। राजाराम की दण्डनीति जो वाल्मीकि के द्वारा रामायण में वर्णित है, उसे ही हम वाल्मीकीय दण्डनीति के नाम से पुकारते हैं। यह दण्डनीति वेदमूलक, दण्डशास्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है। हम देखते हैं कि मनु, वेदव्यास, शुक्र, बृहस्पति आदि आचार्यों ने दण्डनीति के जिन सिद्धान्तों की स्थापना अपने ग्रन्थों में की है, उनका उपयोग यहाँ उचित ढंग से किया गया है। वाल्मीकीय रामायण में राज्य की रक्षा के लिए चतुरंगिनी सेना, नगर की रक्षा के लिए दुर्ग, परिखा, प्रकृति मण्डल की रचना और उसमें राज्य कुटुम्ब के अतिरिक्त अन्य सुयोग्य व्यक्तियों का नियोजन तथा समय-समय पर प्रजाओं के धर्मोपदेश हेतु निस्पृह ऋषियों के नियोजन की व्यवस्था से तत्कालीन सुव्यवस्थित राजनीति की प्रतीति होती है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित वैदिक राज्य व्यवस्था में राजा

डॉ० श्रीधर मिश्र
उपाचार्य संस्कृत एवं प्राकृतभाषा विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

वेद में जिस परम तत्त्व का वर्णन किया गया है वाल्मीकि रामायण में वही तत्त्व श्रीराम के रूप में निरूपित है। इसलिए रामायण सभी के लिए पूज्य है। इस महनीय काव्य में राजनीति, भूगोल, मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म, आयुर्वेद, ज्योतिष, सभी कुछ अपने उच्चतम रूप में विद्यमान है। भारतीय समाज का गौरव एवं भूतल के प्रथम काव्य वाल्मीकिरामायण में उच्च कोटि की राजनीति एवं राजव्यवस्था के भी दर्शन होते हैं। वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत राज्य व्यवस्था के समक्ष अन्य व्यवस्थायें तुच्छ प्रतीत होती है, समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक, कविवाल्मीकि ने राजा को राज्यव्यवस्था का केन्द्र बिन्दु माना हैं। वैदिक राज्यव्यवस्था के अनुसार वाल्मीकि ने राजा को प्रजा का रंजक, उनका हितचिन्तक एवं राष्ट्र का उन्नायक बताया है। राजा से रहित राष्ट्र को महर्षि ने जंगल कहा है- ''नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्'' राज्य व्यवस्था में राजा के महत्व के सम्बंध में उनकी मान्यता है कि ''राजा राज्य के भीतर सत्य और धर्म का प्रर्वतक होता है। राजा ही सत्य और धर्म है। राजा की कुलवानों का कुल है। राजा ही माता और पिता है तथा मनुष्यों का हित करने वाला है-''

यथा दृष्टि: शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभव: सत्यधर्मयो:॥
राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवातां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥

अयोध्याकांड का एक प्रसंग है महाराज दशरथ स्वर्ग चले गये, श्रीराम जी वनवासी हो चले, तेजस्वी लक्ष्मण राम के साथी हो गये, भरत और शत्रुघ्न भी इस अवसर पर ननिहालवासी रहे। ऐसे में राज्य का प्रबन्ध करने वाले वामदेव, कश्यप, कात्यायन गौतम एवं जाबालि आदि ब्राह्मण श्रेष्ठ राजपुरोहित बशिष्ट जी के सम्मुख बैठकर राज्य व्यवस्था की चिन्ता में परामर्श देते हुए बोले कि-जिस राज्य में कोई राजा नहीं होता वहां यज्ञकर्ता द्विज एवं कठोर व्रत का पालन करने वाले जितेंद्रिय ब्राह्मण बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते है।

राजा रहित जनपद में यदि किसी तरह महायज्ञों का आरम्भ हो भी जाय तो उसमें धन सम्पन्न ब्राह्मण भी ऋत्विजों को प्रभूत दक्षिणा स्वरूप द्रव्य नहीं देते है-

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु: यज्वन:।
ब्रह्मणा वसुसम्पूर्णा विसृजन्त्याप्तदक्षिणा:॥

वाल्मीकि रामायण में वैदिक राज्य व्यवस्था

अनुभा शर्मा
संस्कृत विभाग
डी.ए.वी.(पी.जी.)कॉलेज, देहरादून

रामायण कालीन समाज एक धर्म मूलक श्रेष्ठ समाज है। जिसके प्रत्येक क्रिया-कलाप तथा मानव धर्माचारी तथा धर्म से परिपूर्ण है। वहाँ की राजनीति में भी धर्मतत्त्व का प्राधान्य है। शासक और प्रजा सभी धर्म का आश्रय लेकर ही कार्य करते हैं। इसी कारण प्रजाजन सुखी सम्पन्न हैं।

रामायण की शासन-व्यवस्था उच्चकोटि का निरूपण करने वाली है। प्रत्येक उदाहरण में वाल्मीकि ने प्रत्येक शासक कर्मचारी के लिए धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र का ज्ञाता होना ही अनिवार्य माना है। अयोध्या में प्राचीन काल से महाराज मनु के अनुसार निरूपित शासन व्यवस्था के अनुसार ही शासन होता आया था तथा राजा दशरथ और राजा राम ने भी धर्म का आश्रय लेकर ही राज्य किया है। शासन के प्रमुख तत्त्व में सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ पद राजा का माना जाता है तथा राजा तथा मंत्री परिषद् के कर्मो तथा कार्य का बड़ा ही विशद् स्वरूप वाल्मीकि रामायण में निरूपित किया गया है।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित वैदिक कालीन राज व्यवस्था

विजय प्रताप सिंह
शोध-छात्र, राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्व विद्यालय, लखनऊ

वाल्मीकि रामायण में तत्कालीन संस्कृति के एक सुंदर एवं आदर्श शासनप्रबन्ध, योग्य तथा प्रजाहित में संलग्न आदर्श राजा एवं एक आदर्श राज्य का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि का चित्रण युग युगान्तर तक के लिए आदर्श बना, इसीलिए आज तक राम-राज्य शब्द से सर्वोत्तम शासन प्रणाली का चित्र खींचने का प्रयास किया जाता है। रामायण में राज्य का स्वरूप राजतंत्र था, परन्तु उस राजतन्त्र में भी प्रजा की रुचि एवं विचारों का जितना ध्यान और आदर था वह प्रजातंत्र रूप में विख्यात आधुनिक किसी भी राज्य में प्राप्त नहीं होता है रामायण कालीन राज्य का अध्यक्ष राजा था परन्तु प्रजा का स्थान भी समकक्ष ही था अर्थात् प्रजा को शासन की इकाई माना जाता था। मंत्रियों की सलाह से राम को युवराज बनाने का निश्चय करके दशरथ ने उन्हें बुलवाया और परामर्श दिया कि "हे पुत्र! विजयी और जितेन्द्रिय रहना। काम-क्रोध से उत्पन्न दुर्व्यसनों को त्यागना। गुप्तचरों से परामर्श करके तथा प्रत्यक्षतया देखकर न्याय में सर्वदा तत्पर रहना। राज्याधिकारियों और प्रजाजनों को प्रसन्न रखते हुए कोष और शास्त्रागार को सदैव भरे रखना। तभी प्रजाएं अनुरक्त रहेंगी।" किष्किन्धा काण्ड में आहत वाली ने राम को उपालम्भ देते हुए राजा के गुणों को बताया है" -

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः।
पार्थिवानां गुणाः राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु॥

(४.१७.१९)

वाल्मीकि जी ने रामायण में लिखा है कि नीति और विजय, दण्ड और अनुग्रह ये राजधर्म है परन्तु राजा को स्वेच्छाचारी कदापि नहीं होना चाहिए -

नयश्च विनयश्चौभौ निग्रहानुग्रहावपि।
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः॥

(२.२.३२)

रामायण कालीन लोक प्रशासन एवं वर्तमान राजनीति-एक दृष्टि

गोपाल वर्मा
शोध छात्र, आर.बी.एस. कॉलेज आगरा
डॉ. रेखा रानी शर्मा (संस्कृत विभाग)
आर.बी.एस. कॉलेज आगरा

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्॥

भारत वर्ष में आदिकाल से ही राज्य के कलयाणकारी स्वरूप को स्वीकार किया गया है। भारतीय महर्षियों ने व्यक्ति और समाज दोनों के हित साधन हेतु ऐसे ही समाज की रचना की थी। जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्याणकारी सिद्धि के साथ-साथ दूसरों के लिए बाधक सिद्ध न हो, अपितु दूसरों को भी अवसर प्रदान करता रहे। रामायण कालीन संस्कृति में चिरकालीन एवं सार्वकालिक आदर्श के तत्व मौजूद हैं उसमें आर्यावर्त के उस समय के मानचित्र का दर्शन होता है। जबकि आर्य जाति उन्नति के शिखर पर पहुँची हुई थी भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सन्तुलन रखने के कारण उस संस्कृति का सौरभ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकट हुआ और अधिकतर शुभ परिणामों का जनक बना अनीति का दमन नीति का उन्नयन पशुता का विरोध और मानवता का प्रबर्धन यही रामायण का आदर्श है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में भी रामायण एक अनुकरणीय आदर्श के रूप में हमारे सम्मुख प्रतिष्ठित है तत्कालीन शासन तंत्र के तीन मुख्य अंग सभा, मन्त्रिपरिषद् तथा शासनाधिकारी थे। इन तीनों की सहायता से राजा शासन संचालन करता था। राम और दशरथ के युग की राज्य सभा लोक

सभा या धारा सभा परिषद् समिति, संसद या केवल सभा कहलाती थी। आज के युग में पार्लियामेंट या असेंबली का जो महत्व है कुछ-कुछ वैसा ही उस समय सभा या परिषद् का था। वस्तुत: किसी भी युग या प्रदेश का मानव समाज शत-प्रतिशत निर्दोष या निरा अच्छाइयों का पुंज हो ही नहीं सकता और रामायण कालीन समाज भी इसका कोई अपवाद नहीं है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में भारतीय समाज एवं लोक प्रशासन के एक उत्कृष्ट एवं परमोदार स्वरूप को काव्यबद्ध किया है। वर्तमान के प्रतिनिधि न तो नागरिकों के बारे में विचार करते हैं न ही देश की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं। आज की भ्रष्ट राजनीति में जो भी सभ्य पुरुष गया व या तो बदल जाता है या मृत्यु को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत शोध पत्र में मैंने यह बताने का प्रयास किया है कि वर्तमान भ्रष्ट राजनीतिक परिवेश में ऐसे पूजनीय ग्रंथों में वर्णित सिद्धांतों का अनुशीलन करने की परम आवश्यकता है।

CONCEPT OF *'DANDA-NITI'* & EFFECTIVE ADMINISTRATION IN VALMIKI RAMAYANA : A SPIRITUAL ANALASIS

Dr. Khagendra Patra
Deptt. of Sanskrit, C-105,
Sector-1 Rourkela (Orissa)

In the present system of Administration of Management Science some new administrators/managers usually face certain administrative problem while they deal with the indisciplind colleagues who violate the code of conduct of the administration that lead to failure in the attainment of organsational goal. Such a problem arises due to the absence of knowledge about proper applicational administrative ethics. Not only the present Administrator but also the Rulers of ancient India were also facing the same problem in their administrative activities. So realizing the need of the Rulers/Administrators/ Managers ancient India thinkers like Vedic Sages, *Valmiki*, *Vyasadeva*, *Manu*, *Kautilya* and others have prescribed certain ethics of administration or management science which include :

a) Four-fold administrative policy like (i) Same (ii) Dana (iii) Bheda and (iv) Danda ; and

b) Three powers such as: (i) Mantra Shakti (ii) Utsaha Shakti ; and (iii) Prabhu Shakti

According to Kautilya four - fold policy is the best technique to achieve success in administration. *Danda* or Legal punishment - one of such policies has been considered as an effective device of administration to maintain peaceful work environment that lead to organizational growth/social well-being. So he says "*Dando hi kevalo loko param chemam cha rakshati*"- [*Arthashastra - III/I*]. It means the principal objective of legal punishment or danda is to safeguard the society or organisation from unsocial activities which create obstacle on the way of achieving the organizational goal/target.

On the basis of such objective of danda-niti, the administrative system during the period of Ramavana advocates Legal punishment only for the accused person. Violating this principle of danda if innocent individual in punished then the family of the concerned ruler may be ruined as a consequence of injustice in administration. So far as ethics of punishment during the period of Ramayana is concerned, Ramachandra - as an ideal ruler had suggested Bharata at Chitrakuta :

Yani mithyabhishastanam patantyashruni Raghava I

Tani Putrapashun ghnanti preetarthamanushasataha II

- [*Valmiki Ramayana - 2/100/59*]

In this way get a lot of ideal ideas relating to ethics of effective administration from Ramayana and other relevant Sanskrit treatises. So, with an aim of discovering more knowledge in this regard for our present aspirant managers, it is proposed here to throw some light on the "CONCEPT OF DANDA-NITI AND EFFECTIVE ADMINISTRATION IN VALMIKI RAMAYANA" with the help of some relevant quotations from Valmiki Ramayana.

अर्थव्यवस्था

वाल्मीकि रामायण में वैदिक अर्थव्यवस्था

डॉ० देवेन्द्र सिंह सोलंकी
रीडर एवं संस्कृति विभागाध्यक्ष
संजय गाँधी स्ना.महा.वि. सरूरपुर, मेरठ

यह सर्वजन स्वीकार्य तथ्य है कि वेद सब सत्य विधाओं का पुस्तक है उक्त शब्द युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने आर्य समाज के नियमों में भी रखे है। वेदों में मानव जीवन को सफल बनाने एवं जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए सभी विषय वर्णित हैं यथा शिक्षा, रहन सहन, भोजन आदि वस्त्र, परिधान, आभूषण, आमोदप्रमोद एवं आर्थिक चिन्तन। ऐसे सभी व्यवसाय जिनसे अर्थ प्राप्ति सम्भव है वेदों में इतस्ततः वर्णित है अर्थात् जो व्यवस्थाएं मानव जीवन के वैदिक युग को पुष्ट बनाती हैं वे कृषि, पशुपालन, उद्योग-धन्धें, काष्ठ-उद्योग, धातु उद्योग, वस्त्र उद्योग, चर्म-उद्योग, मृत्पात्र उद्योग, वाणिज्य एवं यातायात आदि उद्योग वेदों में वर्णित होने के कारण आर्यों की अर्थव्यवस्था की जड़े मजबूत बनाते थे। वाल्मीकि रामायण आदि ही नहीं प्रत्युत आर्ष महाकाव्य के रूप में भी जनमानस में जानी जाती है अतः आर्ष महाकाव्य में वैदिक युग के अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाले सभी व्यवसायों की चर्चा प्रायः सभी काण्डों में प्राप्त होती है।

प्राचीन काल से अद्यावधिपर्यन्त प्रचलित अर्थ व्यवस्था का मूल आधार कृषि रामायण काल में भी जीविकोपार्जन का मुख्य साधन था। कृष् धातु से व्युत्पन्न कृषि शब्द का अर्थ जोतना है। सब जानते हैं कि राजा जनक के हल चलाने पर ही रामायण की नायिका सीता की उत्पत्ति हुई थी। क्या अयोध्या काण्ड, क्या उत्तरकाण्ड सभी में कृषि करने के श्लोक प्रचुर मात्रा में दृष्टव्य हैं। इसी प्रकार से पशुपालन भी रामायण कालीन समाज में जीविकोपार्जन का साधन स्वीकारा गया है। रामायणकार अपने ग्रन्थ में उल्लेख करते हैं कि भरत जब राम से मिलने चित्रकूट में जाते हैं तो राम उनके द्वारा संरक्षित पशुओं का भी समाचार पूछते हैं। रामायणकार का गौ, बैल, घोड़े, ऊँट, खच्चर, गधे, कुत्ते, हाथी आदि पशुओं का अपने ग्रन्थ में वर्णन तात्कालिन पशुपालन के तथ्य को दर्शाता है। इसी प्रकार से फलोद्यान का वर्णन भी यथा रावण द्वारा सीता को अशोक-वाटिका में ठहराना, एवं सुग्रीव का मधुवन आदि का उल्लेख है। खनिज उद्योग जो वेदों में भी वर्णित है महाकवि वाल्मीकि ने भी अपने अमर ग्रन्थ में अनेक खनिजों के नाम गिनाये हैं। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण में अनेक शिल्पों का भी वर्णन है जो वेदों में भी है। सुवर्णकार आदि का उल्लेख भी दर्शाता है कि रामायण काल में अनेक आभूषण भी सोने से बनते थे। विभिन्न मणियों का उल्लेख भी रामायण काल में हमें वाल्मीकि रामायण के माध्यम से प्राप्त होता है। दन्तकार कुम्भकार आदि के उल्लेख से भी हम रामायण काल में उक्त व्यवसाय करने वालों के विषय में सहज ही अवगत हो जाते है। इसी प्रकार से चित्रकार, बुनकर, चर्मकार, याजक, ज्योतिष विद्या यन्त्रकार सेतुनिर्माता, रजक, काष्ठ जीवी, सूत, भृत्य, श्रम-जीवी व्यापारी, प्रशासक आदि अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलने से ज्ञात होता है कि उक्त कार्य करने की कलाएँ भी तात्कालिक समाज में प्रचुर मात्रा में फल-फूल रही थीं।

अतः जिस प्रकार से वेदों में वर्णित विभिन्न जीविकोपार्जन के साधनों द्वारा तात्कालीन अर्थ व्यवस्था सुदृढ़ थी उसी प्रकार वेदों में वर्णित जीविकोपार्जन के प्रायः सभी साधनों का अनुकरण करके रामायण कालीन समाज लाभान्वित हो रहा था। रामायणकार वाल्मीकि ने अपने अमर ग्रन्थ में वैदिक अर्थव्यवस्था पर आधारित सभी साधनों का उल्लेख किया है।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक अर्थव्यवस्था

रणजीत कुमार पाण्डेय
(शोधछात्र-संस्कृत)
संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

किसी भी राष्ट्र या समाज का जीवन जितना सुशासित एवं शान्तिपूर्ण होता है वह उस राष्ट्र या समाज की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। अर्थ, धन या सम्पत्ति ये सभी शब्द मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हैं, धनोपार्जन का चाहे जो भी साधन हो। रामायण में वर्णित अर्थव्यवस्था पूरी तरह से वेदों में वर्णित अर्थव्यवस्था का ही सुदृढ़ रूप है। वेदों में मानव की भौतिक उन्नति की सर्वोच्चता का वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक कालीन मानव अपनी सुसंगठित एवं सुव्यस्थित जीविका चलाने हेतु प्रधानतया कृषि कर्म करते थे। वैसे भी भारत आदिकाल से ही एक कृषि प्रधान देश रहा है। ऋग्वेद कालीन मानव कृषि को बड़ा महत्व देते थे। ऋग्वेद में कृषि के महत्त्व को वर्णित करते हुए ऋषि कहता है कि

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व (ऋग्वेद 10,34,13)

ऋग्वेद की ही भाँति रामायण कालीन समाज भी मुख्यतः कृषि प्रधान था। मागधी नाम से प्रसिद्ध सोन नदी के दोनों तटों पर अत्यन्त उपजाऊ खेत थे जिनसे वह सदैव शस्य सम्पन्न रहती थी-

''सुक्षेत्रा शस्यमालिनी'' (वा0रा0 1.32.10)

वेदकालीन अन्नों की भांति रामायण में भी प्रमुखता वही अन्न जैसे जौं और गेहूँ मुख्य रूप से तत्कालीन कृषि की शोभा बढ़ा रहे थे। वेदों की ही भांति मनुष्य की आय का प्रमुख स्रोत कृषि, व्यापार एवं पशुपालन थे, जिसका दायित्व प्रमुखतः वैश्यवर्ण के लोग वहन किया करते थे-

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषि गोरक्षजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते।।

(2.100.47)

वेद कालीन लोग कृषि कर्म के लिए जिस प्रकार वर्षा पर निर्भर थे उसी प्रकार रामायण कालीन लोग भी कृषि कर्म वर्षा द्वारा ही करते थे, साथ-साथ खेतों की सिंचाई हेतु अन्य संशाधन जैसे कुआँ, नहर, बावड़ी और जलाशयों का भी प्रयोग करते थे। रामायण कालीन मानव जल इकट्ठा करने हेतु सेतु बाँधते थे (2.80.10-12) तथा (6.128.4)।

वैदिक मनुष्यों की ही भांति रामायणकालीन मानव भी कृषि के अतिरिक्त पशुपालन द्वारा आर्थिक स्थिति सृदृढ़ करते थे। वैदिक मानव जिस प्रकार गाय को प्रधान के रूप में पालता था उसी प्रकार रामायण में भी गाय एक महत्त्वपूर्ण पशु मानी जाती थी। गाय को रत्नस्वरूपा कहा गया है-

रत्नं हि भगवन्नेतद् (1.53.9)

रामायण में गाय के अतिरिक्त अश्व और हाथी का भी प्रमुख स्थान था। रामायण कालीन आर्थिक व्यवस्था में अयूष का की प्रमुख स्थान था। रामायण काल में देश की समृद्धि कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त वाणिज्य और व्यापपार पर निर्भर थी। देश में विभिन्न दिशाओं से व्यापारी अयोध्या नगरी की शोभा बढ़ाते थे।

नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्

(1.5.14)

इस प्रकार रामायण काल में व्यापार हेतु उच्च कोटि की बाजारों की व्यवस्था थी। तत्कालीन व्यापार वाणिज्य में मुद्रा भी प्रचलित थी। मुद्रायें रजत और स्वर्ण धातुओं की होती थी। मुद्रा के अतिरिक्त विनिमय व्यापार में रत्न, वस्त्र, स्वर्ण, पशु तो थे ही किन्तु गाय सर्वाधिक मूल्यवान् समझी जाती थी। कृषि, पशुपालन तथा व्यापार वाणिज्य ये तीन किसी भी राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था के प्रमुख साधन हैं। इस सम्पूर्ण विवेचना से स्पष्ट होता है कि रामायण युग में भारत की समृद्धि एवं वैभवसम्पन्नता मनुष्य के प्राप्तव्य पुरुषार्थों में अर्थ भी एक पुरुषार्थ की सम्पन्नता थी।

इस प्रकार रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि रामायणकालीन अर्थव्यवस्था मूलतः वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था ही थी और वह अपने आदर्श रूप में रामायण काल में प्रस्तुत थी। मैं अपने शोध-पत्र में रामायण कालीन अर्थव्यवस्था पर वैदिक कालीन प्रभाव के वर्णन का क्वचित् प्रयास करूँगा।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित वैदिक अर्थव्यवस्था का स्वरूप

दीपाली सिंघल
शोध-छात्रा
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल क़ांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

किसी भी सभ्यता का मेरुदण्ड उसका आर्थिक ढांचा होता है चूंकि समाज का उत्कर्ष जीवन के भौतिक और लौकिक सुखों की पूर्ति, आर्थिक जीवन की सम्पन्नता और समुन्नति पर ही निर्भर करता है। वास्तव में भारतीय समाज का आर्थिक विकास 'पुरुषार्थ' के जीवन दर्शन के माध्यम से हुआ है जिसमें अर्थ भी एक प्रधान तत्त्व माना गया है। प्राचीन भारत में अर्थ अथवा धन के उपार्जन से सम्बन्धित विषय के लिए 'वार्ता' शब्द का व्यवहार किया जाता था। अतः वार्ता शब्द मनुष्य के आर्थिक जीवन के कार्यकलापों से सम्बन्धित था। रामायण का यह प्रसंग 'वार्ता' शब्द को पूर्णरूपेण स्पष्ट करता है-

वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते

रामायण के विस्तृत अध्ययन से तत्कालीन समय की उन्नत आर्थिक दशा का ज्ञान प्राप्त होता है। रामायण कालीन संस्कृति मूलतः ग्रामीण थी अतः कृषि एवं पशुपालन उनकी जीविका के प्रमुख साधन थे। कृषि की महत्ता इसी से प्रकट होती है कि विशेष अवसरों पर राजाओं को भी हल चलाना पड़ता था। राजा जनक को हल चलाते समय ही सीता की प्राप्ति हुई थी। कृषि विभिन्न प्रकार के उपकरणों के माध्यम से की जाती थी। सामान्यतः प्राकृतिक जल स्रोत वर्षा और नदियां सिंचाई की प्रमुख साधन थी। तथापि अनावृष्टि और दुर्भिक्ष से बचने के लिए सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी उपयोग किया जाता था। उस समय व्यवसायों में वस्त्र उद्योग का प्रमुख स्थान था। तन्तुवाय तथा कम्बलकार सुन्दर सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों का निर्माण करते थे। रेशमी वस्त्रों में ही दशरथ की रानियों ने सीता का स्वागत किया था। राम और सीता भी रेशमी वस्त्रों को धारण करते थे यहाँ तक कि उपचारिका भी रेशमी वस्त्र का प्रयोग करती थी। इससे पता चलता है कि इस समय रेशमी वस्त्रों का प्रचलन प्रचुर मात्रा में था। वस्त्र व्यवसाय के समान धातु और शिल्प उद्योग भी उन्नत दशा में था। धातुओं का प्रयोग अस्त्रो-शस्त्रों एवं उपकरणों के निर्माण के साथ-साथ आभूषणों के निर्माण के लिए भी प्रयुक्त होता था। रामायण से शिल्पकारों की निपुणता का भी परिचय मिलता है। चूंकि रावण के राजप्रसाद की स्वर्णमय प्राचीर, हाथी दांत और चांदी के वातायन तथा मणि मुक्ताओं एवं स्फटिक के विविध प्रयोग देखकर हनुमान् को स्वर्ग का स्मरण हो आया था।

उद्योगों एवं व्यवसाय के विस्तार के फलस्वरूप ही श्रेणियों तथा व्यापारियों के निगमों का विकास हुआ। समाज में श्रेणियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। जहाँ ये श्रेणियाँ आर्थिक उत्पादन तथा व्यवसाय एवं वाणिज्य की प्रगति हेतु सक्रिय थी वहीं ये राज्य के समस्त विकास में अपना प्रभावी योगदान देती थी। इस समय नगरों और राजधानियों को संयुक्त करने वाले अनेक मार्ग थे जो व्यापारियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त और उपयोगी समझे जाते थे। इस काल में वस्तुओं का भी उत्पादन होता था जिन्हे व्यापारी दूर-दूर तक के प्रदेशों में जाकर बेचा करते थे। नियत स्थान पर पहुँचकर व्यापारी अपनी वस्तुओं का विक्रय करते थे अथवा उनके बदले में स्वयं वहाँ की उत्पादित वस्तुएं ले लेते थे। अनेक स्थानीय वस्तुओं का भी विंभिन्न क्षेत्रों में आयात-निर्यात किया जाता था, जैसे- दक्षिण सागर के द्वीपों से रत्न, मूंगे का, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त से अच्छे हथियारों का, बंगाल तथा उड़ीसा से क्रमशः कपड़ों और अच्छे हाथियों का आदि। निःसन्देह देश के विभिन्न क्षेत्रों की अनेक प्रसिद्ध वस्तुओं का व्यापार तत्कालीन वाणिज्य व्यवस्था को उन्नत करने में पूर्ण सहायता करता था, जिसका स्पष्ट संकेत हमें रामायण में मिलता है।

विज्ञान/वास्तु/ ज्योतिष

वाल्मीकिरामायणे ज्योतिषं वास्तुविज्ञानञ्च

प्रो० बृजेशकुमारशुक्लः
आचार्यः संस्कृतप्राकृतविभाग
लखनऊविश्वविद्यालये, लखनऊ
78-ए, बादशाहबाग, विश्वविद्यालय परिसर
(गोकर्णनाथ रोड) लखनऊ

आदिमहाकविना महर्षिणा वाल्मीकिना रामायणं व्यरचीति सर्वैरवगम्यते। रामायणे यथा तात्कालिकी सामाजिकी सांस्कृतिकी धार्मिकी च व्यवस्था दरीदृश्यते तथैव शास्त्रप्रतिबिम्बनमपि तत्रोपलभ्यते। एतस्मिन् सन्दर्भे ज्यौतिषशास्त्रं वास्तुविज्ञानञ्च रामायणे विभिन्नप्रसङ्गेषु द्रष्टुं शक्येते। यत्र भगवतो रामस्य तद्भ्रातृणां जन्म निर्दिष्टं तत्र स्पष्टतया समुल्लिखितं यद् भगवान् रामः पुनर्वसुनक्षत्रे, कर्कलग्ने च जन्म लेभे। तस्मिन् काले पञ्चग्रहाः स्वोच्चसंस्था आसन्, सोमेन सह वृहस्पतिश्च जन्मकुण्डल्यां विराजते स्म-

नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह।।

प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम्।
कौसल्याऽजनयद्रामं सर्वलक्षणसंयुतम्।।
(वाल्मीकिरामायणे 1।18।9-10)

एवमेवाऽन्येषां लक्ष्मणभरतादीनां जन्मनक्षत्रलग्नादिकं रामायणे विलिखितं वर्तते। मुहूर्त्तानामपि समुल्लेखो रामायणेऽकारि महर्षिणा। सीताहरणप्रसङ्गे स आह यद् रावणो विन्दनाम्नि मुहूर्ते सीतां जहार। अनने स रावणस्तथैव नाशमेष्यति यथा बडिशं गृहीत्वा मीनो नश्यति-

विन्दो नाम मुहूर्त्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।।
झषवद् बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति।।
(वाल्मीकिरामायणे 3/68/13)

वाल्मीकिरामायणे वास्तुकर्मणः समुलेखोविहितः। बालकाण्ड एव तत्रोक्तम्-

वास्तुकर्म निवेशं च भरतागमनं तथा।
(वाल्मीकिरामायणे 1/3/16)

एतेन ज्ञायते यद् रामायणे ज्यौतिषशास्त्रस्य वास्तुविज्ञानस्य च चर्चा नितरां विहिता। शोध पत्रेऽस्मिन् रामायणतस्तत्तत्प्रसङ्गानादाय ज्यौतिषस्य वास्तुशास्त्रस्य च विनियोगः प्रदर्शयिष्यत इति धियाऽत्र समासेनैष विषयो निक्षिप्तः।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में शिल्पविद्याविषयक अवधारणा

सत्यदेव निगमालङ्कार,
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान,
गु.का.वि.वि. हरिद्वार

भारतवर्ष को पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा देखकर, यहाँ विद्यमान धार्मिक आडम्बर, पापलीला, अन्धविश्वास, पाखण्ड तथा दरिद्रता के कारणों पर सूक्ष्मता से अवलोकन कर एवं बड़े-बड़े धनाढ्य पुरुषों, राजाओं, महाराजाओं, संन्यासियों, बुद्धिजीवियों और व्यापारियों को षड्रिपुओं के वशीभूत हो प्रमादालस्य में निमग्न जानकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने समझ लिया था कि इस देश में उद्योगधन्धों का समुचित विकास न होना भी इन सबका एक मुख्य हेतु है। इसीलिये महर्षि ने वेदभाष्य से पूर्व सत्यार्थ प्रकाश में शिल्पविद्या के महत्त्व को देखते हुए लिखा- ''अर्थवेद जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसका पदार्थ-गुण-विज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि, जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया यन्त्रकला आदि को सीखें। संस्कार विधि के वेदारम्भ-संस्कार में उन्होंने बताया-''तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा, त्वष्टा और मयकृत संहिता-ग्रन्थ हैं, उनको छः वर्ष के भीतर पढ़ के विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें।''

महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य प्रसंग में शिल्पविद्या से प्राप्त लाभ, शिल्पविद्या के विद्वान्, उनके कर्त्तव्य, समाज-द्वारा उन विद्वानों के प्रति व्यवहार, समाज द्वारा उन शिल्पविज्ञों का सत्कार इत्यादि अनेकानेक विषयों का उल्लेख किया है। प्रस्तुत शोध लेख में महर्षि दयानन्द द्वारा उनके वेदभाष्य में प्राप्त शिल्पविद्याविषयक ज्ञान की चर्चा तथा आलोचनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया हैं।

ज्ञान विज्ञान का अनुपम संग्रह - 'रामायण'

डॉ० जयजीत बडंथ्वाल
व. प्रवक्ता-इतिहास विभाग, हे.न.ब. ग.वि.वि., पौड़ी गढ़वाल
डॉ० प्रभात कुमार
व. प्रवक्ता- प्रा0भा0 इतिहास एवं पुरातत्व वि0
गुरुकुल कागंड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

कहा जाता है कि, साहित्य समाज का दर्पण होता है, यह सूक्ति वाक्य रामायण के सन्दर्भ में अत्यन्त सटीक बैठता है। वास्तव में वाल्मीकि रामायण अपने समय के न सिर्फ समाज तथा सांस्कृति का अत्यन्त सटीक चित्रण प्रस्तुत करती है बल्कि आर्थिक अवस्था, राजनीति, दर्शन, सैन्य व्यवस्था तथा अपने समय के समस्त ज्ञान-विज्ञान का अनुपम और अद्भुत संग्रह है। मानव जीवन तथा ज्ञान का शायद ही कोई ऐसा पक्ष हो जो महाकवि की दृष्टि से अछूता रह गया हो।

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में ज्योतिर्विज्ञान

डॉ० भगवानदास
शास्त्री प्रवक्ता
गु0 कां0 वि0 वि0 हरिद्वार

प्राचीन विद्वानों ने ज्योतिष शास्त्र को सिद्धान्त, संहिता और होरा इन तीन भागों में विभाजित किया है। सिद्धान्त भाग में ग्रह गणित विज्ञान का, संहिता भाग में भूगर्भ विज्ञान का और होरा भाग में मानव जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के विज्ञान का वर्णन किया जाता है। लोगों की धारणा है कि ज्योतिष विज्ञान विज्ञान नहीं है बल्कि यह एक अतीत काल से चला आ रहा एक अंधविश्वास है। लेकिन अन्य विज्ञानों की तरह ज्योतिष भी गणित पर आधारित विज्ञान है। किसी विषय के सम्बन्ध में व्यवस्थित ज्ञान का भंडार जिसको परखा भी जा सके, उसको विज्ञान कहा जाता है। जितने भी विज्ञान है उनका सीधाा आधार यह है कि उनसे सम्बन्धित तथ्यों को बड़े श्रम् से एक त्रित करके जो भी ज्ञान कारी प्राप्त होती है उसके प्रयोग करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान हो या अन्य कोई भी विज्ञान यही प्रक्रिया प्रत्येक विज्ञान में अपनाने के बाद ही नियम और सिद्धान्त प्रतिपादित किए जाते है ठीक यही स्थिति ज्योतिष विज्ञान की है।

वेदों में और श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में सूर्यादि ग्रह, नक्षत्र तारे, महिने के नाम, तिथी इन सभी का वर्णन आता है इन सभी का प्रभाव मानव जीवन पर ही नहीं परन्तु, पशु पक्षी, वनस्पतियों पर भी पड़ता है। यजुर्वेद, का कथन है कि ज्योतिष एक विज्ञान है इस में नक्षत्रो की गति आदि का ज्ञान किया जाता है। ग्रह और नक्षत्रो को देखकर उनके स्थान गति आदि का अध्यायन विज्ञान है।

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम् (यजूर्वेद ३०-१०)

नक्षत्रेऽदिति दैवत्ये स्वोच्च संस्थेषु पञ्चसु (वा.रा.बा १८-९)

वाल्मिकी रामायण में वर्णित वैदिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

धर्मेन्द्र प्रसाद
डॉ० नवीन कुमार सैनी
प्रा.भा.इति.,सं.एवं पुरा. विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की जड़े अत्यंत प्राचीन रही हैं। प्राचीन काल में ही यहाँ जीवन के विविध पक्षों का समुचित विकास हो चुका था और उन विविध पक्षों में से विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी भी अपनी समुन्नत अवस्था में थे। भारतीय अध्यात्म में यह स्थापित धारणा रही है कि-''ब्रह्म के समग्र स्वरूप को जानने के लिए ज्ञान-विज्ञान को जानना चाहिए और ज्ञान-विज्ञान को जान लेने के उपरांत अन्य कुछ जानने योग्य नहीं रह जाता।'' ये धारणायें ज्ञान-विज्ञान के प्रति हमारी प्राचीन भारतीय समझ को प्रदर्शित करती

हैं। हमारे प्राचीन मनीषियों ने जहाँ धर्म और दर्शन के विषय में चिंतन-मनन किया वहीं विज्ञान का क्षेत्र भी उनसे अछूता नहीं रहा। उन्होंने अपनी सतत साधना के परिणास्वरूप जगत् के गूढ़ रहस्यों को जाना।

इसी सन्दर्भ में रामायणकालीन बौद्धिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो स्पष्ट होता है कि उस काल में वैज्ञानिक चिन्तन अपनी उन्नत अवस्था में था। वाल्मिकी रामायण में प्रचुर विज्ञान है- भौतिकी, गणित, रसायनिकी, धातुकी, कृषि, खगोल-विज्ञान, ज्योतिष, ज्यामिति, वास्तु-विज्ञान, वैमानिकी, ब्रह्माण्ड की रचना, बेतार प्रणाली द्वारा संदेश प्रेषण, चिकित्सा विज्ञान जिसके अन्तर्गत - आयुर्वेद, रोग-निवारण, शल्य क्रिया, शव-संरक्षण आदि आते हैं। सभी का यथातथ्य उल्लेख मिलता है। यह विज्ञान तभी दृष्टिगत होता है, जब श्लोकों के एक-एक शब्द तथा प्रयुक्त विशेषणों पर सूक्ष्मता से चिन्तन-मनन किया जाये। कुछ श्लोकों में स्वतंत्र रूप से विज्ञान है और कुछ में विज्ञान की बातों को उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया गया है, अत: उनके सूक्ष्म अध्ययन एवं मनन करने की आवश्यकता है।

रामायण में नानाविध विज्ञानों का भण्डार भरा पड़ा है, जिसकी खोज आवश्यक है, खोज कुछ किये जा रहे हैं और उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपयोगार्थ अपनाया जा रहा है। किन्तु समय की आवश्यकतानुसार भौतिक विज्ञान और यॉंत्रिक प्रगति ने वर्तमान विद्वानों को भी तत्कालीन वैज्ञानिकता को जानने के लिए विवश किया है। इस प्रकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विभिन्न क्षेत्रों में तत्कालीन भारतीयों की उपलब्धियों की वस्तुपरक जानकारी का प्रचार न केवल हमारे राष्ट्रीय गौरव का विषय है, अपितु हमारे समाज में वैज्ञानिक संस्कृति को समाहित करने का प्रेरणास्रोत भी है।

रामायण में वर्णित वास्तु विज्ञान

डॉ० मंजु नारंग,
डी0लिट्0
रीडर एवम् अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
एम0के0पी0 (पी0जी0) कॉलेज, देहरादून

संस्कृत वाङ्मय में रामायण की गणना विशिष्ट ग्रन्थ के रूप में की जाती है। रामायण का वर्ण्य विषय विस्तृत तथा दृष्टिकोण व्यापक है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक प्रत्येक दृष्टि से रामायण में वर्णित विषय अद्वितीय हैं। वास्तु विज्ञान जीवन का आवश्यक एवं महत्वपूर्ण विषय है। इसकी सहायता से वास्तुदोष रहित, स्वच्छ वायु एवं प्रकाश की व्यवस्था वाले, सुन्दर, सुरक्षित एवं सुदृढ़ भवनादि का निर्माण कार्य सम्भव होता है। रामायण में सुन्दर, सुरुचिपूर्ण, भव्य साज-सज्जा, सम्पन्न, सुअलंकृत स्वच्छ एवं शुद्ध पर्यावरण वाले, श्रृंगारपरक, औषधिमूलक तथा फल एवं फूलों वाले वृक्षों से सुसज्जित तथा सुनियोजित नगरों, भवनों, पर्णशाला तथा शिविरों आदि के निर्माण का वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक प्रकार के निर्माण कार्य हेतु दक्ष वास्तुविदों तथा कुशल शिल्पियों को वरीयता दी जाती थी। उत्कृष्ट कार्य सम्पन्न होने पर शिल्पियों

का नामोल्लेख सम्मान सहित किया जाता था।

राजा दशरथ की अयोध्यापुरी मनु द्वारा निर्मित थी ''मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्'' (बालकाण्ड 5/6)। उसके चारों ओर दुर्लंध्य तथा प्रवेश करने में अक्षम परिखाओं का निर्माण किया गया था ''दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गमन्यैर्दुरासदाम्'' (बालकाण्ड 5/13)। अयोध्यापुरी के चारों ओर आम तथा अन्य विविध प्रकार के उद्यान व्याप्त थे। महदाकर वह नगरी साल के वृक्षों से सभी ओर से व्याप्त थी ''उद्यानाम्रवणापेतां महतीं सालमेखलाम्'' (बालकाण्ड 5/12)। उसके महल सम्यक् रीति से निर्मित थे ''सुनिवेशितवेश्मान्ताम्'' (बालकाण्ड 5/19)। सुदृढ द्वारों विचित्र गृहों तथा अर्गलाओं से सम्पन्न वह नगरी अपने नाम को सार्थक किया करती थी ''तां सत्यानामां दृढतोरणार्गलां गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम्'' (बालकाण्ड 6/28)।

विश्वकर्मा द्वारा निर्मित राक्षसराज रावण की लंकापुरी सुदूर तक विस्तृत समुद्र के दक्षिण तट पर वसायी गयी थी ''मनसेव कृतां लंका निर्मिता विश्वकर्मणा'' (सुन्दर काण्ड 2/21)। वह महानगरी सुवर्ण निर्मित प्राचीरों से व्याप्त थी। विचित्र जाम्बूनद नामक सुवर्ण की जालियों तथा बन्दनवारों से वहाँ के गृह सुसज्जित थे ''महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम्'' (सुन्दर काण्ड 2/56)। कुबेर की अलकापुरी के समान शोभा सम्पन्न वह नगरी त्रिकूट के शिखर पर अधिष्ठित होने के कारण आकाश पर उठी हुई सी प्रतीत होती थी ''वस्वोकसारप्रतिमां समीक्ष्य नगरीं ततः। खमिवोत्पतितां लंकाम्'' सुन्दरकाण्ड 3/12। रामायण में पुरी के समान ही चित्र विचित्र शोभा से युक्त सुअलंकृत तथा सुसज्जित, सुदृढ़ तथा आकर्षक कला शैली से निर्मित भवनों का वर्णन प्राप्त होता है। अयोध्यापंति राजा दशरथ, श्रीराम तथा कैकेयी के भवन तथा अन्तःपुर की निर्माण कला, साज-सज्जा तथा भव्य स्वरूप का सविस्तार वर्णन किया गया है। लंकापति रावण का राजमहल, रावण के भाई कुम्भकर्ण के लिए निर्मित शयन गृह तथा अन्तःपुर के वर्णन में अद्भुत सौन्दर्य, वैभव तथा अतुलनीय रजत, स्वर्ण युक्त हीरे, मोती आदि बहुमूल्य रत्नों के प्रयोग का सविस्तर विवरण प्राप्त होता है। सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण कलाकृति का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

श्रीराम के वनवास के अवसर पर स्थान स्थान पर निर्मित पर्णशाला के विवरण में आवास हेतु उचित स्थान का चयन करने के उपरान्त पर्णशाला की निर्माण विधि का यथोचित वर्णन किया गया है। श्री लक्ष्मण ने स्वयं सुन्दर, सुरुचिपूर्ण, सम्पन्न तथा सुदृढ़ पर्णशाला का निर्माण किया था। वर्षा तथा प्रचण्ड वायु के प्रकोप से रक्षा हेतु समुचित व्यवस्था की थी ''तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम्'' (अयोध्याकाण्ड 56/34)।

शिविर निर्माण हेतु सुयोग्य वास्तुविदों तथा कुशल शिल्पियों की नियुक्ति की जाती थी। शिविर के लिये प्रस्थान से पूर्व प्रत्येक प्रकार के कार्य को दृष्टि में रखते हुए तदनुकूल शिल्पियों तथा कर्मचारियों का दल पहले प्रस्थान करता था। सर्वप्रथम मार्ग का शोधन करके उन्हें चूने तथा कँकरीट से पक्का किया जाता था। इतस्ततः प्रवाहमान लघुकाय जलस्रोतों को सुसम्बद्ध किया जाता था। मार्ग के दोनों ओर फलदान तथा फूल वाले वृक्षों का आरोपण किया जाता था। उपर्युक्त प्रकार की व्यवस्था के उपरान्त शिविर का निर्माण कार्य किया गया था। शिविरों को अन्तः तथा बाह्य उभय भाग से अलंकृत

तथा सुसज्जित किया गया था ''भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम्'' (अयोध्याकाण्ड 80/16)।

अथाह सागर को पार करने के लिए विश्वकर्मा के औरस पुत्र नील नामक वानर ने शूरवीर, पराक्रमी, उत्साही तथा शक्तिशाली वानरों की सहायता से सौ योजन लम्बे तथा दस योजन चौड़े सेतु बन्धन का कार्य किया था ''स वानरवर: श्रीमान् विश्वकर्मात्मजो बली बवन्ध सागरे सेतुम्'' (युद्ध काण्ड 22/73)। सेतु बन्धन कार्य हेतु सागर में तिनकों, काष्ठ खण्डों तथा शिलाओं को समुद्र में फैंका जाता था। इससे समुद्र में भीषण शब्द उत्पन्न होता था तथा समुद्र का जल ऊपर उठ आता था। वानरों की सहायता से नल द्वारा निर्मित वह सेतु अद्भुत, अचिन्त्य, असह्य तथा रोमांचकारी था ''तदचिन्त्यमसह्यं च अद्भुतं लोमहर्षणम्'' (युद्धकाण्ड 22/77)। वह महान सेतु सागर में सीमन्त के सदृश दृष्टिगोचर होता था ''अशोभत महान् सेतु: सीमन्त इव सागरे'' (युद्धकाण्ड 22/79)।

प्रत्येक प्रकार के निर्माण कार्य के उपरान्त वास्तु दोष की शान्ति, दीर्घायु तथा सुखशान्ति हेतु वास्तु पूजा की जाती थी ''कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभि:'' (अयोध्याकाण्ड 56/22)। उपर्युक्त विवरणों से यह सिद्ध होता है कि रामायण में वर्णित वास्तु-विज्ञान सुविकसित तथा परिष्कृत था।

वाल्मीकि रामायण में नगर-निर्माण योजना

डॉ० लता गर्ग
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
मुन्नालाल गर्ल्स कॉलेज, सहारनपुर

प्रस्तुत निबन्ध वास्तु विज्ञान से सम्बन्धित है। 'वास्तु' शब्द 'वस्तु' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है धरा। भवन से सम्बन्धित कोई भी निर्णय द्रव्य, सामग्री या मूल पदार्थ यथा काष्ठ, इष्टिका, पाषाण, धातु आदि भी वस्तु कहे जाते हैं और इनके द्वारा जो एक अभिनव निर्मिति होती है, वह वास्तु कही जाती है। धरा पर निर्मित भवन, नगर, प्रासाद आदि सभी वास्तु के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। ऋग्वेद में वास्तु का प्रयोग भवन अर्थ में ही हुआ है। वास्तु के लिए ''मानसार'', ''मयमत'' तथा ''समरांगण सूत्रधार'' में शिल्प तथा स्थापत्य शब्द का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। डॉ0 द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल की दृष्टि में ये तीनों समानार्थक हैं।

नगर निर्माण एकांगी कार्य नहीं है वरन् एक समन्वित एवं सर्वव्यापक कार्य है जिसमें भूमि सम्बन्धित सभी तत्व यथा भवन, वापी, कूप, तड़ाग, उद्यान, राजभवन, दुर्ग आदि का निर्माण स्वत: आपातित है। इसके साथ ही ज्योतिष, भूगर्भ, भूगोल आदि तत्वों का भी इसमें समावेश माना गया है। नगरों से युक्त सम्पूर्ण राष्ट्र, देश अथवा मण्डल कहा जाता है। रामायण में मुख्यत: तीन नगरों अथवा पुरियों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है- अयोध्या, किष्किन्धा तथा लंका। मिथिला, कलिंग, जम्बूप्रस्थ, लौहित्य, वरुथ आदि नगरियों का विवेचन अल्प रूप से किया गया है।

वाल्मीकि रामायण में, आर्यों के जिस जीवन व संस्कृति का वर्णन है वह प्राग् बौद्ध कालीन भारत से सम्बन्ध रखती है। उस युग में आर्य लोग भारत में भली-भाँति बस चुके थे। उनके धर्म, सभ्यता और समाज ने एक स्थिर रूप धारण कर लिया था। वैदिक युग के बाद की और बौद्ध युग से पूर्व की भारतीय संस्कृति का स्वरूप रामायण में उद्भासित हुआ है।

वाल्मीकि रामायण में नगर निर्माण योजना बहुत उन्नत एवं विकसित रूप में की गयी थी। जिसका अनुमान रामायण में वर्णित नगरों की योजना से लग सकता है।

वाल्मीकि रामायण की नगर योजना का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है। प्रथम नगर की बाह्य निर्माण योजना तथा द्वितीय आन्तरिक निर्माण योजना। किसी भी नगर में रहने वाले प्राणियों की आवश्यकता को देखते हुए नगर नदी आदि के किनारे तथा वनस्पति बहुल स्थानों पर बनाये जाते थे। अयोध्या नगरी सरयू नदी के तट पर तथा लंका नगरी महासमुद्र के तट पर बसी हुई थी।

नगर की सुरक्षा के लिए नगर के चारों ओर परिखा अर्थात् खाई बनाई जाती थी। किष्किन्धा नगरी की उस गहन खाई में स्वच्छ जल व कमल खिले रहते थे तो लंका नगरी की परिखा में मगर व मछलियों की स्थिति उसकी दुर्लंघ्यता को द्योतित करती है।

उसी प्रकार प्राकार (चहार दीवारी) का निर्माण नगरी के चारों ओर सुरक्षा हेतु किया जाता था। लंका के प्राकार बहुत ऊँचे-ऊँचे एवं दुर्गम थे। नगर के प्राकार में विशाल द्वारों अथवा तोरणों की स्थिति भी सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती थी। लंका के प्राचीर में चार विशाल द्वार थे।

नगर की अभ्यन्तर निर्माण योजना में राजमार्ग, चतुष्पथ, रथ्थायें, राजप्रासाद, सामान्य भवन, देवायतन, चैत्य आदि का निर्माण कराया जाता था। अयोध्या किष्किन्धा तथा लंका नगरियों के राजप्रसादों का उनकी विविध निर्माण कला, उनकी समृद्धि पूर्ण सज्जा का विवेचन रामायण से उपलब्ध होता है। रावण का प्रासाद स्वर्ण निर्मित था तथा रत्नों से जटित था। विशालता की दृष्टि से वह चार कोस लम्बा तथा दो कोस चौड़ा था। इसी प्रकार अयोध्या का प्रासाद स्थापत्य का उत्कृष्ट निदर्शन था जो गगन सदृश ऊँचा एवं विमान की आकृति का बना हुआ था। प्रासाद अनेक मंजिलों वाले भी होते थे- सप्त भौम, अष्ट भौम, अनेक भौम शब्दों का प्रयोग इसके प्रमाण हैं। प्रासादों की आन्तरिक बनावट में कक्ष्याओं (द्वार युक्त चौक) का भी विशेष महत्व था। सुग्रीव के भवन में सात, दशरथ के प्रासाद में अनेक बड़ी-बड़ी (जिनमें रथ जा सकता था) कक्ष्याएें, तो राम के प्रासाद में तीन कक्ष्याऐं विद्यमान थी।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रामायण युगीन वास्तु विज्ञान से सम्बन्धित नगर निर्माण योजना उन्नत दशा में थी जो भारतीय विचारधारा, विचार पद्धति, वातावरण तथा जीवन के विविध अंगों का सूक्ष्म एवं विहंगम ज्ञान कराने में समर्थ है।

वाल्मीकि रामायण में भौगोलिक चित्रण

डॉ० श्रीमती पद्मजा अमित
रीडर, संस्कृतविभाग
मुन्नालालजयनारायण खेमका गर्ल्स कॉलेज, सहारनपुर

प्राचीन भारतीय भूगोल ज्ञान के स्रोत हैं- वेद, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत तथा अन्य धर्म ग्रन्थ। किसी भी राष्ट्र के इतिहास निर्माण का स्थायी आधार है भूगोल। इसकी अवमानना करके कोई भी राष्ट्र अपने को बचा नहीं सकता। भौगोलिक दृष्टि से भारत देश मर्यादित है। भारतवर्ष के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक भाग्यनिर्माण पर भूगोल का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। देश की आन्तरिक नीतियाँ, बाह्य देशों से सम्बन्ध भौगोलिक स्थितियों से भी निर्धारित होते हैं। अपनी भौगोलिक सम्पदा के कारण ही यह देश अपने निकटस्थ एवं दूरस्थ देशों से सम्बन्ध बनाये हुए है।

किसी भी क्षेत्र की स्थिति, जलप्रवाह, जलवायु, मिट्टी समुद्र, पर्वत, जीव-जन्तु आदि तत्त्व भौगोलिक परिवेश के अन्तर्गत आते हैं। यही सब प्राकृतिक तत्त्व मानवीय समृद्धि का साधन बनकर मानव को कर्मशौर्य की प्रेरणा देते हैं।

वर्णन महाकाव्य का प्रमुख अंग है। वर्णनों के इसी आदर्श के फलस्वरूप संस्कृत के काव्यों में भौगोलिक चित्रण उपलब्ध होते हैं। कवि की रागात्मिका वृत्ति प्रकृति के इन चित्रों में सदा ही रमी है। रामायण का भौगोलिक क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। रामायण के कथानक में भारतीय भूखण्ड की, अयोध्या से लेकर दक्षिण सागर पर्यन्त तक, विभिन्न नदियों, पर्वतों, वनों आदि को पर्याप्त स्थान मिला है। राम के जीवन की मुख्य घटनायें जिन-जिन स्थानों से सम्बद्ध हैं, उनमें से कुछ प्रमुख स्थान हैं यथा सरयू के तट पर विद्यमान अयोध्या पुरी, गंगा के तट पर विद्यमान शृंगवेरपुर, चित्रकूट, दण्डकारण्य, पम्पासरोवर, किष्किन्ध ा, विन्ध्य पर्वत, त्रिकूट, लंकानगरी। इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य कई नदी, पर्वत, आश्रम भी तत्कालीन भौगोलिक स्थिति को प्रस्तुत करने के माध्यम है, रामायण का किष्किन्धा काण्ड भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अरण्यवासी, निस्वार्थ, दिव्यदृष्टि सम्पन्न महर्षि के द्वारा प्रस्तुत ये भौगोलिक चित्रण पूर्वतः कल्पनातीन तो नहीं माने जा सकते हैं। इतना अवश्य संभव है कि तत्कालीन भौगोलिक सीमायें आज जैसी न रही हों। क्योंकि युग-युग में देश तथा काल के मान में परिवर्तन होता रहता है।

रामायण में शिल्प कलाएं

डॉ० सुमन कुमारी
प्रवक्त्री, -डी.ए.वी. कालेज पूण्डरी, कैथल

यह ठीक है कि रामायण भारत की सांस्कृतिक दूत है। इसमें मानव समाज के उच्चतम आदर्शों को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है। इसके साथ-साथ रामायण में तत्कालीन समाज में प्रचलित शिल्पकलाओं का निदर्शन भी मिलता है। शिल्प के अभाव में सामाजिक जीवन अवरुद्ध और नीरस सा हो जाता है। कारीगरों से लेकर अभियान्त्रिकी तक के सन्दर्भ रामायण में बहुशः विद्यमान हैं। प्रस्तुत शोध निबन्ध इन्हीं सन्दर्भों के संकलन, आकलन एवं समीक्षण पर केन्द्रित है।

वाल्मीकि रामायण में भौगोलिक चित्रण

डॉ० शत्रुघ्न द्विवेदी व्याख्याता व्याकरण
श्री हरिहर संस्कृत महाविद्यालय बकुलहर मठ,
पं0 चम्पारण, बिहार

रामायण सभी के लिए पूज्य वस्तु है। भारत के लिए तो वह परम गौरव की वस्तु है, और देश की सच्ची बहुमूल्य राष्ट्रीय निधि है। इसका एक-एक अक्षर महापातक का नाश करने वाला है-

एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाश्नम्।

यह समस्त काव्यों का बीज है- **काव्यबीजं सनातनम् (बृहद्धर्म १/३०/४७)**

पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनतम्।[१]
यत्र रामचरित्र स्यात् तदहं तत्र शक्तिमान्।।
(बृहद्धर्मपुराण प्रथम खण्ड-३०/४७/५)

वाल्मीकि रामायण में भौगोलिक चित्रण

रामायण के भूगोल पर भी बहुत अनुसंधान हुआ है। कल्याण का रामायणांक[2] कनिंघम की ऐन्शेन्ट डिक्शनरी श्री देके जोगरफिकल डिक्शनरी में इस पर बहुत अनुसंधान है। कई लोगों ने स्वतत्रं लेख भी लिखे हैं।

लंदन के एशियाटिक सोसाइटी जर्नल में एक महत्वपूर्ण लेख छपा था। वेदधरातल- पं0 गिरीशचन्द्र में भी कुछ अच्छी सामग्री है। केवल लंका पर ही कई प्रबन्ध है। सर्वेश्वर के एक लेख में मालद्वीप को लंका सिद्ध किया है। कुल लोग इसे ध्वस्त मज्जित या दुर्जेय भी मानते है। वाल्मीकि-1/22 की कौशाम्बी प्रयाग से 14 मील दक्षिण - पश्चिम कोसम गांव है। धर्मारण्य आज की गया है।

महोदय नगर कुशनाम की कन्याओं के कुब्ज होने से आगे चलकर कान्यकुब्ज[3] पुनः कन्नौज हुआ गिरीब्रज राजगिरी[4] विहार है। 1/24 के मल-करुष आरा जिले के उत्तरी भाग हैं। केकेयदेश कुछ लोग गजनी को और कुछ झेलम एवं कीकनाडो कहते है।

बालकाण्ड - 2/3-4 में आयी तमसा नदी पर वाल्मीकिजी का आश्रम था। यह उस तमसा से सर्वथा भिन्न हैं, जिसका उल्लेख गंडक के उत्तर तथा अयोध्या के दक्षिण में मिलता हैं। वाल्मीकि आश्रम का उल्लेख - 2/56-16 में भी आया है।

वी0एच0 बडेर ने कल्याण रामायणांक के 496 पृष्ठ पर इसे प्रयाग से 20 मील दक्षिण लिखा है। सम्मेलन पत्रिका - 43/2 के 133 पृष्ठ पर वाल्मीकि आश्रम प्रयाग-झाँसी रोड और सजपुर-मानिकपुर रोड के संगम पर स्थित बतलाया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी के मत से इनका आश्रम - वारिपुर, दिगपुर बीच **विससति भूमि** था। मूल गोसाइ चरितकार दिगवारीपुर बीच सितामढ़ी को वाल्मीकि आश्रम मानते है।

कुछ लोग कानपुर के बिठूर को भी वाल्मीकि आश्रम मानते है।[5] 2/56/16 की टीका में कतक तीर्थ, गोविन्दराज, शिरोमणिकार आदि इनका समाधान करते हुए लिखते हैं कि - ऋषि प्रायः घुमते रहते थे। श्रीराम वनवास के समय वे चित्रकूट के समीप तथा राज्यारोहणकाल में गंगातट पर बिठूर रहते थे। वाल्मीकि 6/36/1 तथा 7/71/14 से भी वाल्मीकि आश्रम बिठूर में ही सिद्ध होता है। इस प्रकार रामायण में भौगोलिक चित्रण प्रस्तुत है।

वाल्मीकि रामायण में भौगोलिक चित्रण

डॉ० विष्णु देव शर्मा
आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत महाकाव्य गीर्वाणवाणी का अद्‌भुत निदर्शन, अव्यक्त सत्ता के अन्तर्देश की अनुपम सृष्टि, राष्ट्रिय अस्मिता की पावन थाती तथा क्रान्तदर्शी युगपुरुष की अन्तश्चेतना से उपजी कालजयी गाथा है जिसने समूचे आर्यावर्त्त के ऐतिह्य को काव्यात्मक सरगम में पिरोकर मानव-जाति को जीवन का दिव्य संदेश दिया है। इस महाकाव्य के पृष्ठों पर इक्ष्वाकुवंशीय इतिहास के अमर अक्षर उत्कीर्ण हैं। विराट् आर्यावर्त्त के चतुर्दिक् सीमान्त के मानचित्र की रेखायें खींचकर आर्य पुरोधा ने भूगोल और इतिहास का मणिकांचन संयोग का मनोहारी रूप प्रस्तुत किया है।

राम के वन-प्रवास एवं यात्रा के माध्यम से महर्षि ने यात्रा-पथ पर आने वाली सरिताओं, पर्वतों की उपत्यकाओं, शिखाओं से प्रवाहित सलिल-धाराओं पर्वतों के पाद-प्रदेश में बिखरे विशाल कान्तार, वनैली दुर्गम घाटियों, प्रकृति की क्रोड में बिखरी वृक्ष-वनस्पतियों के अभिराम दृश्य प्रस्तुत कर राष्ट्र की पावन मिट्टी की नीराजना भी की है। कैलाश पर्वत की शृंखलाओं में स्फटिक के समान शुभ्र मानसरोवर से निःसृत, सरयू के पावन पुलिनों से लेकर दक्षिणा पथ पर प्रतिष्ठित दक्षिण-दिक् वधू के अलंकारभूत विन्ध्यगिरि की मेखला के प्रहरी मुनि-अगस्त्य के पावन-धाम तथा पंचवटी तक विस्तृत दण्डकारण्य की समूची धारा कवि के काव्य की वैखरी ही है।

आइये! महर्षि के काव्य की सृष्टि में इक्ष्वाकुवंश की धवल कीर्ति से सनी अयोध्या की माटी में प्रकृति के सुरम्य वितानों में, मन्त्रपूत ऋषियों के पावन तपोवनों में, सद्यः परिणीता वधू की मानिन्द सलौनी प्रकृति की सुरम्य झांकियों में अपनी दृष्टि टिकायें और देखें कि आर्यावर्त्त के भौगोलिक परिधान में लिपटे इतिहास के पृष्ठों में कौन सी इबारत है।

यह ध्यातव्य है, कि राम की प्रारंभिक शिक्षा, सरयू के तट पर प्रतिष्ठित आचार्य सुधन्वा के विद्यापीठ में हुई थी। इसी तपोवन में राम ने वेद-वेदाङ्ग अर्थशास्त्र, राजनीति के साथ-साथ धनुर्वेद तथा यौद्धिक प्रक्रिया का प्रशिक्षण लिया था। आचार्य सुधन्वा का उक्त विद्यापीठ लोक-विश्रुत प्रतिष्ठान था जहाँ विभिन्न देश-प्रदेश के राजपुत्र अन्तेवासी धार्मिक रूप में शिक्षा प्राप्त करते थे। आर्यावर्त्त के अनेक चिन्तक मनीषी आचार्य सुधन्वा के प्रतिष्ठान में अपनी अपनी जिज्ञासा भी शान्त करते थे। राम ने भरत से चित्रकूट पर पिताजी की मृत्यु के पश्चात् जलाञ्जलि देकर अनेक प्रश्न किये थे, वहाँ यह भी प्रश्न किया था-तात! तुम मंत्र रहित मंत्र सहित शस्त्रास्त्रों के पारंगत, अर्थनीति के कुशल आचार्य सुधन्वा का ध्यान रखते हो?

इष्वस्त्रवर सम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित् त्वं तात मन्यसे॥

अयो०१००/१४

आचार्य सुधन्वा के विद्यापीठ से शिक्षा प्राप्त कर राम अयोध्या के राज प्रसाद में आए ही थे कि योजनानुसार राजर्षि विश्वामित्र दशरथ के समीप अपने सिद्धाश्रम में राम को ले जाने के लिए

आ पहुँचे। विश्वामित्र का सिद्धाश्रम रामायण काल में अंग देश में मलद-करूष के परिक्षेत्र में प्रतिष्ठित था। (संप्रति बिहार में बक्सर में समीप है) वसिष्ठ के परामर्श पर दशरथ ने भारी-मन से राम-लक्ष्मण को राजर्षि विश्वामित्र के साथ विदा कर दिया। मलद-करूष के नाम से इस घने वन में यह क्षेत्र सुन्दनामक दैत्य के प्रभाव क्षेत्र में था, जिसकी स्त्री ताड़का यक्षिणी थी। यह ध्यातव्य है कि रावण द्वारा आर्यावर्त्त के स्वायत्त करने की योजना के तहत उसी सेना का स्कन्धावार मलद-करूष में ताड़का के द्वारा संचालित था। इसी पृष्ठभूमि में ताड़का ने समूचे-क्षेत्र से आर्य ऋर्षि-मुनियों को शक्ति-पूर्वक बाहर की ओर धकेल दिया था विश्वामित्र रावण की योजना को समझकर ही राम को ताड़का तथा दैत्यों का विनाशकर उस क्षेत्र को निर्द्वन्द्व करने के लिए सिद्धाश्रम लाये थे। राम ने विश्वामित्र से प्रश्न किया था कि महर्षि यह कौन सा स्थान है, जहाँ हम लोग वनाञ्चल में यात्रा कर रहे हैं, विश्वामित्र ने मलद-करूष का इतिहास बताते हुए कहा था, राम! हमलोग दैत्यो-दानवों द्वारा गृहीत मलद-करूष के क्षेत्र में हैं। शोणभद्रा नदी के पावन तट पर अवस्थित यह क्षेत्र प्राचीन काल में राजा वसु की राजधानी वसुमती के नाम से प्रसिद्ध हुई, किन्तु अब इस क्षेत्र को गिरिव्रज के नाम से जाना जाता है। शोण भद्रा का दूसरा नाम सुमागधी भी है, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती है। पांच पर्वतीय शृंखलाओं के मध्य में स्थित यह विशाल भू-भाग मगध के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

सुमागधी नदी रस्या मागधान् विश्रुताऽऽययौ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते॥

बालकाण्ड ३२/९

विश्वामित्र के साथ मलद-करूष की यात्रा का उपसंहार करते हुए इतना ही कहना समीचीन होगा कि मगध के भौगोलिक क्षेत्र का इति-वृत्त परवर्ती इतिहास की पृष्ठभूमि में शोध्य विषय है। इसी क्षेत्र में राम-लक्ष्मण को राजर्षि विश्वामित्र विदेहराज की राजधानी मिथिला ले गए थे, जहाँ विदेह-पुत्री सीता का विवाह राम के साथ संपन्न हुआ था। विदेहराज के धनुष यज्ञ में लंका का अधीश्वर रावण दर्शक के रूप में दर्शक-दीर्घा में बैठकर समग्र-आर्यावर्त्त के राजाओं की नीतियाँ तथा भावी-योजना के अन्तर्गत भू-प्रदेश का गहराई से निरीक्षण भी कर रहा था।

राम वन प्रवास के भौगोलिक परिदृश्य तथा यात्रावृत्त-

सहस्राब्दियों से भारत के मानचित्र पर उभरती हुई इतिहास की इबारत मानवीय चेतना की अभिराम धारा तथा पुरातन ऐतिह्य के मान दण्ड के रूप में है। राम का समग्र जीवन दर्शन जिसे महर्षि वाल्मीकि ने काव्यात्मक भावशैली में पिरोकर राष्ट्र की धरती पर प्रतिष्ठित किया है, निःसन्देह मानवीय चेतना की कालजयी प्राण प्रतिष्ठा के रूप में है। महर्षि के पावन तपोवन मे प्रत्यादिष्ट सीता अपने जीवन के कटुए क्षण व्यतीत करती हुई (सीता) काव्य की सृजनात्मक चेतना की साक्षी तथा नियामक भी रही हैं। राजर्षि विश्वामित्र के साथ राम की प्रथम यात्रा अयोध्या से पूर्वांचल की ओर थी, जिसमें पूर्वांचल के भौगोलिक मानचित्र में मगध तथा अंग-देश के दृश्यों की झाँकी थी, किन्तु राम के चौदह-वर्षीय प्रवास का पथ पूर्वाञ्चल से होता हुआ दक्षिणापथ की ओर रहा है। इस प्रवास पथ पर वत्सदेश के भूगोल में प्रयाग के यज्ञ की धूम्र लेखायें है। महर्षि भारद्वाज के प्रतिष्ठान, गंगा,

यमुना अथवा भगीरथी तथा कालिन्दी के संगम-स्थल की सलिल धारायें, चित्रकूट की उपत्यका में प्रतिष्ठित वाल्मीकि का तपोवन, मन्दाकिनी की तरल तरगें, मन्दाकिनी की स्फटिक शिलाओं पर राम-लक्ष्मण सीता के ऐतिहासिक क्षणों का इतिवृत्त, शरभंग मुनि तथा सूर्य के समान यशस्वी-मुनि सुतीक्ष्ण के पावन धाम व अत्रिमुनि और अनसूया के अभिराम उद्देश्य, अन्त में दक्षिणा-पथ तथा विन्ध्यगिरि की श्रृंखलाओं के पुरोधा महर्षि अगस्त्य की पर्ण-कुटीर-भूगर्भीय प्रयोगशाला पञ्चवटी तथा दण्डकारण्य के विशाल भू-खण्ड का भौगोलिक परिदृश्य का रेखांकन है।

आइये! महर्षि के अवदात मानस (चिन्तन) से जन्मी दक्षिणापथ की मनोहारी वनवीथियों में हम भी अपनी निगाहें टिका लें। सरयू के पावन-पुलिनों की मिट्टी अपने माथे पर लगाकर राम-सीता और लक्ष्मण सहित वन प्रवास का लंबा काल-खण्ड बिताने के लिए दण्डकारण्य के अंतिम कगार-तक किस प्रकार पहुँचे थे। राम का गन्तव्य मार्ग दण्डकारण्य की सघन और दुर्गम अटवियों से होकर आर्यावर्त्त की दाक्षिणात्य सीमा रेखा तक का लेखा-जोखा महाकाव्य के पन्नों पर किस प्रकार उद्धृत है। भगवान् राम का चौदह-वर्षीय वन प्रवास का मार्ग कौशल देश की सीमा को पार करने के उपरान्त सघन वनैली घाटियों व सूर्य की प्रखर रोशनी में भी अंधकार का भान कराती निबिड घनघोर-दुर्गम-दुर्लंघ्य पथरीली अटबियों, सरिताओं के कसारों तटीय-समतल खेतों में, सान्द्र-छाया में प्रस्थापित तापसों के तपोवनों में से गुजरकर-सुदूर विन्ध्याचल की मेखलाओं के प्रहरी आर्यावर्त्त की प्रखर शक्ति के पुरोधा अगस्त्य के आश्रम तक दिखाई देता है। वैश्रवण कुबेर के लंका से निर्वासन के बाद रावण का साम्राज्य दण्डकारण्य तथा जनस्थान की सैकड़ों मीलों तक उत्तरी तथा पश्चिमी सीमा तक फैल चुका था। दण्डकारण्य में फैले हुए छोटे-छोटे राज्यों से दैत्य-दानव असुर-रीक्ष आदि आरण्यक लोगों की सत्ता को, विजिगीषु रावण की प्रखर शक्ति ने मटिया-मेट कर एक नया अखण्ड राक्षसी साम्राज्य का मानचित्र तैयार कर दिया था। दक्षिण-दिशा की पर्वतीय श्रृंखलाओं से उद्भूत सलिल धारायें नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा, काबेरी के तटवन्धों पर राक्षसों के हाथी-घोड़ों-श्वान और श्वापदों का जमघट देखा जाता था। सीता के अपहरण की साक्षी गोदावरी महाराष्ट्र की धरती पर भाल उठाये खड़ी सतपुड़ा भी श्रृंखलाओं से निकलकर दक्षिण के तटी महासागर में विलीन हो जाती है। गोदावरी के बेसिन में दण्डक वन के पर्वतीय पठारी काठे में पंचवटी तथा समीपस्थ ही अगस्त्य का पावन धाम भी था। आर्यावर्त्त तथा लंका साम्राज्य की सन्धि की रेखा पर महर्षि की भूगर्भीय-प्रयोग-शाला थी, जहाँ के शस्त्रास्त्रों से न केवल खरदूषण के नेतृत्व में फैले रावण का सीमान्त सुरक्षा-बल का विनाश हुआ था। प्रत्युत लंका के भयानक युद्ध में समूची राक्षसी सैन्य शक्ति का विध्वंस भी हुआ था।[2]

रामायण में अनुस्यूत राम के गन्तव्य पथ पर अपनी बिहंग दृष्टि टिकाकर मार्ग का अवलोकन कर लें।

VALMIKI RAMAYANA, ASTROLOGY AND OMENS

Dr. Mrs. Lalita Kuppuswamy
Reader, Daulat Ram College Universtiy of Delhi.

In this paper, a brief outline of astrology, omens and ancient occult sciences as dealt in the Valmiki Ramayana has been Presented.

There is such a natural blending of the knowledge of astronomy, astrology and poetry that the former becomes more palatable and the latter more elegant and lucid. As is expected of a great poet, the moon is his favourite luminary. For example, after the marriage, the union of Rama and Sita was regarded as happy and beautiful as that of the moon with Rohini. Aslrologer as Daivajna, Laksanika is riferred to. The planetary combinations at the time of birth of Rama and his brothers, Dasaratha's death and war with Ravana are clearly mentioned. The basis of astrology is karma which is elaborately discussed with in two aspects namely fate and free will. Valmiki also touches on various muhurtas for different Samskaras like marriage, cronation, war, entering a new house etc. Untoward happenings are explained by the choice of a wrong muhurta For example, Jatayu tells Rama that Ravana had committed a grave blunder by kidnapping Sita in a muhurata called 'Vinda' in which he would run into disaster and Rama would surely get Sita back. Valmiki dwells elaborately at important events on omens and dreams as they are in variably found to foreshadow joys and sorrows in the case of human beings.

The essential purpose of this paper is to give the readers the et traordinary awareness during the time of Valmiki of man's interest in psychosomatic depths of human personality in the expansion of man's spiritual potentialitics to over come hurdles in actions. All these were to subserve the purpose of making life of man purposeful and sublime.

The Township refleet and in Valmik's Ramayan

Dr. Shobha Rani Sahay
Senior R/s, J.P. Univ, Chapra.

City is the best monument of the human art and his aesthetic sense. In comparison to Vadic-time Ramayan is quifte urban. Valmiki's refers to a long chain of flourishing cities right from Assam to Afghanistan. The town planning as revealed in the Ramayan clearly shows that the towns were ptarened on Scientifie basis and the science of town planning was in as advanced stage of development-This research paper will try to discuss all these elements of Tech-nology which where applied in those days comparing the modern era.

PHYSIOGNOMY IN THE RAMAYANA

Dr. V.K. HAMPIHOLI
Baliga Arts & Science College
KUMATA-581343

Physiognomy is a science of features and it is considered as one of the ancient science. It was developed systematically and scientifically in India. It was used to understand the nature and the character of a human being as well as of an animal. In ancient period, people were giving much importance to the features. Even while selecting the horses, the elephants, the dogs, the cows, the buffaloes and the oxen, they were examining the features of those animals. They were aware of good and bad marks of the animals. In the same way they knew the good and the bad features of the human body. They were taking the help of this science in day today life.

Physiognomy was developed in India a long back. Brhat-Samhita Samudrika-Cintamani, Vivekavilasa, Samudrika-rahasya, Viramitrodaya, Bhavisya-Purana, Garuda- Purana, Vishnudharmottara-Purana and so on has dealt this science in detail. All these texts have discussed the good and bad, the lucky and the unlucky marks of the male and female body. Ancients were forecasting the future on the basis of the features of the limbs. This science was known to the Valmiki. The knowledge of physiognomy of Valmiki can be seen in his work i.e. Ramayana.

In the Sundarakanda (35th Adhyaya) Hanuman describes the good characteristics of Lord Srirama before Sita at Ashokavana. This description depicts the ideal features of a male. Hanuman narrates as follows- "He (Rama) has big shoulders, long arms, conch-shaped neck and a pleasing face. The collar bones are deeply immersed in flesh and not visible. The corners of his eyes have a reddish hue. His voice is deep sounding like that of drum; he has a heroic countenance, his complexion has a smooth luster. The parts of his body are symmetrical and well demarcated.

His three (chest, wrists and fists) are firm; three (eye-brows, arms and testicles) are long; three (ends of hair, testicles and knees) are even and level; three (periphery of the navel, the chest and chest and the sides of the belly) are elevated; three (corners of eyes, nails and the palms) are of reddish hue, three (lines on the soles, hair and front portion of membrum virile) are smooth and lustrous, three (navel, gait and voice) are gambhira.

He has three folds on the belly and on the front portion of the neck, his three (middle portion of the soles, the lines on the soles and the nipples) are depressed.His four (the neck, the penis, width of the lower half of the back and calves of the legs) are short. He has three whirls on his head. He has four lines at the root of the thumb. He is four measures tall. He has four horizontal lines on his forehead. His four (the arms, the knees,the thighs and the cheeks) are symmetrical. His fourteen pairs (eye-brows, nostrils, eyes, ears, lips, nipples, elbows, wrists, knees, testicles, hands, feet, sides of waist and lips) are uniform, even and symmetrical. He has a set of four grinders (teeth) on each side of the upper and lower jaws.

He has gait of four (a lion, a tiger, a bull and an elephant). He has a big nose, chin and lips. His five (tongue [speech], face, nails, skin and hair on skin) are soft and lustrous. His eight (arms, hands, thighs and shins) are straight. His ten (face, eyes, mouth, tongue, lips, palate, the breasts, nails hands and feet) are like lotus. He has an aura of three (luster of Goddess of wealth, valor and fame). His ten (the chest, the head, the forehead, the circumference of the neck, arms, shoulders, navel, feet, upper portion of the back and ears) are large. He is pervading in three (grace, fame and heroic luster). His two (eyes and teeth) are white. His six (armpits, planks of the belly, chest, nose, shoulder and forehead) are elevated. His nine (the phalange of the fingers, hair on hand, hair on the body, nails, the skin, the linga moustaches sight and intelligence) are suksma.

The description of Rama clearly depicts that Rama has good and lucky features. They indicate the kingship, longevity of life, high position, and comfortable life, empower ship, proficiency on the sacred texts, chivalry, stamina, dignity, virility, good health, wealth, fortune, valor, straight forwardness, wise ness, brevity and good luck.

In the Yuddhakanda (48 th adhyaya), we see the description of Sita. There Ravana shows Sita fake severed heads of Rama and Laksmana Sita, having seen those heads, loses her heart. Sita wails for a long and laments with full of grief. At that time she censures the physiognomists who have predicted a good fortune for her. She states that "The wise physiognomists had predicted that I would be a mother of sons and would never become a widow. Their words have gone wrong because Rama is dead. The predictions of the wise and truthful physiognomist, that I shall be the wife of a high

personage of great merit and crowned a queen, stand condemned because Rama is dead. They had predicted that I shall have love and adoration of my husband and a long happy married life. All those forecasts have gone wrong because Rama is dead. The marks of lotus of my soles of my feet indicate that such a woman and her husband are installed to a throne and are consecrated as queen and king. This has all gone wrong because Rama is dead. I do not know or observe any marks on my body which are deemed auspicious in women have become fruitless and futile, because Rama is dead. The hair on my head is fine, black and uniform. The eye brows are not Joined together. The calves of my leg are round and free from hair or down. My teeth are evenly spaced. My temple bones, eyes, hands, feet, ankles and thighs are symmetrical and of proper form. My breasts are fully developed and closing on each other. My nails are rounded at the tips and are glossy, my fingers are proportionate. The nipples are well immersed in the breasts. My navel in deep with periphery well elevated. My chests and sides are well developed. My complexion has the luster of a ruby. My hair is soft. The physiognomists declared that my body had all the good traits, a woman should have. The palms of my hands and soles of my feet are pink and have the marks of barley. My fingers are close to each other. My smile is modest. On the basis of all these, the great learned priests had declared that my husband and I would be consecrated as king and queen and would rule from the throne.

It is known to everybody that all the predictions on the basis of physiognomy were amply fulfilled. She never became a widow. She was crowned a queen along with her husband king. She gave birth to valiant sons.

The above descriptions of Rama and Sita clearly depict that physiognomy was considered as truthful science. It was developed systematically at the time of Valmiki itself. Valmiki, who was considered as a first poet (adikavi), was aware of this science.

रामायण युद्ध सर्ग ४८/१-१४

COSMOLOGY IN THE RAMAYANA

S.C. Goswami
67, Vaishali, Paitampura, Delhi

Valimiki's Ramayana being primarily an epic poem, contais only a few scattered passages (viz., in the Uttarakanda and Ayodhyakanda) regarding the origin of universe. These are in tune with the Vedic notion of Hiranyagarbha. The various so-called elements like water, etc., need be interpreted with a little more caution. Water should not be taken as identical with earthly water which is not an element in the chemical sense of the term, but a compound of hydrogen and oxygen. In the context of both Ramayana and Vedic literature it is 'cosmic water' into which the universe dissolves or involves after the completion of a cycle, only to evolve again for the next cycle to commence. This involution-evolution process of the origin of the cosmos appears to take place due to the power of 'maya' as mentioned in the Ramayana. Maya should not be taken as illusion. It is a statement of fact.

HISTORY OF THE AIKSVAKUS AND RAMA

Dr. D.P. Saklani, Reader
Deptt. of History, Culture and Archaeology
H.N.B. Garhwal University, Srinagar

Today one of the most debated aspects of Valmiki Ramayana in Historical arena is the History of Rama and his lineage. Attempts have been made to prove or disprove the historicity of the epic and its hero Rama. In the present paper and attempt will be made to present historical data pertaining to the dynasty of Rama in the light of latest researches in the field of Indological studies put forward by the scholars of Sanskrit, history and culture.